स्वावलम्बन

स्वाध्याय

स्वमन्थन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

MAEC-05
अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

प्रथम खण्ड : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त
द्वितीय खण्ड : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त
तृतीय खण्ड : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति
चतुर्थ खण्ड : भुगतान संतुलन एवं विनिमय दरें
पंचम् खण्ड : अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं एवं भारत

वर्धमान महावीर
ला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

ान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

एम.ए. अर्थशास्त्र (उत्तरार्द्ध)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

MAEC-05

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त 1

इकाई संख्या 6 में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मॉडलों का प्रमाणीकरण पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा किए गए अध्ययनों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। सभी सिद्धान्त की जाँच इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये विभिन्न मान्यताओं पर आधारित होते हैं। यदि सिद्धान्त जाँच पर खरा उतरता है तो उसका व्यावहारिक महत्व बढ़ जाता है अन्यथा नए सिद्धान्तों की खोज प्रारम्भ हो जाती है।

अन्तिम इकाई में व्यापार स्वरूप के निर्धारक नवीन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी व नवीन परम्परावादी सिद्धान्त पूर्ति पक्ष पर अधिक बल देते हैं। नवीन सिद्धातों में मांग पक्ष पर बल दिया गया है। आधुनिक सिद्धान्त में मांग एवं पूर्ति के आधार पर सिद्धान्त को विकसित किया गया है।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

डॉ. एन. सी. पहाड़िया (1, 4)
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रो. ओ. एस. श्रीवास्तव (2)
अर्थशास्त्र विभाग, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल

डॉ. आर. एल. वार्ष्णेय (3)
भारतीय विदेश व्यापार संस्थान, नई दिल्ली

श्री लोकेश भट्ट (5, 6)
अर्थशास्त्र विभाग, राजकीय महाविद्यालय,
अलवर

डॉ. एस. के. वर्मा (7)
अर्थशास्त्र विभाग,
मन्दार कालेज, रांची

अनुवाद

श्री के. आर. लोहार (3)
सिरोही

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

एम.ए. अर्थशास्त्र (उत्तरार्द्ध)

MAEC-05

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

खण्ड-1

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त

इकाई 1
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त - रिकार्डो का सिद्धान्त 7-16

इकाई 2
मिल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिपूरक मांग का सिद्धान्त 17-29

इकाई 3
टॉजिंग का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त 30-43

इकाई 4
हेबरलर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त (अवसर लागतें) 44-56

इकाई 5
हेक्शचर-ओहलिन का सिद्धान्त तथा साधन कीमत समानीकरन प्रमेय 57-82

इकाई 6
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मॉडलों का प्रमाणीकरण 83-96

इकाई 7
व्यापार-स्वरूप के निर्धारक : नवीन सिद्धान्त 97-105

सम्पादक

डॉ. एम. के. घड़ोलिया

सहआचार्य एवं विभागाध्यक्ष

अर्थशास्त्र विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

पाठ्य सामग्री उत्पादन

निदेशक

पाठ्य सामग्री एवं वितरण

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस सामग्री के किसी भी अंश की कोटा विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी. त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, दिसम्बर 2015
मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1 पुराना कटरा, इलाहाबाद।

इकाई – 1

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त – रिकार्डो का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 तुलनात्मक लागतों का प्रतिष्ठित सिद्धान्त

1.2.1 एडम स्मिथ का निरपेक्ष लागत अन्तर सिद्धान्त

1.2.2 रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त

1.3 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताए

1.4 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या

1.5 रिकार्डो द्वारा व्यापार-लाभ का विश्लेषण

1.6 रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना

1.7 रिकार्डो सिद्धान्त की आनुभविक प्रमाणीकरण

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों में रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त सबसे प्रमुख माना गया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को इस प्रश्न का उत्तर देना होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार क्या है तथा किन दशाओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव होता है तथा आपस में व्यापार करने वाले राष्ट्रों को क्या-लाभ होते हैं तथा इन लाभों का वितरण कैसे किया जाता है? प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री एडम स्मिथ तथा रिकार्डो का मानना है कि उत्पादन लागतों में भिन्नता व्यापार को जन्म देती है। एडम स्मिथ ने निरपेक्ष लागत भिन्नता को व्यापार का आधार माना, अर्थात एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की तुलना में किसी वस्तु का उत्पादन निरपेक्ष (absolute) रूप में कम लागत कर सकता है जबकि दूसरा राष्ट्र दूसरी वस्तु के उत्पादन को निरपेक्ष रूप में कम लागत में कर सकता है। अतः स्मिथ के मत के अनुसार व्यापार का कारण दो देशों में वस्तु की उत्पादन लागत में निरपेक्ष अन्तर (absolute difference) है। डेविड रिकार्डो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निरपेक्ष लागत

अन्तर को अपर्याप्त बताया और यह तर्क दिया कि दो देशों के बीच व्यापार का आधार सापेक्ष या तुलनात्मक लागत अन्तर (comparative cost differences) है। इन दोनों अर्थशास्त्रियों के विचारों में यह समानता है कि दोनों उत्पादन-लागत में केवल श्रम-लागत ही मानते हैं। उनके मतानुसार उत्पादन के साधनों में केवल श्रम ही साधन होता है। (Labour theory of value) तत्पश्चात हेबरलर ने इस श्रम लागत सिद्धान्त के स्थान पर अवसर-लागत सिद्धान्त (opportunity cost theory) को प्रतिपादित किया किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों, मुख्यतः हैक्शर एवं ओहलिन ने अवसर-लागत सिद्धान्त की आलोचना करते हुए तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को एक नये परिवेश में प्रस्तुत किया। हैक्शर-ओहलिन ने तुलनात्मक लागतों को व्यापार का आधार माना है तथा इनमें अन्तर के लिए विभिन्न देशों में उपलब्ध भिन्न मात्रा में साधनों की निधि (factor endowments) को माना है।

प्रस्तुत इकाई में हम सर्वप्रथम श्रम-लागत सिद्धान्त के आधार पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों एडम स्मिथ एवं रिकार्डो के सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

जैसा कि ऊपर बताया गया है, एडम स्मिथ एवं रिकार्डो के श्रम-लागत सिद्धान्त पर आधारित व्यापार-सिद्धान्त में कुछ भिन्नता है। सर्वप्रथम हम एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित निरपेक्ष लागत-अन्तर सिद्धान्त (Theory of absolute cost differences) की व्याख्या करेंगे, तत्पश्चात् रिकार्डो के तुलनात्मक लागत-अन्तर सिद्धान्त (Theory of comparative cost differences) की विवेचना करेंगे।

1.2 तुलनात्मक लागतों का प्रतिष्ठित सिद्धान्त

1.2.1 एडम स्मिथ का निरपेक्ष लागत-अन्तर सिद्धान्त (Adam Smith's Theory of Absolute cost Advantage)

प्रतिष्ठित सिद्धान्त के प्रवर्तक एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक, "An inquiry into the nature and causes of the wealth of nations", जो 1776 में प्रकाशित हुई, ने 18वीं शताब्दी के इंग्लैंड के औद्योगिक विकास एवं व्यापार को काफी हद तक प्रभावित किया। स्मिथ ने पुरानी वाणिज्यिक विचारधारा (Mercantilist) की घोर आलोचना की और उनके दर्शाये सिद्धान्तों को तर्कहीन तथा अनर्थक बताया। स्मिथ ने स्वतन्त्र-व्यापार तथा स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था का प्रबल समर्थन किया जिसमें सरकार का हस्तक्षेप बिल्कुल न हो। स्मिथ के अनुसार स्वतन्त्र व्यापार नीति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों पक्षों को लाभ होता है जबकि व्यापार पर लगाया गया कोई भी प्रतिबंध अन्ततः प्रतिकूल व हानिकारक होता है।

स्मिथ ने श्रम-विभाजन की उपादेयता बताते हुए यह बताया कि श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण उद्योगों में उत्पादन लागत को प्रभावित करते हैं। स्मिथ ने श्रम को उत्पादन का एक मात्र साधन माना है इसलिए उत्पादन में केवल श्रम पर किया गया व्यय ही उत्पादन लागत है और श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण श्रम लागत को कम करने में (उत्पादकता अधिक होने से) सहायक होते हैं। यदि एक देश किसी वस्तु को कम लागत पर अन्य देश से आयात कर सकता है जबकि उस वस्तु की देश में उत्पादन लागत आयात-लागत से अधिक हो तब उस वस्तु का आयात करना श्रेयकर होगा। इसके विपरीत, अन्य देश की तुलना में जिस वस्तु

को यह देश कम लागत पर उत्पादित कर सकता है, तब उपलब्ध साधनों का केवल उसी दिशा में उपयोग होना चाहिए और उसे दूसरे देशों को निर्यात करना चाहिए।

स्मिथ ने श्रम को उत्पादन का एक मात्र साधन माना तथा दो वस्तुओं के विनिमय में इन वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त श्रम इकाइयों के आधार पर किया जाता है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिए उन्होंने एक उदाहरण दिया, जो इस प्रकार है : "यदि शिकारियों के एक देश में हिरण को मारने की अपेक्षा एक ऊदबिलाव को मारने में दोगुने अधिक श्रम की आवश्यकता होती है तो स्वाभाविक है कि ऊदबिलाव का विनिमय दो (या अधिक) हिरणों के समान होगा। यदि उस अनुपात में परिवर्तन कर दिया जाये (जैसे एक ऊदबिलाव तीन हिरणों के समान हो) तो अधिक लोग ऊदबिलाव के शिकार में लग जाएंगे ताकि उन्हें ऊदबिलाव के बढ़े हुए मूल्य का लाभ मिल सके। इससे ऊदबिलावों की पूर्ति में वृद्धि होगी और साथ ही हिरणों की पूर्ति में कमी होगी। फलस्वरूप विनिमय का अनुपात हिरणों के पक्ष में एवं ऊदबिलावों के विपक्ष में हो जायेगा और यह परिवर्तन तब तक होता रहेगा जब तक कि मूल विनिमय-अनुपात पुनःस्थापित नहीं हो जाता।"[1]

स्मिथ के इस सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताओं में एक, उत्पादन का एक ही साधन श्रम है तथा दूसरी, श्रम एक देश के भीतर पूर्णतया गतिशील होता है किन्तु दो देशों के बीच बिल्कुल नहीं है।

स्मिथ के सिद्धान्त दो राष्ट्र तथा दो वस्तुओं की निरपेक्ष श्रम लागत को लेकर स्पष्ट किया जा सकता है।

यदि 'अ' राष्ट्र 'क' वस्तु की एक इकाई उत्पादन में 10 इकाई श्रम का उपयोग करता है किन्तु 'ब' राष्ट्र उसी एक इकाई 'क' वस्तु को उत्पादित करने में 20 इकाई श्रम काम में लेता है। तथा 'अ' राष्ट्र 'ख' वस्तु की एक इकाई उत्पादन में 20 इकाई श्रम लगाता है जबकि 'ब' राष्ट्र केवल 10 इकाई श्रम ही काम में लेता है, तब ऐसी स्थिति में दोनों राष्ट्र यदि आपस में व्यापार करते हैं तो दोनों को लाभ होगा।

यदि दोनों राष्ट्र दोनों वस्तुओं का विनिमय 1:1 इकाई अनुपात में करें ताकि एक इकाई 'क' वस्तु के बदले एक इकाई 'ख' वस्तु प्राप्त की जा सके तब 'अ' राष्ट्र 'ख' वस्तु की एक इकाई केवल श्रम की 10 इकाई खोकर प्राप्त कर सकता है, किन्तु यदि वह ख की एक इकाई स्वयं उत्पादित करने का निर्णय लेता है तो उसे 20 इकाई श्रम लगाना पड़ेगा। इसी तरह 'ब' राष्ट्र को केवल 10 इकाई श्रम का ही त्याग करना पड़ेगा यदि वह 'क' वस्तु की एक इकाई स्वयं न उत्पादित कर 'ब' राष्ट्र से आयात करने का निर्णय लेता है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि दोनों राष्ट्र दोनों वस्तुओं की अधिक इकाइयाँ प्राप्त कर सकते, उसी श्रम मात्रा से, यदि आपस में व्यापार करते हैं।

यह एक अत्यन्त सरल सिद्धान्त है जो व्यापार के लाभों को स्पष्ट करता है। इसमें शर्त यह है कि व्यापार स्वतंत्र तथा बिना सरकारी हस्तक्षेप के हो। स्मिथ के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि दोनों राष्ट्रों में निरपेक्ष श्रम-लागत समान हुई तो व्यापार लाभप्रद होगा या नहीं। स्मिथ के अनुसार तब व्यापार लाभदायक नहीं होगा जबकि रिकार्डो ने बताया

---

1. अग्रवाल, बरला, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पृ.25 में उद्धृत।

कि तब भी व्यापार लाभप्रद हो सकता है कारण तब तुलनात्मक लागतें भिन्न होंगी। रिकार्डो ने अधिक स्पष्ट तथा व्यवहारिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

1.2.2 रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त

डेविड रिकार्डो ने अपनी पुस्तक, "The Principles of Political Economy and Taxation", जो 1817 में प्रकाशित हुई, में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के शुद्ध सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की। रिकार्डो ने स्वतंत्र व्यापार की मान्यता के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लिए लागतों के निरपेक्ष अन्तर की अपेक्षा सापेक्ष अन्तर की आवश्यकता है। रिकार्डो ने यह तर्क दिया कि एक ही राष्ट्र दोनों वस्तुओं को निरपेक्ष दृष्टि से कम लागत पर तैयार कर सकता है लेकिन यहां दोनों वस्तुओं की लागत का अनुपात दूसरे राष्ट्र की दोनों वस्तुओं की लागत के अनुपात से तुलना करने पर एक राष्ट्र एक वस्तु में सापेक्ष रूप में कम लागत वाला तथा दूसरा राष्ट्र दूसरी वस्तु में कम लागत वाला साबित होगा। ऐसी स्थिति में जिस राष्ट्र की जिस वस्तु में सापेक्ष लागत कम है उसमें विशिष्टीकरण करके व्यापार (निर्यात) करेगा तो उसे लाभ प्राप्त होगा। इसे तुलनात्मक लागत या सापेक्ष लागत-लाभ सिद्धान्त (Doctrine of Comparative Cost or Relative Cost Advantage) के नाम से जाना जाता है।

1.3 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताएं (Assumptions of the Comparative Cost Advantage)

1. श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन है, फलतः वस्तु की कीमत उस वस्तु के उत्पादन में निहित श्रम-लागत को बताती है।
2. श्रम की सभी ईकाइयाँ समरूप (homogeneous) होती हैं।
3. उत्पादन के साधन देश के अन्दर पूर्णतया गतिशील किन्तु अन्य देशों के बीच पूर्णतया अगतिशील होते हैं।
4. उत्पादन में स्थिर लागत (प्रतिफल) अनुपात लागू होते है अर्थात उत्पादन में मितव्ययिताएं या अमितव्ययिताएं नहीं पायी जाती।
5. सिद्धान्त दो देश, दो वस्तुऐं तथा एक साधन (श्रम) का अध्ययन करता है अर्थात रिकार्डो का व्यापार मॉडल 2x2x1 है।
6. व्यापार में परिवहन लागतें नहीं होती हैं।
7. वस्तुओं की कीमतें उनकी वास्तविक उत्पादन लागत (श्रम) द्वारा निर्धारित होती हैं।
8. वस्तु व सेवा के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है।
9. तकनीकी ज्ञान को स्थिर माना है। दो वस्तुओं के उत्पादन में एक ही राष्ट्र एक ही तकनीक अपनाता है अर्थात उत्पादन फलन दोनों वस्तुओं के लिए एक ही होता है किन्तु ऐक ही वस्तु के उत्पादन में उत्पादन फलन दो देशों में भिन्न होता है। अर्थात तकनीक दो देशों में भिन्न होती है।

1.4 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या

अपने सिद्धान्त को समझाने के लिए रिकार्डो ने दो राष्ट्र क्रमशः इंग्लैंड एवं पुर्तगाल तथा दो वस्तुऐं शराब व कपड़ा लिये। रिकार्डो ने सर्वप्रथम यह बताया कि पुर्तगाल दोनों वस्तुओं, शराब व कपड़ा बनाने में निरपेक्ष श्रम-लागत के अनुसार इंग्लैण्ड से अधिक लाभ की स्थिति में हैं। क्योंकि निम्न तालिका में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि पुर्तगाल को शराब व कपड़ा दोनों ही वस्तुओं के निर्माण में कम निरपेक्ष श्रम-लागत वहन करनी पड़ती है।

तालिका-1.1

श्रम लागत तुलना

	उत्पादन श्रम-लागत (घंटों में)	
	एक इकाई शराब	एक इकाई कपड़ा
पुर्तगाल	80	90
इंग्लैण्ड	120	100

तालिका 1.1 से यह स्पष्ट है कि पुर्तगाल में शराब व कपड़ा दोनों के उत्पादन में श्रम-लागत इंग्लैण्ड की तुलना में निरपेक्ष रूप से कम है। स्मिथ ऐसी स्थिति में दोनों राष्ट्रों में व्यापार को लाभप्रद नहीं मानता किन्तु रिकार्डो ऐसी स्थिति में भी व्यापार को लाभदायक मानता है। इस स्थिति को स्पष्ट करने में उसने उत्पादन में अवसर लागत (जिसका प्रतिपादन हेबरलर ने किया तथा जिसका विस्तृत अध्ययन अगले पाठ में किया जायेगा) का उपयोग किया। अवसर लागत का अभिप्राय है कि एक वस्तु की अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने के लिए अन्य वस्तु की कितनी इकाईयों को त्यागना पड़ेगा।

तालिका 1.2 में शराब व कपड़े की अवसर-लागत इंग्लैण्ड व पुर्तगाल में क्या होगी, को दर्शाया गया है।

तालिका-1.2

अवसर-लागत

	अवसर लागत	
	शराब	कपड़ा
पुर्तगाल	$80/90 = 8/9 = 0.89$	$90/80 = 9/8 = 1.12$
इंग्लैण्ड	$120/100 = 12/10 = 1.20$	$100/120 = 10/12 = 0.83$

एक राष्ट्र किसी वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ की स्थिति में तब होगा जबकि उस वस्तु की अवसर लागत वहां अन्य राष्ट्र की तुलना में कम हो। तालिका 1.2 में बताया गया है कि शराब के उत्पादन में पुर्तगाल को इंग्लैण्ड की 1.20 की तुलना में केवल 0.89

श्रम इकाई लगानी पड़ती है। दूसरी ओर कपड़े के उत्पादन में इंग्लैण्ड केवल 0.83 श्रम-इकाई लगाता है जबकि पुर्तगाल में यह लागत 1.12 इकाई है। इस प्रकार पुर्तगाल को तुलनात्मक लागत-लाभ शराब के उत्पादन में है जबकि इंग्लैण्ड को यह स्थिति कपड़े के उत्पादन में प्राप्त होती है। रिकार्डो ने यह बताया कि यदि पुर्तगाल शराब का उत्पादन करके इंग्लैण्ड को निर्यात करता है तथा इंग्लैण्ड कपड़े का उत्पादन करता है तथा पुर्तगाल को निर्यात करता है तो ऐसी स्थिति में दोनों राष्ट्रों को व्यापार से लाभ होगा।

1.5 रिकार्डो द्वारा व्यापार-लाभ का विश्लेषण (Ricardo on Gains from Trade)

हम यह मान कर चलते हैं कि यदि पुर्तगाल व इंग्लैण्ड (बिना व्यापार के) दोनों ही राष्ट्र दोनों वस्तुओं का उत्पादन तथा उपभोग करते हैं तब दोनों वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण दोनों राष्ट्रों में उनकी उत्पादन लागतों द्वारा होगी। यदि इंग्लैण्ड एक इकाई शराब के उत्पादन में 120 श्रम-घण्टे काम लेता है जबकि एक इकाई कपड़ा उत्पादन में 100 श्रम-घण्टे लगते हैं तो स्पष्ट है कि शराब की उत्पादन लागत प्रति इकाई कपड़ा उत्पादन की तुलना में अधिक है। अर्थात् एक इकाई शराब की लागत $120/100 = 1.2$ इकाई कपड़ा उत्पादन के बराबर है इसी भांति यदि पुर्तगाल एक इकाई शराब के उत्पादन में 80 श्रम-घण्टे तथा एक-इकाई कपड़ा उत्पादन में 90 श्रम-घण्टे लगाता है तो स्पष्ट रूप से पुर्तगाल में कपड़ा उत्पादन शराब की तुलना में महंगा है। अर्थात एक इकाई शराब की लागत $80/90 = 8/9 = 0.89$ इकाई कपड़ा उत्पादन के बराबर है।

अब यदि व्यापार संभव है तो इंग्लैण्ड एक इकाई शराब का आयात 1.2 इकाई कपड़ा लागत से कम में कर सकता है। और ऐसा करने से उसे लाभ होगा। इसी भांति यदि पुर्तगाल एक इकाई शराब के बदले 0.89 इकाई से अधिक कपड़ा आयात कर सके तो उसे भी ऐसा करने से लाभ होगा। इसलिए यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत एक इकाई शराब की 1.20 तथा 0.89 इकाई कपड़ा के बीच हो तो दोनों ही राष्ट्रों को व्यापार से लाभ होगा।

अब हम अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में यह मान्यता लेकर चलते हैं कि एक इकाई शराब के बदले एक इकाई कपड़ा का विनिमय होता है। इंग्लैण्ड के लिए कपड़े का निर्यात तथा तथा शराब का आयात लाभदायक है क्योंकि यदि व्यापार नहीं होता है तो इंग्लैण्ड को प्रति इकाई शराब देश में ही निर्माण करने में 120 घण्टे श्रम-लागत वहन करनी पड़ती है जबकि व्यापार से वह 100 श्रम-घण्टे लगाकर एक इकाई कपड़ा निर्मित करेगा तथा इसे एक इकाई शराब आयात (पुर्तगाल से) करने पर खर्च कर सकेगा। व्यापार के अभाव में इंग्लैण्ड को एक इकाई शराब बनाने में 120 श्रम-घण्टे खर्च करने पड़ेंगे जबकि आयात करने पर केवल 100 श्रम-घण्टे ही लगेंगे, इस प्रकार 20 अतिरिक्त श्रम-घण्टे, जो व्यापार (आयात) करने से बचेंगे उन्हें वह अधिक कपड़ा उत्पादन पर लगा सकेगा और ऐसा करके वह अधिक ऊंचे उपभोग के स्तर पर पहुंच जायेगा या बचे श्रम-घण्टे आराम (विश्राम) में व्यतीत किये जा सकते हैं और इस तरह व्यापार अधिक विश्राम प्रदान कर सकता है बिना उपभोग के स्तर को कम किये।

पुर्तगाल को भी व्यापार से इसी भांति लाभ प्राप्त होगा। व्यापार के अभाव में पुर्तगाल एक इकाई कपड़ा उत्पादन में 90 श्रम-घण्टे काम में लेता है। अब वह 80 श्रम-घण्टे खर्च करके एक इकाई शराब बनायेगा तथा इस इकाई शराब को बेचकर एक इकाई कपड़ा आयात

(इंग्लैण्ड से) कर सकेगा। फलतः पुर्तगाल के पास 10 श्रम-घण्टे बच जायेंगे जिन्हें वह या तो शराब का अतिरिक्त उत्पादन में लगायेगा या अधिक विश्राम में काम में लेगा।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों राष्ट्रों को अपनी तुलनात्मक लाभ वाली वस्तु के उत्पादन में विशिष्टिकरण में मदद करता है तथा उस वस्तु का विनिमय उस दूसरी वस्तु से करेगा जिसमें उसके तुलनात्मक कम लाभ या अलाभ की स्थिति होगी। पुर्तगाल व इंग्लैण्ड के बीच शराब का अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात 0.89 तथा 1.20 के बीच कहीं निर्धारित होगा यदि 0.89 के समीप निर्धारित होती है तो इंग्लैण्ड को अधिक लाभ होगा जबकि 1.20 के आसपास निर्धारण का अधिक लाभ पुर्तगाल को होगा। इसी तरह कपड़ा के अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात 1.12 तथा 0.83 के बीच निर्धारित होगा। 1.12 के समीप निर्धारण से पुर्तगाल को तथा 0.83 के आसपास निर्धारण से इंग्लैण्ड को लाभ अधिक होगा।

रिकार्डो ने इस प्रकार श्रम-लागत सिद्धान्त के आधार पर श्रम की तुलनात्मक लागतों के विश्लेषण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को लाभप्रद सिद्ध किया है तथा यह बताया कि व्यापार विशिष्टीकरण को जन्म देता है।

1.6 रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Ricardo's Theory)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इसे अत्यधिक सरल तथा अव्यावहारिक बताया। इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :

(i) श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन नहीं है, जैसा कि हमने ऊपर बताया कि रिकार्डो ने उत्पादन प्रक्रिया में केवल एक मात्र साधन श्रम को ही बताया है, वस्तुतः किसी भी वस्तु के उत्पादन में श्रम के अलावा पूंजी, भूमि तथा अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। साथ ही श्रम को समरूप बताया, यह भी गलत है क्योंकि कोई दो श्रमिक अपनी कार्यकुशलता में समान नहीं होते तथा एक ही श्रमिक सभी प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में भी समान कार्य कुशल हो, अवास्तविक लगता है।

(ii) रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत-लाभ का आधार श्रम-लागत के अन्तर को बताया और इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का होना बताया जो गलत है। उत्पादन-लागत में अन्तर अनेक तत्वों के कारण होते हैं जिनमें श्रम तो केवल मात्र एक तत्व है।

(iii) तकनीक ज्ञान के बारे में रिकार्डो ने यह बताया कि एक देश दो वस्तुओं के उत्पादन में एक ही तकनीक का उपयोग करता है, गलत जान पड़ता है क्योंकि अलग वस्तुओं के उत्पादन में अलग तकनीक का प्रयोग होता है। यह बात जरूर सही जान पड़ती है कि दो राष्ट्र एक ही वस्तु के उत्पादन में पृथक तकनीक का उपयोग करें। यह इसलिए संभव है क्योंकि तकनीक के प्रसारण व विदोहन में समय अन्तराल महत्वपूर्ण होता है फिर भी इस मान्यता का आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने विरोध किया है तथा कहा है कि यह भी अवास्तविक है।

(iv) साधनों की पूर्ण गतिशीलता देश के अन्दर होती है कि मान्यता भी पूर्णतया सही नहीं है क्योंकि बहुधा व्यावहारिक जीवन में देखने को मिलता है कि अधिक ऊंचे पारिश्रमिक का प्रलोभन भी व्यक्ति को अपना घर, परिवार छोड़ने को प्रेरित नहीं कर

पाता। साथ ही दूसरे देशों में श्रम की अगतिशीलता की मान्यता भी उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि भारत से ही इंजीनियर, डाक्टर तथा अन्य विशेषज्ञ अमेरिका, यूरोप व खाड़ी देशों में जाते हैं तथा वहां बस भी गये हैं।

(v) क्लासिकल मान्यताएं जैसे स्वतंत्र व्यापार, शून्य परिवहन व्यय, सरकारी हस्तक्षेप नहीं आदि अवास्तविक तथा अव्यवहारिक है क्योंकि हर राष्ट्र अपने आयातों पर अनेक प्रतिबंध लगाता है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर वस्तुओं के भेजने में परिवहन लागत होती है तथा हर राष्ट्र की सरकार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष अनेक नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगाती है।

1.7 रिकार्डो सिद्धान्त की आनुभविक प्रमाणीकरण (Empirical Verification of Ricardo's Theory)

अनेक अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत-लाभ के अनुभविक प्रमाणीकरण करने के प्रयत्न किये हैं। इनमें से प्रमुख हैं जी.डी.ए. मेकडुगल, रॉबर्ट स्टर्न, वेला बलासा आदि। इन तीनों ही विद्धानों ने अपने अध्ययन में अमेरिका व इंग्लैण्ड के आंकड़ों का उपयोग किया है। मेकडुगल ने 1937, स्टर्न ने 1950 व 1959 तथा बलासा ने 1950 के आँकड़ों का उपयोग किया।

तीनों अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए श्रम-मूल्य सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयास किया। इनके अनुसार श्रम की उत्पादकता में भिन्नता वस्तुओं की उत्पादन-लागत में अन्तर पैदा करती है जो व्यापार-पूर्व की कीमतों को प्रभावित करती है। यदि कोई राष्ट्र किसी वस्तु की कम कीमत रख पाता है। अर्थात उसकी ऊँची श्रम-उत्पादकता के कारण उत्पादन लागत नीची रहती है, फलतः कीमत भी कम होती है, तो वह उस वस्तु को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बेचकर (निर्यात) लाभ अर्जित कर सकता है।

अनेक व्यवहारिक कठिनाइयों तथा श्रम-उत्पादकता की माप का सन्तोषजनक आधार नहीं होने के कारण आधुनिक अर्थशास्त्रियों (जिनमें जगदीश भगवती प्रमुख हैं) ने इन आनुभविक प्रमाणीकरण अध्ययनों को बहुत सही नहीं माने है।

1.8 सारांश

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों एडम स्मिथ एवं डेविड रिकार्डो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त प्रतिपादित किया। स्मिथ के निरपेक्ष लागत अन्तर के सिद्धान्त को रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रतिपादन करके परिष्कृत किया। दोनों सिद्धान्तों में व्यापार का आधार श्रम-मूल्य सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को माना गया है तथा दो वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लागतों का विश्लेषण अवसर-लागतों के आधार पर किया गया है। यद्यपि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा दिया गया यह सिद्धान्त व्यापार के आधारभूत ढांचे को स्थापित करता है जिसके आधार पर बाद में आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने ज्यादा वैज्ञानिक अध्ययन किये। रिकार्डो इस बात को बताने में असमर्थ रहे कि दो देशों के लागत-अनुपातों में अन्तर क्यों होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर बाद में स्वीडन के दो अर्थशास्त्रियों एली हैक्शर तथा बर्टिल ओहलिन ने दिया, जिसका अध्ययन हम आगे के पाठों में करेंगे।

1.9 शब्दावली

1. **श्रम-मूल्य सिद्धान्त : (Labour Theory of Value)**

   क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जिसमें केवल श्रम को उत्पादन का एक मात्र साधन माना गया है और श्रम की लागत ही उत्पादन-लागत को निर्धारित करती है।

2. **निरपेक्ष लागत :**

   उत्पादन में काम आये साधन (श्रम) पर किया गया व्यय जिसका अध्ययन दो देशों तथा दो वस्तुओं के लिए निरपेक्ष इकाइयों के रूप में किया जाय।

3. **सापेक्ष लागत :**

   उत्पादन में काम आये साधनों पर किया गया व्यय जिसकी तुलना दो राष्ट्रों के बीच तथा दो वस्तुओं के बीच की जाये।

4. **अवसर लागत :**

   एक वस्तु की एक इकाई उत्पादित करने की अवसर लागत, दूसरे वस्तु की जितनी इकाईयों के उत्पादन को लागत पड़ती है, को कहते हैं।

1.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. International Economics, Peter H. Lindert, 1986, Irwin.
2. International Economics, Bo Sodersten, 1980, Mc-Millan.
3. International Economics, M.C. Vaish and Sudama Singh, 1983, Oxford. (both English and Hindi)
4. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, अग्रवाल एवं बरला, 1990, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

1.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न 1. एडम स्मिथ के निरपेक्ष-लागत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

(संकेत: केवल स्मिथ के सिद्धान्त को लागत के आंकड़ों के आधार पर समझाइये)

प्रश्न 2. "प्रतिष्ठित सिद्धान्त में तुलनात्मक लागतों का सिद्धान्त अपेक्षाकृत बेहतर सिद्ध हुआ है।" समझाइये

(संकेत: रिकार्डो के सिद्धान्त की सोदाहरण व्याख्या करते हुए इसकी मान्यताओं को बताइये तथा यह स्पष्ट करिये कि क्या वे व्यवहारिक हैं)

प्रश्न 3. रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

(संकेतः सिद्धान्त का सोदाहरण देते हुए इसकी मान्यताओं को बताइये तथा उनकी व्यवहारिकता पर विवेचना करें तथा इसकी आनुभविक प्रमाणीकरण के बारे में बताइये।)

इकाई – 2

मिल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिपूरक मांग का सिद्धान्त

(Mill's Theory of Reciprocal Demand of International Trade)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मिल का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त

2.2.1 समीकरण के रूप में सिद्धान्त की व्याख्या

2.2.2 बदलती डी.ई.आरों/डी.टीओं/बी.टी.टीओं/डी.आर.टीओं तथा व्यापार की परिधि

2.2.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों (आई.टी.टी) का निर्धारण

2.2.4 उदाहरण

2.3 संक्षिप्तीकरण

2.4 स्वतन्त्र व्यापार पर मिल के विचार

2.5 संरक्षण पर मिल के विचार

2.6 मिल के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

2.7 शब्दावली

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को तैयार करने के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित को प्रदर्शन एवं व्याख्या करना है :

(i) जे.एस. मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त को "मूल्य-सिद्धान्त" के ढांचे के अन्दर विकसित किया जिसमें पूर्ति (लागतें) एवं मांग दोनों पक्षों पर विचार किया जाता है।

(ii) उसने अपने सिद्धान्त का विकास केवल रिकार्डो के सिद्धान्त का पूरक के रूप में नहीं बल्कि एक पृथक सिद्धान्त के रूप में किया।

(iii) मिल ने सही रूप में सिद्ध किया कि व्यापार की आन्तरिक शर्तें (डी.टी.टी.) जिसे व्यापार की अदल-बदल की शर्तें भी जानी जाती है या आन्तरिक परिवर्तन दर (डी. आर.टी.) या आन्तरिक विनिमय दर (डी.ई.आर.) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों के बराबर नहीं हो सकती है। ये आन्तरिक शर्तों से ऊंची होनी चाहिये।

(iv) मिल ने सही ही निरूपित किया कि लागत रेखायें (डी.ई.आर.) व्यापार के परिधि को निर्धारित करती है एवं व्यापार की वास्तविक शर्तों जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा, वे, दोनों देशों के पारस्परिक मांग और पूर्ति के सापेक्षिक शक्ति पर निर्भर करेगी।

(v) मिल ने पारस्परिक मांग का एक समीकरण प्रतिपादित किया जिसने यह निरूपित किया कि यह अनुपात तब स्थिर रहेगा जब प्रत्येक देश के आयात के भुगतान हेतु निर्यात पर्याप्त हो।

(vi) मिल ने यह भी निरूपित किया कि यदि एक देश की दूसरे देश की वस्तुओं के लिये मांग बेलोचदार है और पूर्ति भी बेलोचदार है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें व्यापार के घरेलू शर्तों (डी.टी.टी.) के अति निकट होगी तथा उसे अधिक वास्तविक वस्तुओं का निर्यात करना पड़ेगा और कम वास्तविक वस्तुओं को स्वीकृत करना होगा।

(vii) मिल ने सिद्ध किया कि जहां भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें व्यापार के परिधि के बीच हो वहां दोनों देश लाभान्वित होंगे यद्यपि सामान्य रूप से नहीं।

(viii) मिल ने यह भी सिद्ध किया कि पारस्परिक मांग या प्रति पूरक मांग का समीकरण स्वतन्त्र व्यापार की परिस्थितियों में लागू होगा।

(ix) स्वतन्त्र व्यापार में छोटे देश बड़े देशों की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

मिल के इस योगदान के कारण अनुवर्ती अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क दिया कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार" कीमतों के तुलनात्मक अन्तर के कारण होता है न कि तुलनात्मक लागतों के अन्तर के कारण और इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियों ने मिल के मांग (प्रभाव) को सम्मिलित किया।

2.1 प्रस्तावना

मिल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के "पारस्परिक या प्रतिपूरक मांग का सिद्धान्त" अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त का टोरेन्स ने नामकरण किया एवं रिकार्डो ने विकास किया था, का पूरक है।

प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के एडम स्मिथ, टी.आर. माल्थस एवं डेविड रिकार्डो जिन्हें इस समुदाय का 'त्रिमूर्ति' कहा जाता है ने अहस्तक्षेप तथा यथेच्छकारिता के उदारतावादी अर्थशास्त्र का विकास किया। स्वयं के व्यवसाय चयन करने की स्वतन्त्रता या आर्थिक क्रिया के दिशा का चयन करने की स्वतन्त्रता, सौदा करने-वस्तु विनिमय एवं विनिमय करने की स्वतन्त्रता, निजी

सम्पत्ति के स्वामित्व की स्वतन्त्रता, कीमत निर्धारण करने, कीमत का सौदा करने, निजी स्वार्थ को आगे बढ़ाने आदि की स्वतन्त्रता उसकी आर्थिक प्रणाली की आधार शिला थी। उनके स्वतन्त्र बाजार उदाहरण में (निजीकरण एवं विपणीकरण) कीमत, उत्पादन लागत (जिसमें सामान्य लाभ भी सम्मिलित है) के बराबर थी तथा इसे "अदृश्य हाथ" माना गया जो विनियोग का आबन्टन तथा मांग एवं पूर्ति का नियमन करता था। यह विश्वास किया गया था कि यदि स्वतंत्र व्यापार है (जिसमें स्वर्ण निर्यात-आयात करने की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है) तो उपभोग मूल्य (अर्थात उपयोगितायें) तथा विनिमय मूल्य (कीमतें) अधिक होंगे और आर्थिक विकास स्थिर, संचयी तथा बिना रुकावट (बिना कठिनाई) के होगा।

रिकार्डो ने यह भी प्रमाणित किया कि लागत के निरपेक्ष लाभ तुलनात्मक भी होनें चाहिए अन्यथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं हो सकता है और न होना चाहिए। उसने इसका समर्थन किया कि एक देश को उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करना चाहिए (उसके दो देश, दो वस्तुओं के मॉडल में) जिसमें तुलनात्मक लागत के अन्तर अधिकतम हो। उसने यह भी तर्क किया कि उस देश को उत्पादन के साधनों (भूमि, श्रम, पूंजी और संगठन) को उस विशिष्टीकृत वस्तु के उत्पादन में लगाना चाहिए, "दूसरी वस्तु" को घरेलू लागत से ऊंची लागत पर आयात किया जा सकता है परन्तु तुलनात्मक हानि न्यूनतम होनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पूर्ति पक्ष के सिद्धान्त के सम्बन्ध में रिकार्डो ने यह तर्क किया कि लागत के तुलनात्मक अन्तर में तुलनात्मक लाभ भी सम्मिलित है, जिस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो सकता है या होना चाहिये।

2.2 मिल का अन्तर्राट्रीय व्यापार सिद्धान्त

जे.एस. मिल ने अपना सिद्धान्त इस प्रकार व्यक्त किया :

"वास्तविक अनुपात जिस पर वस्तुओं का व्यापार होता है यह प्रत्येक देश की दूसरे देश की वस्तु के लिये मांग की मात्रा एवं लोच की शक्ति पर निर्भर होगा या पारस्परिक मांग पर निर्भर होगा। यह अनुपात तब स्थिर होगा जब प्रत्येक देश का निर्यात मूल्य उसके आयात के भुगतान करने हेतु पर्याप्त हो"

इस प्रकार निर्यात आगम = आयात भुगतान होना चाहिए।

यदि इंग्लैण्ड फ्रांस को कोयला निर्यात करता है और फ्रांस इंग्लैण्ड को शराब निर्यात करता है तब ये अपने उत्पाद के लिये ऐसी कीमत लेंगे कि ये देश कोयला और शराब की वांछित मात्रा का व्यापार कर सकें। निम्नलिखित सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है कि :

(1) यदि इंग्लैण्ड कोयले की कीमत कुछ प्रतिशत से बढ़ा देता है तब फ्रांस भी शराब की कीमत को बढ़ा देगा ताकि मांग की लोच के आधार पर शराब की पूर्ववत मात्रा के बदले कोयला के पूर्ववत मात्रा का आयात लगातार चालू रख सकें।

(2) यदि इंग्लैण्ड कोयले की कीमत बढ़ा देता है जबकि फ्रांस अपने शराब की कीमत बढ़ा नहीं सकता है तब इंग्लैण्ड को कोयले की पूर्ववत मात्रा प्राप्त करने के लिये पहले से ज्यादा शराब निर्यात करना पड़ेगा।

(3) यदि इंग्लैण्ड कोयले की कीमत बढ़ा देता है परन्तु फ्रांस शराब की कीमत बढ़ा नहीं सकता है न ही ऐसी स्थिति में है कि वह ज्यादा शराब निर्यात कर सकता है तब

फ्रांस को अपने देश में कोयले का आयात कम करना पड़ेगा।

(इस प्रकार यदि कोयले की कीमत में वृद्धि की जाती है, तब (a) शराब की कीमत बढ़ा दी जायेगी और/या (b) ज्यादा शराब का निर्यात करना पड़ेगा और/या (c) कम कोयला का आयात करना पड़ेगा)

(यदि फ्रांस शराब की कीमत बढ़ा देता है तब इंग्लैण्ड में इसी प्रकार का समायोजन होगा) इनमें से किसी एक देश के द्वारा कीमत में कमी करने पर समायोजन इसके विपरीत किया जाएगा।

यदि एक देश की आर्थिक स्थिति मजबूत है (दूसरे देश के उत्पाद के लिये मांग लोचदार है तथा स्वयं के उत्पाद की पूर्ति लोचदार है), तब वह व्यापार की श्रेष्ठतर शर्तें एवं उसके निर्यात के लिये ऊंचे वास्तविक आयात प्राप्त कर सकेगा।

2.2.1 समीकरण के रूप में सिद्धान्त की व्याख्या

अन्तर्राष्ट्रीय मांग का समीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है :

$$Pa \times Qa = Pb \times Qb$$

यहां P = कीमत

Q = मात्रा

a और b = विभिन्न वस्तुओं के आयात एवं निर्यात इंगित करते हैं

संख्यात्मक रूप में

$$10 \times 100 = 5 \times 200$$

इस प्रकरण में निर्यात आयात का भुगतान करता है। यदि निर्यात कीमतों को बढ़ाकर रुपया 20/- कर दें तथा निर्यात की जाने वाली मात्रा में गिरावट न हो अर्थात पहले की 100 मात्रायें बेची जा सकती है तब आयात की पूर्ववत कीमत रुपया 05=00 में 400 इकाइयां आयात की जा सकती हैं।

यदि निर्यात की मात्रायें आधी हो जाती है तो कीमत के अपरिवर्तित रहने पर आयात की मात्रायें भी प्रभावित होगी।

एक देश के निर्यात कीमत में यदि वृद्धि हो जाती है परन्तु दूसरे देश, बदले में 200 इकाइयों से अधिक निर्यात नहीं करना चाहता है तब लोच के आधार पर दूसरा देश भी अपनी कीमत में वृद्धि कर रुपया 10=00 कर सकता है।

यदि एक परिवर्ती बदल जाता है, यह अवश्यम्भावी है कि कोई अन्य या एक से अधिक परिवर्तियां ऐसे बदल जाती है कि समीकरण के दोनों ओर समान हो जाता है।

2.3.2 बदलती डी.ई.आरों/डी.टीओं/बी.टी.टीओं/डी.आर.टीओं तथा व्यापार की परिधि (Differing DERs/DTTs/BTTs/DRTs and the zone of Trading)

यह विदित है कि साधन सम्पन्नता तथा उनकी कुशलता उत्पादन सम्भावनाओं को निर्धारित करती है। मान लें कि भारत उसके सभी उत्पादन साधनों को गेहूं और चावल के उत्पादन में लगा देता है, तो इन दोनों वस्तुओं की 50 और 30 मेगा इकाइयां उत्पादन कर सकता है, जबकि बंगला देश इन वस्तुओं 20:60 मेगा इकाइयाँ उत्पादन कर सकता है तब उत्पादन सम्भावना रेखायें निम्नलिखित होंगी:

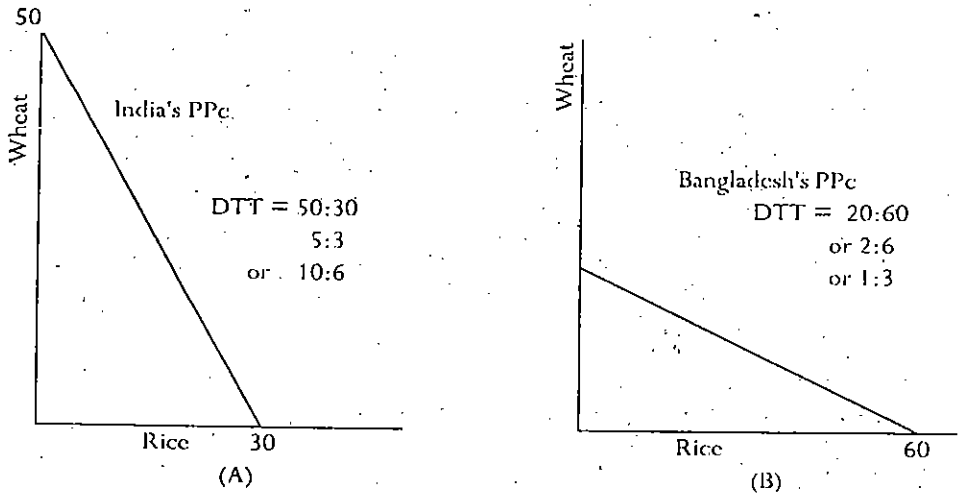

चित्र 2.1

यह भी देखा जा सकता है कि भारत की आन्तरिक विनिमय दर 50:30, या व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तें 50:30 हैं तथा आन्तरिक विनिमय अनुपात (डी.ई.आर.) 5:3 लिखा जा सकता है अर्थात उत्पादन के सम्पूर्ण परिधि तथा उपभोग/विनिमय में 5 इकाई गेहूं के बदले 3 इकाई चावल का विनिमय होगा तथा गेहूं सापेक्षिक रूप से सस्ता है।

बंगला देश में 20:60 (डी.आर.टी.) आन्तरिक विनिमय दर व्यापार की आन्तरिक विनिमय शर्तों या व्यापार के वस्तु विनिमय शर्तों (डी.टी.टी. या बी.टी.टी.) 20:60 निर्धारित करता है तथा डी.ई.आर. 2:6 होगा। इसको एक सार्व भिन्न में परिवर्तित करने पर दोनों देशों के आन्तरिक व्यापार शर्तें (डी.टी.टीओ) से निम्नलिखित होगी:

	भारत		बंगला देश
	50:30	&	20:60
	5:3		2:6
	5:3	&	1:3
या	10:6	&	2:6

ये डी.आर.टी/डी.टी.टी./डी.ई.आर./बी.टी.टी. रेखाये व्यापार के परिधि को निर्धारित करती है। भारत 5:3 की अन्तर्राष्ट्रीय व्यय शर्तें स्वीकार नहीं करेगा। भारत ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें (आई.टी.टी.) स्वीकार करेगा जिस पर उसे 5 से कम इकाई गेहूं ही 3 इकाई चावल के लिए देना पड़े या 5 इकाई गेहूं के बदले में 3 इकाई से ज्यादा चावल प्राप्त हो) इसी प्रकार बंगला देश 2:6 या 1:3 से कम दर की व्यापार की शर्तें स्वीकार नहीं करेगा। यदि उसे 2 इकाई गेहूं उसके 6 इकाई चावल के बदले मिल सकता है या उसे 2 इकाई गेहूं के लिये 6 इकाई चावल से कम भुगतान करना पड़े तो वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रवेश करेगा।

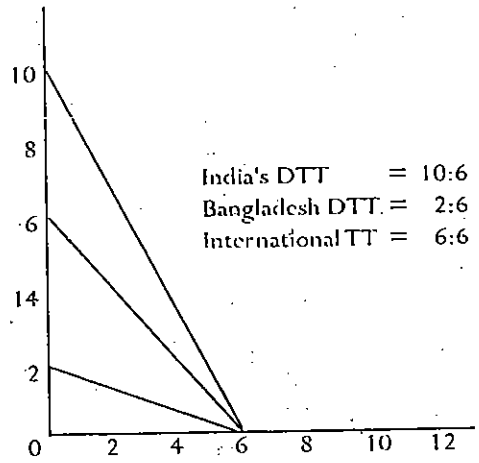

चित्र 2.2

भारत के आन्तरिक विनिमय दर डी.ई.आर./डी.टी.टी. (आन्तरिक व्यापार शर्तों के) (डी.टी.टी.) बांये तरफ उसको हानि हो रही है और बंगला देश के डी.ई.आर./डी.टी.टी. के बांये तरफ बंगलादेश को हानि हो रही है बीच का क्षेत्र "व्यापार की परिधि" है, जहां अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें निर्धारित होंगी। उदाहरणार्थ वे 6/6 या 1/1 हो सकते हैं।

यदि भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों को (आई.टी.टी.) आन्तरिक व्यापार शर्तों (DTT) के पास लाया जाये तो उसका अर्थ यह होगा कि बंगला देश सशक्त है। (आर्थिक और/या गैर आर्थिक अर्थों में) यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों की (आई.टी.टी.) रेखा को बंगला देश आन्तरिक व्यापार शर्तों को (डी.टी.टी.) रेखा के निकट लाया जायेगा वह यह दर्शायेगा कि भारत सशक्त स्थिति में है और बंगला देश कमजोर स्थिति में। फिर भी कोई भी देश दूसरे देश पर इतना अधिक प्रभाव नहीं डाल सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें (आई.टी.टी.) किसी भी देश के आन्तरिक व्यापार की शर्तों के (डी.टी.टी.) बराबर हो जाये।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें (आई.टी.टी.) 6/6 है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ बंट जाएगा। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों (आई.टी.टी.) की रेखा सापेक्षिक रूप से भारत के आन्तरिक व्यापार के शर्तों की (डी.टी.टी.) रेखा के निकटतर है तब बंगला देश को लाभ का एक बड़ा भाग मिलेगा और यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों की रेखा (आई.टी.टी.) बंगला देश के आन्तरिक व्यापार शर्तों की रेखा के (डी.टी.टी.) निकटतर है, तो भारत का लाभ अधिकतर होगा।

2.2.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों (आई.टी.टी) का निर्धारण

मिल ने इस प्रकार प्रमाणित किया "प्रत्येक राष्ट्र के श्रम की सापेक्षिक कुशलता द्वारा स्थापित आन्तरिक विनिमय अनुपात सम्भावित वस्तु विनिमय शर्तों की सीमा निर्धारित करता है।"

अन्य बातों के यथावत रहते मांग और पूर्ति की लोच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों को निर्धारित करती है।

(1) यदि बंगला देश के चावल के लिये भारत की मांग अत्यधिक तीव्र एवं बेलोच है, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें (आई.टी.टी.) भारत के आन्तरिक व्यापार शर्तों के निकटतम होंगी या बंगला देश के आन्तरिक व्यापार की शर्तों (डी.टी.टी.) से बहुत दूर हो जायेंगी और भारत सापेक्षिक रूप से व्यापार में अधिक गेहूं देगा।

(2) भारत के गेहूं के लिये बंगला देश की मांग ज्यादा तीव्र और बेलोच है, तो सापेक्षिक रूप से बंगला देश भारत को अधिक चावल (कीमत) देगा या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें (आई.टी.टी.) उसके आन्तरिक व्यापार शर्तों (डी.टी.टी.) के अधिक समीप होंगी तथा भारत के आन्तरिक व्यापार शर्तों से दूर हो जायेंगे।

(3) यदि भारत की पूर्ति बेलोच है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों की (नीची) (आई. टी.टी.) निम्न दर स्वीकार करेगा क्योंकि भारत गेहूँ विक्रय के लिये अत्यन्त विवश है।

(4) यदि बंगला देश को विक्रय करने की विवशता है क्योंकि उसके पास चावल की प्रचुर मात्रा है और भारत को छोड़कर अन्य कोई क्रेता नहीं है, ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें (आई.टी.टी.) उसके आन्तरिक व्यापार शर्तों (डी.टी. टी.) के निकटतर होंगी।

चावल के लिये यदि भारत की मांग बेलोच है और गेहूं की पूर्ति बेलोच है तो भारत की स्थिति कमजोर होगी, और बंगला देश की स्थिति तब कमजोर होगी जब गेहूं के लिये उसकी मांग बेलोच है और चावल की पूर्ति बेलोच है।

मिल के अनुसार दोनों वस्तुओं की कीमतें इस ढंग से अपने आप व्यवस्थित हो जाती हैं कि दोनों देशों की मांगी गई मात्रा ठीक-सन्तुलित हो जाती है। फ्रांस में कोयले की मांग इंग्लैण्ड में फ्रेंच शराब मांग से अधिक है तब इंग्लैण्ड उसके कोयले के बदले में शराब की अधिक मात्रा प्राप्त करेगा और परिणाम स्वरूप और वह अधिक लाभदायक स्थिति में होगा। मिल ने कहा,

"आयात कीमतों को आयात की मात्राओं से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल निर्यात कीमतों को निर्यात मात्राओं से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल के योग के बराबर होगा"।

यदि दोनों देश समान रूप से शक्तिशाली हैं या समान रूप से कमजोर हैं, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें व्यापार परिधि के वक्रों के बीच होगी (या लगभग होंगी)। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें (आई.टी.टी.) दोनों देशों के सौदा करने की सापेक्षिक शक्तियों से व्यवस्थित हो जाती है। यदि एक शक्तिशाली है और दूसरा कमजोर तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें

अंतिम सीमा की ओर ढकेल दिया जायेगा..... कमजोर देश के आन्तरिक व्यापार शर्तों के अंति निकट होगा **परन्तु इस देश के आन्तरिक व्यापार शर्तों के बराबर कदापि नही होगा।**

2.2.4 उदाहरण

मान लें कि एक देश के आन्तरिक व्यापार अनुपात (डी.आर.टी) वस्तु "ए" की 10 है तथा "बी" वस्तु की 15 है और देश "बी" में अनुपात 10:20 है।

वास्तविक व्यापार शर्तें	"ए" राष्ट्र वस्तुयें		"बी" राष्ट्र वस्तुयें	
Real TT	"ए"	"बी"	"ए"	"बी"
10:15	—	—	20000	30000
10:16	6000	9600	13000	20800
10:17	10000	17000	10000	17000
10:18	11000	19800	8000	14400
10:19	13000	24700	4000	7600
10:20	16000	32000	—	—

(सी.एफ. पेज 249, जे.सी.इंग्राम के अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की पुस्तक)

मिल के अनुसार व्यापार अनुपात के अंतिम शर्तों पर व्यापार संतुलित इस अर्थ में होना चाहिए कि इस अनुपात पर एक राष्ट्र द्वारा निर्यात की गई मात्रा ठीक उस मात्रा के बराबर होनी चाहिए जो दूसरे राष्ट्र खरीदने हेतु तत्पर हैं। प्रत्येक राष्ट्र के निर्यात की **पूर्ति** दूसरे राष्ट्र के उस वस्तु की **मांग** के ठीक बराबर होनी चाहिये। इस व्यापार अनुपात की शर्तों पर संतुलन बने रहने हेतु यह एक शर्त है। मिल ने कहा कि यह संतुलन तब तक बना रहेगा जब तक की दोनों देशों की पारस्परिक मांग बराबर रहती है।

2.3 संक्षिप्तीकरण

मिल ने मांग प्रभाव को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में सम्मिलित किया। उसने सूचित किया कि तुलनात्मक लागतें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें निर्धारित नहीं करती बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों की उच्च एवं न्यूनतम सीमायें निर्धारित करती हैं। पारस्परिक मांग वास्तविक अनुपात को निर्धारित करती है। वह प्रत्येक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के उत्पाद के लिये मांग की प्रबलता व लोच पर निर्भर करता है यह अनुमान तब स्थिर होगा जब प्रत्येक राष्ट्र का निर्यात मूल्य इतना पर्याप्त हो कि उसके आयात का भुगतान कर सकें। यदि एक परिवर्ती बदल जाता है तो समीकरण के अन्य परिवर्तियों में परिवर्तन होगा और यह तब तक होगा जब तक पुनः एक बार निर्यात, आयात का भुगतान न करे। एक राष्ट्र के व्यापार की शर्तों में सुधार का अर्थ यह होता है कि उसे उतनी वास्तविक निर्यात के लिए उतना वास्तविक आयात प्राप्त

हो या वहां वास्तविक आयात के लिए कम वास्तविक निर्यात की आवश्यकता हो। एक राष्ट्र की व्यापार शर्तों में सुधार तब होगा जब दूसरे देश कमजोर हों अर्थात दूसरे देश के उसके स्वयं के आयात की मांग बेलोच हो तथा उसके निर्यात की पूर्ति बेलोच हो।

2.4 स्वतन्त्र व्यापार पर मिल के विचार:-

मिल प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र के वह अर्थशास्त्री थे जिसने इसे उसके विकास की चरम सीमा तक पहुंचाया वह बहु पक्षीय व्यापार बगैर बढ़ते हुए तटकर शुल्क और कोटा के चाहते थे। स्वतन्त्र व्यापार का अर्थ है कि "अतिरेक का आवश्यकता से विनिमय" अतः यह उपयोग मूल्यों (उपभोक्ताओं की उपयोगिताओं) तथा विनिमय मूल्यों (उत्पादकों के कीमतों एवं लाभों) को अधिकतम करता है। स्वतन्त्र व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को प्रोत्साहित करता है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इस पर जोर देते थे कि यदि वस्तुओं, सेवाओं और स्वर्ण आदि के आवागमन पर कोई प्रतिबंध न हो तो व्यापार संतुलन स्वयं-नियमित होगा। आयात से अधिक निर्यात का अर्थ होगा कि (1) वस्तुओं की सापेक्षिक कमी। ओर (2) मुद्रा की पूर्ति का सापेक्षिक आधिक्य। अतः कीमतें बढ़ जायेंगी, आयात सस्ता हो जायेगा, निर्यात महंगा हो जायेगा और व्यापार की प्रवृत्ति विपरीत हो जायेगी। इसी प्रकार यदि वस्तुओं का आयात, निर्यात से अधिक है तो वस्तुओं की सापेक्षिक अधिकता होगी तथा मुद्रा की पूर्ति में कमी होगी, कीमतें कम हो जायेंगी और निर्यात प्रोत्साहित होंगे, आयात हतोत्साहित होंगे तथा मुद्रा देश के अन्दर आने लगेगी।

मिल का विरोधाभास :

मिल ने एक गरीब देश की तुलना एक "फुटकर व्यापारी" से की तथा एक बड़े देश की तुलना एक "थोक व्यापारी" से की। स्वतन्त्र व्यापार में दोनों देशों को लाभ होता है, बड़े देश की लाभ सीमा कम है परन्तु हेरफेर (turn over) अधिक है। स्वतन्त्र व्यापार में दोनों देशों को लाभ होता है। और गरीब देश को और अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है क्योंकि इसको बड़े देश के लागत अनुपात का लाभ उठाकर बड़े देशों में बाजार मिल सकता है।

मिल का विरोधाभास का कथन यह है कि जैसे ही एक देश आर्थिक अर्थ में बड़ा हो जाता है व्यापार से प्राप्त लाभ कम हो जाता है। यह बहुत संम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात बड़े देश की कीमत अनुपात के निकट हो जाये क्योंकि यह देश आकार एवं सीमा में वही हो जाता है। इसका अर्थ यह होगा कि इस बड़े देश को व्यापार से प्राप्त लाभ कम हो जाता है।

2.5 संरक्षण पर मिल के विचार

मिल ने तर्क किया कि समान पारस्परिक मांग की स्थिति केवल स्वतन्त्र व्यापार के अन्दर ही प्राप्त हो सकती है। तथापि एक विशेष अपवाद के अन्दर उसने "शिशु उद्योग तर्क" को स्वीकार किया यदि उनके परीक्षण संतोषजनक हो जायें।

मिल ने लिखा, "एक संरक्षण कर एक उचित समय के लिये चालू रहने पर कुछ समय के लिए वह न्यूनतम असुविधाजनक रीति हो सकती है जिससे एक राष्ट्र ऐसे प्रयोग के समर्थन हेतु अपने आप पर करारोपण कर सकता है। परन्तु यह आवश्यक है कि संरक्षण ऐसे प्रकरणों तक सीमित रहना चाहिए जहां यह निश्चितता का अच्छा आधार हो सके कि कुछ

समय पश्चात् वह उद्योग जिसे वह राष्ट्र उत्साहित करता है उस कर को हटा सके। न ही घरेलू उत्पादकों को कदापि यह अपेक्षा करने देना चाहिए कि उनके द्वारा उन उद्योगों का विकास सक्षमता पूर्वक करने हेतु एक उचित प्रयोग करने के लिए आवश्यक समय से अधिक उस कर को चालू रखा जायेगा।" शिशु उद्योग तर्क यह था कि "शिशु का पालन करो, बालक की रक्षा करो, प्रौढ़ को स्वतन्त्र छोड़ो, युवा का मार्गदर्शन करो"। यह तर्क किया गया था कि "स्वतंत्र व्यापार" तब सम्मत है यदि दोनों देश विकास के समान चरण पर हों। उदाहरणार्थ, यदि एक देश "कृषि-उद्योग तथा व्यापार" के विकसित चरण में है जबकि दूसरा देश ठीक "कृषि-विकास के चरण" में है तब संरक्षण प्रदान किया जा सकता है। स्वतन्त्र व्यापार तात्कालिक लाभ को अधिकतम करता है, परन्तु संरक्षण उत्पादन क्षमताओं के विकास की सहायता कर ऊंचे भविष्य लाभ का दृढ़ विश्वास दिलाता है। संरक्षण कर के द्वारा एक राष्ट्र, निर्माण उद्योगों को प्रोत्साहित कर सकता है।

मिल के परीक्षण के लिये यह आवश्यक था कि :

(a) संरक्षण इसलिये नहीं प्रदान करना चाहिए क्योंकि वह उद्योग शिशु अवस्था में है बल्कि वह इसलिये **आवश्यक** है क्योंकि उसे अनावश्यक कठिन बाहरी प्रतियोगिता से बचा सके।

(b) संरक्षण औद्योगिक विकास के **प्रारम्भिक चरण** में प्रदान नहीं करना चाहिये।

(c) संरक्षण जितना जल्दी हो सके हटा देना चाहिये ताकि उद्योग भी उसकी कुशलता का सुधार करने का प्रयास करें।

2.6 मिल के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

मिल के सिद्धान्त को रिकार्डो के सिद्धान्त के पूरक अथवा एक पृथक सिद्धान्त मानना चाहिये इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। एकमत तो यह है कि उसे एक पृथक सिद्धान्त होने का श्रेय देना चाहिये। किंडिल बरजर (Kindleberger)के शब्दों में :

"यदि दोनों देशों का आकार असमान है, तो पारस्परिक मांग का पहलू बिल्कुल लागू नहीं होगा। बड़े राष्ट्र का कीमत-अनुपात प्रचलित रहेगा और छोटा राष्ट्र इस प्रचलित कीमत पर जितना चाहे कपड़ा या गेहूं दूसरे देश को बेच सकता है। **यही अमहत्वपूर्ण रहने का महत्व है।** कम से कम सिद्धान्त में तो छोटा राष्ट्र बहुत अधिक लाभ प्राप्त कर सकेगा। बड़े देश के पूर्व में प्रचलित कीमत के अनुपात के प्रकरण में जो लाभप्रद व्यापार की एक सीमा है हो सकता है कि वह प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के आशंका से अधिक बारबार हो सकता है। परन्तु जहां तक एक देश या दूसरे देश की मांग एवं पूर्ति या दूसरे देश की मांग और पूर्ति से उतने अति प्रबल नहीं है वहां प्रतिपूरक या पारस्परिक मांग का नियम कीमत को निर्धारित करता है"।

ऐल्सवर्थ (Ellsworth) मिल के सिद्धान्त का संक्षिप्तीकरण इस प्रकार करता है :

"संक्षिप्त में, (1) व्यापार के अदला बदली (या वस्तु विनिमय) की परिधि, प्रत्येक देश की तुलनात्मक कुशलता द्वारा जो आन्तरिक व्यापार शर्तों से निर्धारित होता है, से निश्चित होता है, (2) इस परिधि के अन्तर्गत वास्तविक शर्तें प्रत्येक देश के दूसरे देश की वस्तु की मांग पर निर्भर करेगी; और (3) अन्त में केवल वही वस्तु

विनिमय शर्तें स्थिर रहेंगी, जिस पर प्रत्येक देश के निर्यात उसके वांछित आयात के भुगतान करने के लिये ठीक पर्याप्त है"

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समान शर्तों का संतुलीकरण न केवल टिकाऊ प्रकृति का है बल्कि आज भी अत्यधिक संतोषजनक है। रिकार्डो का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त का केवल आंशिक व्याख्या ही प्रदान करता है। मिल ने मांग पक्ष को भी सम्मिलित किया और उसका यह सिद्धान्त मूल्य के समान्य सिद्धान्त का एक भाग बन गया। उसने सही सूचित किया कि यदि विकसित देश कम विकसित देशों से आयात करते हैं तो कम विकसित देश उनसे ज्यादा आयात कर सकते हैं।

फिर भी मिल के साथ कोई भी इस बात से सहमत नहीं हो सकता है कि बड़े देश छोटे देश से कम लाभ प्राप्त करेंगे। व्यापार की शर्तें परम्परागत रूप से गरीब देश के प्रतिकूल होती रही। यह विकसित देशों के संरक्षण नीति एवं चालाकी के कारण है।

2.7 शब्दावली

अहस्तक्षेप एवं यर्थच्छकारिता (Laissez faire & Laissez passe) : यह एक प्रणाली है जिसमें जनता के विनियोग करने, एक कीमत चुकाने, कीमत निर्धारण करने, विनियोग की दिशा के चुनाव करने, आय कमाने, बचत करने, विनियोग करने, एक परियोजना के स्थान के सम्बन्ध में निर्णय लेने, सम्पत्ति का अर्जन करने आदि की स्वतन्त्रता में सरकार हस्तक्षेप नहीं करती। प्रश्न यह नहीं कि सरकार को क्या करना चाहिए बल्कि क्या नहीं करना चाहिये।

बाजार यन्त्र : बाजार प्रतीमान : बाजारी करण निजीकरण (Market Mechanism, Market Paradigm, Marketisation, Privatisation) : ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत मांग एवं पूर्ति की शक्तियां संतुलन कीमत को निर्धारित करती है। नियम सरल है : यदि दो क्रेता एक विक्रेता के पीछे दौड़े, कीमत में वृद्धि होगी और यदि दो विक्रेता एक क्रेता के पीछे दौड़े तो कीमत कम हो जायेगी। सापेक्षिक दुर्लभता और सापेक्षिक प्रचुरता कीमत का निर्धारण करती है। स्वतन्त्र बाजार प्रणाली में संतुलन केवल एक संतुलन है : "मूल्य सिद्धान्त के चुनाव और स्वीकृति का कोई क्षेत्र नहीं है"। यदि कीमत कम हो जाती है, उत्पादक अपनी पूर्ति कम कर देंगे और/या क्रेतागण अपनी मांग बढ़ा देंगे। कोई कीमत समर्थन की आवश्यकता नहीं। यदि कीमत ऊँची है तो शासन को भी नियन्त्रण करने हेतु हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। कीमत वृद्धि अधिक उत्पादन करने के प्रयास को प्रेरित करेंगे तथा/या मांग कम की जायेगी। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बाजार कीमत को "अदृश्य हाथ" माना था जो अर्थव्यवस्था को नियमित करता है और शासन को उसे नियमित करने के भार से मुक्त करता है। विगत वर्षों में, नियोजित समाजवादी अर्थ-व्यवस्था भी अधिक बाजारीकरण करने का प्रयास कर रही है (जहां सम्भव हो अधिक निजीकरण के साथ) ताकि सन्तुलन कीमत स्थापित हो।

लागत में तुलनात्मक लाभ और तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त :

हम रिकार्डो द्वारा दिया गया प्रसिद्ध उदाहरण लें :-

(लागत प्रति इकाई उत्पाद के लिए श्रम घन्टों में व्यक्त है।)

देश	शराब	कपड़ा
पुर्तगाल	80	90
इंगलैण्ड	120	100

यह देखा जा सकता है कि पुर्तगाल दोनों वस्तुएं सस्ता उत्पादन करता है परन्तु तुलनात्मक सस्तापन शराब के उत्पादन में है जो कि 67% है और कपड़े में 90% जबकि इंग्लैण्ड के तुलनात्मक महंगापन कपड़े में 111% तथा शराब में 150% है। अतः पुर्तगाल यह निर्णय लेगा कि वह शराब विशिष्टीकरण करे और इंग्लैण्ड को कपड़ा उत्पादन करने के लिये छोड़ दें।

निर्यात उस वस्तु का होगा जिसका तुलनात्मक लाभ अधिकतम है और आयात कुछ हानि पर हो सकता है (विशिष्टीकरण को बढ़ावा देने के लिये) यदि तुलनात्मक हानि न्यूनतम हो।

डी.आर.टी./डी.टी.टी./बी.टी.टी./डी.ई.आर. (घरेलू व्यापार दर (Domestic Rate of Transformation) आन्तरिक व्यापार शर्तें (Domestic Terms of Trade) वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें (Barter Terms of Trade) आन्तरिक विनिमय दर (Domestic Exchange Ratio) :

उत्पादन सम्भावना रेखा (जो दो वस्तुओं की अधिकतम मात्राओं को दर्शाता है जिन्हें एक देश अपने साधन सम्पन्नता से उत्पादन कर सकता है) वह दर देता है जिस पर घरेलू बाजार में इन दो वस्तुओं का विनिमय होता है। इस दर को विनिमय का आन्तरिक दर जाना जाता है या वस्तु विनिमय शर्त या वस्तु विनिमय दर या आन्तरिक विनिमय अनुपात जाना जाता है।

पारस्परिक मांग (Reciprocal Demand):

एक दी हुई कीमत में (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वास्तविक कीमत जो दूसरे वस्तुओं के प्रति व्यक्त की जाती है), प्रत्येक वस्तु की दूसरे वस्तु के लिये पारस्परिक मांग होती है जो विभिन्न कीमतों पर विभिन्न होगी जब तक एक विशेष कीमत पर मांगी गई एवं पूर्ति की गई मात्रायें समान न हो जायें।

व्यापार की परिधि (Zone of Trading) :

दोनों देशों के आन्तरिक विनिमय अनुपात (DERs) व्यापार की परिधि निर्धारित करता है।

व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय शर्तें (International Terms of Trade) :

ये व्यापार की वे शर्तें है जिनका दोनों देशों के आन्तरिक विनिमय दरों (डी.आर.टी.) के मध्य निर्धारित होती है और जो दोनों देशों को लाभ प्रदान करती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें (आई.टी.टी.) दोनों देशों के आन्तरिक व्यापार शर्तों (डी.टी.टी.) से अधिक होनी चाहिये।

मिल के प्रतिपूरक या पारस्परिक मांग का सिद्धान्त (Mills Theory of Reciprocal Demand):

"प्रत्येक देश की सापेक्षिक श्रम कुशलता द्वारा स्थापित आन्तरिक विनिमय अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तु विनिमय शर्तों की सम्भावित सीमायें निर्धारित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तों के वास्तविक अनुपात पारस्परिक मांग द्वारा निर्धारित होता है।

आयात कीमतों को आयात मात्राओं से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल, कुल निर्यात मात्राओं को उसकी कीमत से गुणा करने पर प्राप्त गुणनफल के बराबर होगा"।

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

"अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र" की पुस्तकें जिनके लेखक :

(1) सोडरस्टेन Sodersten

(2) किंडिलबरगर Kindleberger

(3) इन्गो वाल्टर Ingo Walter

(4) एल्सवर्थ एवं लीथ Ellsworth and Leith

(5) सिडनी वेल्स Sidney Wells

(6) रे ओर कुन्ड Ray and Kundu

(7) ओ.एस. श्रीवास्तव (कल्याणी पब्लिसर्स 1/1 राजिन्द्र नगर, लुधियाना)

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) आन्तरिक विनिमय अनुपात वह कीमत क्यों नहीं हो सकती है जिस पर एक देश व्यापार करने के लिए सहमत हो तथा दूसरे देश के डी.ई.आर. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें भी क्यों नहीं हो सकती?

(2) यदि दोनों देशों के डी.टी.टीओं (DTTs) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों की ऊपरी एवं निचली सीमाएँ निर्धारित करती हैं तो क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें भी इन दोनों सीमाओं के ठीक मध्य होगी?

(3) क्या यह कथन सही है "यदि बंगला देश भारत के अलावा किसी अन्य देश को पट्सन निर्यात नहीं कर सकता है तो उसे भारत से आयात किये जाने वाले कोयले की सापेक्षिक रूप से कम मात्रायें प्राप्त होगी"?

(4) "यदि बंगला देश में कोयले की मांग तीव्र है, तो उसे ज्यादा अधिक मात्रा में भारत को निर्यात करना पड़ेगा" क्या वह सही है?

(5) "यदि आयात की हुई वस्तु की कीमत बढ़ जाती है, तब निर्यात की गई वस्तुओं की कीमत में वृद्धि कर दी जायेगी"। क्या यह सही है? (केवल यदि विदेश की मांग बेलोच है और निर्यात देश से निर्यात कर जाने वाली वस्तु की पूर्ति लोचदार है)।

(6) प्रतिपूरक या पारस्परिक मांग का सिद्धान्त यह निरूपित करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी वस्तु विनिमय ही है। व्याख्या कीजिए?

(7) "मिल के पारस्परिक मांग का सिद्धान्त मूल्य के सामान्य सिद्धान्त की ही प्रकृति का है" व्याख्या कीजिए?

(8) मिल के पारस्परिक मांग के समीकरण की व्याख्या करो और एक परिवर्ती बदल जाने पर उसके फलस्वरूप होने वाले समायोजन के विभिन्न प्रकारों का विस्तार पूर्वक व्याख्या करो?

(9) मिल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पारस्परिक मांग सिद्धान्त में मांग एवं पूर्ति की लोच के योगदान की व्याख्या करो?

इकाई – 3

टॉजिग का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त

(Taussig's Theory of International Trade)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 मान्यताएँ और तीन तरह की लागतें

3.3 लागतों में निरपेक्ष अन्तर

3.4 लागतों में समान अन्तर

3.5 तुलनात्मक लागतें

3.6 भिन्न-भिन्न देशों में मजदूरियां और कीमतें

3.7 मजदूरियां समरूप नहीं, गैर प्रतिस्पर्द्धी समूह

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त यह व्यक्त करने का प्रयास करता है कि दो राष्ट्रों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है? उन सभी वस्तुओं का जिनका वे उपयोग करना चाहते हैं, उन सबका उत्पादन करने की अपेक्षा वे उनके व्यापार के लिये कष्ट क्यों उठाते हैं? जिस स्थिति में कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है और जिसमें सभी देश आत्म निर्भर होते हैं, उसे राष्ट्रीय आत्म निर्भरता की स्थिति कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने के लिये यह स्पष्ट रूप से दर्शाया जाना चाहिये कि व्यक्तिगत देश आत्मनिर्भरता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिक लाभ प्राप्त करते हैं। यह व्यापार से लाभ के रूप में माना जाता है। विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त व्यापार से होने वाले लाभ के कारणों को समझाता है। सहायक रूप में यह व्यापार की दिशा और संरचना को निर्धारित करने वाले तत्वों-की भी व्याख्या करता है। वास्तविकता से कुछ निष्कर्ष निकाले तो भारत को किन वस्तुओं में विशिष्टीकरण अपनाना चाहिये और किन-किन वस्तुओं का निर्यात करना

चाहिये? किन वस्तुओं का भारत को आयात करना चाहिये? यह व्यापार की संरचना कहलाती है। भारत को निर्यात किन-किन देशों को करना चाहिए और आयात किन-किन देशों से करना चाहिये। यह व्यापार की दिशा कहलाती है। और अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किन-किन कीमतों पर सम्पन्न होता है? ये व्यापार की शर्तें कहलाती हैं। विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त उन सभी जटिल घटनाओं की विवेचना करने का प्रयास करता है और वास्तविक से कुछ निष्कर्ष लेने के बाद स्पष्ट रूप से व्यावहारिक विचारणीय विषयों पर ध्यान केन्द्रित करता है, जिसकी मांग है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच आपसी लाभप्रद व्यापार होने के, आवश्यक रूप से अलग-अलग चार कारण या कारणों के समूह हैं। यह विभिन्न देशों के बीच उत्पादन लागत में भिन्नता संसाधन या साधनों की सम्पन्नता में भिन्नताओं मांग की परिस्थितियों में भिन्नताओं और आय वितरण में भिन्नताओं पर ध्यान केन्द्रित करता है। इनमें सिद्धान्तों के रूप में उत्पादन लागत में भिन्नता और साधनों की सम्पन्नता में भिन्नता अधिक विख्यात हैं। इनमें से पहला प्रतिष्ठित या रिकार्डो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त के नाम से और बाद का हैक्सचर - ओहलिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।

टॉजिग का विश्लेषण प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण भाग है। यह रिकार्डो की व्याख्या व विश्लेषण का अनुसरण करता है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :-

- प्रतिष्ठित सिद्धान्त के निष्कर्ष समझने के योग्य हो जाएगें,
- प्रतिष्ठित सिद्धान्त की मान्यताओं को समझ सकेंगे,
- विभिन्न प्रकार की लागतों के अन्तर को समझेंगे।
- विभिन्न लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली के विषय में सीख जाएगें।
- आप उन जटिलताओं को समझते है जो किसी व्यक्ति के मौद्रिक मजदूरियाँ और गैर प्रतिस्पर्द्धी समूह की स्थिति को अपनाने में उत्पन्न होती हैं।

3.1 प्रस्तावना

दुर्भाग्यवश किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त के प्रमाणिक पुस्तक में सामान्यतया टॉजिग को सम्मिलित नहीं किया गया है। फिर भी उसकी पुस्तक International Trade में अनेक विचार ऐसे हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों और कैसे होता है, के व्यवसाय के प्रारम्भिक बीजारोपण (अंकुरण) के रूप हैं। पुस्तक तीन खण्ड़ों में लिखी गई है। प्रथम खण्ड मेंअन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त का विस्तार एवं व्याख्या उसी दिशा में है जो मौलिक रूप में रिकार्डो द्वारा और बाद में मिल तथा एजवर्थ द्वारा विकसित किया गया। टॉजिग का मुख्य योगदान उन विभिन्न सुधारों और विस्तारों की पहचान करने में है जिनकी तरफ अन्य संस्थापक लेखकों ने कोई ध्यान नहीं दिया। उनमें से अधिकांश परिणाम सरल संख्यात्मक उदाहरणों की सहायता से गैर-गणितीय रूप में विकसित किये गये हैं। किन्तु टॉजिग का भी उस कहावत में दृढ़ विश्वास था जिसमें सिद्धान्त के लिये सैद्धान्तिकरण करना निराधार होता है। उसका विश्वास था कि एक सिद्धान्त जाँच के अधीन अवश्य होना चाहिये चाहे ऐसा कार्य

सिद्ध करना कितना ही कठिन क्यों न हो। इस पुस्तक का दूसरा खण्ड उस सीमा तक जाँच पर ध्यान केन्द्रित करता था जहां तक प्रतिष्ठित सिद्धान्त द्वारा दर्शाये मार्ग के अनुसार वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। उसकी पुस्तक का तृतीय भाग उन जटिलताओं की जाँच करता था जो दो भिन्न मौद्रिक मान वाले देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने से उत्पन्न होती हैं।

इस इकाई में मुख्यता हम अपने आप को टॉजिंग की पुस्तक के प्रथम भाग तक ही सीमित रखेंगे और वहां भी व्याख्या के दृष्टिकोण से। हम यहां पूंजी और ब्याज, घटते हुये या बढ़ते हुये प्रतिफल, मांग में परिवर्तन, दो देशों की तीसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा, गैर व्यापारिक माल के लेन-देन और आयात कर जैसे विचारणीय विषयों की चर्चा नहीं करेंगे। यदि आप इन विचारणीय विषयों में रुचि रखते हैं तो आपको सदैव टॉज़िग की पुस्तक का उपयोग करना चाहिए।

3.2 मान्यताएँ और लागतों में तीन प्रकार के अन्तर

किसी भी सिद्धान्त के निर्माण के लिये कुछ मान्यताएँ ली जाती हैं जो सिद्धान्त के लिये यर्थाथ होती हैं, अन्य मान्यताएँ होती हैं जो सिद्धान्त के सरलीकरण करने के उद्धेश्य से बनाई जाती है। अनेक मान्यताएँ बनाई जा सकती हैं जो पूर्णतया अनाधिकृत हैं और तथ्यात्मक दृष्टि से अनियंत्रित प्रतीत होती हैं। जहां तक सरलीकृत मान्यताएँ पायी जाती है तब सिद्धान्त खरा उतरता है। सापेक्ष रूप से अनावश्यक विवरणों के पूरे ढेर के दलदल में फंसे बिना ये सरलीकृत मान्यताएँ हमें मुख्य विचारणीय विषयों पर ध्यान केन्द्रित करने में सहायता करती है।

पहली सरलीकृत मान्यता जो बनाई जाती है, वह यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तु विनिमय के आधार पर होता है। उसमें कोई मौद्रिक लेनदेन नहीं होता और साधारणतया अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आशय वस्तुओं या साम्रगी का वस्तुओं या सामग्री के साथ विनिमय से होता है। दूसरी सरलीकृत मान्यता जो बनाई जाती हैं, वह है कि वस्तु सिर्फ श्रम के सहायता में ही उत्पादित की जाती है। श्रम ही एक मात्र उत्पादन साधन है जो किसी भी उत्पादित प्रक्रिया के लिये आवश्यक है। इसलिये यह मान लिया जाता है कि किसी वस्तु के एक इकाई की जो उत्पादन लागत होती है वही साधारणतया श्रम की लागत होती है जो उस वस्तु के उत्पादन में लगती है। और यह मानते हुये कि एक देश के विभिन्न भागों के बीच श्रम समरूप हैं और समान मजदूरी पायी जाती है तो इसका आशय यह भी है कि वहां वस्तुओं का विनिमय श्रम की उस मात्रा के अनुसार होगा जो उन वस्तुओं के उत्पादन के लिये आवश्यक हैं। सापेक्ष कीमतें अर्थात A वस्तु की कीमत B वस्तु की कीमत से विभाजित, किन्तु जो A वस्तु की एक इकाई के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा को B वस्तु की एक इकाई के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा से विभाजित करने के सिवाय कुछ नहीं है। B वस्तु की तुलना में A वस्तु की एक इकाई के उत्पादन में जितने अधिक श्रम की आवश्यकता होगी उतनी वह वस्तु B वस्तु से अधिक महंगी होगी। अन्तिम मान्यता यह है कि उत्पादन श्रम लागत प्रति ईकाइ स्थिर (Constant) रहती है, चाहे उस वस्तु का कितनी ही मात्रा में उत्पादन क्यों न किया जाय। अन्य शब्दों में एक वस्तु की एक इकाई के उत्पादन के लिये जिस भौतिक श्रम की मात्रा की आवश्यकता होती है, वह अपरिवर्तित रहती है चाहे वस्तु का कितना ही उत्पादन क्यों न हो, उत्पादन के पैमाने का कोई प्रभाव

नहीं पड़ता। यह थोड़ी अव्यवहारिक मान्यताएँ है। और यह भी प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के कई निष्कर्षों के छान-बीन के लिये आवश्यक है।

लागतों को मौद्रिक लागतों या श्रम लागतों के रूप में व्यक्त करना सम्भव हैं। चूंकि श्रम ही एक मात्र उत्पादन का आवश्यक साधन है इस लिये लागतों को वस्तु की एक इकाई उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-दिवसों के रूप में भी व्यक्त करना न्याय संगत हैं। जितनी अधिक श्रम-दिवसों की संख्या होगी उतनी ही अधिक मौद्रिक लागत या श्रम लागत होगी और उसके विपरीत श्रम-दिवसों के कम होने पर उनमें कमी होगी।

हम टॉजिग के अनुसार लागतों को श्रम-दिवसों की अवधारणा के रूप में व्यक्त करेंगे। हम यहां उसके दो देशों - संयुक्त राज्य अमेरिका व जर्मनी और दो वस्तुएं ताँम्बा और वस्त्र तथा उसके संख्यात्मक उदाहरणों तक ही सीमित रहेंगे।

लागतों की निम्न तीन परिस्थितियों पर विचार कीजिए :-

प्रथम स्थिति :- लागतों में निरपेक्ष अन्तर

संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 30 किग्रा. ताँम्बा और 15 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है। जर्मनी में 10 दिन के श्रम से 15 किग्रा0 ताँम्बा और 30 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है।

ध्यान रखिये कि जिस क्षण हम इस प्रकार के उदाहरणों का तुलना करने के लिये उपयोग कर रहे हैं, हम निसंदेह यह मान रहे हैं कि श्रम सिर्फ उसी देश के भीतरी भागों के बीच ही समरूप नहीं है परन्तु वह विभिन्न देशों के बीच भी समरूप है। उपर्युक्त उदाहरण में संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रम ताँबा उत्पादन करने में जर्मनी के श्रम की अपेक्षा दुगुना उत्पादक हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका को ताँबा उत्पादन करने में जर्मनी की अपेक्षा निरपेक्ष लाभ प्राप्त है। ठीक उसी प्रकार जर्मनी को वस्त्र उत्पादन करने में संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा निरपेक्ष लाभ प्राप्त है। एक दो देशों के उदाहरण में जब प्रत्येक देश को एक वस्तु के उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा निरपेक्ष लाभ प्राप्त है तब यह स्थिति लागतों में निरपेक्ष अन्तर की द्योतक होती हैं।

द्वितीय स्थिति :- लागतों में समान अन्तर

संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 30 किग्रा. ताँबा और 15 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है, जर्मनी में 10 दिन के श्रम से 20 किग्रा. ताँबा और 10 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका की जर्मनी की अपेक्षा न केवल ताँबा उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त है परन्तु वस्त्र के उत्पादन में भी है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रम जर्मनी के श्रम की तुलना में ताँबा व लिनेन के उत्पादन में डेढ़ गुणा उत्पादक हैं। जब एक देश को दूसरे देश की अपेक्षा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है और दोनों वस्तुओं के लिए इस निरपेक्ष लाभ की सीमा वही है तब यह स्थिति लागतों में समान अन्तर की द्योतक होती है।

तृतीय स्थिति :- लागतों में तुलनात्मक (सापेक्ष) अन्तर

संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 30 किग्रा. ताँबा और 15 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है। जर्मनी में 10 दिन के श्रम से 15 किग्रा. ताँबा और 10 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका को जर्मनी की अपेक्षा ताँबा और वस्त्र दोनों वस्तुओं के उत्पादन में क्रमिक रूप से निरपेक्ष लाभ प्राप्त हैं। परन्तु दोनों वस्तुओं के लिए लाभ की यह सीमा भिन्न-भिन्न है। ताँबा उत्पादन में संयुक्त राज्य अमेरिका का श्रम जर्मनी के श्रम की अपेक्षा दुगुणा उत्पादक है किन्तु उसका श्रम वस्त्र उत्पादन में जर्मनी की अपेक्षा डेढ़ गुना उत्पादक है और ताँबे के उत्पादन में संयुक्त राज्य अमेरिका का लाभ अधिक है और उसको ताँबे के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त हैं। इस प्रकार की स्थिति लागतों में तुलनात्मक अन्तर की स्थिति कहलाती है।

बोध प्रश्न 1 :-

अपने उत्तरों की जाँच इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों में अवश्य कीजिये।

1. प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त में किन-किन प्रमुख मान्यताओं को अपनाया गया है?

2. लागतों में निरपेक्ष अन्तर, लागतों में तुलनात्मक अन्तर और लागतों में समान अन्तर से आपका क्या अभिप्राय है?

3. उस स्थिति पर विचार कीजिये जहां जब संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से ताँबे का 30 किग्रा. और वस्त्र का 15 मीटर उत्पादन होता है वहां जर्मनी में 10 दिन के श्रम से ताँबे का 15 किग्रा. और लिनेन (वस्त्र) का 30 मी. उत्पादन होता है। आप लागतों में ऐसे अन्तर को क्या कहेंगे?

3.3 लागतों में निरपेक्ष अन्तर

हम उपर्युक्त उदाहरण पर पुनः विचार करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 30 किग्रा. ताँबा और 15 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है और जर्मनी में 10 दिन के दिन के श्रम से 15 किग्रा. ताँबा और 30 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है।

मान लीजिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में हम राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की स्थिति में कार्यरत हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में सापेक्ष शर्तों में दोनों वस्तुओं के घरेलू मूल्यानुपात क्या होगा? और जर्मनी में क्या होगा? उपर्युक्त दिये हुए अंकों के आधार पर स्पष्ट रूप से यह संयुक्त राज्य अमेरिका में 30 किग्रा. ताँबा 15 मीटर वस्त्र के बराबर होगा। या 2 किग्रा. ताँबा 1 मीटर वस्त्र के बराबर होगा। और जर्मनी में 15 किग्रा. ताँबा, 30 मीटर वस्त्र के बराबर होगा। या 1 किग्रा. ताँबा, 2 मीटर वस्त्र के बराबर होगा।

अब कल्पना कीजिये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आरम्भ होता है। जर्मनी में 15 मीटर वस्त्र का मूल्य 7½ किग्रा. ताँबे के मूल्य के समान है। इस दी हुई परिस्थिति में जर्मनी 15 मीटर वस्त्र का संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात करता है और बदले में 7½ किग्रा. ताँबे से अधिक ताँबा प्राप्त करता है इससे जर्मनी को लाभ होगा। और इसके विपरीत यदि संयुक्त राज्य अमेरिका 30 किग्रा. ताँबे से अधिक ताँबा प्राप्त करता है इससे जर्मनी को लाभ होगा।

और इसके विपरीत यदि संयुक्त राज्य अमेरिका 30 किग्रा. ताँबे से कुछ कम के बदले में जर्मनी से 15 मीटर वस्त्र प्राप्त कर सकता है तो इससे संयुक्त राज्य अमेरिका भी लाभ प्राप्त करने वाला होगा। सरलता की दृष्टि से हम परिवहन लागत भी छोड़ देते हैं। वह सीमा जिसमें पारस्परिक लाभप्रद व्यापार हो सकता है वह वास्तव में 15 मीटर वस्त्र के बदले में 7½ किग्रा. से 30 किग्रा. ताँबे के बीच में हो सकती है। जर्मनी पूर्णतया वस्त्र के उत्पादन में विशिष्टीकरण अपनायेगा। किसी प्रकार वह ताँबे की किसी भी मात्रा का उत्पादन कर पागलपन करेगा। ताँबे का प्रत्येक किग्रा. जिसको वह देश में ही उत्पादन कर सकता है, उसे 2 मीटर वस्त्र के घरेलू उत्पादन के रूप में त्यागना होगा। किन्तु वह इन 2 मीटर वस्त्र के बदले में संयुक्त राज्य अमेरिका में 4 किग्रा. ताँबे तक कोई भी मात्रा प्राप्त कर सकता है। वास्तव में जर्मनी में ताँबे का कोई भी उत्पादन नहीं होगा, जर्मनी अपनी ताँबे की मांग की पूर्ति के लिये वस्त्र का निर्यात करेगा। और ठीक उसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका ताँबे के उत्पादन में पूर्णतया विशिष्टीकरण करेगा। वहां किस प्रकार से वस्त्र का उत्पादन नहीं होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी वस्त्र की मांग की पूर्ति के लिये ताँबे का निर्यात करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों देशों को लाभ होता है। किन्तु किस देश को लाभ अधिक होगा। यह निर्धारित करना असम्भव है जब तक कि हमें व्यापार की शर्तों की कुछ जानकारी नहीं होती है। उदाहरणार्थ मान लिजिये अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में व्यापार की शर्तें ऐसी है कि 15 मीटर वस्त्र के बदले में 8 किग्रा. ताँबे का विनिमय होता है। स्वतः ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह संयुक्त राज्य अमेरिका के अधिक अनुकूल है। इसके विपरीत, मान लीजिये कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में 15 मीटर वस्त्र के बदले में 29 किग्रा. ताँबे का आदान-प्रदान होता है। पुनः यह स्वतः स्पष्ट होता है कि यह जर्मनी के लिये अधिक अनुकूल है। इस प्रकार यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों देश लाभान्वित होते हैं; परन्तु लाभ की मात्रा असमान रूप से वितरित हो सकती है।

मान लीजिये कि अब इस तथ्य की थोड़े ध्यान से जाँच करते है। मान लिजीए कि अमेरिका में मौद्रिक मजदूरियां 1.50 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.00 डालर प्रतिदिन है। श्रम के 10 मानव-दिवस की लागत संयुक्त राज्य अमेरिका में 15 डालर और जर्मनी में 10 डालर होती है। इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका में 30 किग्रा. ताँबा और 15 मीटर वस्त्र की लागत 15 डालर होती है। ताँबे के प्रत्येक किग्रा. की पूर्ति संयुक्त राज्य अमेरिका में 0.50 डालर से होगी और वस्त्र के प्रत्येक मीटर की 1.00 डालर पूर्ति से होगी। ठीक उसी प्रकार जर्मनी में 15 किग्रा. ताँबा और 30 मीटर वस्त्र की लागत 10 डालर होगी। और जर्मनी में ताँबे की पूर्ति 0.67 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र की पूर्ति 0.33 डालर प्रति मीटर से होगी। संयुक्त राज्य अमेरिका में ताँबे की लागत कम आती है इसलिये जर्मनी के ताँबे उत्पादकों, अमेरिका के ताँबा उत्पादकों द्वारा कम बेचने दिया जायेगा। ताँबा का सिर्फ अमेरिका में ही उत्पादन होगा। जर्मनी में वस्त्र की लागत कम आती हैं इसलिये अमेरिका के वस्त्र उत्पादकों को जर्मनी के वस्त्र उत्पादकों द्वारा कम बेचने दिया जायेगा। वस्त्र का सिर्फ जर्मनी में ही उत्पादन होगा।

वस्तुएं उपर्युक्त दिशा में लगातार प्रवाहित होती रहेगी यदि मौद्रिक मजदूरियां संयुक्त राज्य अमेरिका में 1 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.50 डालर प्रतिदिन होती तो संयुक्त राज्य अमेरिका में 1 किग्रा. ताँबे की पूर्ति 0.33 डालर में 1 मीटर वस्त्र की पूर्ति

0.67 डालर में की जाती है। जर्मनी में 1 किग्रा. ताँबे की पूर्ति 1.00 डालर में और 1 मीटर वस्त्र की पूर्ति 0.50 डालर में की जाती है।

किस देश को विनिमय से अधिक लाभ होता है? उत्पादन के पश्चात्, चूँकि संयुक्त राज्य अमेरिका ताँबे का उत्पादन करता है इसलिये संयुक्त राज्य अमेरिका में ताँबे की वर्तमान कीमत ही ताँबे की पूर्ति कीमत होगी। अर्थात 0.50 डालर 1.50 डालर प्रति किग्रा., यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में मजदूरी की दरें 1.50 डालर प्रतिदिन हैं और 0.33 डालर प्रति किग्रा., यदि मजदूरी की दरें 1.00 डालर प्रतिदिन है। और जर्मनी में वस्त्र की वर्तमान कीमत वस्त्र की पूर्ति कीमत होगी। अर्थात् 0.33 डालर प्रति मीटर यदि जर्मनी में मजदूरी की दरें 1.00 डालर प्रतिदिन है, और 0.50 डालर प्रति मीटर यदि मजदूरी की दरें 1.50 डालर प्रतिदिन हैं। मान लीजिये कि संयुक्त राज्य अमेरिका में मजदूरी की दर 1.50 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.00 डालर प्रतिदिन हैं। क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका में सिर्फ ताँबे का ही उत्पादन होता है और जर्मनी में सिर्फ लिनेन का ही उत्पादन होता है, इसलिये वस्तु विनिमय व्यापार की शर्त 30 किग्रा. ताँबा से 45 मीटर वस्त्र तक अवश्य होनी चाहिए क्योंकि वर्तमान कीमतें 0.50 डालर प्रति किग्रा. ताँबा और 0.33 डालर प्रति मीटर वस्त्र है। ठीक इसी प्रकार यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में मजदूरी की दरें 1.00 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.50 डालर प्रतिदिन है तो वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें 30 किग्रा. ताँबा से 20 मीटर वस्त्र तक होगी। और यदि दोनों देशों में मजदूरी की दरें 1.50 डालर प्रतिदिन है तो वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें 30 किग्रा. ताँबा से 30 मीटर वस्त्र तक होंगी। इस प्रकार वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों में मापा गया लाभ ऊँची मौद्रिक मजदूरियां वाले देश के लिये अधिक होगा।

बोध प्रश्न 2 :-

1. मान लीजिये परिवहन लागतें लगती हैं ताँबे के प्रत्येक किग्रा. के थोक को संयुक्त राज्य अमेरिका से जर्मनी और वस्त्र के प्रत्येक मीटर के थोक को जर्मनी से संयुक्त राज्य अमेरिका ले जाने में व्यय होता है। किन सीमाओं के भीतर पारस्परिक लाभप्रद विनिमय हो सकता है?

2. मान लीजिये संयुक्त राज्य अमेरिका में मौद्रिक मजदूरी 2 डालर प्रतिदिन है और जर्मनी में 1 डालर प्रतिदिन है। आपके विचार से क्या होगा?

3.4 लागतों में समान अन्तर

उदाहरण जो दिया गया था वह निम्न प्रकार है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 30 किग्रा. ताँबा और 15 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है; जर्मनी में 10 दिन के श्रम से 20 किग्रा. ताँबा और 10मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है।

दोनों संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में 2 किग्रा. ताँबे के बदले में 1 मीटर वस्त्र का विनिमय होगा। दोनों में से कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ के लिये पहल नहीं कर सकता है। कल्पना कीजिए कि मौद्रिक मजदूरियाँ अमेरिका में 2 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.33 डालर प्रतिदिन हैं। तब दोनों संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी में ताँबे की पूर्ति 0.67 डालर प्रति किग्रा. से की जायेगी। और दोनों संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी में वस्त्र की पूर्ति 1.33 डालर प्रति मीटर से

की जायेगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये कोई प्रेरणाएं नहीं होंगी।

बोध प्रश्न 3 :-

1. मान लीजिये कि मौद्रिक मजदूरियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में 2 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.00 डालर प्रतिदिन है। आपके विचार से क्या होगा?

3.5 तुलनात्मक लागतें

हम निम्न लागतों को तुलनात्मक अन्तर के उदाहरण के रूप में लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 20 किग्रा. गेहूं और 20 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है। जर्मनी में 10 दिन के श्रम से 10 किलोग्राम गेहूं और 15 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका को गेहूं और वस्त्र दोनों के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त हैं परन्तु गेहूं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक हैं।

यह स्पष्ट है कि व्यापार की अनुपस्थिति में, जर्मनी में 1 इकाई गेहूं के बदले में 1½ इकाई वस्त्र का विनिमय होगा। अतः कोई भी दर जो इन सीमाओं के भीतर पायी जाती है, दोनों देश व्यापार से लाभ उठायेंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका गेहूं के उत्पादन में विशिष्टीकरण अपनायेगा। और जर्मनी वस्त्र के उत्पादन में विशिष्टीकरण अपनायेगा। मान लीजिये कि मौद्रिक मजदूरियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में 1.50 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.00 डालर प्रतिदिन हैं। तब संयुक्त राज्य अमेरिका में गेहूं की पूर्ति 0.75 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र की पूर्ति 0.75 डालर प्रति मीटर से होगी। और जर्मनी में गेहूं की पूर्ति 1.00 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र की पूर्ति 0.67 डालर प्रति मीटर से की जावेगी। इस प्रकार इस तथ्य को ध्यान न रखते हुये कि संयुक्त राज्य अमेरिका को दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त है, गेहूं का निर्यात संयुक्त राज्य अमेरिका से जर्मनी को और वस्त्र का निर्यात जर्मनी से संयुक्त राज्य अमेरिका को होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका के निरपेक्ष लाभ के होते हुए भी जर्मनी संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में वस्त्र का उत्पादन नीची कीमत पर कर सकता है, क्योंकि जर्मनी में मजदूरी की दर नीची है। गेहूं के लिये 0.75 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र के लिये 0.67 डालर प्रति मीटर की वर्तमान कीमतों के दी हुई होने पर वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें 8 किग्रा. गेहूं 9 मीटर वस्त्र तक अवश्य होनी चाहिए। उदाहरण के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका से 800 किग्रा. गेहूं का विनिमय जर्मनी से 900 मीटर वस्त्र के बदले हो सकता है।

बोध प्रश्न 4 :-

1. कल्पना कीजिए की वस्तु विनिमय व्यापार की शर्त 8 किग्रा. गेहूं से 9 मीटर वस्त्र तक है। किन्तु यह मानिये कि 0.75 डालर प्रति किग्रा. गेहूं की वर्तमान दर पर, जर्मनी को 800 किग्रा. गेहूं से अधिक गेहूं की आवश्यकता है। आपके विचार से क्या होगा?

3.6 भिन्न-भिन्न देशों में मजदूरियाँ और कीमतें

उपर्युक्त तर्क-वितर्कों की प्रमाणिक श्रृंखला नीचे दी गई है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप वस्तुएं एक देश से दूसरे देश की ओर प्रवाहित होती हैं। इससे दोनों देशों में वस्तुओं की कीमतें समान होती है। किसी भी तरह दोनों देशों में मौद्रिक मजदूरियां समान

नहीं होंगी। वे दोनों देशों में प्रचलित उत्पादकता स्तरों के आधार पर परिवर्तित होती रहेगी। वे मांग की परिस्थितियों से भी प्रवाहित होंगी। किन्तु यदि व्यापार के लिए सभी वस्तुएं उपलब्ध न हो तो क्या होगा? क्या होगा जब अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं और घरेलू वस्तुओं के साथ-2 घरेलू वस्तुएं व्यापार के लिये किसी भी तरह उपलब्ध नहीं हैं? यह विश्लेषण कैसे बदलेगा?

निम्न उदाहरण पर विचार कीजिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 20 मीटर वस्त्र 20 किग्रा. गेहूं और 2000 ईंटों का उत्पादन होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मौद्रिक मजदूरी की दर 1.50 डालर प्रतिदिन है। तब संयुक्त राज्य अमेरिका में वस्त्र की पूर्ति 0.75 डालर प्रति मीटर, गेहूं की पूर्ति 0.75 डालर प्रति किग्रा. और ईंटों की पूर्ति 0.75 डालर प्रति 100 की दर से की जावेगी। जर्मनी में 10 दिन के श्रम से 15 मीटर वस्त्र, 10 किग्रा. गेहूं और 1000 ईंटों का उत्पादन होता है। जर्मनी में मौद्रिक मजदूरी की दर 1.00 डालर प्रतिदिन है। तब जर्मनी में वस्त्र की पूर्ति 0.67 डालर प्रति मीटर, गेहूं की पूर्ति 1 डालर प्रति किग्रा. और ईंटों की पूर्ति 1.00 डालर प्रति 100 की दर से की जावेगी। अब कल्पना कीजिए कि गेहूं और वस्त्र दोनों अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुएं हैं। किन्तु ईंटें घरेलू वस्तु है। कुछ भी क्यों न हो वे एक देश से दूसरे देश के लिए जहाजों में लादी नहीं जा सकती है।

यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका में मौद्रिक मजदूरी की दर ऊँची है किन्तु वहां ईंटों की कीमत नीची है। इसमें कोई असत्य नहीं है। मान लीजिए कि संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 1500 ईंटों का उत्पादन होता है। तब जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका में ईंटे उसी कीमत से बेची जायेंगी। इसके विपरीत मान लीजिए कि संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 1000 ईंटों का उत्पादन होता है। तब जर्मनी की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका में ईंटें 1.50 डालर प्रति 100 की दर से ऊँची कीमत पर बेची जायेगी।

महत्वपूर्ण बात यह है कि अनुकूल व्यापार की शर्तों वाले देश में मौद्रिक मजदूरियाँ ऊँची होती हैं और ऐसा देश अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिक लाभ प्राप्त करता है। मौद्रिक मजदूरियों की सीमा उत्पादकता के स्तरों से निर्धारित होती है। और वास्तविक मौद्रिक मजदूरियों के स्तर मांग की परिस्थितियों से निर्धारित होते हैं। किन्तु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के बीच मौद्रिक मजदूरियाँ समान करने का कोई कारण निरपेक्ष रूप से नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय वस्तुओं की कीमतें समान हो जायेगी। किन्तु घरेलु कीमतों के समान होने का कोई कारण नहीं है। या ऊँची मौद्रिक मजदूरियों वाले देश में कीमतें आवश्यक रूप से ऊँची होगी। ऐसा, वास्तव में हो सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की परिवर्तित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप एक देश में मौद्रिक मजदूरियाँ बढ़ती हैं। उत्पादन की अपरिवर्तित तकनीकी परिस्थितियों की कल्पना करने पर भी घरेलू कीमतें भी तब उस देश में बढ़ने लगेगी। किन्तु ठीक ऐसा ही होता जब संयुक्त राज्य अमेरिका में जर्मनी की तुलना में मौद्रिक मजदूरियाँ ऊँची हैं। तो यह आवश्यक रूप नहीं माना जाता है कि घरेलू कीमतें जर्मनी की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका में ऊँची होती है।

3.7 मजदूरियाँ समरूप नहीं है, गैर प्रतिस्पर्द्धी समूह

एक देश के भीतर मौद्रिक मजदूरियाँ समरूप हैं, यदि हम ऐसा नहीं मान सकते हैं तो यह विश्लेषण अत्यन्त ही जटिल हो जायेगा। जिस प्रकार विभिन्न देशों के बीच भिन्नता पायी जाती है ठीक वैसे ही उन देशों के भीतर भी भिन्नता देखने को मिल सकती हैं।

श्रमिक जो जर्मनी में गेहूं का उत्पादन करते हैं उन्हें उन श्रमिकों से कम भुगतान किया

जा सकता है जो वस्त्र का उत्पादन करते हैं। देश के विभिन्न भागों के बीच समान मज़दूरी दरों के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न भागों के बीच श्रम की पूर्ण गतिशीलता हो। और ऐसा सम्भव होना सदैव आवश्यक नहीं है। अनेक व्यवसायों में श्रमिक समूहों में होते हैं जो पूर्णतया एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करते हैं। एक समूह से दूसरे समूह में स्थानान्तरणों पर आग्रह-युक्त प्रतिबन्ध होते हैं और इसलिये मज़दूरियों में आग्रह-युक्त अन्तर पाये जाते हैं।

खण्ड 3.6 में दिये गये उदाहरण पर विचार कीजिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में गेहूं की पूर्ति 0.75 डालर प्रति किग्रा. की दर से और वस्त्र की 0.75 डालर प्रति मीटर की दर से की जाती है। और जर्मनी में, गेहूं की पूर्ति 1.00 डालर प्रति किग्रा. की दर से और वस्त्र की 0.67 डालर प्रति मीटर की दर से की जाती है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका में 1.50 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.00 डालर प्रतिदिन, समरूप मौद्रिक मजदूरी की दर की मान्यता पर आधारित था। किन्तु मान लीजिए कि जर्मनी में गैर प्रतिस्पर्द्धी समूह हैं जिससे वहां के गेहूं उत्पादक श्रमिक प्रतिदिन सिर्फ 0.67 डालर भुगतान प्राप्त करते हैं। तब जर्मनी में गेहूं की पूर्ति 0.67 डालर प्रतिकिग्रा. की दर से होती है। इसका आशय यह है कि गेहूं और वस्त्र दोनों जर्मनी से अमेरिका की ओर गतिशील होंगे। भुगतान के रूप में स्वर्ण संयुक्त राज्य अमेरिका से जर्मनी की और प्रवाहित होगा और इससे जर्मनी की कीमतों में वृद्धि होगी और संयुक्त राज्य अमेरिका में कमी होगी। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक कि दोनों देशों में मौद्रिक मजदूरियों का पुनर्समायोजन नहीं होता। बात यह है कि जर्मनी के गेहूं श्रमिकों की नीची मजदूरी लागतों का वही प्रभाव है जो गेहूं क्षेत्र में बढ़ी हुई उत्पादकता का। इसके विपरीत यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में वस्त्र क्षेत्र के 1.50 डालर प्रतिदिन भुगतान की तुलना में गेहूं के श्रमिकों को 1.00 डालर प्रतिदिन भुगतान किया जाता है तो संयुक्त राज्य अमेरिका में गेहूं की पूर्ति कीमत 0.50 डालर प्रति किग्रा होगी। अब अमेरिका के गेहूं निर्यात और जर्मनी के वस्त्र निर्यात के साथ एक बार फिर से दोनों और वस्तुएं प्रवाहित होंगी।

किसी समय कोई व्यक्ति गैर-प्रतिस्पर्द्धी समूह को स्वीकार करे तो वह विवरण को और भी जटिल बना देता है। एक दी हुई वस्तु न केवल एक ही समूह के श्रमिकों द्वारा उत्पादित की जाती है परन्तु वह विभिन्न समूहों से सम्बन्धित श्रमिकों के एक संयोग द्वारा भी। कोई व्यक्ति यह दर्शाने के लिये उदाहरण बना सकता है कि यदि दो देशों में अनेक प्रकार के श्रमिकों के संयोग एक जैसे ही हैं तथा जिन्हें भिन्न-भिन्न दरों से भुगतान किये जाते हैं, उनमें व्यापार ठीक उसी प्रकार का होगा जैसे कि वहां गैर-प्रतिस्पर्द्धी समूह नहीं होते। यह स्वयं उद्योगपतियों की प्रबन्ध में भिन्नता है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित करती है।

बोध प्रश्न 5 :-

1. संयुक्त राज्य अमेरिका में 10 दिन के श्रम से 80 किग्रा. गेहूं और 20 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है। और जर्मनी में 10 दिन के श्रम से 15 किग्रा गेहूं और 10 मीटर वस्त्र का उत्पादन होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मौद्रिक मजदूरियाँ 2.00 डालर प्रतिदिन और जर्मनी में 1.00 डालर प्रतिदिन हैं। बताइये कि लागतों में समान अन्तर है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए कोई प्रेरणाऐं नहीं हैं। अब कल्पना कीजिए कि वहां गैर-प्रतिस्पर्द्धी समूह हैं जिससे जर्मनी वस्त्र श्रमिकों को 0.75 डालर प्रतिदिन मजदूरी चुकायी जाती है। वहां अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किस रूप में होगा? स्पष्ट कीजिए।

3.8 सारांश

विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करने का प्रयास करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है? और इसकी प्रकृति कैसी है? सिद्धान्तों का एक समूह प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त का है जो उत्पादन लागतों की भिन्नता पर ध्यान केन्द्रित करता है। प्रतिष्ठित सिद्धान्तों में टॉजिग का सिद्धान्त एक परम्परागत सिद्धान्त है।

प्रमाणिक मान्यताएँ है :- राष्ट्रों के बीच वस्तुओं की गतिशीलता पायी जाती है परन्तु श्रम की नहीं। न तो परिवहन लागते हैं और न ही व्यापार के लिये कोई प्रतिबन्ध है। श्रम ही उत्पादन का एक मात्र साधन है और श्रम लागतें पायी जाती हैं।

लागतों में निरपेक्ष अन्तर, लागतों में समान अन्तर या लागतों में तुलनात्मक अन्तर हो सकता है। यदि लागतों में निरपेक्ष अन्तर या लागतों में तुलनात्मक अन्तर है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है परन्तु लागतों में समान अन्तर होने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता है।

लागतों की परिस्थितियाँ उस सीमा को निर्धारित करती हैं जिसमें दो देशों की मौद्रिक मजदूरियाँ अवश्य पायी जाती है। इस सीमा के भीतर मौद्रिक मजदूरियां मांग परिस्थितियों से निर्धारित होती है। इन दोनों देशों में से किसी भी देश में यदि मौद्रिक मजदूरियाँ इस सीमा से बाहर पायी जाती हैं तो उनका पुनर्समायोजन अवश्य होना चाहिए। ऊँची मौद्रिक मजदूरियों वाला देश श्रेष्ठ व्यापार की शर्तें प्राप्त करता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप दो देशों के बीच मौद्रिक मजदूरियाँ समान नहीं होती हैं।

गैर-प्रतिस्पर्द्धी समूहों का प्रभाव उत्पादन लागतों को प्रभावी बनाने में योग देता है।

3.9 शब्दावली

निरपेक्ष लाभ वह स्थिति है जिसमें एक देश एक वस्तु के उत्पादन में दूसरे देश की तुलना में श्रेष्ठ होता है।

लागतों में निरपेक्ष अन्तर का अभिप्राय उस निरपेक्ष लाभ से है जो प्रत्येक देश को एक वस्तु के उत्पादन में दूसरे की अपेक्षा **अधिक प्राप्त होता है।**

विभिन्न राष्ट्रों के बीच व्यापार का न होना राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की स्थिति होती है।

वस्तु विनिमय का आशय बिना मौद्रिक लेन-देन के वस्तुओं का आदान-प्रदान करने से होता है।

प्रतिष्ठित या रिकार्डो का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उत्पादन लागत की भिन्नता के रूप में व्यक्त करता है। तुलनात्मक लाभ, लागतों में तुलनात्मक अन्तर की स्थिति है।

लागतों में **तुलनात्मक अन्तर** का आशय एक देश को दोनों वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा निपरेक्ष लाभ का प्राप्त होना है, किन्तु इस लाभ की सीमा परिवर्तित होती रहती है।

पूर्ण विशिष्टीकरण वह स्थिति है जिसमें प्रत्येक देश केवल एक ही वस्तु का उत्पादन करता है।

व्यापार संरचना से अभिप्राय उन भौतिक वस्तुओं की प्रकृति से है जिनका निर्यात और आयात किया जाता है।

सम लागतें वह स्थिति हैं जिसमें प्रति इकाई उत्पादन लागत उत्पन्न की जाने वाली मात्रा पर निर्भर नहीं करती हैं।

व्यापार की दिशा का आशय उन देशों से है जिनके साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है।

लागतों में समान अन्तर वह स्थिति है जिसमें एक देश को दूसरे देश की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है, किन्तु दोनों वस्तुओं के लिये इस लाभ की सीमा नहीं रहती है।

राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की तुलना में व्यापार से लाभ का आशय वस्तुओं के आदान-प्रदान से लाभ प्राप्त करना होता है।

हैक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को साधनों की सुलभता के अन्तर के रूप में व्यक्त करता है।

मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त दर्शाता है कि कीमत-स्तर चलन मुद्रा की मात्रा के समानुपात में होता है।

व्यापार की शर्तें उस सापेक्षिक कीमत अनुपात को व्यक्त करती हैं जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं का आदान-प्रदान होता है।

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अधिकांश पुस्तकों में टॉजिग की चर्चा नहीं की गई है। वास्तव में इसकी केवल एक पुस्तक है और वह :-

एफ. डब्ल्यू. टॉजिग - अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, मेकमिलन, 1927, पुन:मुद्रित 1966, विशेषतया अध्याय -1 से 6 तक।

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1 :

1. न तो परिवहन लागतें लगती हैं और न ही व्यापार में प्रतिबन्ध हैं। श्रम ही एक मात्र उत्पादन का साधन है और सम लागतें पाई जाती हैं। श्रम एक देश से दूसरे देश में गतिशील नहीं हो सकता परन्तु वस्तुएँ हो सकती हैं। देश के भीतर श्रम समरूप है और एक भाग से दूसरे भाग में आ-जा सकता है।

2. लागतों में निरपेक्ष अन्तर का आशय उससे है जिसमें प्रत्येक देश को दूसरे देश की अपेक्षा एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है। लागतों में समान अन्तर का आशय उस स्थिति से है जिसमें एक देश को दूसरे देश की अपेक्षा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है और दोनों वस्तुओं के लिये इस लाभ की सीमा वही रहती है। लागतों में तुलनात्मक अन्तर का आशय उससे है

जिसमें एक देश की दूसरे देश की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है और दोनों वस्तुओं के इस लाभ की सीमा भिन्न-भिन्न होती है।

3. लागतों में तुलनात्मक अन्तर

बोध प्रश्न 2 :

1. 15 मीटर वस्त्र की दर 8½ किलोग्राम से 29 किग्रा. ताँबे के बीच में है।

2. संयुक्त राज्य अमेरिका में ताँबे की पूर्ति कीमत 0.67 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र की पूर्ति कीमत 1.33 डालर प्रति किग्रा. है। जर्मनी में ताँबे की पूर्ति कीमत 0.67 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र की पूर्ति कीमत 0.33 डालर प्रति मीटर है। वस्त्र का जर्मनी से संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात होगा, किन्तु ताँबे का संयुक्त राज्य अमेरिका से जर्मनी को निर्यात नहीं होगा। इसका आशय यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका को वस्त्र का भुगतान जर्मनी को स्वर्ण भेजते हुऐ करना होगा। इससे जर्मनी में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होगी और संयुक्त राज्य अमेरिका में कमी होगी। मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के अनुसार जर्मनी में कीमतों में वृद्धि होगी और संयुक्त राज्य अमेरिका में उनमें कमी होगी। जर्मनी में मौद्रिक मजदूरियों में भी वृद्धि होगी और संयुक्त राज्य अमेरिका में उनमें कमी होगी। यह पुनर्समायोजन तब तक जारी रहेगा जब तक कि मौद्रिक मजदूरियाँ उस सीमा में हैं जिसमें वस्तुएँ एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर प्रवाहित होगी।

बोध प्रश्न 3 :

1. संयुक्त राज्य अमेरिका में ताँबे का पूर्ति मूल्य 0.67 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र का पूर्ति मूल्य 1.33 डालर प्रति मीटर है। जर्मनी में ताँबे का पूर्ति मूल्य 0.50 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र का पूर्ति मूल्य 1.00 डालर प्रति मीटर है। ताँबा और वस्त्र दोनों वस्तुएँ जर्मनी से संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर तथा स्वर्ण संयुक्त राज्य अमेरिका से जर्मनी की ओर प्रवाहित होगा। मौद्रिक मजदूरियाँ और कीमतें पुनः समायोजित होगी जिससे वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अनुरूप हो जाये।

बोध प्रश्न 4 :

1. अगर जर्मनी के निवासी 0.75 डालर प्रति किग्रा. की वर्तमान दर से 800 किग्रा. से अधिक गेहूं की मांग करते हैं तो इसका आशय यह है कि वर्तमान कीमत साम्य कीमत नहीं है। साम्य कीमत वह कीमत होगी है जिस पर जर्मनी के निवासी गेहूं खरीदना चाहते हैं उस पर संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी बेचना चाहते हैं, के बराबर हो और जिस कीमत पर अमेरिका के निवासी बेचना चाहते हैं उस पर जर्मनी के निवासी 800 किग्रा. से अधिक गेहूं खरीदना चाहते हैं और सम्भवतः संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी 900 मीटर वस्त्र से अधिक खरीदना नहीं चाहते हैं, तो जर्मनी के निवासियों को गेहूं की अतिरिक्त खरीद के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका को स्वर्ण में भुगतान करना पड़ेगा। इससे संयुक्त राज्य अमेरिका में कीमतों और मौद्रिक मजदूरियों में वृद्धि होगी और जर्मनी में उनमें कमी होगी, जो पुनः समायोजन को जन्म देगा। उत्पादन लागतें सिर्फ उस सीमा को निर्धारित करती है

जिसके भीतर व्यापार की पूर्ति पायी जाती है। इस सीमा के भीतर, व्यापारिक शर्तें मांग की परिस्थितियों से निर्धारित होती है और व्यापार की शर्तें उस समय साम्य मूल्यानुपात में होंगी जबकि न तो मांग का आधिक्य, आधिक्य और पूर्ति का आधिक्य होगा।

बोध प्रश्न 5 :

1. संयुक्त राज्य अमेरिका में गेहूं का पूर्ति मूल्य 0.67 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र का पूर्ति मूल्य 1.00 डालर प्रति मीटर है। जर्मनी में गेहूं का पूर्ति मूल्य 0.67 डालर प्रति किग्रा. और वस्त्र का पूर्ति मूल्य 1.00 डालर प्रति मीटर है। स्पष्ट रूप से यह लागतों में समान अन्तर की स्थिति है जिसके परिणामस्वरूप इसमें व्यापार के लिये कोई प्रेरणायें नहीं होती हैं। यदि जर्मनी के वस्त्र के श्रमिकों को 0.75 डालर की दर से प्रतिदिन भुगतान किया जाता है तो जर्मनी में वस्त्र की पूर्ति कीमत 0.75 डालर प्रति मीटर होगी। तब वस्त्र का जर्मनी से अमेरिका में आयात किया जायेगा, यद्यपि गेहूं का निर्यात अमेरिका से जर्मनी हो नहीं होगा। चूँकि स्वर्ण का प्रवाह संयुक्त राज्य अमेरिका से जर्मनी की ओर होता है जिससे दोनों देशों में मौद्रिक मजदूरियों और कीमतों में पुनर्समायोजन की प्रक्रिया हो जायेगी।

इकाई – 4

हेबरलर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त(अवसर लागतें)
Haberler's Theory of International Trade (Opportunity Costs)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve)

4.3 अवसर लागत

4.3.1 अवसर लागत सिद्धान्त की मान्यताएं

4.4 अवसर लागत वक्र

4.4.1 स्थिर अवसर लागत एवं व्यापार

4.4.2 बढ़ती हुई अवसर लागत एवं व्यापार

4.4.3 घटती हुई अवसर लागत एवं व्यापार

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस अध्याय में गोट्फेड हेबरलर द्वारा "अवसर लागत" के आधार पर दिया गया अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त विस्तार से समझा गया है। जैसाकि पूर्व में पढ़ चुके हैं रिकार्डो द्वारा दिया गया तुलनात्मक लागत सिद्धान्त "श्रम-मूल्य सिद्धान्त" की महत्वपूर्ण मान्यता पर आधारित है। हेबरलर ने अपने सिद्धान्त में उत्पादन सम्भावना वक्र का उपयोग करके रिकार्डो की श्रम-मूल्य सिद्धान्त की अवास्तविक मान्यता को काफी सीमा तक दूर करने का प्रयास किया है। उत्पादन सम्भावना वक्र का विशद उपयोग एवं विश्लेषण के कारण हेबरलर ने व्यापार सिद्धान्त का विवेचन अधिक स्पष्ट तथा गणितीय बना दिया है। ज्यामिति विधि से व्यापार सिद्धान्तों का विश्लेषण अधिक सार्थक एवं प्रभावशाली बन गया है।

4.1 प्रस्तावना

सर्वप्रथम हम इस अध्याय में उत्पादन संभावना वक्र को स्पष्ट करेंगे। पूर्व के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादना संभावना वक्र भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ति पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करता है और मांग पक्ष को गौण मानता है जैसा कि एडम स्मिथ व रिकार्डो के क्लासिकल व्यापार सिद्धान्त भी इस स्थिति को लेकर चलते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के विश्लेषण में हेबरलर ने अवसर लागत को आधार माना है इसलिए यहां हम अवसर लागत को परिभाषित करेंगे तथा इन लागतों का प्रभाव व्यापार पर कैसे पड़ता है को उत्पादन सम्भावना वक्र के आधार पर स्पष्ट करेंगे। बढ़ती हुई, घटती हुई एवं स्थिर लागतों की दशाओं में व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों को भी उत्पादन सम्भावना वक्रों की सहायता से समझायेंगे।

4.2 उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve)

किसी निश्चित समय पर एक राष्ट्र में उपलब्ध उत्पादक साधनों की मात्रा सामान्यतः स्थिर तथा ज्ञात होती है। इन उपलब्ध उत्पादक साधनों (भूमि, श्रम, पूंजी इत्यादि) को वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में काम में लिया जाता है। क्योंकि साधनों की उपलब्धता सीमित है इसलिए वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन भी सीमित ही हो पाता है। इसलिए एक राष्ट्र को अपने पास उपलब्ध साधनों के उपयोग में सावधानी बरतनी पड़ती है तथा यह निर्धारण किया जाता है कि कौनसी वस्तुओं का उत्पादन किया जाय व कितनी मात्रा में किया जाय। इसी बात को सरल शब्दों में इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक राष्ट्र को केवल दो वस्तुओं, जैसे कपड़ा व गेहूं का ही उत्पादन करना हैं। ज्ञात तकनीकी ज्ञान तथा उपलब्ध साधनों का उपयोग केवल गेहूं के उत्पादन में कियां जाय तो गेहूं की अधिकतम उत्पादन OB मात्रा (चित्र संख्या 4.1) उत्पादित की जा सकती है, किन्तु यदि सम्पूर्ण साधन कपड़ा उत्पादन पर लगाये जाय तो कपड़े की अधिकतम मात्रा OA उत्पादित की जा सकती है। यह स्वाभाविक है कि राष्ट्र दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करना चाहेगा, ऐसी स्थिति में कपड़ा व गेहूं उत्पादन मात्रा के अनेक संयोग प्राप्त किये जा सकते हैं जैसे C,D,E आदि। इन सब बिन्दुओं A,B,C,D,E आदि को मिलाकर खींचा गया वक्र उत्पादन संभावना वक्र कहलाता है। बिन्दु A,B,C,D,E सभी एक वक्र पर स्थित हैं जो दिये गये साधनों के अधिकतम उपयोग तथा ज्ञात तकनीक के आधार पर दो वस्तुओं के अधिकतम उत्पादन स्थितियों को इंगित करते हैं। बिन्दु A की स्थिति में केवल कपड़े का उत्पादन किया जा रहा है जबकि गेहूं का उत्पादन शून्य है, दूसरे शब्दों में सभी साधनों का उपयोग केवल मात्र कपड़े के उत्पादन पर ही किया जा रहा है। बिन्दु B पर ठीक विपरीत स्थिति है जबकि सभी साधन केवल गेहूं उत्पादन पर लगाये गये हैं यहां गेहूं का अधिकतम उत्पादन OA मात्रा है। C,D व E बिन्दुओं पर गेहूं व कपड़ा दोनों अलग-अलग मात्राओं में उत्पादित किया जा रहा है। C बिन्दु पर अधिक कपड़ा तथा कम गेहूँ जबकि E बिन्दु पर अधिक

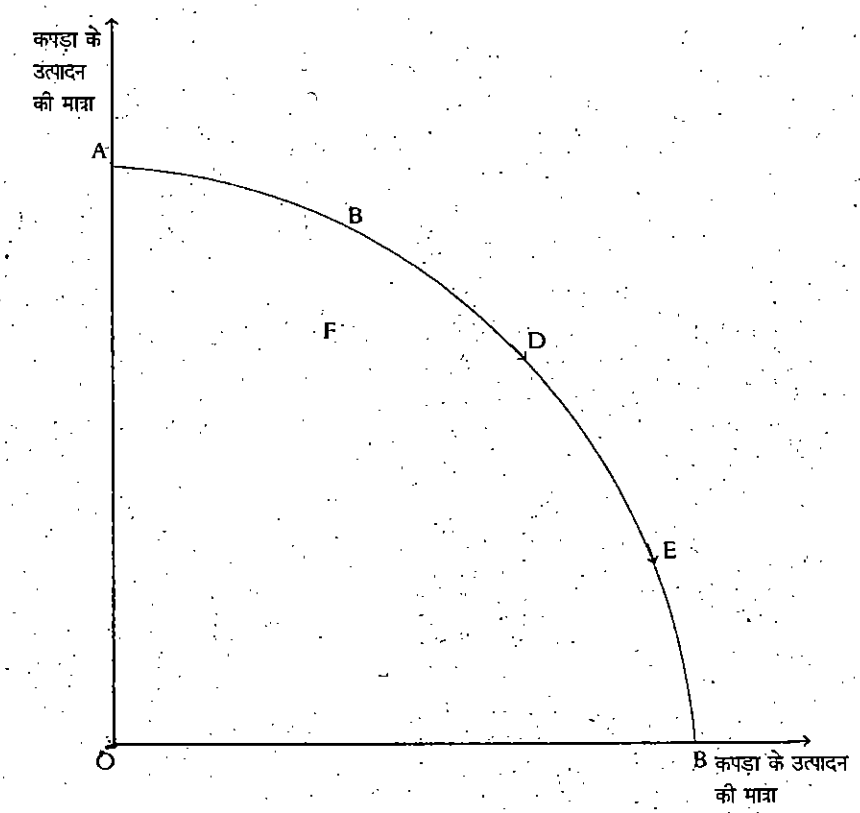

चित्र संख्या 4.1

गेहूँ व कम कपड़ा उत्पादित किया जा रहा है। D बिन्दू पर गेहूँ व कपड़ा लगभग बराबर मात्रा में किया जा रहा है। F बिन्दु जो वक्र के अन्दर स्थित हैं, दोनों वस्तुओं के उत्पादन को दर्शाता है किन्तु यह स्थिति उपलब्ध साधनों के अधिकतम उपयोग को नहीं दर्शाती जबकि बिन्दु G वक्र के बाहर स्थित है, इस बात को दर्शाती है कि उपलब्ध साधन इतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं कि दोनों वस्तुओं का और ज्यादा उत्पादन किया जा सके अर्थात् G बिन्दु उपलब्ध साधनों के आधार पर अप्राप्त है।

यदि राष्ट्र को किसी समय किसी वस्तु का अधिक उत्पादन करना है तो उसे दूसरी वस्तु के उत्पादन पर लगाये गये साधनों को हटाकर उस वस्तु के उत्पादन पर लगाने पड़ेंगे जिसका अधिक उत्पादन किया जाना हैं। वह दर जिसके आधार पर एक वस्तु पर लगाये साधन हटाकर, दूसरी वस्तु जिसका उत्पादन बढ़ाया जाना है पर, लगाने को तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Technical Substitutions, MRTS) कहते हैं। यह दर उत्पादन संभावना वक्र की शक्ल को निर्धारित करती है कि वक्र सीधी रेखा के रूप में होगा या उन्नतोदर या नतोदर होगा। उत्पादन संभावना वक्र विश्लेषण में तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर का उपयोग हेबरलर ने अवसर लागत के रूप में किया है, जिसका विस्तृत अध्ययन हम नीचे करेंगे।

4.3 अवसर लागत

जैसा कि हमने ऊपर बताया कि सीमित साधनों के होते हुए यदि एक राष्ट्र किसी एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाना चाहता है तो उसे दूसरी वस्तु के उत्पादन में कमी

करनी पड़ती है। उपर्युक्त उदाहरण में यदि राष्ट्र कपड़े की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करना चाहता है तो उसे गेहूं की कुछ इकाइयाँ त्यागनी पड़ेगी। दूसरे शब्दों में कपड़े की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने के लिए ज़ितनी इकाइयाँ गेहूं की त्यागनी पड़ेगी उसे साधारणतया हम अवसर लागत कहते हैं। अवसर लागत इस ओर इंगित करती है कि एक वस्तु के उत्पादन हेतु हमें दूसरी वस्तु के उत्पादन को त्यागना पड़ता है। यह अवसर लागत परिवर्तनशील है तथा उत्पादन संभावना वक्र के साथ बदलती है। अवसर लागत को हम अन्य शब्दों में तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर भी कह सकते हैं। यदि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर स्थिर रहती हैं तो उसे हम स्थिर अवसर लागत (या स्थिर उत्पादन के पैमाने) कहते हैं जबकि बढ़ती हुई प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को बढ़ती अवसर लागत (या घटते उत्पादन के पैमाने) तथा गिरती हुई प्रतिस्थापन की सीमान्त दर घटती अवसर लागत (या बढ़ते हुए उत्पादन के पैमाने) कहलाती है।

4.3.1 अवसर लागत सिद्धान्त की मान्यताएं

हेबरलर का अवसर लागत सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

1. वस्तु व सेवा तथा साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है।
2. प्रत्येक वस्तु की क़ीमत उसकी सीमान्त लागत के बराबर होती है।
3. साधनों की विभिन्न इकाइयाँ, जो पूर्णतया गतिशील हो तथा प्रतिस्थापित की जा सकती हो, सभी प्रकार के रोजगार में समान कीमत प्राप्त करती है।
4. साधनों में पूर्ण रोजगार पाया जाता है तथा साधनों की कीमत सभी प्रकार के रोजगार में उनकी सीमान्त उत्पादन के बराबर होती है।
5. एक राष्ट्र में उपलब्ध साधन स्थिर है तथा उनकी मात्रा ज्ञात है।

4.4 अवसर लागत वक्र

उत्पादन सम्भावना वक्र को हम साधारण शब्दों में अवसर लागत वक्र भी कह सकते हैं। इन वक्रों की शक्ल तकनीक प्रतिस्थापन सीमान्त दर को इंगित करती हैं। सर्वप्रथम हम स्थिर अवसर लागत को दर्शायेंगे।

4.4.1 स्थिर अवसर लागत एवं व्यापार

चित्र संख्या 4.2 में अमेरिका व इंग्लैंड में स्थिर अवसर लागत वाले उत्पादन संभावना वक्र बनाये गये हैं। (अ) भाग अमेरिका के उत्पादन संभावना वक्र को बताता है जबकि (ब) भाग इंग्लैंड के वक्र को। दोनों देशों में उत्पादन में स्थिर लागत पायी जा रही है। इसलिए वक्र को सीधी रेखा के रूंप में खींचा गया है। अमेरिका यदि सभी साधनों का उपयोग एक ही वस्तु के उत्पादन में किया जाय तो गेहूं का अधिकतम उत्पादन 6 इकाई या कपड़े का उत्पादन 10 इकाई ही सम्भव है। यदि साधनों का हस्तान्तरण गेहूं से कपड़े में या कपड़े से गेहूँ उत्पादन में करना होता है. तो 10 इकाई कपड़े की त्यागनी पड़ेगी 6 इकाई गेहूं की अतिरिक्त प्राप्त करने के लिए या 6 इकाई गेहूं की त्याग कर कपड़े की 10 इकाई प्राप्त की जा सकती है।

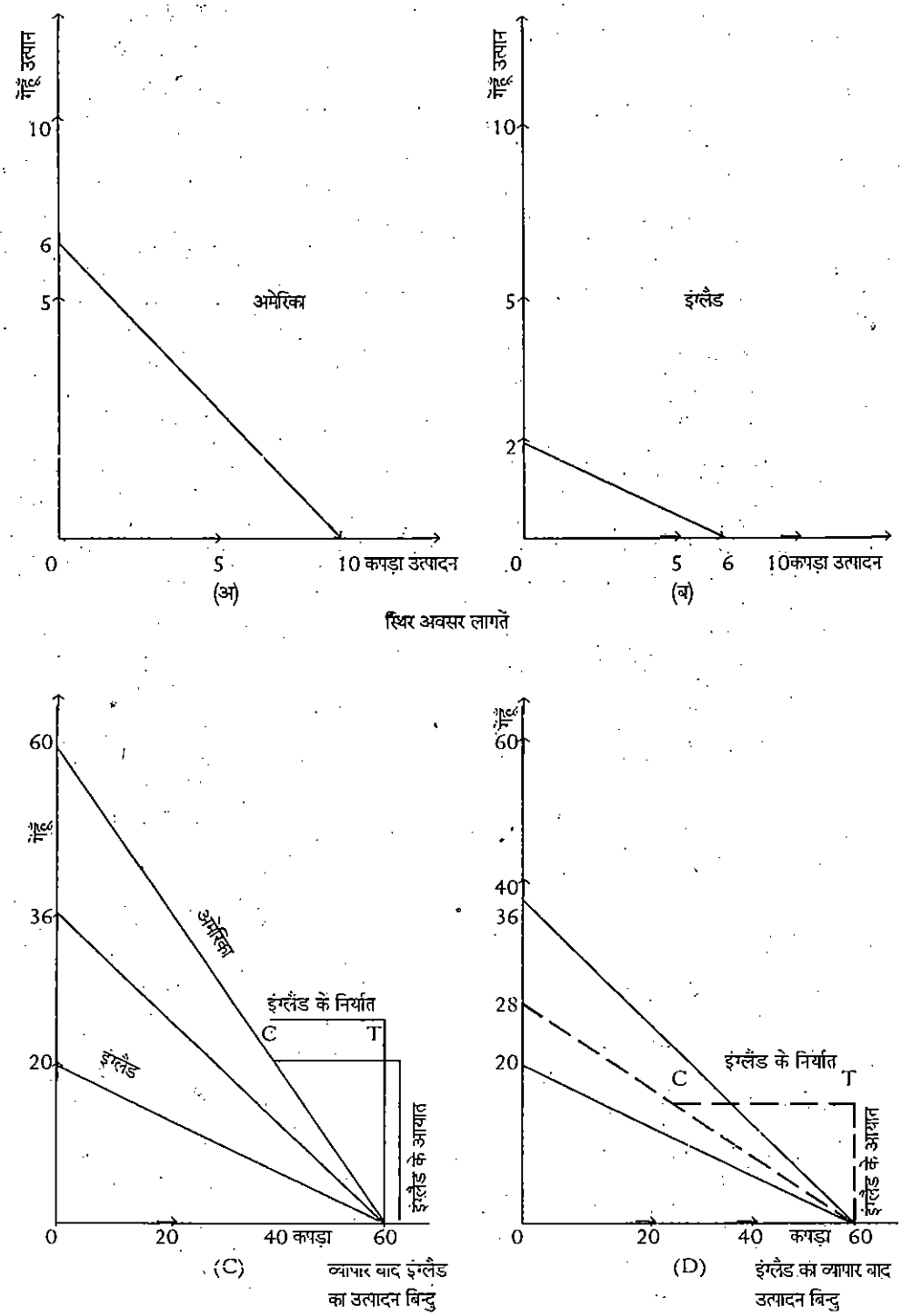

रेखाचित्र 4.2

अतः चाहे सारे या कुछ ही साधनों का स्थानान्तरण किया जाय "6 इकाई गेहूं 10 इकाई कपड़े" के लिए उत्पादन में सीमान्त प्रतिस्थापन दर कहलाती है।

उत्पादन संभावना वक्र जो एक सीधी रेखा के रूप में बनाया गया है केवल स्थिर लागत को ही नहीं दर्शाता अपितु सीधी रेखा का ढाल (Slope) कीमत को भी

प्रकट करता है। गेहूं व कपड़ा के बीच विनिमय दर 6:10 के अनुपात में होगी। कपड़े के लिए कोई भी ऊँची कीमत, उदाहरणार्थ 7:10 का अनुपात, साधनों को गेहूं से कपड़ा उत्पादन में स्थानान्तरित कर देगा। तथा उस स्थिति में गेहूँ का उत्पादन तब तक गिरता रहेगा जब तक कि विनिमय अनुपात पुनः 6:10 स्थापित नहीं हो जाता। ठीक इसी भांति कोई भी कीमत अनुपात जो कपड़े के लिए नीचा होगा, जैसे 6:9, तो साधन उसी भांति कपड़े से गेहूं में स्थानान्तरित होते जायेंगे और कपड़े का अनुपात तब तक गिरता चला जायेगा जब तक कीमत अनुपात पुनः 6:10 अनुपात में स्थापित नहीं हो जाता। उपर्युक्त स्थितियाँ अमेरिका व इंग्लैंड के लिए चित्र संख्या 4.2 के अ व ब भागों में स्पष्ट चित्रित की गयी है।

अब हम स्थिर लागत के अन्तर्गत दो राष्ट्रों में व्यापार की स्थितियों को स्पष्ट करेंगे जो चित्र संख्या 4.2 के भाग स व द में बताई गयी है। इन दोनों भागों में हमने अमेरिका व इंग्लैंड के उत्पादन संभावना वक्रों को एक दूसरे के साथ एक ही पैमाने पर स्थापित किये हैं। गेहूं, कपड़े अनुपात के दो पृथक वक्रों (जैसा कि भाग अ व ब में दर्शाया गया है) में उन्हीं पैमानों अर्थात गेहूं 6 इकाई व कपड़ा 10 इकाई दोनों राष्ट्रों में क्रमशः बताने के बजाय पैमाने को विस्तृत स व द भाग में उन्हें कपड़े पर ही आरोपित किये हैं जिससे कपड़ा - गेहूं का व्यापार दो राष्ट्रों में बताया जा सके। व्यापार पूर्व की स्थिति में अमेरिका में 60 इकाई कपड़ा 36 इकाई गेहूं के बदले विनिमय किया जायेगा, जबकि इंग्लैंड में वही कपड़ा इकाईयाँ (यानि 60 इकाई) केवल 20 इकाई गेहूं ही विनिमय में काम में आयेंगा। व्यापार के पूर्व मांग दशाऐं इस प्रकार थी कि इंगलैण्ड 10 इकाई गेहूं एवं 30 इकाई कपड़ा (चित्र संख्या 4.2 में C बिन्दु) का उपभोग कर रहा था। कोई भी कीमत, जो कपड़ा गेहूं अनुपात 60:20 से भिन्न हो, इंग्लैंड के उपभोग में वृद्धि कर देगा। चित्र के अनुसार इंग्लैंड उपभोग के C से C^1 बिन्दु पर पहुंच जायेगा यदि वह अमेरिका की कीमत पर व्यापार करें जहां पर 12 इकाई गेहूं व 40 इकाई कपड़े का उपभोग करेगा। C^1 बिन्दु पर इंग्लैंड का उपभोग दोनों वस्तुओं कपड़ा व गेहूं का अधिक होगा। यह स्थिति इंग्लैंड के लिए लाभ की है जो अमेरिका के साथ व्यापार के कारण उत्पन्न हुई। व्यापार की स्थिति में यदि इंग्लैंड अपने सम्पूर्ण साधन केवल कपड़ा उत्पादन पर लगाये तो वह 60 इकाई उत्पादित करेगा और यदि वह इस उत्पादन में से 20 इकाई अमेरिका को निर्यात करे तथा बदले में गेहूं की 12 इकाई अमेरिका से आयात करें (चित्र में यह स्थिति C^1 बिन्दु से दर्शायी गयी है)। तो इंग्लैंड को व्यापार से लाभ होगा किन्तु अमेरिका को इस विनिमय से कोई लाभ नहीं हो रहा है क्योंकि गेहूं-कपड़े का विनिमय अनुपात व्यापार के पूर्व तथा बाद दोनों स्थितियों में 6:10 ही बना रहता है क्योंकि व्यापार बाद अमेरिका का उत्पादन बिन्दु परिवर्तित होता है और 12 अतिरिक्त गेहूं उत्पादन कर पाता है जबकि कपड़े का उत्पादन 20 इकाई हो जाता है इस प्रकार अनुपात वही बना रहता है।

व्यापार-पूर्व एवं व्यापार-बाद दोनों ही स्थितियों में एक राष्ट्र के लिए कीमत समान हो सकती है किन्तु दोनों राष्ट्रों के लिए समान कीमत नहीं पायी जा सकती। नयी कीमत व्यापार-पूर्व पायी जाने वाली दो कीमतों के मध्य में कहीं पाई जा सकती है।

उदाहरणार्थ यह कीमत 60 इकाई कपड़े के बदले 28 इकाई गेहूं पर स्थापित हो सकती है, जैसा कि चित्र संख्या 4.2 के द भाग में दर्शाया गया है। इस द भाग

के चित्र में इंग्लैंड को व्यापार से उतना अधिक लाभ नहीं प्राप्त हो रहा है जैसाकि उसे स भाग में प्राप्त हो रहा था, अब उस लाभ का कुछ भाग अमेरिका भी प्राप्त करने लगा है। दोनों राष्ट्रों के व्यापार से प्राप्त लाभ को दर्शाने के लिए यह जरूरी है कि दोनों राष्ट्रों के कपड़ा-गेहूं अनुपात (उत्पादन संभावना वक्रों) को एक साथ एक ही चित्र में दर्शाया जाय। चित्र 4.2 के (द) भाग में दोनों राष्ट्रों के उत्पादन संभावना वक्रों को दर्शाया गया है तथा दोनों राष्ट्रों के बीच जिस कीमत पर व्यापार होगा उसे टूटी रेखा के रूप में 60 इकाई कपड़ा 28 इकाई गेहूं के रूप में दिखाया गया है। इस चित्र के अनुसार अमेरिका 60 इकाई कपड़े के बदले 28 इकाई गेहूं निर्यात करेगा जब कि पहले 60 इकाई कपड़े के बदले 36 इकाई गेहूं दे रहा था। इस प्रकार अमेरिका को 8 इकाई गेहूं कम देने पड़ेंगे, जो इंग्लैड के साथ व्यापार के कारण संभव हो सका है। इस प्रकार अमेरिका को भी व्यापार लाभ प्राप्त होगा। इंग्लैंड का लाभ यह रहेगा कि उन्हीं 60 इकाई कपड़े के बदले पहले उसे केवल 20 इकाई गेहूं मिल रहे थे, व्यापार के बाद उसे 8 अतिरिक्त इकाई गेहूं (अर्थात 28 इकाई) प्राप्त होंगे। इस प्रकार व्यापार से दोनों राष्ट्रों को लाभ होगा।

स्थिर अवसर उत्पादन लागत की दशा में, जहां उत्पादन संभावना वक्र सीधी रेखा के रूप में खींचा जाता है, व्यापार के बाद उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त करना संभव है। व्यापार के पूर्व दोनों राष्ट्र दोनों ही वस्तुओं (कपड़ा व गेहूं) का उत्पादन करते हैं किन्तु व्यापार के बाद एक राष्ट्र एक वस्तु में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेता है जबकि दूसरा राष्ट्र दूसरी वस्तु का उत्पादन में ही अपने सारे सीमित साधान लगाकर पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त करता है। व्यापार पूर्व इंग्लैंड जहां बिन्दु C (चित्र 4.2 भाग स) पर उत्पादन व उपभोग करता है, व्यापार के बाद कपड़े का उत्पादन अन्तिम बिन्दु पर करता है जहां कपड़े का उत्पादन 60 इकाईयाँ है, अर्थात् सम्पूर्ण साधन केवल कपड़ा उत्पादन पर ही लगा देता है तब उत्पादन संभावना वक्र के आधार पर वह 60 इकाई कपड़ा उत्पादित करता है। व्यापार के बाद इंग्लैंड का उपभोग बिन्दु C' बिन्दु पर पहुंचता है, जो C की तुलना में ऊँचा है, (यह अधिक उपभोग की स्थिति को दर्शाता है), जो व्यापार के कारण उत्पन्न हुआ है और फलस्वरूप व्यापार से उत्पन्न लाभ कहलायेगा। C' बिन्दु की स्थिति पर इंग्लैंड 20 इकाई (C'T के बीच का अन्तर) कपड़ा निर्यात करेगा।

एक बात यहां बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि स्थिर अवसर लागत की दशा में व्यापार, जिस वस्तु में जिस राष्ट्र को तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो, उसके उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त करने की स्थिति उत्पन्न करता है। इस उदाहरण में इंग्लैंड को कपड़े के उत्पादन में तथा अमेरिका को गेहूं के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त होता है क्योंकि इंग्लैंड को कपड़ा उत्पादन में तथा अमेरिका को गेहूं उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त है।

4.4.2 बढ़ती हुई अवसर लागत एवं व्यापार

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन ह्रास नियम को प्रतिपादित किया था जिसके अनुसार स्थिर साधनों पर यदि परिवर्तनशील साधनों की मात्रा बढ़ती जाय तो उत्पादन में वृद्धि एक सीमा तक ही होती है बाद में परिवर्तनशील साधनों की वृद्धि उत्पादन

में वृद्धि घटती हुई दर से करेगी। उत्पादन ह्रास नियम को लागत के संदर्भ में बढ़ती हुई लागत कहेंगे क्योंकि जब साधनों में वृद्धि (अर्थात साधन लागत में वृद्धि) उत्पादन में वृद्धि अनुपातिक रूप से कम करेगी तो उत्पादन वृद्धि लागत वृद्धि की तुलना में कम होगी। ऐसी स्थिति को उत्पादन ह्रास या लागत वृद्धि कहते हैं। ऐसा इसलिए भी संभव है क्योंकि उत्पादन के साधन सभी स्थानों एवं सभी वस्तुओं के उत्पादन में समान रूप से कुशल नहीं हो सकते।

चित्र संख्या 4.3 में बढ़ती हुई अवसर लागतों के अन्तर्गत उत्पादन संभावना वक्र बताया गया है जहां यह वक्र न तो दर (Concave) खींचा गया है। चित्र 4.3 के अ भाग में यह दर्शाया गया है कि उत्पादन संभावना वक्र AB में गेहूं व कपड़े के बीच प्रतिस्थापना पायी जाती है, अर्थात बिन्दु R व T के बीच गेहूं व कपड़ा में प्रतिस्थापन संभव है। T बिन्दु पर कम गेहूं तथा ज्यादा कपड़ा उत्पादित किया जा सकता है जबकि R पर अधिक गेहूं एवं कम कपड़ा। R बिन्दु के बायें, यदि साधनों को गेहूं पर अधिक लगाये जाय (कपड़ा-उत्पादन से निकालकर) तो गेहूं उत्पादन में बहुत कम वृद्धि होती है, कारण यह है कि ये साधन गेहूं उत्पादन में उतने अधिक कुशल नहीं होते, अर्थात साधनों का प्रतिस्थापन कपड़े से गेहूं में बहुत कम संभव है। ठीक यही स्थिति बिन्दु T के दायी ओर होती है जहां साधनों का प्रतिस्थापन गेहूं से कपड़े में, कपड़ा उत्पादन में उतनी वृद्धि नहीं कर पाते जितनी ये गेहूं उत्पादन में करते हैं। इस प्रकार प्रतिस्थापन की सीमान्त दर एक छोर से दूसरे छोर की ओर घटती जाती है और यदि साधनों की प्रतिस्थापन फिर भी जारी रहता है तो उत्पादन में वृद्धि कम (अर्थात् उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है) तथा लागत में वृद्धि (अर्थात बढ़ती हुई अवसर लागत) अधिक प्राप्त होती है।

बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन संभावना वक्र तथा कीमत रेखा एक जैसी नहीं होती जैसी कि स्थिर अवसर लागत (चित्र संख्या 4.2) में पायी जाती है। बढ़ती हुई लागत की स्थिति में गेहूं-कपड़ा विनिमय दर (कीमत) का निर्धारण उत्पादन संभावना वक्र के आधार पर नहीं होता, इसके लिए मांग के बारे में जानना आवश्यक होता है। इस अध्याय में, जहां हम मांग के बारे में विस्तार से चर्चा नहीं कर रहें हैं, केवल यह बतायेंगे कि गेहूं-कपड़ा कीमत रेखा का निर्धारण बाजार में स्थित कीमत के अनुरूप होता है और इसे एक सीधी रेखा के रूप में उत्पादन संभावना वक्र पर खींची जाती है और जहां यह रेखा उत्पादन संभावना वक्र पर स्पर्श करती है, स्पर्श बिन्दु गेहूं-कपड़ा के बीच विनिमय को निर्धारित करता है। चित्र 4.3 अ भाग में यह रेखा PP है तथा स्पर्श बिन्दु R है। जो OC कपड़े की मात्रा तथा OW गेहूं की मात्रा का संयोग बता रहा है, यह सन्तुलन साम्य की स्थिति है। बिन्दु M जो AB उत्पादन संभावना वक्र पर स्थित है पर कीमत रेखा PP स्पर्श बिन्दु नहीं बना रही है। इस बिन्दु पर गेहूं की अधिक मात्रा अनावश्यक रूप से कम कपड़े की मात्रा के लिए दी जा रही है। यहां कुछ बिना बिके गेहूं की मात्रा तथा कुछ कपड़े की अपूरित मांग कीमत रेखा PP को परिवर्तित करेगी फलतः या तो PP कीमत रेखा परिवर्तित होकर M बिन्दु पर स्पर्श बिन्दु बनायेगी या विनिमय बिन्दु M से हटकर पुनः R हो जायेगा। इसका आशय यह है कि M बिन्दु पर कपड़ा पर प्रतिफल गेहूं से अधिक है इसलिए साधनों का स्थानान्तरण गेहूं से कपड़े की ओर होगा और तब तक होगा जब तक उत्पादन में प्रतिस्थापन की सीमान्त दर व्यापार

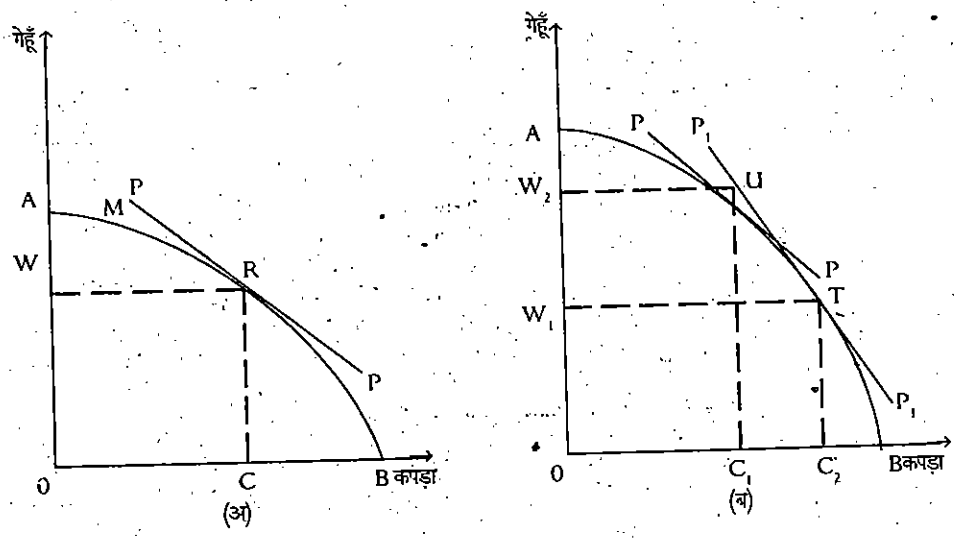

रेखाचित्र 4.3

की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के बराबर नहीं हो जाती। अर्थात पुनः R बिन्दु ही स्पर्श बिन्दु न बन जाय।

बढ़ती हुई अवसर लागत की दशा में व्यापार उसी भांति होगा जैसा कि स्थिर अवसर लागत की देशा में हो रहा था किन्तु बढ़ती हुई लागत में किसी वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं होगा। यहां एक वस्तु का उत्पादन संभावना वक्र के वस्तु के अन्तिम छोर पर उत्पादित नहीं होगा अपितु वह राष्ट्र व्यापार के बाद भी दोनों वस्तुओं का उत्पादन जारी रखेगा किन्तु उस वस्तु का सापेक्षिक उत्पादन ज्यादा करेगा जिसमें इसे अधिक लाभ है। चित्र 4.3 के ब भाग में यह स्थिति दर्शायी गयी है।

इंग्लैंड में व्यापार पूर्व उत्पादन बिन्दु Z पर गेहूं-कपड़ा कीमत PP पायी जा रही है। व्यापार के बाद कीमत बदलकर P^1P^1 हो जाती है (यह कैसे व क्यों होगी, का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं) P^1P^1 कीमत PP से कपड़े के लिए ऊँची है (गेहूं के लिए नीची) क्योंकि इस रेखा पर प्रति इकाई कपड़ा गेहूँ की अधिक मात्रा प्राप्त की जा रही है। इसलिये इंगलैण्ड के लिये यह लाभप्रद स्थिति है कि वह उसके कुछ साधनों को गेहूँ से कपड़े उत्पादन में स्थान्तरित करे। यह स्थानान्तरण तब तक होता रहेगा जब तक कीमत रेखा व उत्पादन संभावना वक्र पर स्पर्श बिन्दु नहीं बन जाता अर्थात कीमत तथा प्रतिस्थापन की सीमान्त दर बराबर नहीं हो जाती। यह स्पर्श बिन्दु व्यापार के बाद T बिन्दु पर प्राप्त होता है। अर्थात इंग्लैंड व्यापार शुरू होने पर साधनों के स्थानान्तरण के बाद गेहूं - कपड़े दोनों का उत्पादन T बिन्दु पर करेगा जहां R बिन्दु की तुलना में अधिक कपड़ा व कम गेहूं उत्पादित करेगा। इंग्लैंड का उपभोग बिन्दु भी व्यापार के बाद परिवर्तित होगा जो अब T के बाये U पर स्थित होगा। व्यापार पूर्व यह बिन्दु उत्पादन बिन्दु Z ही था। T बिन्दु पर इंग्लैंड OC_2 कपड़ा तथा OW_1 गेहूं उत्पादित करेगा तथा U बिन्दु पर OC_1 कपड़ा तथा OW_2 गेहूं उपभोग करेगा, अर्थात C_1C_1 कपड़े का निर्यात तथा W_1W_2 गेहूं का आयात करेगा। व्यापार के बाद

इंग्लैंड दोनों वस्तुओं कपड़ा व गेहूं का अधिक उपभोग करेगा जो उसके व्यापार - पूर्व उत्पादन संभावना वक्र से अधिक है।

उत्पादन ह्रास नियम के कारण यहां उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं हो पाता। कम उपयुक्त साधन जब कपड़े उत्पादन में लगायें जाते रहेंगे तो कपड़ा उत्पादन में प्रति इकाई लागत बढ़ने लगेगी। साथ ही जो साधन गेहूं के लिए भी अनुपयुक्त थे वे गेहूं उत्पादन से हटाये जा रहे हैं इसलिए गेहूं में प्रति इकाई उत्पादन लागत गिरने लगेगी। इसके ठीक विपरीत अमेरिका में उत्पादन लागत में परिवर्तन, (अर्थात कपड़ा उत्पादन में लागत कमी तथा गेहूं उत्पादन में लागत वृद्धि) होगा। और दोनों राष्ट्रों में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त होने से पूर्व ही कीमत अनुपातों में बराबरी (समता) आ जायेगी। इसलिए बढ़ती हुई अवसर लागतों में उत्पादन में किसी भी राष्ट्र में पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं पाया जाता।

श्रम-मूल्य सिद्धान्त को निरस्त करके अवसर लागत सिद्धान्त व्यापार के तुलनात्मक लाभ नियम को स्पष्ट करने में सक्षम हुआ है। दो वस्तुओं व दो राष्ट्रों के इस मॉडल में यह स्वीकार किया गया कि एक राष्ट्र जैसे (इंगलैण्ड) एक वस्तु जैसे (कपड़ा) के उत्पादन में दूसरे राष्ट्र (अमेरिका) की तुलना में अधिक कुशल है जबकि दूसरा राष्ट्र (अमेरिका) दूसरी वस्तु (गेहूं) के उत्पादन में ज्यादा कुशल है इसलिए एक राष्ट्र जिस वस्तु के उत्पादन में ज्यादा कुशल है का अधिक उत्पादन कर निर्यात करेगा और उस वस्तु का आयात करेगा जिसमें वह अपेक्षाकृत कम कुशल हैं। इस प्रकार एक राष्ट्र अपनी कुशलता वाली वस्तु के व्यापार से ऊँची कीमत प्राप्त करता है तथा अकुशलता वाली वस्तु का आयात कर कम कीमत चुकाता है।

4.4.3 घटती हुई अवसर लागत एवं व्यापार

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त व नीति में बढ़ते हुए उत्पादन पैमाने या घटती हुई अवसर लागत सदैव ही महत्वपूर्ण चर्चा का विषय रही है। प्रतियोगिता के साथ बढ़ते हुए उत्पादन पैमाने फर्म या राष्ट्र के उत्पादन में विस्तार करते हैं।

बढ़ते हुए उत्पादन के पैमानों को उत्पादन संभावना वक्र के रूप में चित्र संख्या 4.4 के (अ) भाग में दर्शाया गया है जहां A Q B उत्पादन संभावना वक्र उन्नतोदर है जो यातायात, मशीन की कीमत, कृषि मशीन के सन्दर्भ में गिरती हुई बतायी गयी है। कीमत रेखा PP उत्पादन संभावना वक्र पर Q बिन्दु पर स्पर्श बनाती है। यदि Q बिन्दु पर बढ़ते हुए पैमाने आन्तरिक मितव्ययता के कारण हैं तो यह बिन्दु अस्थिर सन्तुलन को बताता है जो प्रतियोगिता दशाओं में लम्बे समय तक ठहर नहीं सकता। थोड़ा सा भी व्यवधान, यातायात मशीन की कीमत कृषि मशीन के सन्दर्भ के रूप में PP कीमत रेखा को परिवर्तित कर देगी। सारे उत्पादन साधनों को कृषि मशीन से यातायात मशीन उत्पादन में स्थानान्तरित कर देंगे। किन्तु इस हस्तानांतरण से उन्हें नया सन्तुलन बिन्दु तब तक प्राप्त नहीं हो पायेगा जब तक कि वे सम्पूर्ण साधनों को यातायात मशीन उत्पादन में नहीं लगा देते अर्थात बिन्दु A पर नहीं पहुंच जाते। इसके ठीक विपरीत स्थिति पर सारे साधन कृषि मशीन-उत्पादन की ओर हस्तांतरित होंगे और B बिन्दु पर पहुँच जायेंगे। इस प्रकार बढ़ते हुए प्रतिफल की स्थिति में उत्पादन का पूर्ण विशिष्टीकरण हो जाता है।

बढ़ते प्रतिफल या घटती अवसर लागत

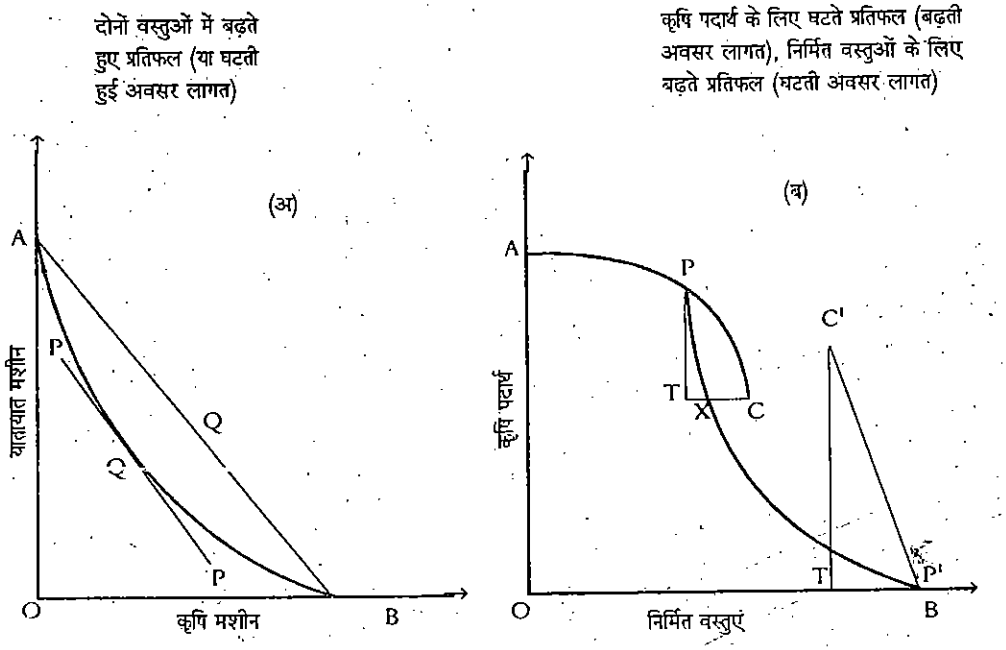

रेखाचित्र 4.4

चित्र 4.4 के ब भाग में एक वस्तु (कृषि पदार्थ) में गिरते हुए प्रतिफल तथा दूसरी वस्तु (निर्मित वस्तु) में बढ़ते हुए प्रतिफल दर्शाये गये हैं। उत्पादन संभावना वक्र AB कृषि पदार्थ के लिए नतोदर बनाया गया है जबकि निर्मित वस्तु के लिए उन्नतोदर। नतोदर वक्र बढ़ती अवसर लागत तथा उन्नतोदर घटती अवसर लागत दर्शा रहे हैं। यदि राष्ट्र नतोदर वक्र पर उत्पादन करे तो उसे कृषि पदार्थ में (आंशिक) विशिष्टीकरण प्राप्त करने में लाभ है और वह उत्पादन P बिन्दु पर करके PT का व्यापार (निर्यात) करेगा जबकि TC मात्रा निर्मित वस्तुओं की आयात। किन्तु यदि निर्मित वस्तुओं का उत्पादन बिन्दु X से अधिक हो, अर्थात निर्मित वस्तुओं का उत्पादन बढ़े और उत्पादन बिन्दु उन्नतोदर वक्र पर चला जाय तब निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में राष्ट्र को पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त हो जायेगा। तब निर्मित वस्तुओं का निर्यात होगा और कृषि पदार्थ की आयात और उपभोग बिन्दु C के स्थान पर C' होगा जो निश्चित रूप से अधिक लाभप्रद है। इस प्रकार जिस वस्तु में राष्ट्र को बढ़ते प्रतिफल (घटती अवसर लागत) प्राप्त हो उसमें राष्ट्र सम्पूर्ण साधनों को लगाकर पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त करता है लेकिन जिस वस्तु में घटते प्रतिफल (बढ़ती अवसर लागत) प्राप्त हो उसमें सम्पूर्ण साधनों का उपयोग नहीं किया जाता बल्कि दूसरी वस्तु का भी उत्पादन जारी रहता है, यद्यपि पहली वस्तु में साधनों की उपलब्धता दूसरी वस्तु की तुलना अधिक होती है और वहां आंशिक विशिष्टीकरण ही प्राप्त होता है।

4.5 सारांश

प्रो. हैबरलर का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के ऊपर एक सुधार है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह श्रम लागत की काल्पनिक मान्यता पर आधारित है लेकिन

हैबरलर ने श्रम लागत के आधार को त्याग करके अवसर लागत को आधार बनाया गया है जो अधिक तार्किक व व्यवहारिक है। इसमें विनिमय के एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जिसे प्रत्येक परिस्थिति में क्रियाशील किया जा सकता है। यह सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि तुलनात्मक लागत अंतर केवल साधन सम्पत्तियों की भिन्नता के कारण ही नहीं होते बल्कि लागत ह्रास नियम के कारण भी उत्पन्न होते हैं।

4.6 शब्दावली

(1) तकनीकी प्रतिस्थापना की सीमान्त दर :-

वह दर जिसके आधार पर एक वस्तु पर लगाये साधन हटाकर, दूसरी वस्तु जिसका उत्पादन बढ़ाया जाना है पर, लगाने को तकनीकी प्रतिस्थापन की दर कहते हैं।

(2) उत्पादन संभावना वक्र :-

उत्पादन संभावना वक्र वह वक्र है जो दिये गये साधनों के अधिकतम उपयोग तथा ज्ञात तकनीक के अधार पर दो वस्तुओं के अधिकतम उत्पादन को दर्शाता है।

(3) नतोदर :-

जब साधनों की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर क्रमशः घटती जाती है तो उत्पादन संभावना वक्र की आकृति x अक्ष की ओर नतोदर होती है।

(4) उन्नतोदर :-

जब साधनों की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर क्रमशः बढ़ती जाती है तो उत्पादन संभावना वक्र x अक्ष की ओर उन्नतोदर होता है।

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. G.V. Haberlar : The Theory of International Trade.
2. Jacob Viner : Studies in the Theory of International Trade.
3. K.R. Gupta : International Economics
4. W.R. Allen : International Trade

4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

Q.1 वास्तविक लागत सिद्धान्त और अवसर लागत सिद्धान्त की तुलनात्मक विवेचना करते हुए बताइये कि क्या अवसर लागत सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की तुलना में एक सुधार है अथवा नहीं?

Q.2 हैबलर द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

Q.3 "अवसर लागत सिद्धान्त, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त के मध्य एक सम्पर्क कड़ी है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए?

Q.4 उत्पत्ति द्वारा नियम का अवसर लागत पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव होता है इसका वर्णन कीजिए?

इकाई – 5

हैक्शचर-ओहलिन का सिद्धान्त तथा साधन कीमत समानीकरण प्रमेय

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सिद्धान्त की मान्यताएँ

5.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मापदण्ड

5.3.1 मूल्य या कीमत मापदण्ड

5.3.2 भौतिक मापदण्ड

5.4 हैक्शचर-ओहलिन मॉडल

5.5 हैक्शचर-ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचनाएँ

5.6 साधन कीमत समानीकरण प्रमेय

5.6.1 प्रमेय की मान्यताएँ

5.7 साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त की आलोचना

5.8 सारांश

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न सिद्धान्तों के अध्ययन का उद्देश्य उन आधारो की व्याख्या प्रस्तुत करना है जो विभिन्न देशों के बीच व्यापार का कारण बनते हैं। इस इकाई के अध्ययन क बाद आप समझ सकेंगे कि साधनों की सापेक्षिक दुर्लभता किस प्रकार लागतों में अन्तर उत्पन्न कर व्यापार का आधार बनती है।

जान पायेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का ही विशेष रूप है एवं मांग व पूर्ति का सामान्य सिद्धान्त जो राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण है वहीं सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लागू होता है।

5.1 प्रस्तावना

आपने पिछले अध्यायों में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागतों का सिद्धान्त पढ़ा है। जिसका मूल आधार यह था कि जब भिन्न-भिन्न देशों में वस्तुओं की कीमतों में निरपेक्ष अथवा तुलनात्मक अन्तर होता है तो वे आपस में व्यापार करते हैं अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार वस्तुओं की लागतों का अन्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तभी होगा जब लागतों में अन्तर होता है। दो या दो से अधिक वस्तुओं के उत्पादन में भिन्न राष्ट्रों में लागतों के तुलनात्मक अन्तर के कारण व्यापार सम्भव होता है परन्तु इस प्रतिष्ठित सिद्धान्त में अनेक त्रुटियां बताई गई है जैसे उत्पत्ति का एक साधन श्रम, लागतों को श्रम घंटों में व्यक्त करना, मांग पक्ष की अवहेलना आदि स्पष्ट है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री समस्या की गहराई में नहीं गये। वे भिन्न प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाये।

(i) भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की लागतों के अन्तर का मूल कारण क्या है।

(ii) भिन्न-भिन्न देशों में उत्पादन सम्भावना रेखाएं भिन्न-भिन्न आकार की क्यों होती हैं।

इन प्रश्नों का उत्तर प्रो. हैक्शचर तथा बाद में ओहलिन ने दिया। सन् 1919 में हैक्शचर ने अपने लेख - The effects of foreign Trade on distribution में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साधन अनुपात सिद्धान्त की व्याख्या की। जिसके अनुसार -

(i) दो देशों में लागतों के अन्तर का कारण उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक दुर्लभता है।

(ii) भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादन में भिन्न-भिन्न साधनों के भिन्न-भिन्न मात्रा की आवश्यकता पड़ती है।

ओहलिन ने हैक्शचर के विचारों को परिमार्जित एवं विस्तृत बनाया। इस कारण साधन अनुपात का सिद्धान्त हैक्शचर ओहलिन के सिद्धान्त के नाम से पुकारा जाता है। वर्तमान समय में हैक्शचर ओहलिन के विचार आधुनिक सिद्धान्त जिसने प्रतिष्ठित व नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त को विस्थापित कर दिया है के विभिन्न अंग हैं। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ओहलिन का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को अमान्य घोषित करता है बल्कि यह तो उसकी पूर्ति करता है। वास्तव में दोनों विचारधाराओं में कोई संघर्ष नहीं है। यदि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की ठीक ढंग से व्याख्या की जाये तो इसका उदय हैक्शचर ओहलिन व्यापार मॉडल से होता है इस प्रकार वास्तव में हैक्शचर ओहलिन सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के पूर्व की व्याख्या को प्रस्तुत करता है।

सन् 1933 में प्रकाशित पुस्तक (Inter Regional and International Trade) में ओहलिन ने स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का ही एक विशेष रूप है। ऐसी परिस्थिति में एक राष्ट्र में लागू कीमत सिद्धान्त दूसरे राष्ट्रों में भी लागू किया जा सकता है अर्थात जिस प्रकार एक देश के समस्त भागों में कीमत निर्धारण में मांग व पूर्ति का सिद्धान्त लागू होता है उसी प्रकार दो देशों में भी कीमतों के निर्धारण में मांग और पूर्ति का सिद्धान्त लागू होगा। मांग निर्भर होती है -

(i) उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं पर और

(ii) उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की दशाओं पर तथा

पूर्ति निर्भर होती है -

(i) उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति पर।

(ii) उत्पत्ति की भौतिक दशाओं पर।

ओहलिन के अनुसार उपरोक्त चारों घटकों में से उत्पत्ति की भौतिक दशाएँ सभी स्थानों पर समान होती हैं। अतः मूल्यों में अन्तर के प्रमुख कारण मांग की दशाएँ और उत्पादन के साधनों की पूर्ति ही शेष रह जाती है यदि ये शेष दशाएं भी दो देशों में समान हों तो दोनों देशों में वस्तुओं की कीमतें समान हो सकती हैं। लेकिन इन दशाओं में से उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति में अन्तर स्पष्ट रूप से अनेक कारणों से स्पष्ट नजर आता है। अतः यह कहना उचित होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्पष्ट कारण भिन्न देशों में वस्तुओं की कीमतों में असमानता है पर इस असामनता के पीछे मूल कारण उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक उपलब्धता है। इसे निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। भिन्न देशों में उत्पत्ति के साधनों की उपलब्धता समान नहीं होती है। कुछ देशों में भूमि की बहुतायता होती है - वे देश भूमिनिष्ठ होते हैं। अन्य में श्रम की बहुतायत होती है वे श्रमनिष्ठ होते हैं और जिनमें पूंजी की बहुतायत होती है वे पूंजीनिष्ठ होते हैं। परिणाम स्वरूप अन्य साधनों की अपेक्षा एक देश विशेष में वह साधन प्रचुरता के कारण अन्य साधन से तुलनात्मक रूप से सस्ता अथवा कम कीमत पर उपलब्ध होगा। और यह देश उन वस्तुओं के उत्पादन में दक्षता प्राप्त करेगा जिनमें इस साधन का अधिक उपयोग होता है तथा उसी वस्तु का निर्यात करेगा। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भिन्न देश में उत्पादन साधनों की उपलब्धता भिन्न-2 मात्रा में होती है फलस्वरूप उत्पादन लागतों में अन्तर होती है और वह देश उस वस्तु के निर्यात में आगे बढ़ा हुआ होता है जिसके उत्पादन में उस देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधन का प्रयोग अन्य साधन की तुलना में अधिक किया जाता है, यही साधन अनुपात का सिद्धान्त कहलाता है।

5.2 सिद्धान्त की मान्यताएँ

इस सिद्धान्त की उपरोक्त रूपरेखा को विस्तृत अध्ययन किये बिना गहराई से समझना कठिन है। यह सिद्धान्त अनेक मान्यताओं पर आधारित है जो निम्न प्रकार है:-

1. व्यापार के लिये दोहरे मॉडल (Double Model) को लिया गया है जिसमें दो देश, दो वस्तुऐं और उत्पत्ति के दो साधन हैं - श्रम और पूंजी।

2. दोनों देशों में, वस्तुओं और उत्पत्ति साधनों - दोनों बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

3. प्रत्येक देश में उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से गतिशील हैं किन्तु दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव है।

4. उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति दी हुई है और स्थिर है दोनों देशों में उत्पत्ति के दोनों साधनों के अनुपात में भिन्नता है अर्थात परिमाणात्मक (Quantitative) रूप से दोनों देशों में साधन भिन्न हैं किन्तु गुणात्मक (Qualitative) रूप से प्रत्येक साधन में दोनों देशों में समरूपता है अर्थात वे समान (Homogeneous) हैं।

5. दोनों देशों में न तो कोई व्यापार की बाधाएं हैं और न परिवहन लागत ही लगती है अर्थात् व्यापार मुक्त एवं परिवहन लागतहीन है।

6. दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन फलन (Production Function) भिन्न-भिन्न है किन्तु दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के लिए उत्पादन फलन समान है यदि दो देश A व B है तथा दो वस्तु X व Y है तब

$$\frac{K}{L}(X)\text{in A} = \frac{K}{L}(X)\text{in B}$$

या $$\frac{K}{L}(Y)\text{ in A} = \frac{K}{L}(X)\text{ in B}$$

लेकिन $$\frac{K}{L}(X) \neq \frac{K}{L}(Y)$$

7. दोनों देशों में दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन फलन एक डिग्री के समरूप है अर्थात दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन पैमाने के समता प्रतिफल के अनुरूप प्राप्य हैं। ऐसी स्थिति में साधनों में परस्पर प्रतिस्थापन्नता सीमित हो जाती है। परन्तु दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन फलन भिन्न होते हैं।

8. उत्पादन के दोनों साधनों को दोनों देशों में पूर्ण रोजगार प्राप्त है।

9. दो देशों में विभिन्न वस्तुओं के लिये उपभोक्ता की इच्छाएं (Consumer Preferences) तथा मांग फलन (Demand Function) समान होते हैं।

उपरोक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उन वस्तुओं की उत्पादन लागत कम होगी जिनके उत्पादन में प्रचुर एवं सस्ते उत्पादन के साधन प्रयोग में लिये जाते हैं। वास्तव में इस सिद्धान्त का आधार प्रचुर और तुलनात्मक रूप से साधनों की उपलब्धि है अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दो आधार हैं -

(i) भिन्न-भिन्न देशों में उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक उपलब्धता भिन्न होती है परिणामस्वरूप उन साधनों की कीमतों में अन्तर होता है। जिसके कारण इन प्रचुर साधनों की सहायता से उत्पन्न वस्तुओं की कीमतें भी कम होंगी।

(ii) भिन्न वस्तुओं को निर्माण करने में उत्पत्ति के समस्त साधन एक ही अनुपात में प्रयोग में नहीं लिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के उत्पादन में भिन्न-भिन्न मात्रा में भिन्न साधनों की आवश्यकता पड़ती है। कहीं श्रम तो कहीं पूंजी का अनुपात अधिक होता है। जो देश श्रम निष्ठ है वह ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करेंगे जिनके उत्पादन में श्रम की अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ती है।

ओहलिन के शब्दों में दो क्षेत्रों में लागतों में असमानता तथा कीमतों में भिन्नता उत्पत्ति के साधनों के अनुपातों में परिवर्तन के कारण होती है और जब दो क्षेत्रों में व्यापार होता है तो एक क्षेत्र उन वस्तुओं का आयात करता है जिसके उत्पादन में ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जो उस देश में स्वल्प तथा महंगे होते हैं तथा उनका निर्यात करता है जिसके उत्पादन में ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जो उस देश में प्रचुर मात्रा में और

सस्ते होते हैं। अतः स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त "सापेक्षिक साधन प्रचुरता पर" आधारित है।

5.3 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मापदण्ड

हैक्शचर ओहलिन मॉडल के ढाँचें में सापेक्षिक साधन प्रचुरता की धारणा को दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है।

(ए) मूल्य या कीमत मापदण्ड (The Price Criterion)

(बी) भौतिक मापदण्ड (The Physical Criterion)

5.3.1 मूल्य या कीमत मापदण्ड (The Price Criterion)

इस मापदण्ड के अनुसार साधन प्रचुरता से तात्पर्य उस साधन की तुलनात्मक कम कीमत से है ओहलिन ने साधन प्रचुरता को साधनों की कीमतों के आधार पर परिभाषित किया है उसके अनुसार देश A में पूंजी की प्रचुरता होगी यदि

$$\left(\frac{P_K}{P_L}\right)_A < \left(\frac{P_K}{P_L}\right)_B$$

जहाँ

P_K - पूंजी की कीमत

P_L - श्रम की कीमत

A - देश A

B - देश B को प्रदर्शित करते हैं

इस प्रकार में स्पष्ट है कि देश A पूंजी प्रधान है अतः उसे पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन व निर्यात करना चाहिये तथा इसके विपरीत देश B श्रम प्रधान है अतः उसे श्रमगत वस्तु का उत्पादन व निर्यात करना चाहिये। इसका सत्यापन निम्न सचित्र उदाहरण द्वारा दर्शाया जा सकता है।

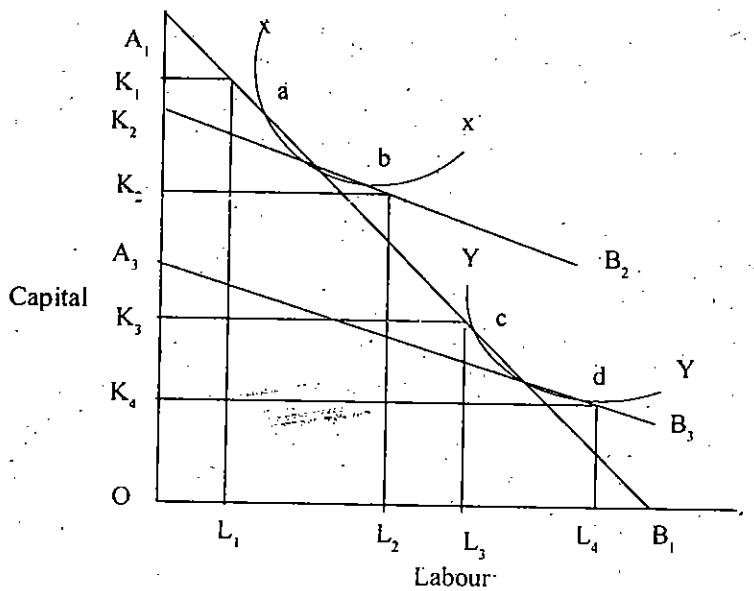

रेखाचित्र - 5.1

जैसा कि पूर्व में कल्पना की गई है कि व्यापार में दो देश A और B संलग्न है। देश A के साधनों की तुलनात्मक मूल्य रेखा A_1B_1 तथा देश B के साधनों की तुलनात्मक मूल्य रेखा A_2B_2 है देश। A की साधन मूल्य रेखा A_1B_1 का ढाल देश B की साधन मूल्य रेखा A_2B_2 के ढाल से अधिक है जो यह व्यक्त करता है कि देश A में पूंजी तथा B में श्रम तुलनात्मक रूप से सस्ता है $\left(\frac{PK}{PL}\right)_A < \left(\frac{PK}{PL}\right)_B$ संकेताक्षरों में चरितार्थ होता है।

इसके अतिरिक्त यह मान लिया है कि दो वस्तु X तथा Y का उत्पादन होता है जिसमें वस्तु X पूंजी प्रधान वस्तु है। साथ ही यह भी कल्पना की गई है कि दोनों देशों में वस्तु विशेष का उत्पादन फलन संभाग है। किन्तु दोनों वस्तुओं का उत्पादन फलन भिन्न-भिन्न है चित्र 5.1 में साधन मूल्य रेखा A_1B_1 वस्तु X के समोत्पत्ति वक्र X को बिन्दु a पर स्पर्श करती है इससे यह प्रकट होता है कि देश A एक इकाई वस्तु X का उत्पादन OK_1 पूंजी तथा OL_1 श्रम के संयोग से करता है। यदि श्रम को पूंजी के रूप में बदल दे तो देश A एक इकाई वस्तु X की उत्पादन लागत OA_1 पूंजी के बराबर होगी। देश B की साधन मूल्य रेखा A_2B_2 वस्तु X के समात्पत्ति वक्र XX को बिन्दु b पर स्पर्श करती है जो यह स्पष्ट करता है कि देश B में एक इकाई वस्तु X का उत्पादन OK_2 पूंजी तथा OL_2 श्रम के संयोग से होता है। यदि श्रम की पूंजी के रूप में परिवर्तित करे तो OL_2 श्रम बराबर A_2B_2 पूंजी के है। इस प्रकार एक इकाई वस्तु X की उत्पादन लागत पूंजी के रूप में OA_2 है।

उपर्युक्त विधि को अपनाकर गणना करने पर ज्ञात होता है कि एक इकाई वस्तु Y की उत्पादन लागत देश A व B में क्रमशः OA_1 तथा OA_3 पूंजी है साधन मूल्य रेखा A_3B_3 व A_2B_2 आपस में समानान्तर है कीमत रेखा A_3B_3 वस्तु Y के समोत्पत्ति वक्र YY के d बिन्दु पर स्पर्श रेखा है जो यह स्पष्ट करती है कि एक इकाई वस्तु Y का उत्पादन OK_4 पूंजी व OL_4 श्रम द्वारा होता है OL_4 श्रम बराबर A_3K_4 पूंजी के है इस प्रकार देश B में एक इकाई वस्तु Y की उत्पादन लागत पूंजी के रूप में $OA_3(OK_4+A_3K_4)$ है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि देश B में वस्तु Y के उत्पादन के लिए OA_3 पूंजी की आवश्यकता होती है जो OA_2 से कम है अतः वस्तु Y का उत्पादन श्रम प्रधान है फलतः देश B को वस्तु Y का निर्यात करना चाहिये क्योंकि वस्तु Y श्रम प्रधान वस्तु है और देश B में श्रम की प्रचुरता है इस प्रकार देश A को पूंजीगत वस्तु X का निर्यात करना चाहिये क्योंकि देश A पूंजी प्रधान है। यह निष्कर्ष हैक्शचर ओहलिन प्रमेय की स्थापना करता है।

5.3.2 भौतिक मापदण्ड (The Physical Criterion)

इस मापदण्ड के अनुसार एक देश तुलनात्मक रूप में केवल उसी स्थिति में पूंजी प्रधान कहा जाता है जबकि पूंजी श्रम अनुपात दूसरे देश की तुलना में अधिक हो। अर्थात A देश तभी तुलनात्मक रूप में पूंजी प्रधान होगा जबकि

$$\frac{K_A}{L_A} > \frac{K_B}{L_B}$$

यहां पर K तथा L तथा क्रमशः पूंजी व श्रम की उपस्थित कुल मात्रा को प्रदर्शित करता है जबकि नीचे के लेख (subsricpts) A तथा B क्रमशः दो देशों को प्रदर्शित करते हैं।

इसे रेखाचित्रों की सहायता से निम्नलिखित प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है।

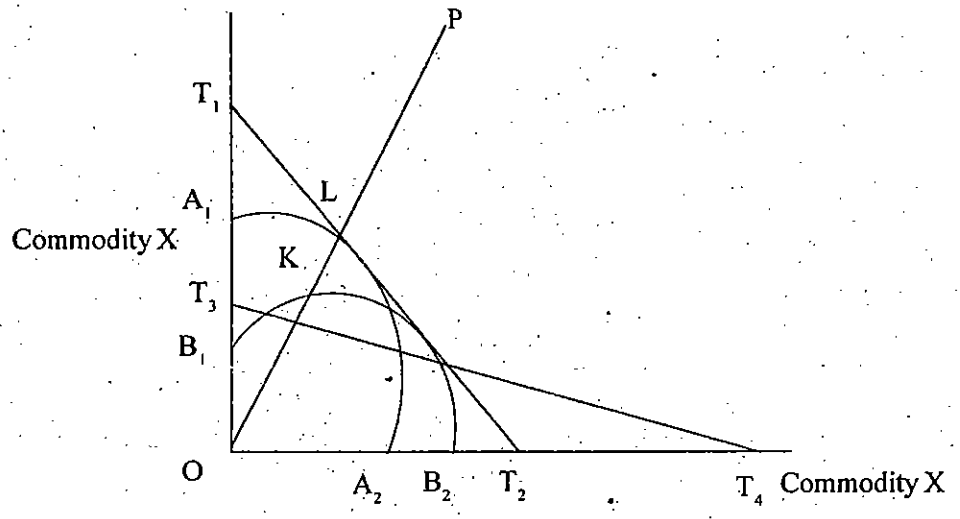

रेखाचित्र - 5.2

रेखा चित्र 5.2 में देश A का उत्पादन सम्भावना वक्र A_1A_2 तथा देश B का B_1B_2 द्वारा प्रदर्शित किया गया। मानले कि वस्तु X तुलनात्मक रूप से एक पूंजी प्रधान वस्तु Y है तथा वस्तु Y एक श्रम प्रधान वस्तु है। यदि दोनों देशों में दोनों वस्तुओं का उत्पादन समान अनुपात में OP रेखा पर होता है तो देश A का उत्पादन L बिन्दु पर तथा देश B का K बिन्दु पर होता है। इस स्थिति में देश A की मूल्य रेखा T_1T_2 तथा देश B की मूल्य रेखा T_3T_4 है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि देश A, OT_2 वस्तु Y का विनिमय OT_1 वस्तु X से करेगा और देश B, OT_3 वस्तु X का विनिमय OT_4 वस्तु Y से करेगा। चूंकि $OT_1 > OT_3$ तथा $OT_4 > OT_2$ है। अतः वस्तु X देश A में तथा वस्तु Y देश B में तुलनात्मक रूप से सस्ती है। चूंकि देश A पूंजी प्रधान है अतः पूंजीगत वस्तु X का उत्पादन बढ़ाने के लिये उत्सुक होगा। इसी प्रकार देश B श्रम प्रधान होने के कारण श्रमगत वस्तु Y का उत्पादन बढ़ाना चाहेगा।

लेकिन इससे हम यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाल सकते हैं कि देश A अवश्य ही वस्तु X और देश B वस्तु Y का निर्यात करेगा। यह सम्भव है कि दोनों देशों में उपभोग की प्रवृति ऐसी हो कि यह प्रभावहीन हो जाये। अन्य शब्दों में केवल पूर्ति (लागत) की दशाओं के आधार पर यह निश्चित निर्णय नहीं लिया जा सकता है कि दो देश व्यापार में भाग लेंगे और व्यापार की दिशा पूर्ति (लागत) के अनुरूप होगी। मांग की दशाएं व्यापार की दिशा में परिवर्तन कर सकती है यह सम्भव हो सकता है कि देश A वस्तु X के निर्यात की जगह आयात करे तथा देश B वस्तु Y का निर्यात न करके आयात करे। इसका निर्णय दोनों देशों के समुदाय तटस्थता वक्रों की स्थिति पर निर्भर करता है इस स्थिति को चित्र 5.3. के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

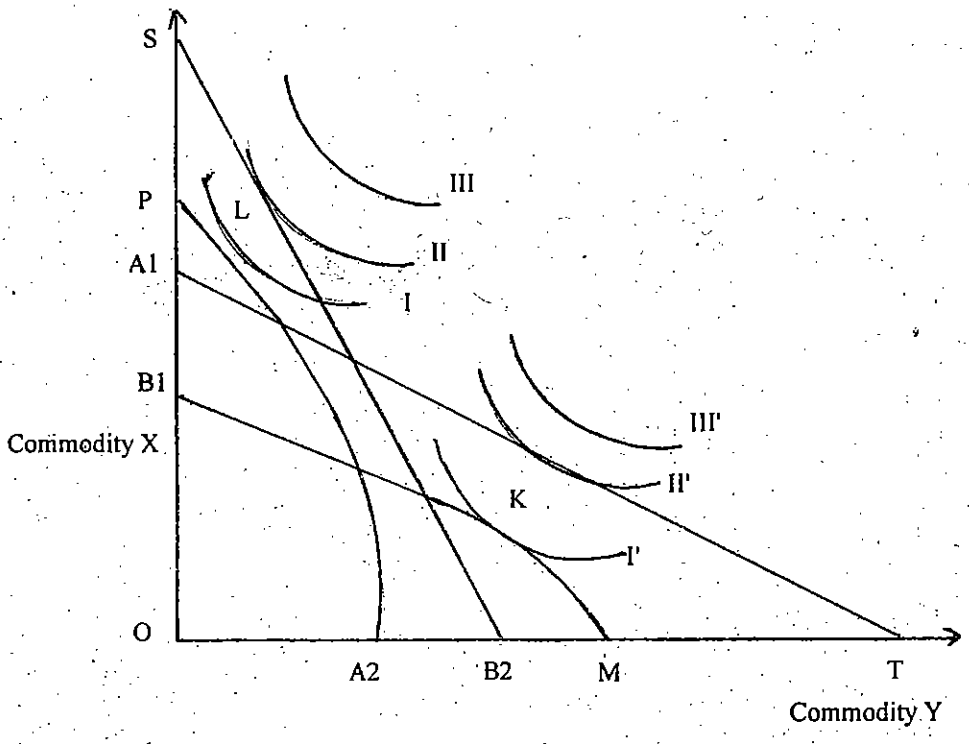

चित्र - 5.3

उपर्युक्त चित्र में दोनों देशों के उत्पादन सम्भावना वक्र प्रदर्शित किये गये हैं और मांग की दशाओं को भी चित्रित किया गया है। देश A की मांग प्रवृत्तियों की I, II, III आदि अधिमान वक्रों द्वारा तथा देश B की मांग प्रवृत्तियां I', II', III' आदि अधिमान वक्रों द्वारा दिखलाया गया है। मांग की दशाओं से स्पष्ट है कि वस्तु X देश A में तथा वस्तु Y देश B में महंगी है। देश A में OT वस्तु Y का विनिमय OP वस्तु X से होता है जबकि देश B में OM वस्तु Y का (OM <OT) विनिमय OS वस्तु X (OS >OP) से होता है। इस प्रकार दोनों देशों के मध्य व्यापार नहीं होगा। अतः स्पष्ट है कि लागत (पूर्ति) की दशाओं के अनुसार व्यापार की जो दिशा होनी चाहिये उसे मांग की दशाएं उलट देती है।

इस प्रकार हैक्शचर ओहलिन का सिद्धान्त भौतिक मापदण्ड के आधार पर केवल इस स्थिति में सत्य हो सकता है जबकि दोनों देशों में उपभोक्ताओं की पसन्दगी समान हो और आयात मांग की लोच दोनों देशों में इकाई के बराबर हो।

5.4 हैक्शचर ओहलिन मॉडल (A Simple H.O. Model)

इस सिद्धान्त को एजवर्थ बाऊले बाक्स चित्र की सहायता से निम्न प्रकार स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है।

चित्र 5.4 तथा चित्र 5.5 में स्पष्ट है कि दो देशों A व B के एजवर्थ संदूक चित्रों को क्रमशः ABCD तथा A'B'C'D' द्वारा प्रदर्शित किया गया है। दोनों देशों में पूंजी की मात्रा क्रमशः AD तथा A'D' द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार श्रम की मात्रा को क्रमशः AC व A'C' द्वारा दिखलाया गया है। रेखा चित्र से स्पष्ट है कि AD>A'D' तथा A'C'>AC है। अर्थात देश A में पूंजी देश B में श्रम अधिक मात्रा में उपलब्ध है। इससे

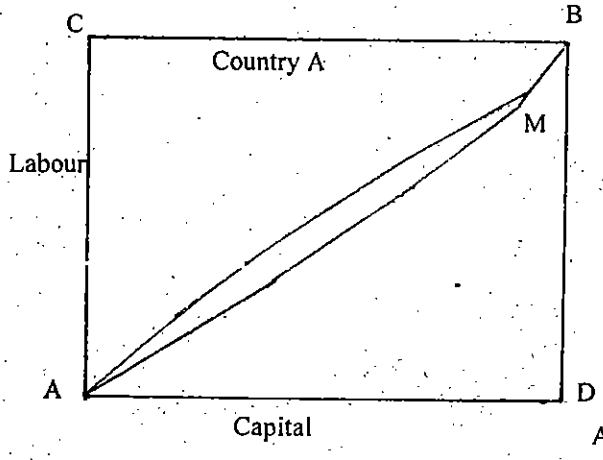

चित्र - 5.4

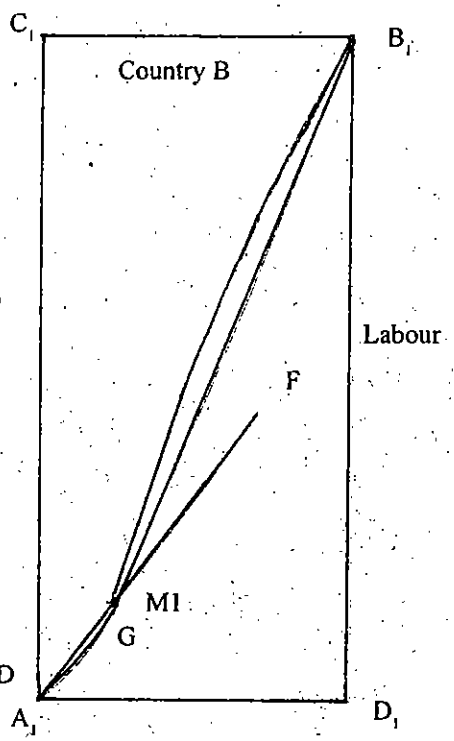

चित्र - 5.5

स्पष्ट है कि देश A पूंजी प्रधान तथा देश B श्रम प्रधान है। दोनों देश दो वस्तुओं वस्तु X तथा वस्तु Y का उत्पादन करते हैं। वस्तु X के उत्पादन के समोत्पाद वक्र का मूल बिन्दु दोनों देशों में क्रमशः A तथा A' तथा वस्तु Y के उत्पादन के समोत्पाद वक्र का मूल बिन्दु B तथा B' है। चित्रों में दोनों देशों के प्रसंविदा वक्र (Contract Curve) AB तथा AC दिये हुए हैं।

अब मान लिजिये कि देश A के प्रसंविदा वक्र पर कोई बिन्दु M है बाक्स A'B'C'D' के भीतर A'F रेखा को इस प्रकार खींचा गया है कि वह संदूक ABCD में खींची गयी रेखा AM के समानान्तर है रेखा A'F की स्थिति से स्पष्ट है कि $\angle DAM = \angle D'A'F$ रेखा B'G इस प्रकार खींची गयी है कि यह BM के समानान्तर है और A'F को M' बिन्दु पर काटती है। तब सम्बन्धित बिन्दुओं के प्रमेय (Theorem of Corresponding points) के अनुसार लेंकास्टर यह बात सिद्ध कर सके हैं कि M और M' बिन्दुओं का एक ऐसा जोड़ा है कि :-

(i) यदि बिन्दु M देश A के प्रसंविदा वक्र पर स्थित है तो बिन्दु M' देश B के प्रसंविदा वक्र पर स्थित है।

(ii) वस्तु X तथा वस्तु Y दोनों के उत्पादन में दोनों उपादानों (श्रम तथा पूंजी) की सीमांत उत्पादकता M व M' बिन्दुओं पर समान है।

(iii) वस्तुओं का मूल्यानुपात जो बिन्दु M पर है वही M' पर है।

(iv) M तथा M' बिन्दुओं पर वस्तु X तथा वस्तु Y की उत्पादित मात्रा भिन्न भिन्न है

उत्पादन का अनुपात इस प्रकार है कि पूंजी प्रधान देश, पूंजीगत वस्तु X तथा श्रम प्रधान देश Y श्रमगत वस्तु का अधिक मात्रा में उत्पादन करता है इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक देश उस वस्तु का अधिक मात्रा में उत्पादन करता है जिसके उत्पादन में उस देश के प्रचुर साधनों का गहनता से प्रयोग होता है।

सम्बन्धित बिन्दुओं का प्रमेय सुगमता पूर्वक सिद्ध किया जा सकता है चूंकि उत्पादन फलन दोनों देशों में समरूप हैं। अतः X समोत्पति वक्रों का कुलक जो संदूक ABCD में A बिन्दु से प्रारम्भ होता है वह संदूक A'B'C'D' में A' बिन्दु से प्रारम्भ होने वाले X समोत्पाद वक्रों के कुलक के समान है और चूंकि $\angle DAM = \angle D'A'M$ अतः X समोत्पाद वक्रों की जो विशेषताएं AM रेखा के साथ सत्य है वही A'M' रेखा पर भी सत्य है। इसी प्रकार Y समोत्पाद वक्र की जो विशेषताएं BM रेखा पर है वही B'M' रेखा पर भी सत्य हैं।

परिणाम स्वरूप पूंजी और श्रम की सीमांत उत्पादकतायें वस्तु X के उत्पादन में जो AM रेखा पर है वही A'M' रेखा पर भी है इसी प्रकार वस्तु Y के उत्पादन में श्रम व पूंजी की जो सीमांत उत्पादकता B'M' रेखा पर है वही BM रेखा पर भी है चूंकि M और M' बिन्दु क्रमशः AM तथा BM और A'M' तथा B'M' रेखाओं के उभय बिन्दु हैं अतः वस्तु X व वस्तु Y के उत्पादन में श्रम और पूंजी की सीमांत उत्पादकताएं M तथा M' बिन्दुओं पर समान हैं।

चूंकि बिन्दु M देश A के आंकुचित वक्र पर स्थित है अतः

$$\left(\frac{MP_L}{MP_K}\right)X = \left(\frac{MP_L}{MP_K}\right)Y$$

अर्थात् श्रम व पूंजी की सीमांत उत्पादकता का अनुपात दोनों वस्तुओं वस्तु X तथा वस्तु Y के उत्पादन में समान हैं।

यही विशेषता देश B के लिये M' बिन्दु पर सत्य है। अतः M' बिन्दु अवश्य ही देश B के आकुंचित वक्र पर स्थित होगा इस प्रकार प्रमेय का (i) भाग का सत्यापन होता है।

प्रमेय के (ii) भाग का सत्यापन अक्षों के मूल बिन्दुओं से गुजरने वाली रेखा की विशेषता द्वारा होता है।

चूंकि वस्तु मूल्यानुपात $\frac{Px}{Py}$ का निर्धारण दोनों उद्योगों में एक साधन की सीमांत उत्पादकता अनुपात $\frac{MP(K \text{ or } L)\,X}{MP(K \text{ or } L)\,Y}$ द्वारा होता है और चूंकि साधन की सीमांत उत्पादकताएं M तथा M' बिन्दुओं पर समान है अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तथा बिन्दुओं पर वस्तु मूल्यानुपात $\frac{Px}{Py}$ भी समान है। इस प्रकार प्रमेय का (iii) भाग का सत्यापन होता है।

प्रमेय का अन्तिम भाग यह है कि दोनों वस्तुओं X तथा Y के उत्पादन का अनुपात

M तथा M' बिन्दुओं पर भिन्न भिन्न होगा। यह मामूली परिवर्तन द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। संदूक चित्र A'B'C'D' को दूसरे संदूक चित्र ABCD पर इस प्रकार रखा जाये कि D' बिन्दु D पर, D'A' तथा D'B' रेखा DB रेखा पर पड़े। जैसा कि निम्न चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

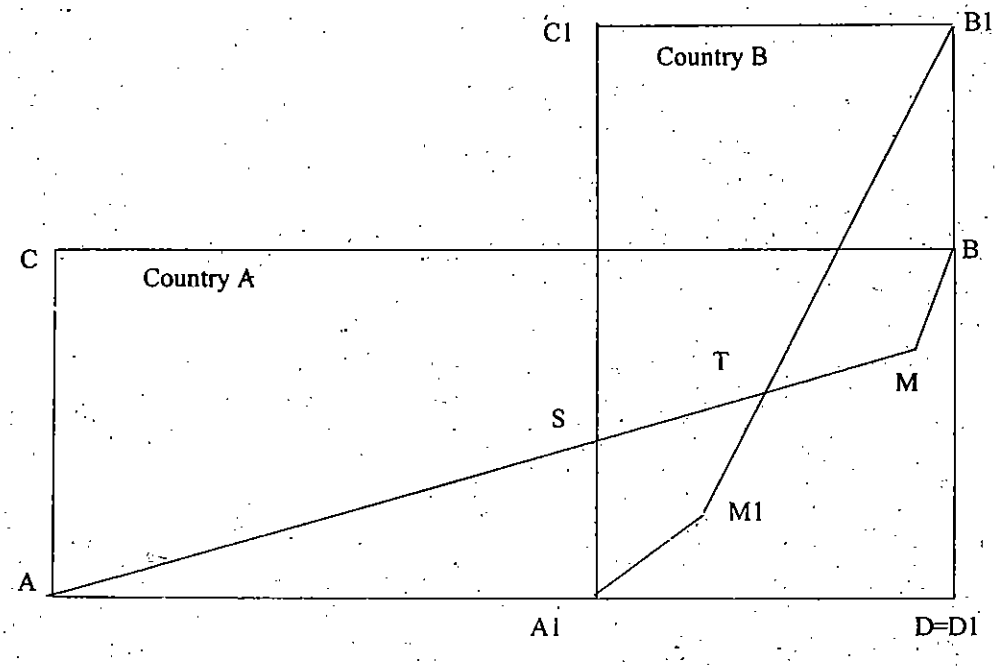

चित्र - 5.6

उपर्युक्त चित्र में स्पष्ट है कि बिन्दु A बिन्दु A' के बायीं ओर है क्योंकि AD>A'D' फलतः AM रेखा A'M' के ऊपर स्थित है। चूंकि BD<B'D' है।

अतः बिन्दु B बिन्दु B' के नीचे स्थित होगा फलतः BM रेखा, BM' रेखा के नीचे स्थित होगी।

यदि हम S तथा T बिन्दुओं पर विचार करें तो AM = AS+ST+TM चूंकि ST रेखा A'M' के समानान्तर है और TM' रेखा कुछ लम्बवत है।

अतः $ST \geq A'M'$

$AM \geq AS+TM+A'M'$

$\therefore AM \geq A'M'$

लेकिन हम जानते हैं कि देश A में वस्तु X का उत्पादन M बिन्दु पर AM का समानुपाती है जबकि देश B में वस्तु X का उत्पादन M' बिन्दु पर A'M' का समानुपाती है चूंकि AM रेखा रेखा A'M' से बड़ी है अतः देश A में वस्तु X का उत्पादन देश B की तुलना में अधिक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तु Y का उत्पादन देश B की अपेक्षा देश में अधिक है। चूंकि वस्तु X का उत्पादन पूंजी प्रधान है जो पूंजी सम्पन्न देश A में अधिकता से उत्पादित होता है अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रत्येक देश प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधनों का गहनता से प्रयोग किये जाने वाली वस्तु का उत्पादन करता है इस प्रकार प्रमेय का भाग (iv) भाग भी प्रमाणित हो जाता है।

सम्बन्धित बिन्दुओं का सिद्धान्त हैक्शर ओहलिन व्यापार मॉडल की महत्वपूर्ण विशेषताओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

यहां एक प्रश्न उठाया जाता है कि क्या दोनों देशों में पूर्ण विशिष्टीकरण होगा? आमतौर पर यह विचार किया जाता है कि दोनों ही देश प्रत्येक वस्तु का उत्पादन कुछ सीमा तक करते रहेंगे। फिर भी पूर्ण विशिष्टीकरण की संभावना नकारी नहीं जा सकती। प्रो. एस. मुकर्जी इसका निष्कर्ष निम्न शब्दों में देते हैं :-

दोनों देश में से एक देश में पूर्ण विशिष्टीकरण की संभावना इस बात पर निर्भर करती है कि दोनों देशों में साधनों की उपलब्धि दोनों वस्तुओं के साधनों की निष्ठता (Intensities) की तुलना में कितनी भिन्न है जब साधनों की सापेक्षिक उपलब्धि, साधनों की निष्ठता की भिन्नता से काफी ज्यादा है तो प्रत्येक देश में उस वस्तु के उत्पादन के पूर्ण विशिष्टीकरण की प्रवृति होगी जिसमें तुलनात्मक लाभ प्राप्त है।

5.5 हैक्शचर - ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचनाएं

यद्यपि हैक्शचर ओहलिन का सिद्धान्त की तुलना में अधिक विस्तृत व तर्क संगत व्याख्या प्रस्तुत करता है फिर भी यह आलोचना से मुक्त नहीं है। इस सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचनाएं की गई हैं :-

सर्वप्रथम सिद्धान्त के सरल परन्तु अवास्वविक मान्यताओं को लेकर आलोचना की गई है ये मान्यताएं यथार्थता से दूर है अतः इन पर संदेह होता है और हैक्शचर-ओहलिन सिद्धान्त एक काल्पनिक सिद्धान्त लगने लगता है। वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता, स्थिर लागतों को सिद्धान्त, यातायात लागत का न होना, स्वतंत्र व्यापार आदि भुलावा मात्र के अतिरिक्त क्या है? अन्य बातें समान रहने पर वाक्यांश अर्थशास्त्र को अधिक खरा और पूर्ण बनाने के लिये किया गया प्रयत्न है पर इन स्थिर बातों को गतिशील संसार में सत्य मान लेना कितनी भारी भूल है। इसी प्रकार यह मान्यता की संसार में लोगों की रुचियां (Tastes), साधानों की उपलब्धि और तकनीकी ज्ञान स्थिर और सीमित है; सत्यता से कितना दूर है।

दूसरी आलोचना का बिन्दु साधन शब्द को लेकर की गई है। उत्पादन के साधन की सही ढंग से परिभाषित करना कठिन है। कारण है कि समस्त साधन कई कार्यों के लिए एक रूप (Homogeneous) नहीं हैं। हम जब यह कहते हैं एक देश विशेष भूमि प्रधान है तो उससे ध्वनि निकलती है कि वह भूमिनिष्ठ वस्तुओं का उत्पादन बढ़ायेगा और उनका निर्यात भी करेगा। ऐसा कहने पर भी हमारा तात्पर्य स्पष्ट नहीं हो पाता है क्योंकि हम स्पष्ट रूप से नहीं कर सकते हैं कि यहां भूमि प्रधानता का क्या तात्पर्य है? क्या साधन भूमि का तात्पर्य चरगाह से लें अथवा ऐसी उपजाऊ भूमि से ले जहां चावल उत्पन्न किया जा सकता है अथवा ऐसी भूमि से ले जो वन सम्पदा से परिपूर्ण है? अतः भूमि का तात्पर्य इतना विस्तृत है कि दो देश एक दूसरे को भूमि निष्ठ वस्तुओं का निर्यात कर सकते हैं जैसे एक देश चावल का निर्यात करे और दूसरा देश पहले देश को मांस (गोश्त) का निर्यात करे। इस तर्क को यदि हम एक चरण आगे बढ़ावे तो यों कह सकते हैं - जिन देशों अथवा क्षेत्रों के साधनों की उपलब्धि एक समान है वहां व्यापार के आधार को समझने में हैक्शचर ओहलिन की उपयोगिता सीमित है।

जिस तरह विभिन्न प्रकार की भूमि, श्रम, पूंजी की परिभाषा देना कठिन है उसी प्रकार पूंजी को श्रम से और पूंजी को भूमि से पृथक करना कठिन है। पूंजी को श्रम से पृथक करने

में कठिनाई उस समय और अधिक हो जाती है जब प्रशिक्षित कुशल श्रमिक वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए हैं। इसी प्रकार भूमि और पूंजी को भी पृथक करना कठिन है तो फिर ऐसे साधनों से उत्पादित वस्तुओं के पूंजीनिष्ठ या श्रमनिष्ठ माने?

कभी-कभी एक वस्तु विशेष ज्यादा भूमि अथवा ज्यादा पूंजी दोनों से उत्पन्न की जा सकती है। यहां साधनों का प्रतिस्थापन होता है जो उन साधनों की प्राप्ति पर निर्भर है। किडलबर्गर यहां अंडों का उदाहरण देते हैं। अंडों को ज्यादा भूमि (विस्तृत भूभाग में मुर्गे-मुर्गियों के विचरण करते हुए) पर उत्पन्न किया जा सकता है अथवा ज्यादा पूंजी से भी उत्पन्न किया जा सकता है। जहां आधुनिक तरीकों से अंडों को उत्पन्न किया जाता है। यहां भूमि और श्रम को पूंजी ने प्रतिस्थापित किया है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि एक वस्तु विशेष केवल भूमि अथवा श्रम अथवा पूंजी से ही उत्पन्न की जा सकती है।

एक अन्य प्रकार की कठिनाई यह है कि वस्तुओं और उत्पत्ति के साधनों को भी कभी भी पृथक नहीं किया जा सकता है। आजकल विश्व का काफी व्यापार अन्तिम वस्तुओं (Final Product) का न होकर बीच की वस्तुओं (Intermediate Products) का होने लगा है। ये बीच की वस्तुऐं अन्तिम रूप से उपयोग में नहीं ली जाती हैं अपितु अन्य वस्तुओं को निर्माण करने में काम में आती हैं। जैसे जापान कच्चा लोहा आस्ट्रेलिया से मंगाता है और कोयला संयुक्त राज्य अमेरिका से, फिर भी वह इस्पात से बनी वस्तुओं के उत्पादन में दक्षता प्राप्त किये हुए है। यह सब इस बात की पुष्टि करते हैं कि बीच की वस्तुओं के व्यापार ने विशिष्ट साधनों के महत्व को कम कर दिया है और फलस्वरूप साधन अनुपात का सिद्धान्त भी अपने महत्व को खो रहा है।

आज की दुनियां में वस्तुओं की उपयोग करने के स्वभावों और रुचियों में काफी परिवर्तन होता देखा गया है रेग्नर नर्कस ने ठीक बताया है कि प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व की तुलना में आजकल प्रदर्शन प्रभाव (Demonstration effects) ज्यादा शक्तिशाली है।

जिस तरह से रुचियां बदलती हैं उसी प्रकार से विकास की इच्छा से साधनों की प्राप्ति भी बदलती है। पूंजी और श्रम में तो परिवर्तन होता ही है श्रम शक्ति के वृद्धि और विकास के साथ पूंजी में भी सुधार और अभिवृद्धि होती है इस प्रकार श्रम की कुशलता के परिवर्तन, पूंजी के तकनीक में परिवर्तन अन्त में वस्तुओं के स्वरूप को भी बदल देगी। इस प्रकार ये परिवर्तन हैक्शचर ओहलिन सिद्धान्त की स्थिर मान्यताओं पर एक असहनीय प्रहार है।

एल्सवर्थ लिखते हैं कि जिन देशों में साधनों के अनुपात समान हैं वे आपस में इसलिये व्यापार करते हैं कि वस्तुओं की लागतों को कम करने के अनेक घटक उत्तरदायी होते हैं वे कहते हैं कि लागतों के तुलनात्मक अन्तर वास्तव में विशुद्ध लागत के अन्तर स्वरूप धारण कर लेते हैं हमें सभी प्रकार के लागतों को जोड़कर देखना चाहिए न केवल श्रम लागत को जैसा कि रिकार्डो ने माना था। ये लागते हैं - श्रम की भिन्नताओं की, पूंजी की भिन्नताओं की प्राकृतिक साधनों की भिन्नताओं की, कच्चे माल के यातायात की भिन्नता की आदि इसके साथ आन्तरिक और बाह्य बचतों के कारण लागतों में जो भिन्नता आती है उस भी उचित महत्व देना चाहिए। इस प्रकार इन समस्त प्रकार की लागतों के सामुहिक प्रभाव को हैक्शचर-ओहलिन ने नहीं बतलाया था।

हालांकि मांग पक्ष का उल्लेख हैक्शचर-ओहलिन के सिद्धान्त में आता है पर मांग

के पीछे इसको भिन्न स्वरूप देने वाले तत्वों का विश्लेषण तटस्थता वक्र रेखाओं द्वारा नहीं समझाया गया है। अतः पक्ष का अधूरा विश्लेषण इस सिद्धान्त में प्राप्त होता है।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी हैक्शचर ओहलिन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में एक केन्द्रीय स्थान बनाये हुए है। इस सिद्धान्त से यह समझ में आता है कि विभिन्न साधनों की उपलब्धियों से उन साधनों की कीमतें कम हो जाती है इन कम कीमतों वाले साधनों की सहायता से देश विशेष उन वस्तुओं का निर्माण करते हैं। जिनमें ये सस्ते और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधन काम में आते हैं। ये उत्पादित वस्तुऐं दूसरे देशों की तुलना में स्वदेश में सस्ती पड़ेगी। इस सिद्धान्त से यह भी ज्ञात होता है कि वस्तु विशेष का उत्पादन, भिन्न साधनों को भिन्न अनुपातों में मिश्रित करके किया जा सकता है।

इस सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर अनेक अर्थशास्त्रियों ने इसकी परख करने के लिये अनेक भौतिक जाँचें आरम्भ की हैं। उनके बारे में अलग अध्याय में पढ़ेंगे।

यह सिद्धान्त अपनी मौलिकता के कारण विवेचना का केन्द्रीय बिन्दु बना। मोटे तौर पर अर्थशास्त्री इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मानते हैं। यह सिद्धान्त साधन कीमत समतुल्यता के सिद्धान्त (Factor Price Equalisation Theorem) का जन्मदाता है इसे अगले भाग में स्पष्ट करेंगे।

5.6 साधन कीमत समानीकरण प्रमेय (Factor Price Equalisation Theorem)

साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त हैक्शचर ओहलिन के साधन अनुपात सिद्धान्त से निकाला गया एक महत्वपूर्ण उपसिद्धान्त (Corollary) है। इस सिद्धान्त का विकास व वैज्ञानिक विश्लेषण प्रो. सेम्युलसन ने किया है।

यह सिद्धान्त बताता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण देशों के बीच न केवल वस्तुओं की कीमतों में बल्कि साधनों की कीमतों में समानीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है दूसरे शब्दों में यदि अन्य बातें समान रहे तो साधनों के आवागमन की भांति वस्तुओं का स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने के कारण निरपेक्ष प्रतिफल या साधनों की कीमतें प्रत्येक व्यापाररत देश में समान हो जाती हैं।

साधन कीमत समानीकरण की इस प्रवृत्ति को निम्न चार्ट द्वारा दर्शाया जा सकता है। श्रम सम्पन्न देश भारत तथा पूंजी सम्पन्न देश अमेरिका में व्यापार प्रारम्भ होने के कारण साधन कीमतों के परिवर्तन चार्ट में दर्शायेनुसार होंगे।

चार्ट

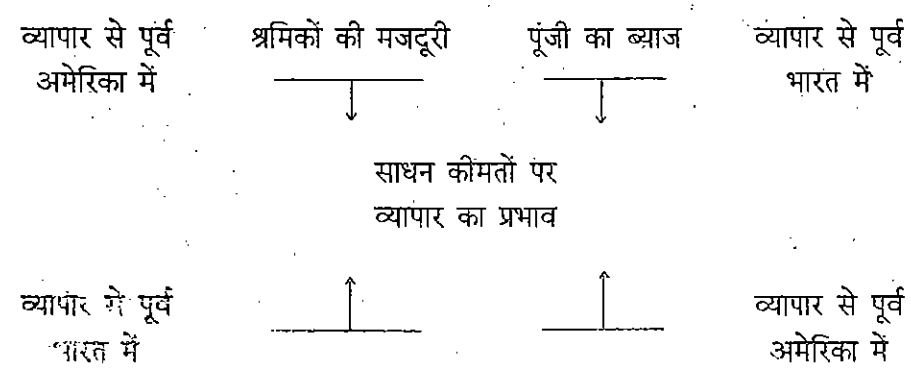

उपरोक्त चार्ट में व्यापार पूर्व साधन कीमतें क्षैतिज रेखाओं की ऊँचाई द्वारा दर्शायी गयी है तथा व्यापार के साधन कीमतों पर प्रभाव को तीरों की दिशा द्वारा दर्शाया गया है। दोनों राष्ट्रों के तीर एक दूसरे की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अर्थात् साधन कीमत समानीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है। साधन कीमत समानीकरण की यह प्रवृत्ति उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि राष्ट्र पूर्ण विशिष्टीकरण न कर ले अथवा साधन कीमतें पूर्णतया समान न हो जायें।

5.6.1 प्रमेय की मान्यताएँ

सैम्युअलसन ने साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्तों का कुछ प्रतिबंधक मान्यताओं के अन्तर्गत एजवर्थ बाउले बाक्स रेखाचित्र की सहायता से समझाने की कोशिश की है। प्रमेय की मान्यताएं निम्न हैं।

1. दो देश, दो वस्तुऐं तथा दो साधनों के द्वारा वस्तुए उत्पादित की जाती हैं।
2. साधन बाजार व वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है।
3. प्रत्येक का उत्पादन उत्पत्ति के दो साधनों श्रम और पूंजी से होता है तथा उत्पादन-फलन समता नियम व्यक्त करता है।
4. सीमांत उत्पादका ह्रास नियम लागू होता है।
5. दोनों देशों में श्रम व पूंजी की अलग-अलग मात्रा उपलब्ध है अर्थात यदि देश A पूंजीगहन है तो देश B श्रम गहन होगा गणितीय रूप में $\left(\frac{K}{L}\right) A > \left(\frac{K}{L}\right) B$ लेकिन श्रम और पूंजी की इकाईयां गुणात्मक रूप में समान हैं।
6. दोनों देशों में किसी दी हुई वस्तु के लिये उत्पादन फलन एक समान हैं।
7. पूर्ण विशिष्टीकरण का अभाव है।
8. दोनों देशों के मध्य स्वतंत्र व्यापार होता है और परिवहन लागतों का अभाव है।
9. प्रत्येक देश में उत्पादन के साधनों की मात्राएं अपरिवर्तित रहती हैं।
10. दोनों देशों में उपभोक्ताओं के पसंदगी व स्वाद समान तथा अपरिवर्तनीय हैं अतः एक दिये गये वस्तु कीमत अनुपात पर प्रत्येक देश में वस्तुओं की मांग अनुपात समान होगा क्योंकि वस्तु मांग संरचना समान है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर चित्र 5.7 की सहायता से सैम्युलसन ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता की अपेक्षा वस्तुओं का आदान-प्रदान बेहतर है तथा इस लेन-देन से पूर्ण बाजार में स्वतः ही न केवल वस्तुओं की अपितु उत्पादन के साधनों की कीमतें भी समान हो जायेंगी।

चित्र 5.7 में दो देश A व B जिन्हें बाक्स क्रमशः XZYQ तथा $XZ^1Y^1P^1$ द्वारा प्रदर्शित किया गया है जिनके वस्तु X के उत्पादन का उभय मूल बिन्दु X हैं। चूंकि दोनों देशों में साधन अनुपात भिन्न-भिन्न हैं अतः वस्तु Y के उत्पादन हेतु मूल बिन्दु दोनों देशों में पृथक

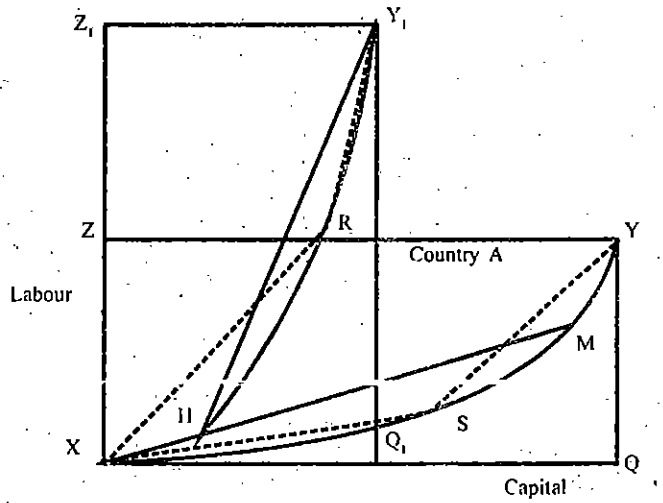

चित्र - 5.7

है चित्र में Y^1, देश B में तथा Y, देश A में हैं। परिणाम स्वरूप देश A का प्रसंविदा वक्र (Contract Curve) XY तथा देश B का XY^1 है।

यह माना गया है कि व्यापार से पूर्व देश A बिन्दु S पर तथा देश B बिन्दु R पर उत्पादन तथा उपभोग कर रहे हैं अर्थात बिन्दु S व बिन्दु R दोनों देशों में अपने व्यक्तिगत मांग स्थिति के अनुसार निर्धारित साम्य बिन्दु है इन बिन्दुओं पर पूंजी-श्रम अनुपात $\left(\frac{K}{L}\right)$ वस्तु X तथा वस्तु Y के लिये देश A में देश B से अधिक है अर्थात्

$$\left(\frac{KX}{LX}\right)A > \left(\frac{KX}{LX}\right)B \text{तथा}$$

$$\left(\frac{KY}{LY}\right)A > \left(\frac{KY}{LY}\right)B$$

चित्र में उपरोक्त स्थिति क्रमशः वस्तु X तथा वस्तु Y के लिये इस बात से प्रमाणित है कि रेखा XR, रेखा XS की तुलना में ज्यादा लम्बवत है तथा Y^1R रेखा, YS रेखा की तुलना में ज्यादा लम्बवत है।

चूंकि देश A में देश B की तुलना में दोनों वस्तुओं (वस्तु X तथा वस्तु Y) में अधिक पूंजी उपयोग की जाती है जिससे स्पष्ट है कि देश A में पूंजी का प्रतिफल देश B की तुलना में कम है इसका अर्थ है कि देश A में पूंजी श्रम से तुलनात्मक रूप में सस्ती है। अर्थात् $(P_K)A < (P_L)A$ इसी प्रकार दूसरे शब्दों में इसके विपरीत यदि दोनों वस्तुओं में श्रम

पूंजी अनुपात $\left(\frac{L}{K}\right)$ दोनों वस्तुओं के लिये देश B में अधिक है तो देश B में श्रम पूंजी की तुलना में कम महंगा होगा अर्थात $(P_K)B > (P_L)B$

स्वतंत्र व्यापार मान्यता के अन्तर्गत, एक बार व्यापार प्रारम्भ होने के पश्चात्, साम्य बिन्दु पर दोनों देशों में वस्तुओं की कीमतें बराबर हो जाती है। यह तर्क से स्पष्ट है कि उत्पादन फलन समान होने पर, पैमान के स्थिर प्रतिफल की स्थिति तथा उत्पादन कीमत समान होने पर यदि दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में साधन अनुपात समान है तो साधन को प्राप्त प्रतिफल भी समान होंगे। चित्र 5.8 में यह तभी संभव है जबकि व्यापार के पश्चात् उत्पादन साम्य बिन्दु H तथा बिन्दु M हों। दोनों देश (A तथा B) में वस्तु X के उत्पादन में साधन अनुपात बिन्दु H तथा बिन्दु M पर समान है क्योंकि बिन्दु H रेखा XM पर उपस्थित है। तथा रेखा YM व रेखा Y'H समानान्तर है जिससे यह स्पष्ट है कि वस्तु Y के उत्पादन में साधन अनुपात दोनो देशों में समान है। यह स्थिति रूपान्तरण वक्र या उत्पादन सम्भावना वक्र की सहायता से अधिक स्पष्ट रूप से समझाई जा सकती है। इसे निम्न चित्र द्वारा बतलाया जा सकता है।

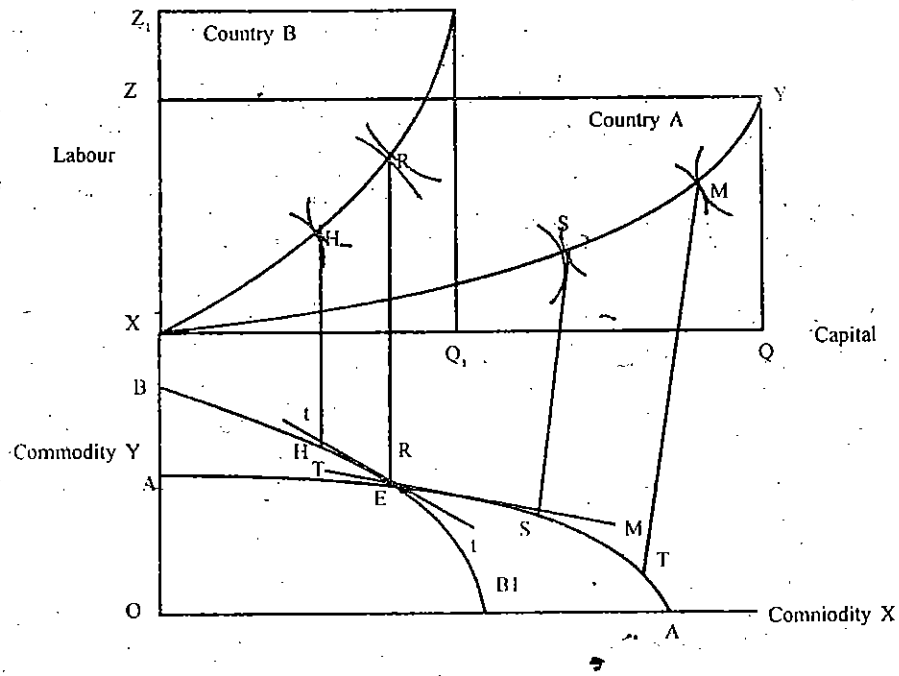

चित्र - 5.8

चित्र 5.8 से स्पष्ट है कि बिन्दु S व बिन्दु R क्रमशः देश A व B देश के व्यापार पूर्व अधिकतम कुशल बिन्दु हैं। देश A व B देश के उत्पादन सम्भावना वक्र क्रमशः AA^1 तथा BB^1 है जो कि प्रसंविदा वक्र क्रमशः XY तथा XY^1 द्वारा निरूपित किये गये हैं। चित्र से स्पष्ट है कि दोनों भागों को अखण्डित रेखायें जोड़ती हैं। जैसा कि यह तभी सम्भव है जबकि बाक्स चित्र में सम्पूर्ण सतह पर समोत्पत्ति वक्र होते हैं जिनके अधिकतम कुशल बिन्दु

स्पर्शज्या बिन्दु हैं इसलिये प्रसंविदा वक्र के प्रत्येक बिन्दु न केवल उत्पादन साधन का संयोग प्रदर्शित करते हैं बल्कि वस्तु उत्पादन के कुशल बिन्दुओं के संयोग को भी प्रदर्शित करते हैं अतः स्पष्ट है कि प्रसंविदा वक्र के प्रत्येक बिन्दु के अनुरूप सम्भावना वक्र पर एक ही विशेष बिन्दु होता है। दोनों देशों में उत्पादन फलन संभाग (Homogenous) है अतः उनके सम्भावना वक्र AA^1 तथा BB^1 के आकार में अन्तर दोनों देशों में साधन प्रचुरता में अन्तर के होने से है। चित्र 5.8 से स्पष्ट है कि देश A वस्तु X के उत्पादन में तुलनात्मक रूप से लाभ की स्थिति में है और वस्तु X पूंजी गहन वस्तु है इस प्रकार देश B वस्तु Y के उत्पादन में तुलनात्मक रूप से लाभ की स्थिति में है और वस्तु Y श्रम गहन वस्तु है इसका प्रमाण इस बात से स्पष्ट है कि देश B में वस्तु X की उत्पादन की अवसर लागत वस्तु Y के उत्पादन में त्याग के रूप में देश A से अधिक है अर्थात वस्तु X की वस्तु Y के लिये सीमान्त उत्पादन की रूपान्तरण पर (MRPT) किसी भी उत्पादन अनुपात पर देश A की देश B से कम होती है जो इससे प्रदर्शित है कि उत्पादन सम्भावना वक्र AA^1 का ढाल वक्र BB^1 के ढाल से बिन्दु E (जो कि दोनों वक्रों का उभय बिन्दु है) पर कम है।

यह माना गया है कि दोनों देशों में मांग संरचना समान है अतः तटस्था वक्र मानचित्र एक ही होगा। यह उपभोक्ता व्यवहार सिद्धान्त से स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में उपभोक्ता सन्तुलन उस बिन्दु पर होगा जहां पर सीमान्त प्रतिस्थापन की दर वस्तु X की वस्तु Y के लिये और वस्तु X व वस्तु Y की कीमतों का अनुपात आपस में समान होगा गणितीय रूप में

$$MRS = \frac{Px}{Py}$$

इसी प्रकार प्रत्येक देश में उत्पादन सन्तुलन उस बिन्दु पर होगा जहां पर सीमान्त उत्पादन की रूपान्तरण दर (MRPT) वस्तु X की वस्तु Y के लिये तथा X व वस्तु Y की कीमतों का अनुपात आपस में समान होगा। गणितीय रूप में

$$MRTP = \frac{Px}{Py}$$

अतः प्रत्येक देश में उपभोग तथा उत्पादन की सन्तुलन शर्त निम्न होगी।

$$MRS = MRTP = \frac{Px}{Py}$$

जहां

MRS – सीमान्त प्रतिस्थापन दर

MRPT – सीमान्त उत्पादन की रूपान्तरण दर

Px – वस्तु की कीमत

Py – वस्तु की कीमत

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में यह सन्तुलन शर्त विभिन्न देशों में विभिन्न कीमत अनुपात पर संतुष्ट हो सकती है जबकि साधन प्रचुरता में भिन्नता हो चाहे उत्पादन

फलन व मांग संरचना समरूप हो।

चित्र 5.9 में ये सन्तुलन की शर्त देश A व देश B के लिये बिन्दु S व बिन्दु R द्वारा प्रदर्शित की गई है। S बिन्दु तटस्थता वक्र I_{AB} व कीमत रेखा P_aP_a का तथा उत्पादन रूपान्तरण वक्र AA^1 का स्पर्शज्या बिन्दु है तथा R बिन्दु तटस्थता वक्र I_{AB}, कीमत रेखा P_bP_b एवं उत्पादन रूपान्तरण वक्र BB^1 का स्पर्शज्या बिन्दु है।

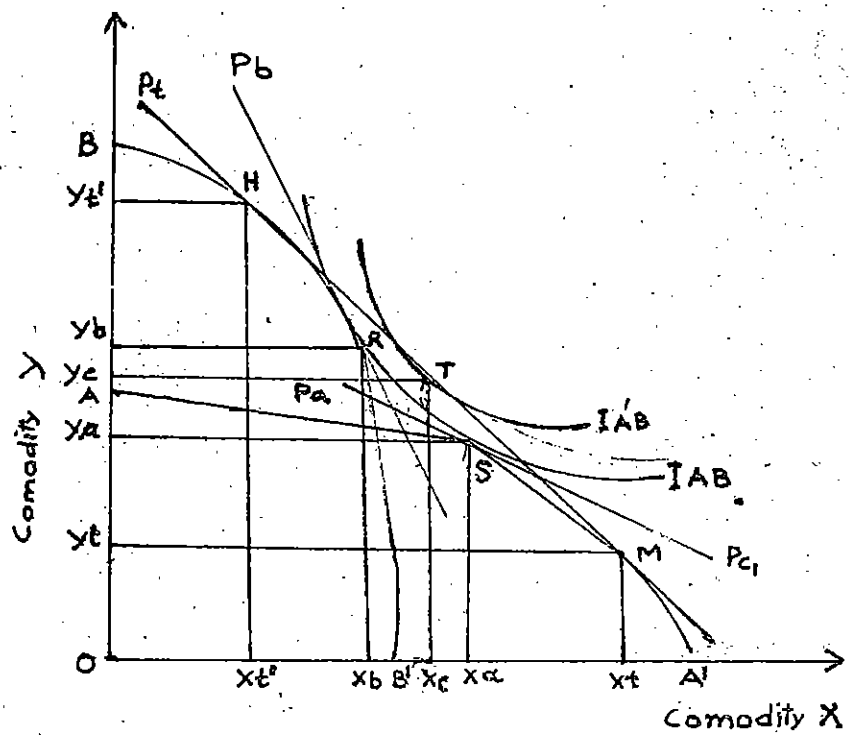

चित्र - 5.9

उपर्युक्त चित्र के अनुसार उत्पादन तथा उपभोग की व्यापार पूर्व सन्तुलन स्थिति निम्न है :

देश A में: OXa – वस्तु X की उत्पादन तथा उपभोग मात्रा
OYa – वस्तु Y की उत्पादन तथा उपभोग मात्रा

देश B में: OXb – वस्तु X की उत्पादन तथा उपभोग मात्रा
OYb – वस्तु Y की उत्पादन तथा उपभोग मात्रा

यहां पर यह स्पष्ट है कि $\left(\frac{Px}{Py}\right) A < \left(\frac{Px}{Py}\right) B$ क्योंकि P_aP_a रेखा का ढाल P_bP_b रेखा के ढाल से कम है, जिसका अर्थ है कि देश A में वस्तु X वस्तु Y की तुलना में सस्ती है जबकि देश B में वस्तु Y वस्तु X की तुलना में सस्ती है। इस तुलनात्मक लागत अन्तर के कारण दोनों देशों के मध्य व्यापार प्रारम्भ होता है।

जब दोनों देशों के मध्य व्यापार प्रारम्भ होता है तो देश A वस्तु X के उत्पादन में तथा देश वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं परन्तु यह विशिष्टीकरण अपूर्ण ही रहता है। यहां यह मान्यता लेकर की व्यापार मुक्त है अर्थात् कोई

व्यापार प्रतिबन्ध नहीं तथा न ही परिवहन लागते हैं। दोनों देश वस्तुओं का व्यापार समान कीमत पर करते हैं। अतः व्यापार के पश्चात् कीमत अनुपात $\left(\frac{Px}{Py}\right)t$ चित्र 5.9 में अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा PtPt के ढाल द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। कीमत रेखाओं के विभिन्न ढाल से यह स्पष्ट है कि

$$\left(\frac{Px}{Py}\right)A < \left(\frac{Px}{Py}\right)t < \left(\frac{Px}{Py}\right)B$$

अर्थात व्यापार देश A में वस्तु कीमत अनुपात को बढ़ाता है तथा देश B में कम कर देता है परिणाम स्वरूप देश A में वस्तु X का उपभोग कम होता है तथा वस्तु Y का बढ़ता है जबकि देश B में इसके विपरीत घटना घटती हैं। लेकिन व्यापार के पश्चात् भी दोनों देशों में उपभोग संरचना समान बनी रहती है परन्तु व्यापार के पश्चात् दोनों देश सन्तुष्टी के उच्चतर बिन्दु पर पहुंच जाते हैं यह तटस्थता वक्र I'_{AB} द्वारा प्रदर्शित है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा PtPt पर स्पर्शज्या है।

अतः व्यापार के अन्तर्गत साम्य के लिये निम्नशर्त होगी :-

$$(MRPT')A = (MRS')A = \left(\frac{Px}{Py}\right) A = \left(\frac{Px}{Py}\right) B = (MRS')B = (MRS')A$$

यहां पर MRS' उच्च तटस्थता वक्र को प्रदर्शित करता है। यह शर्त उपर्युक्त विश्लेषण में जब देश A उत्पादन सम्भावना वक्र के बिन्दु M पर उत्पादन करता है तथा देश B उत्पादन सम्भावना वक्र के बिन्दु H पर उत्पादन करता है तब सन्तुष्ट होती है। तथा दोनों देश तटस्थता वक्र I'_{AB} के T बिन्दु पर उपभोग कर रहे हैं। अतः व्यापार के पश्चात् उपभोग उत्पादन परिस्थिति निम्न है।

	देश A	देश B
उपभोग		
वस्तु X	OXc	OXc
वस्तु Y	OYc	OYc
उत्पादन		
वस्तु X	OXt	OXt'
वस्तु Y	OYt	OYt'

बिन्दु M तथा बिन्दु H पर दो देशों के घरेलू कीमत अनुपात दो वस्तुओं (वस्तु X तथा वस्तु Y) के अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात के समान है क्योंकि इन बिन्दुओं पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा PtPt स्पर्शज्या है तथा व्यापार के पश्चात दोनों देशों की घरेलू कीमत रेखा PaPa तथा PbPb का ढाल परिवर्तित होकर अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा PtPt के ढाल के समान हो जाती है। अतः इससे स्पष्ट है कि व्यापार के पश्चात सन्तुलन स्थिति में दो देशों के वस्तुओं के घरेलू कीमत अनुपात आपस में समान हो जाते हैं।

चित्र 5.9 केवल दो देशों में वस्तुओं की कीमतों में समानीकरण को प्रदर्शित करता है जबकि यह साधन कीमतों को नहीं। इसको जानने के लिये हमें पुनः बाक्स चित्र पर जाना पड़ेगा। बाक्स चित्र प्रत्यक्ष रूप से साधन कीमत अनुपात को प्रदर्शित करता है जबकि वस्तु कीमत अनुपात को नहीं। लेकिन जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि प्रसंविदा वक्र के प्रत्येक बिन्दु से सम्बन्धित रूपान्तरण वक्र पर एक निश्चित बिन्दु होता है। अतः इसके विपरीत भी सत्य होगा अर्थात रूपान्तरण वक्र के प्रत्येक बिन्दु से सम्बन्धित प्रसंविदा वक्र पर एक निश्चित बिन्दु होता है।

इसलिये चित्र 5.9 में व्यापार से पूर्व तथा व्यापार के पश्चात साम्य पर वस्तु कीमतों में परिवर्तन साधन कीमतों में परिवर्तन को बतलाता है।

चित्र में बिन्दु R तथा बिन्दु S जो कि दोनों देशों के समोत्पति वक्रों पर स्पर्शज्या है उनसे सम्बन्धित प्रसंविदा वक्र बिन्दु क्रमशः वस्तु X तथा वस्तु Y के उत्पादन में उपभोग के लिये गये साधन अनुपात को प्रदर्शित करते है चूंकि वस्तु पूंजीगहन है अतः यह स्पष्ट है कि

$$\left(\frac{P x}{P y}\right) A < \left(\frac{P x}{P y}\right) B$$

इसलियें $\left(\frac{P k}{P L}\right) A < \left(\frac{P k}{P L}\right) B$

यह कीमत रेखा $P_a P_a$ तथा $P_b P_b$ के ढ़ाल में अन्तर से स्पष्ट नज़र आता है।

व्यापार से पूर्व देश A तथा B में सापेक्ष साधन प्रचुरता क्रमशः XS व XR तथा रेखाओं से प्रदर्शित है क्योंकि दोनों के ढाल में अन्तर है। XS रेखा ज्यादा क्षैतिज या लेटी हुई है जो इस बात को बतलाती है कि देश A सापेक्ष रूप में पूंजी प्रचुर है तथा XR रेखा लम्बवत ज्यादा है जो यह प्रदर्शित करती है कि देश B सापेक्ष से श्रम प्रचुर है। लेकिन व्यापार के पश्चात साम्य बिन्दु M तथा H है जिनमें साधन अनुपात रेखा देश A तथा B देश के लिये MY तथा HY' द्वारा बतलाई गई है चूंकि MY तथा HY' रेखायें आपस में समानान्तर हैं जो कि व्यापार के पश्चात समान साधन प्रचुरता को प्रदर्शित करती है अर्थात इसका यह अर्थ है कि व्यापार के पश्चात दो देशों में व्यापार की मांग का प्रभाव सापेक्ष साधन अनुपात के अन्तर को समाप्त कर देता है अतः व्यापार से पूर्व की स्थिति $\left(\frac{PK}{PL}\right) A \leq \left(\frac{PK}{PL}\right)$ जो परिवर्तित होकर व्यापार के पश्चात $\left(\frac{P_K}{P_L}\right) B$ के घटने तथा $\left(\frac{PK}{PL}\right) A$ के बढ़ने के साम्य की स्थिति में $\left(\frac{PK}{PL}\right) A = \left(\frac{PK}{PL}\right) B$ हो जाती है।

5.7 साधन कीमत समानीकरण सिद्धान्त की आलोचना

प्रो. सैमुअलसन का समर्थन अनेक लेखकों ने किया है, जिनमें प्रो. जे. आर. हिक्स, प्रो. जे. ई. मीड और प्रो. एच. जी. जानसन प्रमुख हैं। फिर भी आलोचकों की कमी नहीं है। आलोचना के बिन्दुओं को हम संक्षेप में भी समझायेंगे।

चूंकि यह सिद्धान्त हैक्शचर-ओहलिन के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः हैक्शचर-ओहलिन के बिन्दु इस सिद्धान्त पर भी लागू होंगे, फिर भी इतने से हम संतोष नहीं कर सकते। प्रो. सैमुअलसन के तर्क के पीछे सुदृढ़ आधार है फिर भी उसकी मान्यताएं बड़ी कड़ी हैं। अतः उनका परीक्षण करना आवश्यक है। हमें देखना है कि ये मान्यताएं कहां तक वास्तविकता पर आधारित हैं।

प्रो. जे.ई. मीड ने अपनी पुस्तक Trade & Welfare के पाठ 20 और 24 में लिखा है कि निम्नलिखित कारणों से साधन कीमत समानता सूत्र संपूर्ण नहीं हो सकता। निम्नलिखित छः कारणों से समतुल्यता अधूरी है।

1. व्यापार करते हुए भिन्न-भिन्न देशों के उत्पादन फलन समान नहीं हैं। यह तथ्यों द्वारा तथा तर्क द्वारा सिद्ध किया गया है कि उत्पादन फलन पृथक देशों में पृथक प्रकार के ही होंगे। एक प्रकार के दिये हुए साधन समान प्रकार का उत्पादन दो देशों में नहीं कर सकते। उत्पादन के तकनीक समान होने पर भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उत्पादन में एकरूपता और समानता असंभव है। उत्पादन की "जलवायु" भौतिक जलवायु, सामाजिक और मानसिक जलवायु भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होती हैं। ऐसी परिस्थितियों में उत्पादन फलनों के समान मान लेना बड़ी भूल होगी। यह ठीक कहा गया है कि एक ही प्रकार की पाठ्य पुस्तकें और एक ही प्रकार के मस्तिष्क नई दिल्ली और न्यूयार्क में समान विचार उत्पन्न नहीं कर सकते।

2. यह जरूरी नहीं है कि उत्पत्ति समता नियम सदैव लागू हो। निम्नलिखित उदाहरण इस स्थिति को अधिक स्पष्ट करता है। मानलो न्यूजीलैंड की अपेक्षा जर्मनी में श्रम साधन से निष्ठ है, इससे मोटर कार उत्पन्न की जाती है। इसके विपरीत जर्मनी की अपेक्षा न्यूजीलैंड भूमि से निष्ठ है। इससे डेयरी का उत्पादन तुलनात्मक रूप से न्यूजीलैंड में ज्यादा होता है। हैक्शचर-ओहलिन के सिद्धान्त के अनुसार मोटरकार और डेयरी के उत्पादन का आदान-प्रदान होने से परिस्थिति में साधन निष्ठता का प्रभाव भी मिट जाता है। जर्मनी में मजदूरी ऊंची होने लगेगी और लगान कम होने लगेगा। न्यूजीलैंड में इसका विपरीत प्रभाव होगा अनेक मान्यताओं के आधार पर (समता उत्पत्ति समता नियम दिया हुआ है।) सैमुअलसन के तर्क यह ध्वनि देते हैं कि आपस में व्यापार करते हुए दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों की कीमतें भी बराबर हो जायेंगी। इस बिन्दु पर दोनों देशों में श्रम की सीमान्त उत्पादकता बराबर हो जायेगी परन्तु मानलो जर्मनी ने (मोटरकार का बड़ा उत्पादक) कार के उत्पादन में समस्त प्रकार के बड़े पैमाने के लाभ खो दिये हैं। इसके विपरीत न्यूजीलैंड कार का छोटा उत्पादक होते हुए भी अनेक बचतों को करने में समर्थ है। इस प्रकार कार के उत्पादन में उत्पत्ति के साधनों की औसत उत्पादकता जर्मनी में न्यूजीलैंड की अपेक्षा अधिक हो सकती है। क्योंकि जर्मनी में निरपेक्ष पैमाने का क्रियान्वयन अधिक है। न्यूजीलैंड में श्रम की सीमान्त उत्पादकता अधिक हो सकती है। यह संभव है कि न्यूजीलैंड में उत्पत्ति के साधनों की सीमान्त उत्पादकता, जर्मनी की अपेक्षा ऊंची अथवा नीची हो सकती है। लेकिन जहां उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है वहां पर उत्पत्ति के साधनों की सीमान्त उत्पादकता दोनों देशों में बराबर हो सकती है। इस स्थिति की ओर हाजरी में यह अच्छा रहेगा कि उत्पत्ति के साधन एक देश से

दूसरे देश की ओर जायें। यह इस बात को दिखायेगा कि जहां साधनों की उत्पादकता नीची है, कम है, वहां से दूसरी देश की ओर जहां साधनों की उत्पादकता अधिक है, साधन गतिशील होंगे। अतः यह सिद्ध होता है कि साधन कीमत समतुल्यता यथार्थता में समाप्त हो जाती है।

3. यातायात के लागत खर्चों को न मानते हुए यह सिद्धान्त स्वतः वास्तविकता से परे सिद्ध होता है। ऐसी परिस्थिति में मक्खन की कीमत बर्लिन में अधिक होगी। (जर्मनी की राजधानी में न्यूजीलैंड की राजधानी) में कम होगी। इसके विपरीत न्यूजीलैंड में मोटर कार की कीमत जर्मनी के अपेक्षा अधिक होगी। क्या स्वतंत्र व्यापार द्वारा वस्तुओं की कीमतें बराबर हो जाती है? नहीं निश्चित रूप से नहीं। ऐसी परिस्थिति में यह लाभदायक होगा कि जर्मनी से न्यूजीलैंड को श्रम शक्ति गतिशील हो।

4. मान लीजिए दोनों देशों में से एक देश में सम्पूर्ण विशिष्टीकरण एक वस्तु के उत्पादन में प्राप्त कर लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में यह सम्पूर्ण विशिष्टता साधन कीमत समतुल्यता के लिये बाधक सिद्ध होगी। यह समतुल्यता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि उत्पत्ति के साधन एक देश से दूसरे देश की ओर जायें। प्रो. सैमुअलसन ने तो उत्पत्ति के साधनों के बहिगर्मन की आवश्यकता नहीं समझी थी। इसके बहिगर्मन के अभाव से ही साधन समतुल्यता स्थापित करने का उन्होंने जो दावा किया है, वह गलत सिद्ध होता है।

5. सैमुअलसन ने यह उपकल्पना की है कि दो वस्तुयें और दो साधन मिलकर साधन कीमत समतुल्यता स्थापित हो जायेगी। यह सदैव सत्य नहीं हैं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो साधनों और दो वस्तुओं के स्थान पर अनेक उत्पत्ति के साधन और अनेक वस्तुओं का व्यापार होता है। ऐसी परिस्थिति में हम तीसरा, उत्पत्ति का साधन पूंजी मानते हैं। अब क्या परिणाम होगा? पूंजी की जर्मनी में सापेक्षिक कम कीमत, न्यूजीलैंड की सापेक्षिक भूमि की ऊंची कीमत ही को मिटा देगी। ऐसी परिस्थित में मोटर कारों की और डेयरी की वस्तुओं की कीमतें बराबर हो जायेगी। यह स्थिति पहली स्थिति की अपेक्षा शीघ्र होने की संभावना है। साथ ही श्रम और पूंजी के साधनों की सीमान्त उत्पादकता के स्थगित हुए बिना ही यह स्थिति विद्यमान हो जायेगी। अतः हम मोटे रूप से कह सकते हैं "साधनों की पुरस्कार की समतुल्यता के लिये यह जरूरी है कि जितनी वस्तुएं व्यापार में काम आती है, उतने ही उत्पत्ति के साधन होने चाहिये। यहां तीन वस्तुयें मानी गयी हैं और तीन ही साधन माने गये हैं।

6. वास्तविक दुनियां में समझदार उत्पादकों का यह प्रयत्न रहता है कि वे उत्पत्ति के साधनों का उनकी सापेक्षिक कीमतों के अनुसार प्रतिस्थापन करें। यह उनकी रूचि होगी कि वे प्रतिस्थापन द्वारा उत्पत्ति को अधिकतम करें और लागतों को कम करें। कभी-कभी यह लाभदायक रहता है कि एक विशेष वस्तु के उत्पादन में एक साधन की अपेक्षा दूसरे साधन का प्रयोग किया जाये। हम यह मानकर चलते हैं कि जर्मनी भी (न्यूजीलैंड की तरह) अपनी प्रचुर मात्रा की पूंजी की सहायता से "डेयरी फार्म" आरंभ कर लें। अब अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में डेयरी वस्तुओं की कीमतें बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलायेगी। यहां पर भी डेयरी वस्तुओं की कीमतें श्रम की सीमान्त

उत्पादकता के बराबर होनें के पूर्व ही बराबर होने की प्रवृत्ति दिखा रही है। यह सैमुअलसन के तर्कों के विपरीत है। यहां पर भी हम यह बात प्रमाणित करने में सफल हो गये हैं कि उत्पत्ति के साधनों की कीमतें बराबर न होते हुए भी प्रतिस्थापन के नियम ने सामान्य संतुलन को स्थापित कर दिया है। इससे भी यह सूत्र यर्थाथता से कितना दूर है।

उपर्युक्त वर्णित बिन्दु इस बात के लियें पर्याप्त हैं कि उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होनी चाहिए तभी साधनों की कीमतों में समतुल्यता होगी। प्रो. एल्सवर्थ लिखते हैं कि यह सूत्र अवास्तविक और स्थिर विश्व में लागू होता है। पर दुनियां कभी स्थिर नहीं रहती। सब बातें परिवर्तनशील हैं। वास्वविक दुनियां में साधनों की पूर्ति तथा तकनीक बदल सकती है और बदलती है। यदि मानलों, एक देश का निष्ठ साधन पूंजी है ऐसी परिस्थिति में व्यापार द्वारा उस साधन की प्राप्ति को बढ़ावा मिलेगा। व्यापार द्वारा समस्त समुदाय की आय बढ़ेगी। इस बढ़ी हुई आय और पूंजी के ज्यादा मात्रा में पुरस्कार मिलने की स्थिति में बचतें भी अधिक होंगी। पूंजी की पूर्ति के बढ़ने पर (जब ब्याज दर कम रखी जाती है) पूंजी निष्ठ उद्योगों का विकास होगा। इससें नये तकनीक का विकास होगा। इससे और भी अधिक वास्तविक आय बढ़ेगी। यह सब, यह ध्वनि देते हैं कि धनवान देश ज्यादा पूंजी से जब उत्पत्ति प्रारम्भ करते हैं तो परिणाम यह होता है कि निकट भविष्य में उनके पास ज्यादा मात्रा में और कम कीमत वाली पूंजी की मात्रा बढ़ जाता है। इसके विपरीत जिन देशों में श्रम का बाहुल्य है और पूंजी की दुर्लभता है, वे गरीबी के कुचक्र में फंसे रहते हैं। हालांकि पूंजी से उत्पादन अधिक होता है। पर गरीब देशों के लिये बचत मुश्किल हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में पूंजी की मात्रा इन देशों में शनैःशने बढ़ती है। अज्ञानता और निर्धनता को बढ़ाने वाले और तत्व भी परिलक्षित होते हैं। वे हैं ऊंची जन्म दर। इससे जनसंख्या के बढ़ाने की दर और श्रम शक्ति बढ़ने की दर अधिक हो जाती हे। ऐसे देश श्रम निष्ठ वस्तुओं का उत्पादन करने में लगे रहते हैं। फ़िर भी मजदूरी की दर इन देशों में शनैःशनैः बढ़ती है, यहां पूंजी का प्रतिस्थापन श्रम द्वारा होता है। श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुएं कीमत में भी ऊंची होती हैं और पूर्ति की दृष्टि से तो बहुत ही कम।

इस तरह बदती हुई परिस्थितियों में साधनों की पूर्ति के बढ़ने पर और तकनीक के बढ़ने पर - साधनों की कीमतें बराबर होने की अपेक्षा कम अधिक हो जाती हैं। वास्तविक दुनियां में ऐसा ही होता हुआ देखा गया है। हालांकि गरीब देशों में प्रति व्यक्ति आय और वास्तविक मजदूरी बढ़ी हैं, पर धनी देशों में इन दोनों में ही वृद्धि तुलनात्मक रूप से अधिक हुई है। आर्थिक कार्यक्रमों का यह उद्देश्य होता है कि आय की खाई कम हो। परन्तु यहां पर तो यह खाई गहरी होती हुई दिखाई देती है।

दो अन्य अर्थशास्त्रियों ने - पीयर्स (Pearce) और जेम्स (James) ने यह विचार प्रकट किया है कि वास्तविक दुनियां में साधनों की कीमतें बराबर नहीं होती। वे लिखते हैं "जिस तरह से साधन कीमत समतुल्यता की आवश्यक शर्तों को परिभाषित करना सरल हैं उसी प्रकार से वास्तविक दुनियां में यह प्रदर्शित करना सरल है कि व्यापार द्वारा साधनों की कीमतें दिनों दिन बराबर होने की अपेक्षा भिन्न-भिन्न होगी। इसके विपरीत दो वस्तुऐं और दो साधनों से परे इस सिद्धान्त को प्रमाणित करना भी कठिन है। उपर्युक्त विवेचन क्या प्रमाणित करता है? हमारी आस्था यह बन रही है कि सैमुअलसन द्वारा बतायी गई शर्तें कभी भी लागू

नहीं होंगी न साधन कीमत समतुल्यता स्थापित होगी।

व्यापार द्वारा भिन्न देशों को लाभ प्राप्त होना चाहिए। साथ ही आय का वितरण भी समान होना चाहिए। पर यह देखते हैं कि साधनों की आय में दिनों दिन असमानता हो रही है। प्रो. म्रिदल (Myrdal) लिखते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय असमानताएं बढ़ती रही हैं और इससे अन्तर्राष्ट्रीय एवं राजनीतिक समस्यायें भी उभरती रही हैं। इन परिस्थितियों में यह कहना उचित है कि व्यापार द्वारा साधनों की कीमतों और आय का बराबर होना दिखाई नहीं देता। इन सबका सामुहिक प्रभाव यह होता है कि साधनों के अनुपात और साधनों की कीमतों का संतुलन स्थापित होता हुआ नहीं दिखाई देता। किण्डलबर्गर इन्हीं विचारों को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं" यह दावा किया जाता है कि विकसित और विकासोन्मुख देशों के बीच जीवन स्तर का मान दो दिशाओं में बढ़ रहा है। (निर्धन और धनी देशों में) जीवन स्तर में खाई पैदा हो रही हैं। उनके जीवन स्तर में समतुल्यता नहीं दिखाई देती। अनेक शताब्दियों के उपरान्त भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के होते हुए भी आज भी धनी और गरीब देश विद्यमान हैं।

कुछ लेखक सैमुअलसन के तर्कों का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि तब सैमुअलसन द्वारा बतायी गयी मान्यताएं वास्तविक दुनियां में विद्यमान नहीं होती है, तो फिर इस सूत्र का लागू होना कैसे सम्भव होगा? यदि यर्थाथ में ये मान्यताएं लागू हो जाय तो कोई कारण नहीं दिखाई देता कि उनका सिद्धान्त गलत सिद्ध होगा। यदि सैमुअलसन द्वारा बतायी गयी शर्तें लागू न हो तो भी यह विश्लेषण उन देशों के लिये उपयोगी है, जहां कि अर्थव्यवस्थायें लगभग समान हैं जैसे यूरोपियन साझा बाजार इससे यह बात स्पष्ट होती है कि व्यापार द्वारा एक सांझा बाजार के देश लाभ प्राप्त करते हुए एक ही स्तर के जीवन स्तर को प्राप्त कर सकते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस सिद्धान्त में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वतंत्र व्यापार करने पर व्यापारित देशों को अनेक लाभ प्राप्त होते है। इस सूत्र की आवश्यक शर्तें यूरोपियन साझा बाजार में लागू होती दिखाई देती है। इसलिये जहां पर समस्त देश एक समान हैं एक दूसरे के निकट हैं और एक ही प्रकार की निर्मित वस्तुओं के उत्पादन करने में विशिष्टता प्राप्त कर रहे हैं, वहां पर साधन कीमत समतुल्यता की प्रवृति अधिक है। दूसरे देशों में इसका लागू होना अब भी संदेहपूर्ण है।

5.8 सारांश

क्या हमें इस सिद्धान्त को अवास्तविक मानते हुए परित्याग कर देना चाहिये? नहीं। वास्तव में अपनी सीमाओं के साथ यह सिद्धान्त हमको अर्थशास्त्र के सामान्य संतुलन की ओर ध्यान आकर्षित कराता है। आपस में व्यापार करने पर ही सामान्य संतुलन स्थापित होता दिखाई देता है। बिना व्यापार के और लेन देन के वस्तुओं की और साधनों की कीमतों में संतुलन स्थापित होने में कठिनाई होती है। यह तर्क हैक्शचर-ओहलिन सिद्धान्त पर आधारित है, जो मोटे रूप से सही है। अतः इस सिद्धान्त को भी हम स्वीकार करते हैं। यहां तक हमने परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त, हैक्शचर-ओहलिन के सिद्धान्त और साधन कीमत समतुल्यता सत्र का विश्लेषण किया है। इनके सम्बन्ध में अनेक भौतिक जांच हुई हैं उन जांचों के आधार पर ही हम पूर्णरूपेण जान सकेंगे कि इन सिद्धान्तों को हम कहां तक उपयुक्त मानें। जब तक सिद्धान्त वास्तविक दुनियां में लागू होते हुए नहीं दिखाई देते तब तक उनको कैसे स्वीकार किया जा सकता है।

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सापेक्षिक साधन उपलब्धता की भौतिक अर्थ में परिभाषा देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के हैक्शचर-ओहलिन सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

2. हैक्शचर-ओहलिन सिद्धान्त कहां तक उपयुक्त है मूल्यांकन कीजिए।

3. दो देशों के मध्य मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणाम स्वरूप न केवल वस्तुओं की कीमतें समान हो जाती हैं अपितु साधनों के मूल्यों में भी समानता हो जाती है चित्र द्वारा स्पष्ट रूप से समझाइये।

4. साधन कीमत समानीकरण प्रमेय की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

5.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें (Reference Books)

1. Kindle Perger, C.P. – International Economics pp. 27-30 and 53-71

2. Kundu & Ray – International Economics pp. 185-231

3. Ellsworth, P.T. – The International Economy, pp. 73-98, 198-201, 1980.

4. Mithani, D.M. – Introduction to international Economics, 1985.

5. Wells – International Economics, pp. 124-125

6. Sodersten, B.O. – International Economics, Macmillian, 1985.

इकाई – 6

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मॉडलों का प्रमाणीकरण

(Empirical Verification of International Trade Models)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रमाणीकरण

- 6.1.1 मेकडोगाल का अध्ययन
- 6.1.2 स्टर्न का अध्ययन
- 6.1.3 बलासा का अध्ययन
- 6.1.4 जगदीश भगवती का अध्ययन

6.2 प्रमाणीकरण जाँचों का आलोचनात्मक अध्ययन

6.3 रिकार्डो सिद्धान्त के प्रमाणीकरण जाँचों के निष्कर्ष

6.4 हैक्शंचर ओहलीन सिद्धान्त का प्रमाणीकरण

- 6.4.1 लियोन्टिफ का अध्ययन
- 6.4.2 लियोन्टिफ विरोधाभास का मूल्यांकन
- 6.4.3 लियोन्टिफ विरोधाभास का लियोन्टिफ द्वारा स्पष्टीकरण
- 6.4.4 लियोन्टिफ विरोधाभास का हैबरलर द्वारा स्पष्टीकरण
- 6.4.5 लियोन्टिफ विरोधाभास का साधन गहनता प्रतिलोमता द्वारा स्पष्टीकरण
- 6.4.6 लियोन्टिफ विरोधाभास का ट्राविस द्वारा स्पष्टीकरण
- 6.4.7 लियोन्टिफ विरोधाभास का निष्कर्ष

6.5 टोटेमोटो व इचीमूरा का अध्ययन

6.6 वाहल का अध्ययन

6.7 स्टालपर व रोसकेम्प का अध्ययन

6.8 आर. भारद्वाज का अध्ययन

6.9 हैक्शचर-ओहलिन प्रमेय के प्रमाणीकरण जाँचों के निष्कर्ष

6.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अधिकतर सिद्धान्त मान्यताओं पर आधारित होते हैं। यह सही है कि मॉडल को सरलतम रूप से प्रकट करने हेतु मान्यताओं का सहारा लिया जाता है परन्तु मान्यताए इतनी अवास्तविक होती हैं कि वे यथार्थ जीवन से तालमेल नहीं खाती हैं। परिणामस्वरूप सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण जीवन की वास्तविकता में लागू करना कठिन कार्य हो जाता है। वर्तमान युग में सिद्धान्तों को भौतिक जाँच द्वारा परखा जाता है, यदि सिद्धान्त इन जाँचों पर खरे नहीं उतरते हैं तो उस सिद्धान्त का महत्व वास्तविक जगत में कम हो जाता है। अर्थशास्त्र में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रक्रिया को समझाने हेतु अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं जो आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक बिखरे हुए हैं, जबकि इन से संबंधित भौतिक जाँचे 1950 से प्रारम्भ हुई है। यह अन्तराल बहुत लम्बा है इसका मुख्य कारण इन सिद्धान्तों की परख करने हेतु यंत्रों (Tools) का पूर्ण विकसित नहीं होना है। वर्तमान में सांख्यिकीय विधियों कि सहायता से अब सर्वेक्षण व विश्लेषण करना संभव हो पाया है।

प्रस्तुत इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त व आधुनिक हैक्शचर-ओहलीन के सिद्धान्त की भौतिक जाँच के संदर्भ में कुछ अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये विश्लेषण बतलाये गये हैं जो निम्न प्रकार हैं।

6.1 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रमाणीकरण

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की भौतिक जाँच करने वाले प्रमुख अर्थशास्त्री मेकडोगाल (1951-52), राबर्ट स्टर्न (1962) एवं बेला बिलास (1963) हैं। इन्होंने अपने अध्ययन विभिन्न अन्वेषकों द्वारा संग्रहित आंकड़ों के आधार पर अमेरिका (USA) व इंग्लैंड (UK) के व्यापार को आधार मानकर प्रस्तुत किये (मेकडोगाल ने 1937, स्टर्न ने 1950 व 1959 तथा बिलास ने 1950 के व्यापार से संबंधित आंकड़ों का उपयोग किया था) इन अनुसंधानकर्ताओं के सामने निम्न प्रमुख समस्यायें थीं।

1. व्यापार के पूर्व वस्तुओं की कीमतें क्या थी?
2. सीधे तौर पर अमेरिका व इंग्लैंड के मध्य वस्तुओं के आदान-प्रदान का अध्ययन कठिन था।

उपरोक्त समस्याओं के बावजूद उन्होंने प्रतीपगमन विश्लेषण (Regression Analysis) की सहायता से यह देखने का प्रयास किया कि क्या मूल्य का श्रम सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख घटक है अथवा नहीं। मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अनुसार श्रम उत्पादकताओं की भिन्नताओं के कारण भिन्न वस्तुओं की उत्पादन लागत भिन्न होगी जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं की व्यापार पूर्व कीमतें भी भिन्न होंगी और यदि किसी राष्ट्र में वस्तु विशेष की कीमत कम है तो वह राष्ट्र उस वस्तु का निर्यात करेगा।

6.1.1 मेकडोगाल का अध्ययन

मेकडोगाल ने अमेरिका और इंग्लैंड के आयात और निर्यातों के 1937 के आंकड़ो का अध्ययन किया। परन्तु उनके समक्ष भौतिक जाँच में यह कठिनाई आई कि वास्तविक दुनिया में प्रशुल्क (Tariff) और यातायात व्यय (Transport Cost) विद्यमान थे जबकि रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में प्रशुल्क व यातायात व्यय को सम्मिलित नहीं किया

गया था। सन् 1937 के अध्ययन में यह प्रशुल्क व यातायात व्यय इतने अधिक थे कि तुलनात्मक कीमतों से प्राप्त होने वाले लाभ छिप गये थे। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न देशों के बीच व्यापार के कारण उत्पन्न होने वाले लाभ की मात्रा लोप हो गयी थी। ऐसी परिस्थिति में दो देशों के बीच में होने वाले व्यापार का अध्ययन कठिन था। अतः मेकडोगाल ने अपनी भौतिक जाँच के लिए अप्रत्यक्ष तरीका अपनाया जिसमें उन्होंने यू.एस.ए. व यू.के. के बीच होने वाले आयातों और निर्यातों का अध्ययन छोड़ना पड़ा पर उसके स्थान पर इन दोनों देशों द्वारा विश्व के अन्य देशों को किये गये आयातों, निर्यातों का सहारा लेना पड़ा। इन देशों द्वारा तीसरे बाजारों को (Third Markets) किये गये निर्यातों और आयातों को आपस में किये गये आयात और निर्यातों के समान मान लिया गया। यह धारणा इस बात पर आधारित थी कि अन्य देश भी उसी प्रकार से प्रशुल्क लगाते होंगे और व्यापार में यातायात व्यय होता होगा।

मेकडोगाल की रिकार्डो के सिद्धान्त से व्युत्पत्ति साधारण उपकल्पना यह थी कि अमेरिका, इंग्लैंड की तुलना में तीसरे देशों के बाजारों पर अधिक कब्जा कर लेगा। क्योंकि उसकी श्रम उत्पादकता अधिक थी। यहां श्रम उत्पादकता ही तुलनात्मक लागत खर्च है। इस उपकल्पना के परिक्षण हेतु उन्होंने 25 उद्योगों के आंकड़ो को काम में लिया और इन उद्योगों को अमेरिका में प्रतिश्रमिक उत्पादकता व इंग्लैंड में प्रति श्रमिक उत्पादकता के अनुपात (जिसे B अनुपात कहते हैं) के अनुसार श्रेणीबद्ध किया। यदि A* अमेरिका के निर्यात व इंगलैण्ड के निर्यात का अनुपात है। B* अमेरिका के निर्यात व इंगलैण्ड के श्रम की उत्पादकता अनुपात हो तो उपकल्पना यह है कि यदि B* अधिक होगा तो A* भी अधिक होगा।

मेकडोगाल द्वारा प्रस्तुत आंकड़ो का विश्लेषण इस उपकल्पना को प्रमाणित करता है। इनके वास्तविक परिणामों में A* को जब उर्ध्व अक्ष तथा B* क्षैतिज अक्ष पर (दोनों को लघुगणक पैमाने पर लिया जाता है) लेकर चित्र द्वारा प्रदर्शित करना संभव है जिसमें उत्पादकता व निर्यातों में लगभग रेखीय संबंध प्राप्त होता है। जैसा कि चित्र 6.1 में प्रदर्शित है।

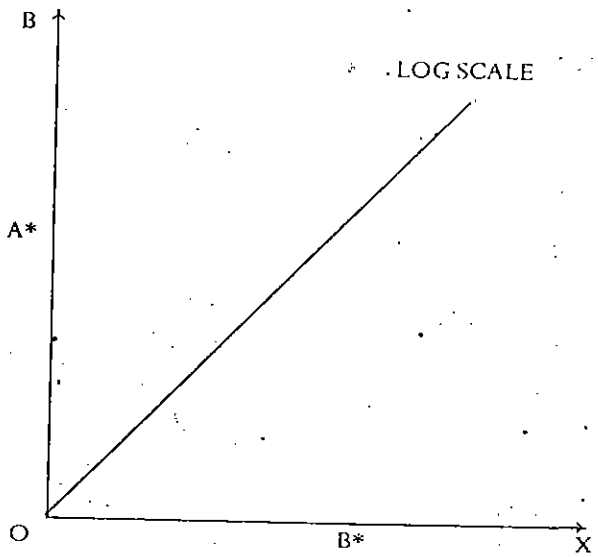

चित्र 6.1

चित्र 6.1 के आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जिन वस्तुओं के उत्पादन में

अमेरिका के श्रमिकों की उत्पादकता तुलनात्मक रूप से अधिक है तब अमेरिका तीसरे देश के निर्यात बाजारों के विस्तृत भाग को अपने अधीन कर लेगा और जैसे ही अमेरिका के श्रमिकों की उत्पादकता घटती है तो उनकी सहायता से निर्मित वस्तुए भी निर्यात बाजारों से अपने अधिकार खो बैठती है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अंशतया तो प्रमाणित हो जाता है क्योंकि कम श्रम लागत वाला देश अधिक निर्यात करने में समर्थ है परन्तु तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तो यह भी कहता है कि लागत खर्चों के अन्तर होने पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं को उत्पादन करने में, भिन्न-भिन्न देश विशिष्टता प्राप्त कर लेंगे। यह बात मेकडोगाल के अध्ययन से पूर्णरूपेण निम्न कारणों से प्रमाणित नहीं होती है।

1. जिस विश्व में हम रहते हैं वह संघर्षमय है और पूर्ण प्रतियोगिता केवल कल्पना मात्र है इससे संसार में कीमतें बहुधा अल्पाधिकार और एकाधिकार उद्योगों द्वारा निर्धारित होती है। पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना मात्र ही है। ऐसी परिस्थितियों में उद्योग अपनी कीमत निर्धारित करने की पद्धति के द्वारा पृथक-पृथक बाजार बना लेते हैं। अतः विशिष्टीकरण नहीं होता है।

2. वास्तविक जीवन में यातायात का खर्च भी होता है, अतः जो व्यापार के तुलनात्मक लाभों को बहुत कुछ प्रभावित करता है।

3. अमेरिका व इंगलैंड द्वारा एक ही प्रकार की उत्पादित वस्तुए अनेक प्रकार से भिन्न होती हैं। इस वस्तु विभेद के कारण एक देश किसी एक बाजार को पूर्णरूपेण नहीं छीन सकता।

मेकडोगाल ने आँकड़ो के द्वारा यह प्रमाणित किया कि अमेरिका विदेशी बाज़ारों पर पूर्ण-आधिपत्य तभी जमा सकता था जबकि उसके श्रम की उत्पादकता इंगलैण्ड को श्रम की उत्पादकता से दुगुनी से अधिक थी। मेकडोगाल ने इसे सापेक्षिक मजदूरी की दरें और सापेक्षिक श्रम की उत्पादकता को सम्मिलित शक्ति के रूप में विश्लेषण कर समझाया है। तुलना करके उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सापेक्षिक श्रम लागतों और निर्यातों के संबंध अधिक घनिष्ठ हैं न कि तुलनात्मक श्रम उत्पादकता और निर्यातों की मात्रा का।

सन् 1937 में अमेरिका में इंगलैंड की तुलना में औसत रूप में मजदूरी लगभग दुगुनी थी अतः उन्होंने तर्क दिया कि यू.एस.ए. के निर्यात इंगलैण्ड के निर्यातों की तुलना में तब तक नहीं ठहर सकते थे जबतक कि वस्तुओं की उत्पादन में इंगलैंड की तुलना में अमेरिका आधी मात्रा के श्रमिकों की मांग (वस्तुओं के उत्पादन के लिए) करते थे। अन्य शब्दों में तीसरे बाजारों में अमेरिका एक प्रमुख निर्यातक देश होना चाहिए। यह तब संभव है जब अमेरिका की कुछ वस्तुओं को उत्पन्न करने में श्रम की उत्पादकता इंगलैंड की तुलना में दुगुनी हो। उसी तरह इंगलैण्ड भी अपने यहां से कुछ वस्तुओं का निर्यात कर सकता था जिनको उत्पन्न करने में अमेरिका की तुलना में उसकी उत्पादकता आधे से अधिक हो।

मैकडोगाल के जाँच के परिणाम उसकी आशाओं के अनुरूप ही निकले। वास्तव में अमेरिका से तीसरे बाजारों को कुछ वस्तुओं का निर्यात अधिक होता था। जिन वस्तुओं की उत्पादकता इंगलैंड की तुलना में दुगुनी थी। जहां उत्पादकता इससे कम थी वहां अमेरिका के निर्यात कम ही रहते थे। उन्हें फिर भी आशा थी कि जहां अमेरिका के श्रम की उत्पादकता इंगलैंड के श्रम की उत्पादकता से केवल दुगनी ही थी वहां दोनों के निर्यात बराबर होने

चाहियें। पर यह विश्वास गलत निकला वास्तव में अमेरिका के निर्यात इंगलैंड की अपेक्षा तभी अधिक होते थे जहां अमेरिका के श्रम की उत्पादकता इंगलैंड के श्रम की उत्पादकता से कम से कम ढ़ाई गुना अधिक थी। इसका कारण यह था कि जो जो श्रम अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में काम में न आकर केवल सेवा के रूप में प्रयुक्त किया गया था वह उत्पादकता के आंकड़ों में शामिल नहीं किया गया। इस प्रकार के श्रम की लागत अमेरिका में अधिक थी जबकि इंगलैंड में कम। दूसरा कारण यह था कि अमेरिका की वस्तुए "कॉमन वैल्थ" देशों में आसानी से प्रवेश प्राप्त नहीं कर सकती थी। इंगलैंड की वस्तुओं को तीसरे बाजार में बेचने में सुविधा थी। तथा अमेरिका की उत्पादकता तब तक अधिक नहीं होगी जबतक उसका माल "कॉमन वैल्थ" देशों में आसानी से नहीं बिक सकेगा।

6.1.2 स्टर्न का अध्ययन

स्टर्न ने मैगडोगाल के श्रम की उत्पादकता के आँकड़ो को सन् 1950 के संदर्भ में परखने का प्रयत्न किया। उसकी जाँच भी अमेरिका व इंगलैंड से संबंधित थी। उनके परिणाम विस्तृत रूप से मैकडोगाल के परिणामों से मिलते-जुलते थे। उनके अनुसार सन् 1937 में ब्रिटेन ने व्यापारिक और वित्तीय नेतृत्व के कारण जो ख्याति अर्जित कर ली थी वह सन् 1950 में घट गयी थी। अर्थात् इंगलैंड के निर्यातों की उपलब्धि अमेरिका की तुलना में सन् 1950 में घट गयी थी अर्थात् अमेरिका के निर्यात सन् 1950 में बढ़ गये थे।

6.1.3 बलासा का अध्ययन

बलासा का अध्ययन पर्याप्त मात्रा में विस्तृत है। उन्होंने इंगलैण्ड और अमेरिका के २१३ उद्योगों की उत्पादकता की जाँच की थी। जिसके अन्तर्गत उन्होंने पाया कि तीसरे देशों के बाजारों में उत्पादकता और निर्यात उपलब्धि में घनिष्ठ सहसम्बन्ध है। इसके साथ ही उन्होंने अध्ययन में सापेक्षिक मजदूरी की भिन्नता और सापेक्षिक पूंजी लागत को भी समझाया जिससे यह जाना जा सकता था कि व्यापार की क्या दशा होगी? उन्होंने अपने विशलेषण द्वारा यह अर्थ निकाला कि किसी उद्योग के उत्पादकता अनुपात को केवल मौद्रिक मजदूरी की भिन्नतायें हमेशा नगण्य नहीं करती लेकिन साथ ही प्रति इकाई पूंजीगत लागतों के अन्तर का निर्यात पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। जिसके अनुसार व्यापार के ढाँचें को जितनी उत्पादकता की भिन्नतायें प्रभावित करने वाली प्रमुख घटक हैं उतनी न तो मजदूरी की भिन्नतायें हैं। और न ही पूंजी लागत की भिन्नतायें हैं फिर भी बालासा स्वयं कहते हैं कि उनके पूंजी लागत के माप सैद्धान्तिक परिभाषा के अनुसार नहीं हैं। अतः पूंजी लागत के व्यापार दशा पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बंधित निष्कर्ष सही नहीं लगते हैं। सापेक्षिक मजदूरी के प्रभाव के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि किसी देश के अन्दर विभिन्न उद्योगों के मध्य मजदूरी दरों में अन्तर होने से व्यापार उस समय तक प्रारम्भ नहीं हो सकता ताकि देशों के मध्य सापेक्षिक मजदूरी की संरचना में भिन्नता है। फिर भी यहां ऐसे प्रमाणिक उदाहरण हैं जहां विभिन्न देशों के मध्य सापेक्षिक मजदूरी संरचना तुलनात्मक रूप से समान है प्रतीक रूप में

$$\frac{Wxa}{Wya} \neq 1 \quad \text{लेकिन} \quad \frac{Wxa}{Wya} = \frac{Wxb}{Wyb} \quad \text{तथा} \quad \frac{Wxa}{Wxb} = \frac{Wxa}{Wyb}$$

यहां Wxa — देश A में उद्योग X में मौद्रिक मजदूरी

यहां Wxb – देश B में उद्योग X में मौद्रिक मजदूरी

यहां Wya – देश A में उद्योग Y में मौद्रिक मजदूरी

यहां Wyb – देश B में उद्योग Y में मौद्रिक मजदूरी

6.1.4 जगदीश भगवती का अध्ययन

प्रो. जगदीश भगवती ने अपने अध्ययन में मेकडोगाल के अध्ययन के आँकड़ो की प्रतीपगमन विश्लेषण से जाँच करके मेकडोगाल के निष्कर्षो में संदेह व्यक्त किया है। उनके अनुसार हम लघुगुणक ले अथवा नहीं। निर्यात कीमत अनुपात का श्रम उत्पादकता अनुपातों पर रेखीय प्रतीपगमन पूर्णतया निराशाजनक है। वे लिखते है कि तुलनात्मक इकाई श्रम लागतों व निर्यात कीमत अनुपातों के मध्य सम्बन्ध की जाँच करने पर हमें उतने ही निराशाजनक परिणाम प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार निर्यात कीमत अनुपात को श्रम उत्पादकता अनुपातों व मजदूरी पर अनुपात का फलन मानकर प्रतीपगमन गुणांकों का परिकलन करने पर भी कमजोर परिणाम प्राप्त हुए। अतः वे तर्क देते है कि उपरोक्त आँकड़े रिकार्डो के सिद्धान्त का खंडन करते हैं।

6.2 प्रमाणीकरण जाँचों का आलोचनात्मक अध्ययन

यह सही है कि वास्तविक जगत में हम आर्थिक मॉडलों की जाँच हेतु प्रत्यक्ष प्रश्न नहीं पूछ सकते है बल्कि परोक्ष प्रश्नों पर ही हमें विश्वास करना पड़ता है।

मेकडोगाल ने रिकार्डो मॉडल की जाँच करते समय अप्रत्यक्ष प्रश्न पूछने के लिए उसमें कुछ manipulation किये अतः मेकडोगाल ने अमेरिका व इंगलैंड़ के बीच होने वाले व्यापार का अध्ययन न करके इन देशों के अन्य देशों से (तीसरे बाजार के साथ) संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने सीधे तरीके से रिकार्डो की उपकल्पनाओं की जाँच नहीं कि उन्होंने तीन परोक्ष उपकल्पनाओं के आधार पर रिकार्डो की सिद्धान्त की भौतिक जाँच की है।

1. किसी देश का किसी वस्तु को निर्यात अंश इकाई से अधिक तय होगा जबकि सापेक्षिक मजदूरी व श्रम उत्पादकता के विलोम का गुणनफल इकाई से अधिक होगा अतः

$$\text{यदि} \quad \left(\frac{Bxb}{Bxa}\right) \times \left(\frac{Wxa}{Wxb}\right) > 1$$

$$\text{तब} \quad \left(\frac{xa}{xb}\right) > 1 \text{ होगा।}$$

जहां xa व xb क्रमशः देश ए व देश बी के निर्यात हैं तथा Bxa व Bxb वस्तुओं कि देश A व B में उत्पादकता तथा Wxa व Wxb क्रमशः देश A व B देश में मजदूरी है।

2. किसी दी हुई वस्तु के निर्यात अंश व उस वस्तु के उत्पादन की श्रम उत्पादकता के अनुपात में धनात्मक सह संबंध होना चाहिये। इसका अर्थ है देश का अन्य देश

की तुलना में उस वस्तु के निर्यात में अंश अधिक होना चाहिये जबकि उस देश की श्रम उत्पादकता का अनुपात उस वस्तु के उत्पादन में दूसरे देश की श्रम उत्पदकता से अधिक हैं।

3. एक वस्तु के निर्यातों का अंश और मजदूरी उत्पादकता गुणनफल में धनात्मक सह संबंध होना चाहिये।

ये अप्रत्यक्ष प्रश्न तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को परखने के लिए काफी मददगार रहे हैं। साथ ही इन प्रश्नों ने हमको यह रास्ता भी दिखाया है कि इस मौलिक मॉडल में तुलनात्मक मजदूरी भिन्नता व अमजदूरी लागत को किस प्रकार शामिल किया जा सकता है। इस सैद्धान्तिक पैनी दृष्टि ने वास्तव में हमारे ज्ञान को बढ़ाया है।

6.3 रिकार्डो सिद्धान्त के प्रमाणीकरण जाँचों के निष्कर्ष

उपर्युक्त भौतिक जाँचों से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि रिकार्डो के मॉडल को समझने में बहुत कुछ रखा है प्रो. केव्ज इस संदर्भ में लिखते हैं कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मौलिक सत्यता के कारण अपना स्थान बनाये हुए हैं। फिर भी प्रो. भगवती के नकारात्मक परिणाम हमको सजग कर देते हैं कि मेकडोगाल और उनके अनुयायियों द्वारा की गयी जाँचों को सावधानी के साथ प्रयोग में लेना चाहिये।

6.4 हैक्शचर ओहलीन सिद्धान्त का प्रमाणीकरण

हैक्शचर ओहलिन प्रमेय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक प्रमुख आधुनिक सिद्धान्त है इस की वैधता की परख हेतु अनेक प्रयोगात्मक अध्ययन विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये जो निम्न प्रकार हैं।

6.4.1 लियोन्टिफ का अध्ययन

हैक्शचर ओहलिन सिद्धान्त की भौतिक जाँच हेतु अनेक अध्ययनों में सर्वाधिक चर्चित अध्ययन लियोन्टिफ का है उन्होंने यह अध्ययन सन् 1954 में प्रस्तुत किया था जिससे आर्थिक जगत में हलचल पैदा हो गयी थी क्योंकि यह हैक्शचर ओहलिन प्रमेय के आधार पर प्रहार करता है।

लियोन्टिफ ने सर्वप्रथम हैक्शचर ओहलिन की मान्यता को प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है - कुछ मान्यताओं के अन्तर्गत एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनके उत्पादन में उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो उस देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। अतः ऐसा देश उन वस्तुओं का आयात करेगा जिसके उत्पादन में उन साधनों की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है जो उस देश में दुर्लभ होते हैं।

उक्त मान्यता को प्रस्तुत करने के पश्चात् लियोन्टिफ कहते हैं कि जिन देशों के साथ अमेरिका का व्यापार होता है उनकी तुलना में अमेरिका में प्रति श्रमिक पूंजी की मात्रा अधिक है। यदि हैक्शचर ओहलिन का सिद्धान्त सही है तो अमेरिका को पूंजी प्रधान वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए और ऐसी वस्तुओं का आयात करना चाहिए जिन्हें यदि अमेरिका में उत्पादन किया जाता तो उनमें सापेक्षिक रूप से अधिक श्रम लगता।

लियोन्टिफ ने अपनी उपकल्पना की परख हेतु अमेरिका के लिए 1947 की

आदा-प्रदा सारणी (Input - Output Table) का उपयोग किया जिसमें उन्होंने दो सौ उद्योगों के समूह को विश्लेषण का आधार बनाया तथा इनको 50 क्षेत्रों (Sectors) में विभक्त किया। इनमें से 38 उद्योग विदेशी व्यापार में भाग लेते हैं। इन विदेशी व्यापार में भाग लेने वाले उद्योग समूहों के संबंध में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तरीके से कितनी पूंजी और श्रम-काम में लिया जाता है अर्थात् अमेरिकी निर्यात और आयातों की साधन निष्ठताओं का मापन कर तुलना की। दूसरी ओर लियोन्टिफ ने अमेरिका की अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध निर्यात तथा आयात उद्योगों का उत्पादन बढ़ाने हेतु पूंजी की आवश्यकता का अनुमान किया है। उन्होंने ऐसा प्रत्येक एक मिलीयन डालर के मूल्य के निर्यातों और आयातों में कमी करने से साधनों के मुक्त होने पर हुए प्रभावों को ध्यान में रखकर किया है। परन्तु लियोन्टिफ इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अमेरिका श्रम प्रधान वस्तुओं का निर्यात करता है और पूंजी प्रधान वस्तुओं का आयात करता है। वस्तुतः यह निष्कर्ष हैक्शचर ओहलिन के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। ऐसा होने का कारण है कि अमेरिका श्रमनिष्ठ वस्तुओं का निर्यात कर अपने यहां पूंजी की बचत करना चाहता है और श्रम निष्ठ वस्तुओं का निर्यात करके अपने अतिरिक्त श्रम को विदेशों में भेज़ना चाहता है। चूंकि यह स्थिति साधारण ज्ञान व मान्यता के विपरीत है अतः लियोन्टिफ द्वारा प्रस्तुत स्थिति को लियोन्टिफ का विरोधाभास (Leontief Paradox) कहते हैं।

लियोन्टिफ के अध्ययन के अन्तर्गत निकाले गये निष्कर्षों से यह पता चलता है कि अमेरिका में आयात प्रतियोगी वस्तुओं के उत्पाद की तुलना में आयात 1.3 गुनी अधिक पूंजी लगायी जाती है। इसके साथ वह 0.0932 गुणा निर्यात वस्तुओं में श्रम लगाता है। लियोन्टिफ के शब्दों में अमेरिका का अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन में भाग लेना इसलिए संभव है कि उसके द्वारा श्रम निष्ठ उत्पत्ति में विशिष्टीकरण किया जाता है न कि पूंजी निष्ठ विशिष्टीकरण दूसरे शब्दों में यह देश पूंजी की बचत करने के लिए अगर इसके अतिरिक्त श्रम का निर्यात करने के लिए व्यापार करता है न कि इस स्थिति के विपरीत। लियोन्टिफ के विचारों ने आर्थिक जगत में तहलका मचा दिया। अतः इसकी आलोचना की विस्तृत वह गहराई इस विश्लेषण से अधिक है।

6.4.2 लियोन्टिफ विरोधाभास का मूल्यांकन

सर्वप्रथम यह कहा गया कि लियोन्टिफ की पद्धति सिद्धान्त को परखने का सीधा तरीका नहीं है। इसके मूल रूप से निर्यात उद्योगों और स्पर्द्धा आयात प्रतिस्थापन के संबंध में विचार प्रकट किये हैं न कि वास्तविक आयातों के अध्ययन का विश्लेषण किया है अतः लियोन्टिफ को ओहलिन के सिद्धान्त में लागू करना एक भूल है। इस संदर्भ में अनेक लेखकों ने इन आँकड़ो के सम्बन्ध में प्रश्न खड़े किये हैं। प्रो. बूचानन ने कहा कि वास्तव में लियोन्टिफ का पूंजी गुणांक केवल निवेश गुणांक ही है इसमें पूंजी की मात्रा के मापने के संबंध में अनेक त्रुटियां बतायी है। इसी तरह प्रो. जी.ए. लोयब की राय है कि निर्यात क्षेत्र और प्रतियोगी आयात क्षेत्र की पूंजी की निष्ठता के अन्तर को कोई भी सांख्यिकी महत्व नहीं दिया जा सकता है। एक अन्य अर्थशास्त्री बी.सी. स्वरलिंग लिखतें है कि सन् 1947 का वर्ष लियोन्टिफ को नहीं चुनना चाहिए था क्योंकि यह वर्ष काफी मात्रा में एक असाधारण वर्ष था जिसमें विदेशी व्यापार के कई प्रतिबन्ध थे। साथ ही लिखते हैं कि लियोन्टिफ को वस्तुओं के योगिकों को भिन्न-भिन्न समूहों में विभक्त करना भी पक्षपात-पूर्ण है। इस तरह से हम देखतें

हैं कि लियोन्टिफ द्वारा प्रस्तुत सांख्यिकी पद्धतियों के खिलाफ बहुत सी आपत्तियां हैं तब लियोन्टिफ को बाध्य होकर सन् 1956 में अपने मापदण्डों में सुधार करना पड़ा। हालांकि सन् 1956 के पत्र में लियोन्टिफ ने सभी मुद्दों का प्रत्युत्तर नहीं दिया फिर भी इस विवाद के कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि आँकड़े कितने ही अपूर्ण हों वह विरोधाभास इस आधार पर नहीं समझाया जा सकता है। अतः सैद्धान्तिक रूप से अन्य बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है।

6.4.3 लियोन्टिफ विरोधाभास का लियोन्टिफ द्वारा स्पष्टीकरण

लियोन्टिफ ने अपने विरोधाभास के संबंध में स्पष्टीकरण देते हुए हैक्शचर ओहलिन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि अमेरिका के प्रत्येक मजदूर के पास अधिक पूंजी है पर अमेरिका का श्रमिक अन्य देशों के श्रमिकों की तुलना में तीन गुणा अधिक कार्यकुशल हैं। अमेरिका के श्रमिक की यह कार्यकुशलता इसलिए है कि उत्पादन क्रियाओं में तुलनात्मक रूप में अमेरिका में पूंजी का अधिक प्रयोग होता है। अतः उन्होंने तर्क दिया है कि श्रम को भिन्न-भिन्न कार्य कुशलता अंशों में विभक्त करते हुए स्टेन्डर्ड यूनिवर्स में इसकी परिभाषा देनी चाहिए। इस तरह अमेरिका का श्रमिक औसत श्रमिक से कई गुना अधिक उत्पादन करेगा। इस प्रकार से श्रम की परिभाषा देते हुए लियोन्टिफ कहते हैं कि अमेरिका के प्रति श्रमिक की तुलना में अमेरिका के पूंजी की पूर्ति कम है। यह पूंजी की कमी अन्य देशों की तुलना में वास्तव में कम है। इस तरह से वे हैक्शचर ओहलिन के सिद्धान्त का परोक्ष रूप से समर्थन करते हैं। परन्तु यह स्पष्टीकरण दो तर्कों के आधार पर अमान्य है।

1. तार्किक दृष्टि से कोई प्रमाण प्रतीत नहीं होता कि हम श्रम साधन को अधिक कार्यकुशल समझे और उसे स्टेन्डर्ड यूनिवर्स में बदलें।

2. लियोन्टिफ यह समझते हैं कि अमेरिका के श्रमिक की कार्यकुशलता बेहतर प्रकार के प्रबंध से प्राप्त होती है तो वह पूंजी में भी होनी चाहिए। ऐसी परिस्थिति में अमेरिका के श्रमिकों विदेशी श्रम में बदलने पर पूंजी श्रम का अनुपात समान बना रहेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि इस स्थिति में लियोन्टिफ का स्पष्टीकरण विरोधाभास के प्रश्न को हल करने में असमर्थ है।

लियोन्टिफ ने एक अन्य दिशा में और जाँच का स्पष्टीकरण दिया। उन्होंने उत्पत्ति के दो साधन श्रम व पूंजी माने परन्तु उन्होंने इसे अपर्याप्त बताते हुए कहा कि मेरी सारणियों में एक तीसरा साधन अदृश्य प्रतीत होता है जो कि देश की उत्पादकता को प्रभावित करता है यह प्राकृतिक साधन है। उन्होंने कहा कि इस तीसरे साधन का उपयोग कर विरोधाभास को स्पष्ट किया जा सकता है परन्तु इस विवेचना से एक अन्तर आलोचना का बिन्दु जुड़ा हुआ है। यह सामान्य तौर पर समझा जाता है कि श्रम और पूँजी की तुलना में अमेरिका कम भूमिनिष्ठ है ऐसी स्थिति में वह प्राकृतिक साधनों से निष्ठ वस्तुओं का आयात करेगा। यदि ये आयात अमेरिका में ही उत्पन्न किये जाये तो इनके लिए तुलनात्मक रूप से श्रम की तुलना में पूंजी ज्यादा लगायी जायेगी। यदि इन आयातों की तुलना निर्यातों से करें तो यह कहा जा सकता है कि निर्यातों के लिए पूंजी की अपेक्षा ज्यादा श्रम की जरूरत पड़ेगी। इसका कारण स्पष्ट है कि अमेरिका को अपने प्राकृतिक साधन की कमी को दूर करने हेतु ज्यादा पूंजी का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु आलोचक यहां पर कहते हैं कि लियोन्टिफ ने हैक्शचर ओहलिन के अनुसार उत्पत्ति के साधनों की परिभाषा नहीं दी है।

6.4.4 लियोन्टिफ विरोधाभास का हैबरलर द्वारा स्पष्टीकरण

हैबरलर कहते हैं कि अनेक आलोचक यह भूल जाते हैं कि लियोन्टिफ अपने मत को अनेक साधन मॉडल के रूप में प्रस्तुत करते हैं न कि दो साधन मॉडल के रूप में। लियोन्टिफ के लिए पूंजी का तात्पर्य गैर श्रम वस्तुओं से नहीं है। अपितु ऐसी वस्तुओं से है जो उत्पत्ति के उत्पादित साधन हैं जैसे :- संयंत्र, औज़ार, भवन और विभिन्न किस्म का माल। हैबलर ने कहा कि श्रम और भूमि के अतिरिक्त अनेक साधन होते हैं जैसे प्राकृतिक साधन, प्रबंधन और साहस। ये सभी विभिन्न किस्म के होते हैं। इन्हें अच्छी प्रकार से पहचाना नहीं जा सकता है, लियोन्टिफ ने इन साधनों को अपने सांख्यिकी मापदण्डों में शामिल नहीं किया था। अतः लियोन्टिफ का श्रम और पूंजी के संदर्भ में उत्पादन फलन भिन्न-भिन्न देशों में न तो एक रूप होता है और न एक समान। हैबरलर ने विराधोभास का दूसरा कारण भी दिया जिसके अनुसार अमेरिका में आयातों से प्रतियोगिता करने वाले उद्योगों में पूंजी की गहनता से प्रयोग हो रहा है क्योंकि अमेरिका के श्रम की तुलना में वहां की पूंजी विदेशी प्राकृतिक साधन के लिए एक श्रेष्ठ स्थानापन्न है जिसके फलस्वरूप अमेरिका में आयात प्रतिस्थापित उद्योगों में श्रम के स्थान पर पूंजी का प्रयोग हो रहा है। किन्तु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि अमेरिका में पूंजी प्रधान वस्तुओं का आयात होता है, अतः इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लियोन्टिफ के विरोधाभास का कारण यह है कि श्रम और पूंजी के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधन भी होते हैं जिनकी पूर्ण रूप से सांख्यिकी गणना नहीं की जा सकती है।

6.4.5 लियोन्टिफ विरोधाभास का साधन गहनता प्रतिलोमता द्वारा स्पष्टीकरण

चूंकि लियोन्टिफ ने अमेरिक के आयात प्रतिस्थापन व निर्यात उद्योगों पर ही अपना अध्ययन केन्द्रित किया था। अतः लियोन्टिफ विरोधाभास का स्पष्टीकरण साधन गहनता प्रतिलोमता के रूप में दिया जा सकता है। साधन गहनता प्रतिलोमता की स्थिति में यह सम्भव है कि एक पूंजी प्रधान देश श्रम गहन वस्तुओं का निर्यात करे। लेकिन फिर भी अन्य राष्ट्रों की तुलना में अपने निर्यातक उद्योगों में अधिक पूंजी गहन तकनीकी का उपयोग करें। यह सम्भव है कि प्रो. लियोन्टिफ अपने अध्ययन में अन्य राष्ट्रों को शामिल करते तो अमेरिका के निर्यात उन राष्ट्रों की तुलना में अधिक पूंजी गहन पाये जाते। इस प्रकार साधन गहनता प्रतिलोमता की सहायता। लियोन्टिफ के निष्कर्षों का स्पष्टीकरण सम्भव है।

साधन गहनता प्रतिलोमता की सम्भावना ज्ञात करने हेतु प्रो. मिन्हास आदि ने अध्ययन किया। उन्होंने वह कुछ अर्थशास्त्रियों ने प्रतिस्थापन की स्थिर लोच वाला एक नया उत्पादन फलन प्रतिपादित किया था। इस उत्पादन फलन का परिकलन करते समय प्रो. मिन्हास ने पाया कि विभिन्न राष्ट्रों में सापेक्ष साधन कीमतों की व्यवहारिक रूप से विस्तार सीमा में साधन गहनता प्रतिलोमता, काफी पायी जाती है अतः प्रो. मिन्हास के निष्कर्षों के आधार पर लियोन्टिफ विरोधाभास को साधन गहनता प्रतिलोमता के सहारे स्पष्ट किया जा सकता है।

लेकिन प्रो. मिन्हास के विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा करते हुए लियोन्टिफ ने इंगित किया कि 210 सम्भावित प्रतिलोमताओं में से साधन कीमतों की सम्बद्ध विस्तार सीमा के केवल 17 प्रतिलोमिताऐं घटित हुई। अतः लियोन्टिफ के अनुसार साधन कीमतों की सम्बद्ध विस्तार सीमायें साधन गहनता प्रतिलोमता बहुत कम घटित होती हैं।

6.4.6 लियोन्टिफ विरोधाभास का ट्राविस द्वारा स्पष्टीकरण

प्रो. ट्राविस ने लियोन्टिफ विरोधाभास को अमेरिका की व्यापार नीति के संदर्भ में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। ट्राविस ने इंगित किया कि लियोन्टिफ के अध्ययन के वर्ष में अमेरिका का व्यापार अत्यधिक संरक्षित था अतः लियोन्टिफ विरोधाभास तो मात्र प्रकृति का मज़ाक ही था।

6.4.7 लियोन्टिफ विरोधाभास का निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि लियोन्टिफ विरोधाभास व इसके स्पष्टीकरण से हैक्शचर ओहलिन सिद्धान्त की असत्यता के बारे में निश्चित निर्णय पर पहुंचना सम्भव नहीं है परन्तु इसने आर्थिक जगत में जो हलचल पैदा की है वह उपयोगी सिद्ध हुई है। उपर्युक्त परिस्थिति में इन्हीं मापदण्डों के आधार पर लियोन्टिफ की जाँच के अतिरिक्त अन्य जाँचों की परख करना नितांत आवश्यक है इन जाँचों की समीक्षा निम्न प्रकार है।

6.5 टोटेमोटो व इचीमूरा का अध्ययन

टोटेमोटो व इचीमूरा ने जापान के विदेश व्यापार के अध्ययन से ज्ञात किया है कि जापान शेष विश्व को पूंजी गहन वस्तुओं का निर्यात करता है जबकि स्वयं श्रम गहन वस्तुओं का आयात कर रहा है। चूँकि जापान जनाधिक्य वाला राष्ट्र है अतः यह निष्कर्ष हैक्शचर ओहलिन के निष्कर्ष के विपरीत है। यहां साथ ही इन्होंने पाया कि अमेरिका व जापान के बीच व्यापार में जापान श्रम गहन वस्तुओं का निर्यात करता है व पूंजी गहन वस्तुओं का आयात करता है जो कि हैक्शचर ओहलिन के निष्कर्षों के अनुरूप है।

6.6 वाहल का अध्ययन

वाहल ने कनाडा के व्यापार के अध्ययन से पाया कि कनाड़ा पूंजीगहन वस्तुओं का निर्यात करता है और श्रम गहन वस्तुओं का आयात करता है। लेकिन कनाड़ा का अधिकांश व्यापार अमेरिका के साथ होता है अतः यह निष्कर्ष हैक्शचर ओहलिन सिद्धान्त के निष्कर्ष से विपरीत है।

6.7 स्टालपर व रोसकेम्प का अध्ययन

डबन्यू स्टालपर व के. रोसकेम्प शेष पूर्वी यूरोप के साथ पूर्वी जर्मनी के व्यापार का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पूर्वी जर्मनी के निर्यात पूंजी गहन हैं एवं आयात श्रम गहन हैं। चूँकि शेष पूर्वी यूरोप की तुलना में पूर्वी जर्मनी पूंजी सम्पन्न है। अतः यह अध्ययन हैक्शचर ओहलिन सिद्धान्त को सही साबित करता है।

6.8 आर. भारद्वाज का अध्ययन

भारत के संदर्भ में प्रो. भारद्वाज ने सन् 1962 के अध्ययन में पाया कि भारत श्रम गहन वस्तुओं के निर्यात व पूंजीगहन वस्तुओं के आयात करता है अर्थात् निष्कर्ष हैक्शचर ओहलिन के अनुरूप है लेकिन साथ ही भारत व अमेरिका के मध्य व्यापार के अध्ययन में पाया भारत पूंजी गहन वस्तुओं का निर्यात कर रहा था तथा श्रम गहन वस्तुओं का आयात कर रहा था जो कि एक विरोधाभास की स्थिति है।

6.9 हैक्शचर-ओहलिन प्रमेय के प्रमाणीकरण जाँचों के निष्कर्ष

उपर्युक्त विभिन्न जाँचों व विश्लेषणों के आधार पर स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि हैक्शचर ओहलिन सिद्धान्त को सही या गलत सिद्ध करने के लिए कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि इन विश्लेषणों को ध्यान में रखते हुए हैक्शचर ओहलिन के सिद्धान्त में सुधार अपेक्षित है।

6.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न 1. क्या यह सत्य प्रमाणित किया जा सकता है कि अनेक आलोचनाओं के बाद भी हैक्शचर ओहलिन का सिद्धान्त आज भी व्यापार का आधार माना जाता है। समझाइये।

प्रश्न 2. लियोन्टिफ विरोधाभास से आप क्या समझते हैं। हैक्शचर ओहलिन प्रमेय के सम्बन्ध में लियोन्टिफ द्वारा प्रस्तुत जाँच को स्पष्ट रूप से समझाइये।

प्रश्न 3. दो देशों में बाज़ार की दशाएँ जितनी अधिक समान होंगी विशेषकर आय स्तरों पर उतनी ही किसी दिये गये उत्पाद में सफल निर्यात प्रतिक्रिया के होने की अधिक संभावनाएं हैं। हैक्शचर ओहलिन प्रमेय के संदर्भ में उपयुक्त वक्तव्य की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 4. रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रस्तुत भौतिक जाँचों की स्पष्ट रूप से व्याख्या कीजिए।

6.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

REFERENCES : RICARDO MODEL

1. Mac Dougll, G.D.A. — British and American Exports: A Study suggested by the theory of Comprative Costs, Part-I in **Economic Journal (Dec. 1951)** and Part-II in **Economic Journal (Sept. 1952)**

2. Stern,R. — British and American productivity and Comprative costs in International Trade - **Oxford Economic papers** October, 1962

3. Balarsa, B. — An empirical demonstration of classical comparative cost theory, Review of Economics and Statistics (Aug. 1963)

4. Bhagwati, J. — The Pure Theory of International Trade : A Survey, **Economic Journal, March 1964**

5. Kundu, K.B. — **International Economics** - Pure Theory, Nabahharat Publishers - Calcutta-9, 1979

6. Sodersten, B.O. — International Economics Macmillan, 1985

REFERENCES : **H.O THEOREM**

1. Leontief. W.W. — Domestic Production and foregin Trade. The American Capital Position Re examined, **Proceedings of the American** Philosophical society, Vol. 97, Sept., 1953 pp. 332

2. Buchanan, N.S. — Lines on the Leontief Paradox, Economica International, Vol. 8 Nov. 1955, pp. 791

3. Swerling, B.C. — Capital Shortage and labour Surplus in U.S., Review of Economics and Statistics, Vol.36, Aug. 1954.

4. Howlhakker, H.S. — An International Comparision of Household Expenditure pattern Commemorating the centenary of Engels Law. Econometrica Vol. 25 Oct., 1957

5. Arrow, Chenery, Minhas and Solow — Capital labour Substitution and Economic Efficency, Review of Economics & Statistics

6.	Ellsworth, P.T.	–	The International Economy, pp. 128-43
7.	Kindleberger	–	International Economics pp. 55-67
8.	Tatemoto andchaimura	–	Factor Proposition and Foreign Trade - The Case of Japan 1959.
9.	Walh, D.F.	–	Capital and labour requirements for Canada's Foreign Trade, August, 1961
10.	Stolper and Roskamp	–	An Input - Output Table forecast Germany with application of foreign Trade 1961.

इकाई – 7

व्यापार – स्वरूप के निर्धारक : नवीन सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 आधुनिक पूर्ति-मांग सिद्धान्त

7.2.1 व्यापार से पूर्व कीमत - भिन्नताओं के कारण

7.3 नवीन सिद्धान्त

7.3.1 तकनीक में अन्तर

7.3.2 उत्पाद में अन्तर

7.3.3 प्राकृतिक संसाधन - उत्पादन के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में

7.3.4 उद्यमिता

7.3.5 शोध एवं विकास

7.3.6 उत्पाद-चक्र सिद्धान्त

7.4 बोध-प्रश्न

7.5 सारांश

7.6 शब्दावली

7.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.8 बोध-प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित हैं :-

(अ) आधुनिक वर्षों में राष्ट्रों के मध्य व्युत्पन्न व्यापार स्वरूप का विश्लेषण करने की दृष्टि से आपको को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नवीन सिद्धान्तों से अवगत कराना।

(ब) कुछ प्राचीन सिद्धान्तों की अनुभविक आँकड़ों के आधार पर जाँच की जानकारी देना तथा नवीन सिद्धान्तों के संदर्भ में व्यापार के नवीन स्वरूप के विश्लेषण की

आवश्यकता को स्पष्ट करना। प्राचीन सिद्धान्त मुख्य रूप से :- (i) परम्परावादी अथवा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त एवं (ii) नवीन परम्परावादी अथवा हैक्शचर-ओहलिन सिद्धान्त है।

7.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में आप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परावादी एवं नवीन-परम्परावादी सिद्धान्तों का अध्ययन कर चुके हैं। पिछले अध्ययन के अनुसार यह स्पष्ट है कि दो देशों में किसी वस्तु के उत्पादन की लागत में तुलनात्मक अन्तर व्यापार का आधार प्रस्तुत करता है। (परम्परावादी सिद्धान्त) जबकि नवीन-परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार साधन प्रचुरता में अन्तर व्यापार का आधार प्रस्तुत करता है। विभिन्न देशों के मध्य व्यापार-स्वरूप के व्यवहार की व्याख्या मुख्य रूप से इन्हीं सिद्धान्तों के संदर्भ में की जा सकती है। ये सिद्धान्त मुख्य रूप से पूर्ति-पक्ष पर आधारित थे। मांग पक्ष तथा उन तत्वों, जिनकी व्याख्या प्राचीन सिद्धान्तों में नहीं की गई है, की व्याख्या नवीन सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है। आधुनिक सिद्धान्त में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप को प्रभावित करने वाले पूर्ति एवं मांग सम्बन्धी तत्वों को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है। "उत्पाद-चक्र सिद्धान्त" आधुनिक समय में विकसित सिद्धान्तों में से एक है। अन्य सिद्धान्तों में व्यापार के निर्धारक कारकों के रूप में प्राकृतिक साधनों, उद्यमिता, उत्पाद-भिन्नता एवं तकनीक - भिन्नता की भूमिका को शामिल किया गया है।

इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित इन नवीन सिद्धान्तों की व्याख्या की जा रही है।

7.2 आधुनिक पूर्ति-मांग सिद्धान्त

7.2.1 व्यापार से पूर्व कीमत - भिन्नताओं के कारण

आधुनिक पूर्ति - मांग सिद्धान्त राष्ट्रों के मध्य व्यापार से पूर्व वस्तुओं की कीमतों में भिन्नता के लिए उत्तरदायी तत्वों की व्याख्या करता है। इन तत्वों का विश्लेषण पूर्ति एवं मांग पक्ष के द्वारा किया जा सकता है। पूर्ति पक्ष के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों की साधन-प्रचुरता अथवा साधन अनुपात व्यापार का प्रमुख निर्धारक तत्व है। मांग पक्ष के अनुसार उपभोक्ताओं की रूचियां मुख्य रूप से वस्तुओं के प्रति सापेक्ष पसंदगी का निर्धारण करती है। उपभोक्ताओं की रूचियों में अन्तर मुख्य रूप से प्रति इकाई आय में अन्तर के कारण उत्पन्न होता है। अर्थात मांग पक्ष के अनुसार राष्ट्रों के आय - उपभोग स्वरूप एवं इसमें पाये जाने वाले अन्तर व्यापार के मुख्य निर्धारक तत्व हैं।

मांग-सिद्धान्त के अनुसार इसकी व्याख्या की जा सकती है। आप जानते हैं कि वास्तविक आय में वृद्धि (आय-प्रभाव) सामान्यतया उपभोग वस्तुओं की क्रय-मात्रा में वृद्धि करता है। जिस प्रकार एक उपभोक्ता क्रय में वृद्धि करता है उसी प्रकार देश के समस्त उपभोक्ता भी क्रय में वृद्धि करेंगे। चित्र 7.1 में "A" देश के आय - उपभोग स्वरूप की व्याख्या की गई है। "A" देश मुख्य रूप से दो वस्तुएँ "X" एवं "Y" का उपभोग करता है। "X" एक आवश्यक वस्तु है तथा "Y" एक विलासिता की वस्तु है।

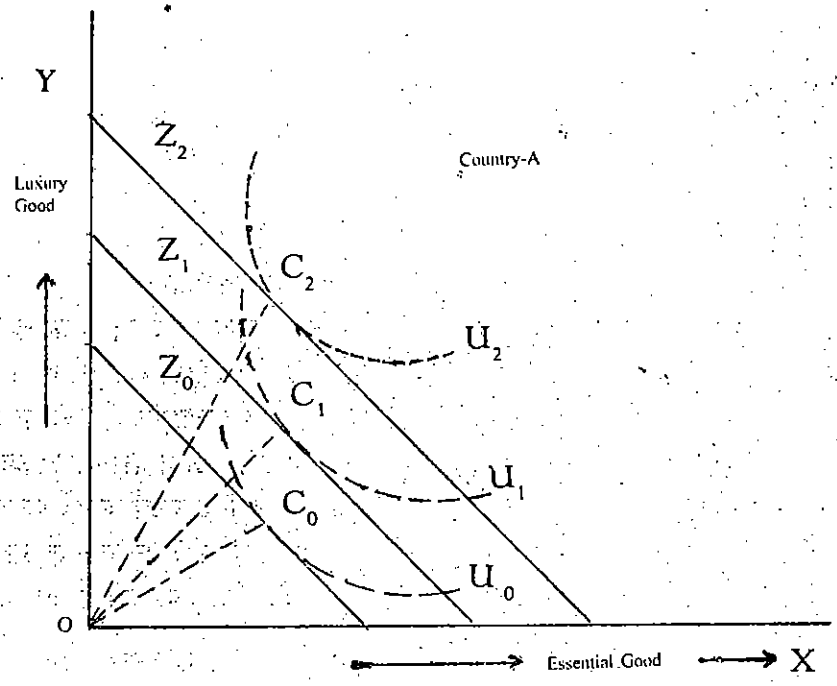

रेखाचित्र 7.1

बजट रेखा "Z_0", "Z_1" तथा "Z_2" समानान्तर है ये रेखाएँ आय में क्रमिक वृद्धि को व्यक्त करती है। उदासीनता वक्र U_0, U_1 तथा U_2 है। ये वक्र बताते हैं कि - उपभोक्ताओं की संतुष्टि के स्तर में वृद्धि हुई है तथा उनकी पसंदगी विलासिता की वस्तु "Y" के प्रति आवश्यक वस्तु "X" की तुलना में बढ़ी है। उदासीनता वक्रों का स्वरूप इस तथ्य को स्पष्ट करता है। प्रति इकाई आय का स्तर जब Z_0 है तो संतुलन बिन्दु C_0 है। जहां पर आवश्यक वस्तु "X" का उपयोग तुलनात्मक रूप से अधिक है। Z_1 प्रति इकाई आय के स्तर पर संतुलन C_1 पर है जहां पर उपभोक्ता तुलनात्मक रूप से "Y" को अधिक पसंद कर रहे है। इसी प्रकार Z_2 आय के स्तर पर संतुलन C_2 पर है। C_2 बिन्दु भी "Y" वस्तु के प्रति अधिक पसंदगी को व्यक्त करता है।

इस प्रकार "A" देश में प्रति इकाई आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप दो वस्तुओं के सापेक्षिक मांग-स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। Y वस्तु की मांग बढ़ जाती है परिणामस्वरूप "A" देश में "Y" वस्तु की कीमतें बढ़ेंगी और यह वस्तु तुलनात्मक रूप से महंगी हो जायेगी।

"B" में प्रति इकाई आय का स्तर तथा वस्तुओं का आय उपभोग स्वरूप समरूप नहीं है, परिणामस्वरूप "B" देश के उपभोक्ताओं की पसंद आवश्यक वस्तु "X" के प्रति अधिक रहेगी और इस देश में यह वस्तु तुलनात्मक रूप से महंगी होगी। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के प्रति पसंदगी में पाये जाने वाला अन्तर व्यापार का आधार प्रस्तुत करता है। पसंदगी में अन्तर मुख्य रूप से प्रति इकाई आय-स्तर में अन्तर के कारण उत्पन्न होता है। जब व्यापार प्रारम्भ होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन कीमत का निर्धारण उस बिन्दु पर होगा जहां पर "A" देश X वस्तु का निर्यात "B" देश को करेगा और "Y" वस्तु का आयात "B" देश से करेगा।

इस प्रकार "A" देश के उपभोक्ता "Y" वस्तु का तथा "B" देश के उपभोक्ता "X" वस्तु का अधिक उपभोग कर सकेंगे।

इस प्रकार राष्ट्रों के मुख्य प्रति इकाई आय-स्तर में पायी जाने वाली भिन्नताएं व्यापार का लाभप्रद आधार प्रस्तुत करतीं है।

7.3 नवीन सिद्धान्त

7.3.1: तकनीक में अन्तर

दो राष्ट्रों के मध्य तकनीक में अन्तर अप्रत्यक्ष रूप से व्यापार का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। दो राष्ट्र "A" तथा "B" हैं तथा वे "X" तथा "Y" दो वस्तुओं का उत्पादन कर रहे हैं। माना कि "A" देश में "X" वस्तु के उत्पादन में तकनीकी प्रगति होती है तथा बाकी सभी बातें दोनों देशों में स्थिर हैं "X" वस्तु के उत्पादन में होने वाला तकनीकी परिवर्तन "A" देश में "X" वस्तु के उत्पादन फलन को परिवर्तित कर देगा। उत्पादन संभावना वक्र के रूप में यह परिबर्तन चित्र 7.2 के अनुसार होगा।

तकनीकी परिवर्तन के परिणाम स्वरूप उत्पादन संभावना वक्र $Y_0 X_0$ से परिवर्तित होकर $Y_0 X_1$ हो गया है। मानाकि यह परिवर्तन 'के' (K) गुना है। Y_0 बिन्दु में कोई परिवर्तन नहीं हुआ

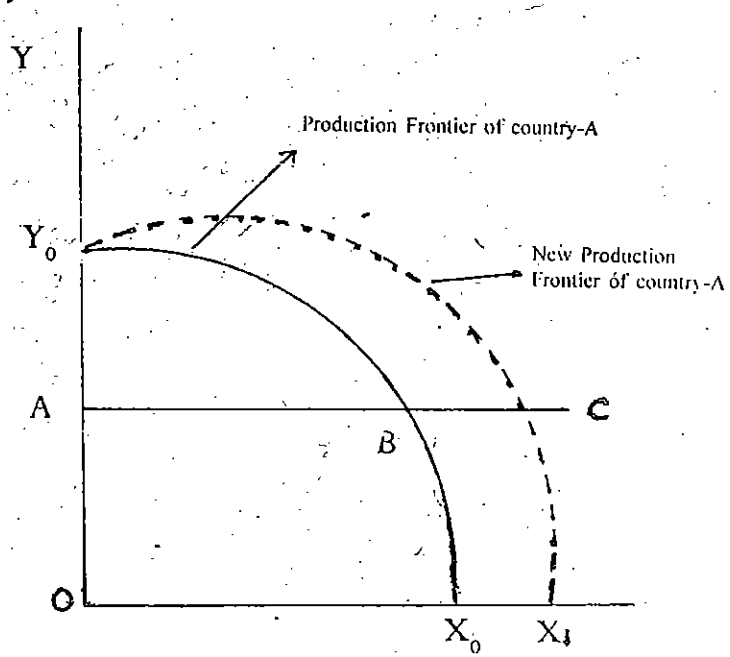

रेखाचित्र 7.2

है क्योंकि वाई वस्तु के उत्पादन की तकनीक पूर्ववत है और इसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि किसी समय विशेष में "B" देश में "X" वस्तु के उत्पादक इस तकनीकी परिवर्तन से अवगत नहीं हैं तो दोनों देशों के मध्य तकनीक में अन्तर उत्पन्न हो जाएगा।

तकनीक में अन्तर के व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या की जा सकती है। "A" देश में "X" वस्तु की उत्पादन तकनीक में परिवर्तन से इसकी लागत कम हो जाएगी और "X" वस्तु तुलनात्मक रूप से सस्ती हो जाएगी। यह अन्तर "X" वस्तु के व्यापार का आधार प्रस्तुत करेगा। व्यापार प्रारम्भ होने पर अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन कीमत का निर्धारण दोनों देशों के घरेलू कीमत अनुपातों के मध्य होगा। A देश X वस्तु का निर्यात करेगा और Y वस्तु जो तुलनात्मक रूप से घरेलू बाजार में महंगी है, का आयात B देश से करेगा। इस प्रकार तकनीक में अन्तर व्यापार का आधार प्रस्तुत करता है।

7.3.2: उत्पाद में अन्तर

उत्पादन वस्तुओं में पाये जाने वाला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। यह विशेष रूप से विनिर्मित वस्तुओं की दशा में सत्य है। अपूर्ण प्रतियोगी उद्योग की स्थिति में वस्तु-विभेद के द्वारा व्यापार को "व्यक्ति-प्रधान" बनाना फर्म के लिए लाभदायक होता है। वस्तु-विभेद के द्वारा उत्पादक अपनी वस्तु के प्रति प्रतियोगिता को कम करने में सफल होते हैं। वस्तु में गुणात्मक परिवर्तन, पैकिंग में अन्तर तथा विज्ञापन के द्वारा वस्तु को उपभोक्ताओं की निगाह में भिन्न दिखाने का प्रयास किया जाता है। ऐसा सामान्यतया एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की दशा में होता है। वस्तु-विभेद की दशा में किसी फर्म विशेष का उत्पादन क्रेताओं की दृष्टि से अच्छा हो जाता है और उस वस्तु के प्रति पसंदगी बढ़ जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं का निर्यात आवश्यक होता है इसके लिए विभिन्न प्रकार की विपणन तकनीकों का प्रयोग भी जरूरी होता है। तुरंत निर्यात के लिए भंडारण सुविधाएँ, सेवा सुविधाएँ और इन निर्यात गतिविधियों को जारी रखने के लिए संयंत्रों में विनियोग आवश्यक होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्पाद-भिन्नताएँ कई प्रकार के द्विमार्गीय व्यापार प्रवाह स्थापित कर देती है। जिस प्रकार भारतीय घड़ियां निर्यात की जा रही हैं और कई विदेशी बाज़ारों में बिक रही है जबकि कई विदेशी घड़ियाँ भारतीय बाज़ारों में भी बिक रही है। योरोपियन कारें अमेरिका के बाज़ारों में बिक रही हैं। इसी तरह जर्मनी, स्विस तथा फ्रांस में बने टाइपराईटर पश्चिमी योरोप के सभी बाजारों में एक - दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं।

7.3.3 प्राकृतिक संसाधन - उत्पादन के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परम्परागत सिद्धान्तों में उत्पादन के दो साधनों श्रम और पूंजी को शामिल किया गया था। इन सिद्धान्तों में व्यापार-स्वरूप के निर्धारण में प्राकृतिक संसाधनों एवं भूमि के योगदान की व्याख्या नहीं की गई जबकि वास्तव में प्राकृतिक संसाधन मुख्य रूप से, खनिज, वन, मछली पालन एवं कृषि भूमि व्यापार के स्वरूप निर्धारण में मुख्य भूमिका अदा करते हैं। उदाहरणार्थ - जिन देशों में लौह अयस्क, तांबा या मैंगनीज़ के भण्डार अधिक हैं वे इनका निर्यात कर सकते हैं। यद्यपि श्रम और पूंजी का सहयोग बहुत जरूरी है किन्तु खनिजों के पर्याप्त भण्डार के अभाव में इनका निर्यात असम्भव होगा। वर्तमान में मध्य-पूर्व

देश पेट्रोलियम उत्पादों का निर्यात कर रहे हैं क्योंकि इनके भण्डार वहां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पेट्रोलियम पदार्थों का भण्डार पर्याप्त मात्रा में है फिर भी खाड़ी प्रदेशों से आयात उनके लिए लाभदायक है क्योंकि वहां कीमतें तुलनात्मक रूप से कम हैं।

इसी तरह विभिन्न प्रकार की कृषि भूमि की उपलब्धता विभिन्न देशों में फसलों की उत्पादन लागत में अन्तर उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से विश्व की कृषि भूमि को निम्नांकित भागों में विभाजित किया जा सकता है :-

1. समशीतोष्ण : प्रचुर पानी एवं तुलनात्मक रूप से उपजाऊ क्षेत्र जो कि विश्व के प्रमुख अनाज़ उत्पादक क्षेत्र हैं।

2. भूमध्य सागरीय : उपजाऊ, उष्ण किन्तु तुलनात्मक रूप से कम वर्षा एवं अधिक गर्मी वाले क्षेत्र (जैतून, अंगूर इत्यादि के लिए उपयुक्त)

3. उष्णकटिबंधीय मैदान : (गन्ना, केले, अनानास, कहवा एवं नारियल के लिए उपयुक्त)

4. मध्यम ऊंचाई के उष्ण क्षेत्र जो समान गर्म जलवायु के कारण चाय एवं कॉफी के लिए उपयुक्त हैं।

ये चार प्रकार की जोतने-बोने योग्य भूमि तथा चरागाह सामान्य अनुमान के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। किन्तु किसी फसल विशेष की उत्पादन लागत की तुलना करते समय इन चार श्रेणियों में से किसी एक में भी पाया जाने वाला गुणात्मक अन्तर महत्वपूर्ण हो सकता है।

7.3.4 उद्यमिता

परम्परागत सिद्धान्तों में उत्पादन-साधन के रूप में उद्यमिता को शामिल नहीं किया गया था। वास्तव में उद्यमी उत्पादन की व्यूह रचना का प्रमुख निर्धारक है वह पूंजी, श्रम और साधनों को संगठित कर उत्पादन प्रक्रिया को प्रारम्भ करता है एवं अनिश्चितता वाले संसार में वह जोखिम वहन करता है।

विभिन्न संस्कृति वाले देशों में उद्यमिता की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। पूर्ण रूप से विकसित एवं विशिष्ट संगठन की योग्यता सैद्धान्तिक रूप से अधिक विकसित देशों में पायी जाती है और यह बड़े पैमाने के उद्योगों एवं उनकी गुण विशिष्टता मुख्य रूप से शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण के परिणाम स्वरूप है।

7.3.5 शोध एवं विकास

शोध एवं विकास पर किया जाने वाला व्यय व्यापार-स्वरूप का मुख्य निर्धारक तत्व बन गया है। कुछ शोधकर्ताओं के अनुसार शोध एवं विकास पर किया जाने वाला व्यय व्यापार-स्वरूप से सम्बन्धित होता है। जिस प्रकार तकनीक में अन्तर व्यापार के स्वरूप निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है उसी प्रकार किसी देश विशेष में किसी वस्तु विशेष की उत्पादन-तकनीक के सन्दर्भ में शोध एवं विकास गतिविधि को सफलतापूर्वक संचालित किया जा रहा है तो यह क्रिया व्यापार का आधार प्रस्तुत कर सकती है। इस प्रकार शोध एवं विकास गतिविधियों में तुलनात्मक अन्तर देशों के मध्य व्यापार का एक प्रमुख निर्धारक बन जाता है। शोध एवं विकास तत्व की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भूमिका की अनुभविक आधार पर कुछ

लेखकों ने जांच, मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्यातों के सम्बन्ध में की और इस नतीज़े पर पहुंचे कि संयुक्त राज्य के उद्योगों की निर्यात कुशलता शोध एवं विकास प्रयासों का घनिष्ठ समानान्तर प्रतीक है।

7.3.6 उत्पाद-चक्र सिद्धान्त (परिकल्पना)

परिकल्पना के रूप में व्यापार का उत्पाद-चक्र स्पष्टीकरण इस बात पर प्रकाश डालता है कि एक देश को किसी समय विशेष पर किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में तकनीकी लाभ क्यों प्राप्त है? उत्पाद-चक्र परिकल्पना के अनुसार प्रत्येक उत्पाद जो विक्रय के लिए बाजार में उपलब्ध कराया जाता है उसकी साधन लागतें विभिन्न प्रकार की होती हैं। जैसे :- उत्पाद-विकास, विपणन, उत्पादन सामग्री एवं अन्य प्राथमिक तत्व। प्रत्येक साधन की विशेषता भिन्न प्रकार की होती है और विभिन्न समयों पर उनका तुलनात्मक महत्व भी परिवर्तित होता रहता है। चूँकि विभिन्न देशों में किसी साधन विशेष के तुलनात्मक लाभ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अतः उस उत्पादन की जीवन अवधि के दौरान साधन विशेष के महत्व में होने वाला परिवर्तन उस वस्तु से प्राप्त होने वाले तुलनात्मक लाभ को परिवर्तित कर देता है। उत्पाद-चक्र सिद्धान्त उत्पादन की तीन अवस्थाओं की व्याख्या करता है :- नया उत्पाद, परिपक्व उत्पाद एवं प्रमाणिक उत्पाद। नवीन उत्पाद स्थिति में तकनीक पूर्ण रूप से परिभाषित नहीं हो पाती है। अतः उत्पाद-विकास व्यय लागत का मुख्य अंग होता है। जिस देश को उत्पाद-विकास व्यय लागत का मुख्य अंग होता है। जिस देश को उत्पाद-विकास गतिविधि में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होंगे, वह देश इस स्थिति में उस वस्तु का निर्यात कर सकेगा। उत्पाद जब परिपक्व हो जाता है विपणन एवं पूंजीगत लागतें प्रमुख हो जाती है जब उत्पाद प्रमाणिक हो जाता है तो तकनीकी स्थिर हो जाती है तथा तुलनात्मक लाभ के निर्धारण में उत्पादन लागतें (मुख्यतया उत्पादन सामग्री, पूंजी एवं अकुशल श्रम की लागतें) प्रमुख हो जाती हैं। आर. वर्नन तथा अन्य उत्पाद-चक्र सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याकार थे। बाद में एस. हिर्च ने इस सिद्धान्त की जाँच की। हिर्च के अनुसार प्रत्येक उत्पाद को इसी प्रक्रिया से गुजरना होता है। प्रारम्भ में मांग बहुत कम होती है। धीरे-धीरे विकास के परिणाम स्वरूप तीव्र विस्तार होता है और विश्व बाजार स्थापित हो जाते हैं। नवीन उत्पादन की प्रथम अवस्था में बड़े-पैमाने पर उत्पादन सम्भव नहीं होता है, साधन अनुपात इस प्रकार का होता है जिसमें कम पूंजी एवं कम मात्रा में अकुशल श्रमिकों के साथ बहुत अधिक मात्रा में दक्ष श्रमिकों को काम पर लगाया जाता है। उत्पाद-चक्र की दूसरी अवस्था पूंजी गहनता बढ़ती है किन्तु प्रबन्ध एवं लागत-नियंत्रण तकनीक तथा बड़े पैमाने के उत्पादन को सम्भव बनाने के लिए कुशलता अति-आवश्यक होती है। उत्पाद-चक्र की अन्तिम तीसरी अवस्था जिसमें उत्पाद प्रमाणिक हो जाता है उस समय में पूंजी एवं अकुशल श्रमिकों की मात्रा बढ़ जाती है एवं कुशल श्रमिकों का अनुपात कम हो जाता है। प्रमाणिकता उत्पादन को लागत अन्तर के प्रति बहुत अधिक मात्रा में सचेतन बना देती है।

उत्पाद-चक्र सिद्धान्त की इस व्याख्या के अनुसार छोटे विकसित राष्ट्र, जिनकी जनसंख्या कम किन्तु बहुत अधिक दक्ष हैं और पूंजी की प्रचुरता सामान्य है, उनके लिए उत्पाद-चक्र की प्रथम अवस्था में उत्पादन करना उपयुक्त होगा। बड़े विकसित राष्ट्र जिनके पास विस्तृत बाजार है, प्रचुर मात्रा में दक्ष श्रमिक एवं पूंजी है, उनके लिए उत्पादन की द्वितीय अवस्था उपयुक्त है। कम विकसित राष्ट्र जिनके पास अदक्ष श्रमिकों की प्रचुरता है उन्हें उत्पादन की तीसरी या परिपक्व अवस्था में उत्पादन करना चाहिए।

विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में विशिष्टता प्राप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार किया है इस दृष्टि से इस सिद्धान्त में कुछ वास्तविकता दिखाई देती है। कुछ कम विकसित देशों ने कुछ प्रमाणिक वस्तुओं जैसे-कपड़ा, सीमेन्ट, रासायनिक खाद एवं स्टील इत्यादि का प्रचुर मात्रा में निर्यात करने में सफलता हांसिल की है। छोटे विकसित देश-जैसे-हॉलैण्ड, डेनमार्क तथा स्वीडन ने इंजीनियरिंग उद्योग तथा मशीनरी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। जहां नवीन प्रवर्तन निरन्तर हो रहे हैं। बड़े विकसित देश जैसे - जर्मनी तथा जापान ने बड़े पैमाने पर उत्पादन की तकनीक एवं पूंजी गहन प्रक्रियाओं को आधुनिक प्रबन्धकीय तकनीक के साथ लागू करने की पहल की है।

7.4 बोध-प्रश्न

1. राष्ट्रों के मध्य प्रति इकाई आय में अन्तर से उत्पन्न मांग में अन्तर किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार प्रस्तुत करता है। स्पष्ट कीजिए।

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप निर्धारण में उत्पादन तकनीक में अन्तर की भूमिका को स्पष्ट कीजिये।

3. ऐसा अनुभव किया गया कि कई भारतीय वस्तुएँ विदेशी बाजारों में बिक रही है और वे ही विदेशी वस्तुएँ भारतीय बाजारों में भी बिक रही है इस तथ्य का मुख्य स्पष्टीकरण क्या है?

4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वरूप निर्धारण में प्राकृतिक संसाधन किस प्रकार अपनी भूमिका अदा करते हैं? समझाईये।

5. उत्पाद-चक्र सिद्धान्त क्या है? इस सिद्धान्त के मुख्य व्याख्याकार कौन हैं?

7.5 सारांश

1. परम्परावादी एवं नवीन-परम्परावादी दोनों सिद्धान्त राष्ट्रों के मध्य व्यापार के स्वरूप की व्याख्या करने के सम्बन्ध में पर्याप्त नहीं है।

2. एक विस्तृत व्यापार-सिद्धान्त की व्याख्या करने के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नवीन सिद्धान्तों में पूर्ति एवं मांग पक्ष को प्रभावित करने वाले सभी तत्वों को ध्यान में रखा गया है।

3. साधन प्रचुरता एवं तकनीक के अतिरिक्त मांग सम्बन्धी तत्व जैसे - विभिन्न राष्ट्रों में प्रति इकाई आय में अन्तर तथा उपभोक्ताओं की पसंदगी में अन्तर भी व्यापार स्वरूप के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

4. प्राचीन सिद्धान्तों ने कुछ महत्वपूर्ण तत्वों को ध्यान में नहीं रखा था। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न उत्पाद-विभेद, उत्पादन साधन के रूप में प्राकृतिक साधनों की भूमिका तथा उद्यमिता प्रमुख हैं।

5. आधुनिक वर्षों में शोध एवं विकास गतिविधियों पर किया जाने वाला व्यय भी राष्ट्रों के मध्य व्यापार के स्वरूप निर्धारण में महत्वपूर्ण बन गया है।

6. उत्पाद-चक्र सिद्धान्त किसी उत्पाद विशेष के उत्पादन में किसी समय विशेष पर किसी देश को अन्य देशों से प्राप्त तकनीकी लाभ पर प्रकाश डालता है। सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ उस वस्तु की जीवन अवधि के दौरान साधन विशेष के महत्व में होने वाले परिवर्तनों से परिवर्तित हो जाते हैं।

7. आर. वर्नन तथा एस. हिर्च इस सिद्धान्त के मुख्य व्याख्याकार है, किन्तु अभी तक इस सिद्धान्त की जाँच नहीं की गई है।

7.6 शब्दावली

साधन प्रचुरता, तकनीकी नव-प्रवर्तन, उत्पादन सम्भावना वक्र, उत्पाद-भिन्नता, शोध एवं विकास व्यय, उत्पाद-चक्र।

7.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. पी.टी. एल्सवर्थ एवं जे. क्लार्क लैथ — "द इन्टरनेशनल इकोनॉमी" पाँचवा संस्करण
2. बी. सोडरस्टन — "इन्टरनेशनल इकोनोमिक्स"
3. राय हैरड एण्ड डी.सी. हेग — "इन्टरनेशनल ट्रेड थ्योरी इन डवलपिंग वर्ल्ड"

7.8 बोध-प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई संख्या 7.2.1
2. इकाई संख्या 7.3.1
3. अपूर्ण प्रतियोगी संसार में ऐसा देखने को मिलता है, जहां वस्तु-विभेद पाया जाता है। व्यक्तिगत उत्पादक अपनी वस्तु को अन्य वस्तुओं से भिन्न दिखाने के लिए भिन्न नाम, पैकिंग में अन्तर तथा विज्ञापन का सहारा है। गुणात्मक अन्तर के कारण एक सी वस्तुएँ होते हुये भी इनका द्वि-व्यापार होता है।
4. इकाई संख्या 7.3.3
5. इकाई संख्या 7.3.6

NOTES

एम.ए. पाठ्यक्रम

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

MAEC-05

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त 2

खण्ड परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त पर इस दूसरे खण्ड में कुल 6 इकाइयाँ है

इकाई संख्या 8 में समुदाय तटस्थता वक्र (Community Indifference Curve) तथा उत्पादन सम्भावना वक्र एवं व्यापार उदासीनता वक्र का विस्तृत विवेचन कर सामान्य संतुलन स्थापित किया गया है। इकाई संख्या 9 व्यापार की तटस्थता रेखाओं तथा अर्पण वक्र अथवा ऑफर वक्रों (Offer Curves) की विचारधारा की व्याख्या की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का प्रदर्शन इन रेखाओं की सहायता से आसानी से किया जा सकता है।

इकाई संख्या 10 में प्रावैगिक परिस्थितियों में व्यापार के आकार एवं प्राप्त लाभों को स्पष्ट किया गया है। स्थैतिक विवेचना में जिन मान्यताओं को लेकर आगे बढ़ा गया था इस इकाई में हम उन मान्यताओं का परित्याग करते हैं एवं विकासशील देशों में विकास के कुल प्रभाव का अध्ययन करने का प्रयास करते हैं।

इकाई 11 में व्यापार की शर्तों का अर्थ स्पष्ट करने के बाद इसके विभिन्न रूपों एवं इसके मापने में होने वाली कठिनाइयों की चर्चा की गई है। इसके बाद इकाई संख्या 12 में प्राथमिक उत्पादों का निर्यात करने वाले विकासशील देशों की व्यापार शर्तें किस प्रकार प्रतिकूल बनी रहती हैं। इन्हें सुधारने के लिए क्या किया जाना चाहिए? यह स्पष्ट किया गया है।

इकाई संख्या 13 में यह स्पष्ट किया गया है कि व्यापार से दोनों राष्ट्रों को लाभ होता है। इस लाभ की प्रकृति एवं निर्धारक तत्वों के साथ-साथ यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि छोटे राष्ट्र व्यापार से अधिक लाभान्वित होते हैं। बड़े राष्ट्रों के लिए भी व्यापार-विहीन स्थिति की तुलना में व्यापार की स्थिति श्रेष्ठ है।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

श्री लोकेश भट्ट (8)
अर्थशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय, अलवर

प्रो. ए. विजयाराजन (9)
मदुरै

प्रो. एम. आर. अग्रवाल (10)
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
एवम्

डॉ. सी. एल. सिंगला (10)
एस. ए. जैन कालेज, अम्बाला सिटी

प्रो. आर. के. अग्रवाल (11, 12)
अर्थशास्त्र विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय,
जबलपुर

डॉ. के. डी. स्वामी (13)
अर्थशास्त्र विभाग, जे. एन. वी. विश्वविद्यालय
जोधपुर

अनुवाद

श्री के. आर. लोहार (9)
सिरोही

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खण्ड-2
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त

पृष्ठ सं०

इकाई 8
उत्पादन, उपभोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सामान्य संतुलन 7-23

इकाई 9
व्यापार तटस्थता-रेखाएं तथा ऑफर-रेखायें 24-36

इकाई 10
आर्थिक विस्तार और व्यापार 37-56

इकाई 11
व्यापार की शर्तें 57-69

इकाई 12
प्राथमिक उत्पादों का निर्यात तथा व्यापार शर्तें 70-79

इकाई 13
व्यापार से प्राप्त लाभ का सिद्धान्त 80-91

सम्पादक

डॉ. एम. के. घड़ोलिया

सहआचार्य एवं विभागाध्यक्ष

अर्थशास्त्र विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

पाठ्य सामग्री उत्पादन

निदेशक

पाठ्य सामग्री एवं वितरण

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस सामग्री के किसी भी अंश की कोटा विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी. त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, दिसम्बर 2015
मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1 पुराना कटरा, इलाहाबाद।

इकाई – 8

उत्पादन, उपभोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सामान्य संतुलन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 समुदाय अधिमोन वक्र (Community Indifference Curve)

8.2 समुदाय अधिमान वक्र और व्यापार शर्तों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साम्य का निरूपण (Equilibrium in International Trade in Terms of the Community Indifference Curve and Terms of Trade)

8.2.1. स्थिर पैमाने के प्रतिफल की स्थिति में साम्य का निरूपण (Equilibrium under Constant Returns to Scale)

8.2.2 ह्रासमान पैमाने के प्रतिफल की स्थिति में साम्य का निरूपण (Equilibrium under Diminishing Returns to Scale)

8.3 अर्पण वक्रों के माध्यम से व्यापार में साम्य का निरूपण (Equilibrium in International Trade in Terms of the Offer Curve)

8.3.1 मॉडल का गणितीय निरूपण (A Mathematical Formalisation of the Model)

8.4 सामान्य साम्य की व्याख्या व्यापार देय वक्रों के रूप में (General Equlibrium in Terms of Trade Offer Curve)

8.4.1 व्यापार उदासीनता वक्र का निरूपण (Construction of Trade Indifference Curve)

8.4.2 व्यापार अधिमान वक्रों द्वारा व्यापार देय वक्रों का निरूपण (Construction of Trade Offer Curve from Trade Indifference Curve)

8.5 व्यापार में सामान्य संतुलन (General Equlibrium in Trade)

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.7 संदर्भ ग्रन्थ (Refcrence Books)

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संतुलन को प्रभावित करने वाले तथा निर्धारित करने वाले विभिन्न चरों के समाकलन की समस्या का अध्ययन सामान्य सन्तुलन के अन्तर्गत करेंगे। इस विश्लेषण हेतु यह मान्यता लेकर चलते है कि व्यापार दो देशों और दो वस्तुओं जो दो साधनों - पूंजी तथा भूमि द्वारा उत्पादित होती है के मध्य होता है। विश्लेषण में मांग की दशाओं को स्पष्ट करने हेतु समुदाय अधिमान वक्र (Community Indifference Curve) मांग तथा पूर्ति की दशाओं को समझाने के लिये अर्पण वक्र (Offer Curve), उत्पादन सम्भावना वक्र तथा व्यापार उदासीनता वक्र का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे और अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या के लिये सभी प्रस्तुत विश्लेषणात्मक यन्त्रों का संकलन करके दो देशों के मध्य व्यापार में सामान्य सन्तुलन का अध्ययन करेंगे।

8.1 समुदाय अधिमान वक्र (Community Indifference Curve)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त में विभिन्न देश व्यापार से पूर्व और व्यापार के पश्चात् किस प्रकार साम्य प्राप्त करते हैं और लाभ कमाते हैं को स्पष्ट करने के लिये मांग पक्ष को प्रस्तुत करने में समुदाय अधिमान वक्रों का विस्तृत प्रयोग किया जाता है।

समुदाय अधिमान वक्रों की अवधारणा उपभोक्ता के अधिमान वक्रों की अवधारणा से अधिक जटिल है। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक उपभोक्ता के अधिमान वक्रों में कल्याण के स्तरों की अन्तर व्यक्ति तुलना की समस्या उत्पन्न नहीं होती है। जबकि समुदाय अधिमान वक्रों के निर्माण में यह समस्या प्रमुख समस्या है यदि हम यह मानलें कि समुदाय की अभिरूचियों का प्रतिनिधित्व उपभोक्ता विशेष की अभिरूचियों द्वारा किया जा सकता है तथा समुदाय के प्रत्येक सदस्य की आय समान है तो व्यक्तिगत अधिमान वक्र से समग्र उपयोगिता फलन प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। समुदाय के सदस्यों की अभिरूचियां समान मान लेना तो विशेष अवास्तविक नहीं है लेकिन समुदाय के सदस्यों की आय समान होना पूर्णतया असंभव है।

समुदाय अधिमान वक्र की व्युत्पत्ति का निरूपण इस मान्यता पर है कि समुदाय में केवल दो उपभोक्ता X और Y है दो वस्तु A तथा B है चित्र 8.1 में दिखाया गया है।

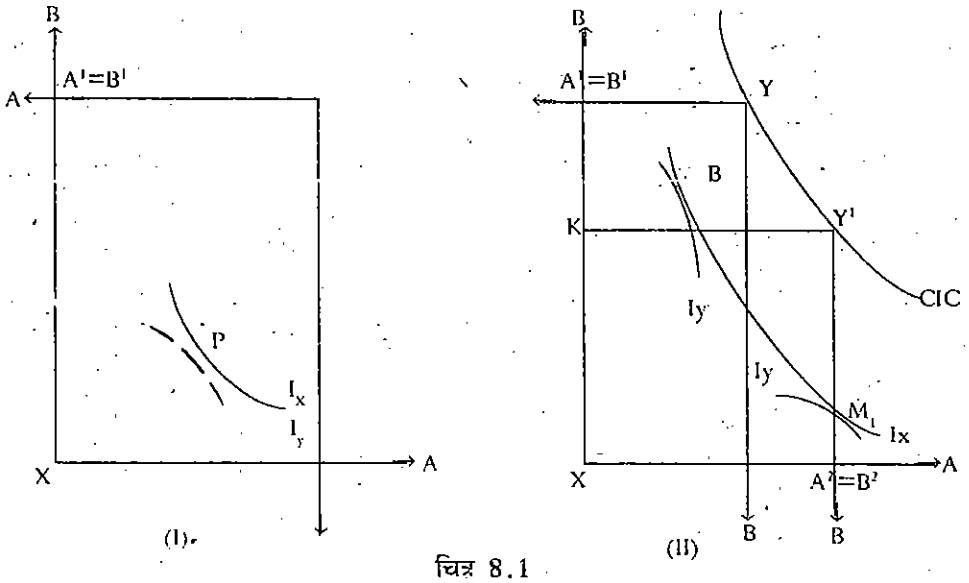

चित्र 8.1

देश में उपलब्ध वस्तु A तथा B की सम्पूर्ण मात्रा को आयत द्वारा उपरोक्त चित्र 8.1 में प्रदर्शित किया गया है।

आयत की भुजायें XA(YA[1]) और XB[1] (या YB) क्रमशः देश में वस्तु A तथा वस्तु B की सम्पूर्ण मात्रा को प्रदर्शित करती है X और Y उपभोक्ताओं के अधिमान वक्र क्रमशः I_X तथा I_Y द्वारा दिखलाये गये हैं जो एक दूसरे को बिन्दु P पर स्पर्श करते हैं। बिन्दु P दोनों उपभोक्ताओं की साम्य की स्थिति को चित्रित करता है। अब हमें I_X तथा I_Y अधिमान वक्रों को इस प्रकार फिसलाना (Slide) चाहिये कि दो निर्देशांक पद्धतियों (Coordinate System) सदैव एक दूसरे के समानान्तर रहे जैसे चित्र 8.1 में दिखाया गया है X उपभोक्ता के अक्षों को स्थिर रखते हुए Y उपभोक्ता के अधिमान वक्र I_X को जिसकी प्रारम्भिक स्थिति Y है को घुमाना चाहिये। प्रारम्भिक स्थिति में दोनों उपभोक्ता M बिन्दु पर साम्य अवस्था में हैं क्योंकि यह बिन्दु I_X तथा I_Y दोनों का उभय बिन्दु है। निर्देशांक पद्धति (Coordinate System) तथा अधिमान मानचित्र को दाहिनी ओर नीचे की तरफ इस प्रकार घुमाया कि I_Y अधिमान वक्र X के अधिमान वक्र I_X के M_1 बिन्दु पर स्पर्श रेखा है M_1 बिन्दु पर दोनों उपभोक्ताओं द्वारा प्राप्त कुल संतुष्टि का योग पूर्ववत ही है, किन्तु बिन्दुओं का संयोग परिवर्तित है। परिवर्तनीय बिन्दुओं द्वारा निर्मित पथ को समुदाय अधिमान वक्र (CIC) कहते हैं यह वक्र वस्तु A तथा वस्तु B के उन विभिन्न संयोगों को चित्रित करता है जिनके प्रति समुदाय के उपभोक्ता उदासीन हैं इस प्रकार समुदाय अधिमान वक्र वस्तुओं के उन विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनसे समुदाय के सदस्यों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से समान उपयोगिता मिलती है[1]।

8.2 समुदाय अधिमान वक्र और व्यापार शर्तों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साम्य का निरूपण (Equilibrium in International Trade in Terms of the Community Indifference Curve and Terms of Trade)

उत्पादन संभावना वक्रों और व्यापार शर्तों के दिये हुए होने पर समुदाय अधिमान वक्रों के माध्यम से व्यापार के पूर्व तथा व्यापार के बाद साम्य की स्थिति का निर्धारण किया जा सकता है। उत्पादन में दीर्घकाल में स्थिर पैमान के प्रतिफल, क्रियाशील हो सकते हैं परन्तु वास्तविकता में यदि उत्पादन के प्रारम्भिक चरण में वर्तमान या स्थिर प्रतिफल क्रियाशील होते भी हैं तो अंततः ह्रासमान प्रतिफल ही प्रभावशाली होता है अतः यहां पर उत्पादन में स्थिर प्रतिफल तथा ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति में साम्य की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

8.2.1 स्थिर पैमाने के प्रतिफल की स्थिति में साम्य का निरूपण (Equilibrium under Constant returns to scale)

इस को स्पष्ट करने हेतु यह मान लेते हैं कि दो देश A तथा B दो वस्तुओं X तथा Y का उत्पादन करते हैं। यह हम जानते हैं कि स्थिर पैमाने के प्रतिफल एवं पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादन संभावना वक्र एक सीधी ऋणात्मक ढाल युक्त रेखा होता हैं अतः निम्न चित्र 8.2 द्वारा उत्पादन में स्थिर पैमाने के प्रतिफलों की स्थिति में साम्य की व्याख्या स्पष्ट

---

1. व्यक्तिगत अधिमान वक्र की धारणा जितनी संतोषजनक है उतनी संतोषजनक समुदाय अधिमान वक्र की धारणा नहीं है क्योंकि समुदाय के भीतर कल्याण की अन्तर व्यक्ति तुलना आसान नहीं है।

रूप से समझाई जा सकती है।

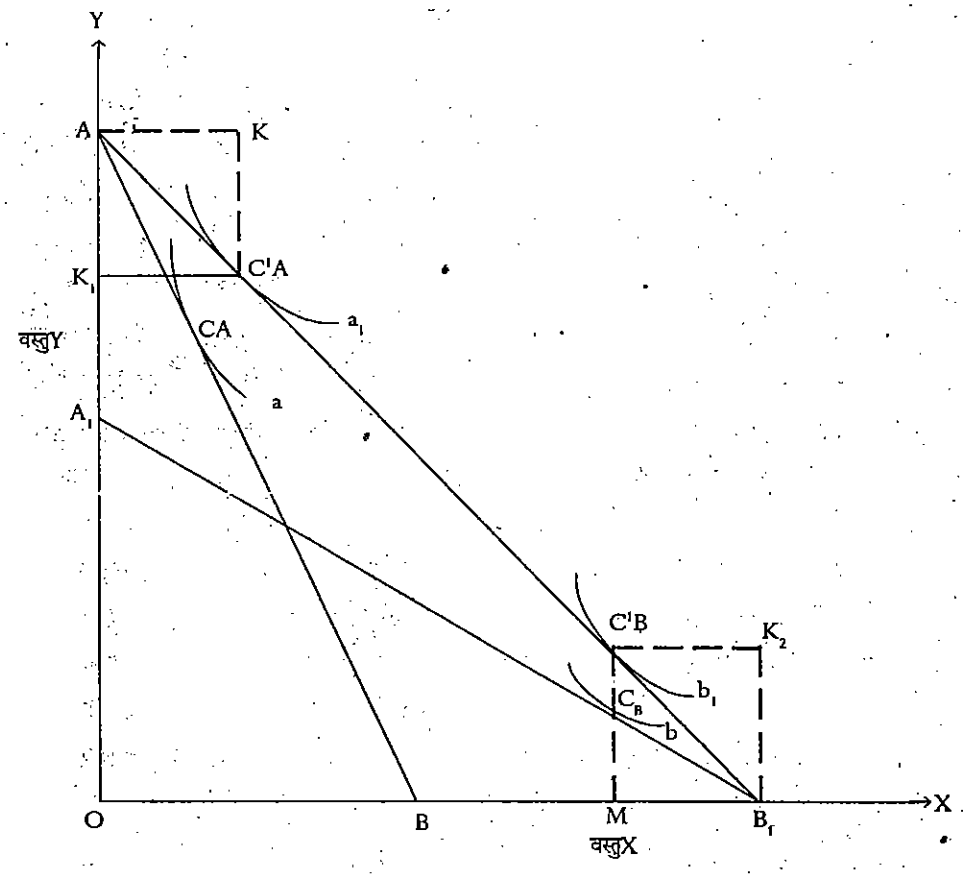

चित्र 8.2

उपरोक्त चित्र 8.2 में देश A तथा B के उत्पादन संभावना वक्रों को क्रमशः AB तथा A_1B_1 रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है। व्यापार से पूर्व देश के उत्पादन तथा उपभोग में साम्य बिन्दु C_A है जहां पर उसका उत्पादन संभावना वक्र AB उसके समुदायिक अधिमान वक्र a को स्पर्श करता है। इसी प्रकार देश B में व्यापार से पूर्व उत्पादन तथा उपभोग में साम्य का बिन्दु C_B है जहां पर उसका उत्पादन संभावना वक्र A_1B_1 उसके अधिमान वक्र b पर स्पर्श रेखा है।

व्यापार प्रारम्भ होने के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों के अनुसार देश A वस्तु Y में तथा देश B वस्तु X के उत्पादन के विशिष्टीकरण प्राप्त करता है क्योंकि देश A को वस्तु Y के तथा देश B को वस्तु X के उत्पादन में तुलनात्मक रूप से लाभ प्राप्त है। जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों से हम जानते हैं कि स्थिर पैमाने के प्रतिफल की स्थिति में पूर्ण विशिष्टीकरण प्राप्त होता है। अतः पूर्ण विशिष्टीकरण के पश्चात देश A और B देश के उत्पादन बिन्दु क्रमशः A और B_1 हैं। दोनों बिन्दुओं के जुड़ने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात रेखा देश के समुदाय अधिमान वक्र को स्पर्श करती है। चित्र 8.2 में स्पष्ट है कि देश A के समुदाय अधिमान वक्र a_1 तथा देश B के समुदाय अधिमान वक्र b_1 अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय रेखा AB_1 को क्रमशः बिन्दु C_A' तथा C_B' पर स्पर्श करते हैं जो कि दोनों देश A व B के क्रमशः उपभोग बिन्दु हैं। इस साम्य अवस्था में एक देश का निर्यात उसके आयात के भुगतान के लिये पर्याप्त है। अन्य शब्दों में एक देश का निर्यात दूसरे देश के आयात के

बराबर है उदाहरण के लिए A देश का निर्यात $AK_1 (=KC'_A)$ वक्र Y के बराबर है। जो देश B के आयात $MC'_B (=K_2B_1)$ के बराबर है इसी प्रकार A का आयात $AK(=K_1C'_A)$ वस्तु X हैं जो देश B के निर्यात $MB_1(=K_2C'_B)$ के समान है।

8.2.2 ह्रासमान पैमाने के प्रतिफल की स्थिति में साम्य का निरूपण (Equilibrium under Diminishing returns to scale)

ह्रासमान प्रतिफल नियम की क्रियाशीलता के कारण उत्पादना संभावना वक्र का आकार मूल बिन्दु के नतोदर (Concave) अर्थात घटती हुई रूपान्तरण दर (या व वर्तमान सीमान्त अवसर लागत दर) होता है। इसी प्रकार का नतोदर वक्र स्थिर पैमाने के प्रतिफल की स्थिति में भी प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन उत्पादन के साधन विभिन्न अनुपातों में उपयोग लिये जायें।

यद्यपि उत्पादन संभावना वक्र पर वस्तुओं के किसी भी संयोग को प्राप्त किया जा सकता है तथापि अनुकूलतम उत्पादन का बिन्दु वह है जहां समुदाय अधिमान वक्र उत्पादन संभावना वक्र को स्पर्श करता है। व्यापार प्रारम्भ होने के पश्चात् अनुकूलतम उत्पादन संयोग में भी परिवर्तन हो जायेगा। इसका निरूपण दो देश A व B दो वस्तु X व Y और दो साधन K व L के माडॅल द्वारा निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

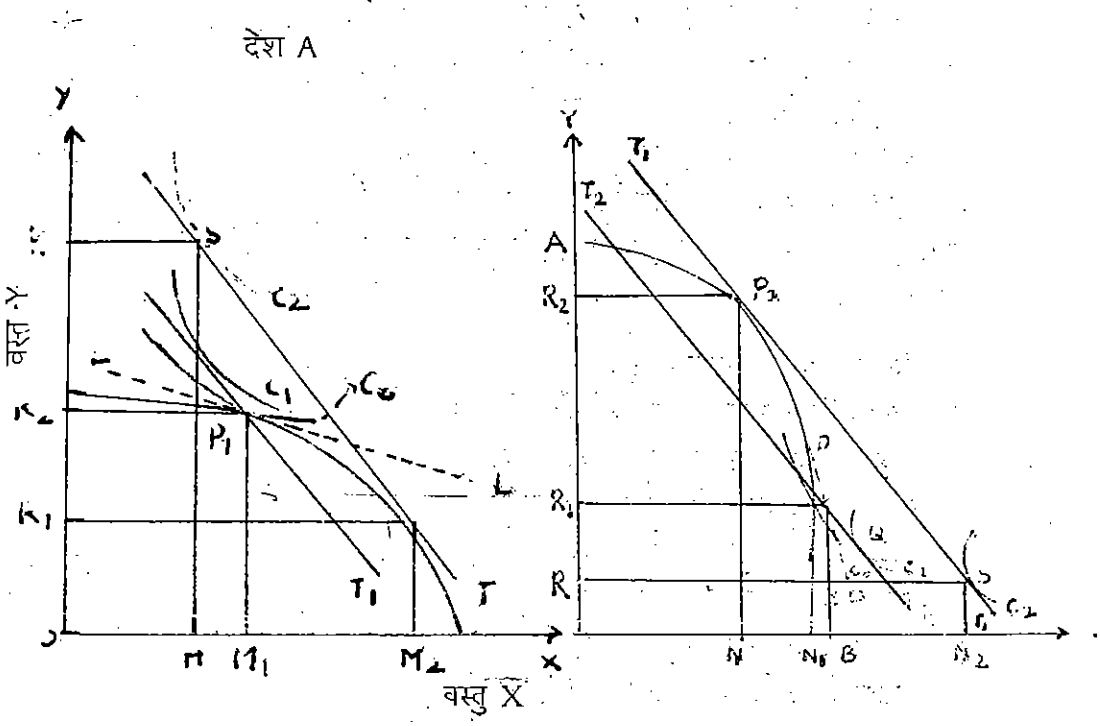

चित्र 8.3A चित्र 8.3B

इस मॉडल में यह कल्पना की गई है कि देश A व B में साधन सम्पन्नता असमान हैं किन्तु उपभोक्ताओं की पसन्दगी समान है तथा साधनों की उपलब्धता की तुलनात्मक स्थिति इस प्रकार है कि देश A वस्तु X तथा देश B वस्तु Y के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ की स्थिति में है। जिसे चित्र 8.3 A व 8.3 B में उत्पादन सम्भावना वक्रों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

चित्र 8.3 में स्पष्ट है कि व्यापार की अनुपस्थिति में देश A के उत्पादन तथा उपभोग का बिन्दु P_1 है जहां समुदाय अधिमान वक्र C_0 उत्पादन सम्भावना वक्र AB को स्पर्श करता है। इस प्रकार वस्तु तथा साधन दोनों के बाजार में संतुलन की स्थिति है। साधन के बाजार में श्रम और पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का अनुपात प्रत्येक उद्योग में समान है और प्रत्येक साधन का मूल्य उसकी सीमांत लागत अनुपात के बराबर है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि घरेलू मूल्य रेखा LL की ढाल P_1 बिन्दु पर उत्पादन संभावना वक्र AB की ढाल के बराबर है। बिन्दु P_1 पर मूल्य रेखा LL समुदाय अधिमान वक्र C_0 को स्पर्श करती है जिसका अर्थ यह है कि वस्तु की सीमान्त प्रतिस्थापन दर वस्तु मूल्यानुपात के बराबर है। इस प्रकार बिन्दु P_1 पर जिस विनिमय अनुपात में उत्पादक वस्तु X व वस्तु Y का व्यापार करना चाहता है उसी अनुपात में वस्तु विनिमय भी होता है। इसी प्रकार की दशा देश B के लिये भी बिन्दु P_2 पर सत्य है। फिर भी देश B में घरेलू विनिमय अनुपात देश A के घरेलू विनिमय अनुपात से भिन्न है। जो यह बतलाता है कि देश B में वस्तु Y वस्तु X से तुलनात्मक रूप में सस्ती है। जबकि वस्तु Y के रूप में वस्तु X देश A में सस्ती है। वस्तुओं के तुलनात्मक सस्ते पल के कारण लाभदायक अंन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये पर्याप्त अवसर है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक नवीन विनिमय अनुपात रेखा TT अब T_1T_1 की स्थापना करता है। इस विनिमय अनुपात पर देश A या B देश के उपभोक्ता केवल वस्तु विनिमय के द्वारा लाभ कमा सकते हैं। उत्पादकों की प्रतिक्रिया पर विचार नहीं किया जाता है। देश A विनिमय अनुपात की रेखा T'T' जो TT के समानान्तर है और उत्पादन में सन्तुलन प्रारम्भिक बिन्दु P_1 से गुजरती है के साथ गमन करेगा। इसी प्रकार देश B विनिमय अनुपात की रेखा T_2T_2 जो T_1T_1 के समानान्तर है और उत्पादन में संतुलन के प्रारम्भिक बिन्दु P_2 से गुजरती है कि साथ गमन करेगा। वस्तु विनिमय के कारण दोनों देश के उपभोक्ता अपने प्रारम्भिक सन्तुलन बिन्दु Q पर पहुंच जायेंगे जो ऊंचे अधिमान वक्र C_1 पर स्थित है। प्रारम्भिक अधिमान वक्र C_0 से C_1 तक की गति उत्पादन के अपरिवर्तनीय रहते हुए व्यापार से लाभ को प्रदर्शित करती है।

किन्तु उत्पादक निष्क्रिय नहीं रहेंगे। वे भी उत्पादक साधनों को इस प्रकार पुनः समायोजन करेंगे कि अधिकतम लाभ कम हो सके। चूंकि देश A में वस्तु Y के रूप में वस्तु X तुलनात्मक रूप में महंगी है। अतः देश A वस्तु X के उत्पादन में तब तक वृद्धि करेगा जब तक कि साम्य का बिन्दु P_1' जहां अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात सीमान्त प्रतिस्थापन दर के समान है प्राप्त नहीं हो जाये। इसी प्रकार देश B वस्तु Y के उत्पादन में वृद्धि करके P_2 बिन्दु पर पहुंच जाये। विनिमय के बाद दोनों देश ऊंचे अधिमान वक्र C_2 पर स्थित बिन्दु S पर उपभोग करेंगे। इस प्रकार Q से S तक की गति उत्पादन में बढ़ी हुई दक्षता के कारण व्यापार से लाभ है। बिन्दु S पर देश A का निर्यात P_1K (वस्तु X) देश B द्वारा वस्तु X के आयात SH के समान है इसी प्रकार देश A का आयात KS (वस्तु Y) देश B के निर्यात HP_2 (वस्तु Y) के बराबर है। बिन्दु S पर सीमान्त रूपान्तरण दर सीमान्त प्रतिस्थापन दर के समान है और यह दोनों दरें अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात के बराबर है और दोनों देश साम्यावस्था में हैं।

गणितीय रूप में इसे निम्न प्रकार स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है। प्रत्येक देश में पूर्ति का कुल मूल्य तथा मांग का कुल मूल्य समान होता है अर्थात

$$P_x X^C_a + P_y Y^C_a = P_x X^P_a + P_y Y^P_a \text{ ———————} \quad (1)$$

$$P_x X^C_b + P_y Y^C_b = P_x X^P_b + P_y Y^P_b \text{ ———————} \quad (2)$$

यहां पर A व B संकेत देश A व देश B को प्रदर्शित करते हैं।

समीकरण (i) व समीकरण (ii) को जोड़ने पर

$$P_x (X^C_a + X^C_b) + P_y (Y^C_a + Y^C_b) = P_x (X^P_a + X^P_b) + P_y (Y^P_a + Y^P_b) \text{ ——(3)}$$

मान लेते है कि किसी निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात पर जैसा कि चित्र में रेखा TT II T_1T_1 के ढाल द्वारा प्रदर्शित है वस्तु का बाजार साम्य अवस्था में है अतः

$$(X^C_a + X^C_b) = (X^P_a + X^P_b) \text{ ———————} \quad (4)$$

समीकरण (4) को दोनों ओर Px से गुणा करने के पश्चात समीकरण (3) में से घटाने पर

$$P_y (Y^C_a + Y^C_b) = P_y (Y^P_a + Y^P_b) \text{ ———————} \quad (5)$$

समीकरण (5) में P_y से भाग देने पर

$$(Y^C_a + Y^C_b) = (Y^P_a + Y^P_b) \text{ ———————} \quad (6)$$

अतः स्पष्ट है कि वस्तु X बाजार में साम्यवस्था होने पर वस्तु Y बाजार में भी साम्यवस्था होगी समीकरण (3) व (4) से स्पष्ट है कि

$$X^C_a - X^C_a = X^C_b - X^P_b \text{ or } E^a_x = E^b_x \text{ ———————} \quad (7)$$

$$Y^C_a - Y^C_a = Y^C_b - Y^P_b \text{ or } E^a_y = E^b_y \text{ ———————} \quad (8)$$

अर्थात यह स्पष्ट होता है कि देश के एक वस्तु के विशुद्ध निर्यात (आयात) अन्य देश के विशुद्ध आयात (निर्यात) के समान होते हैं। समीकरण व इस बात को स्पष्ट रूप से बतलाते है कि कोई भी देश न तो दोनों वस्तुओं का विशुद्ध निर्यात न ही विशुद्ध आयात कर सकता है।

8.3 अर्पण वक्रों के माध्यम से व्यापार में साम्य का निरूपण (Equilibrium in International Trade in Terms of the offer Curve)

पूर्व में प्रस्तुत विश्लेषण में संतुलित व्यापार शर्तों को दिया हुआ स्वीकार कर लिया गया था जबकि सामान्य रूप से व्यापार शर्तें दी हुई नहीं होती अपितु इनमें परिवर्तन व इनका निर्धारण दोनों देशों बाजारों की व्यापार के प्रति इच्छा की पारस्परिक क्रिया द्वारा संभव होता है। किसी देश की व्यापार के प्रति इच्छा का निर्धारण पसंदगी तथा उत्पादन शक्ति द्वारा होता है। इस समस्या को ज्यामिति में मार्शल द्वारा निरूपित अर्पण वक्र की सहायता से प्रदर्शित किया जा सकता है। अर्पण वक्र एक ओर किसी देश द्वारा वस्तु विशेष की निश्चित मात्रा के बदले दूसरी वस्तु की एक निश्चित मात्रा देने की इच्छा को व्यक्त करता है और दूसरी ओर किसी दूसरे देश द्वारा विभिन्न मूल्य रेखाओं पर वस्तु विशेष की मांग को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार इस वक्र में मांग और पूर्ति दोनों के ही तत्व विद्यमान होते हैं। अतः दो देशों के अर्पण वक्रों की पारस्परिक क्रिया द्वारा व्यापार की शर्तों का निर्धारण किया जा सकता है।

अर्पण वक्र की व्युत्पति को निम्न चित्र 8.4 के द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है।

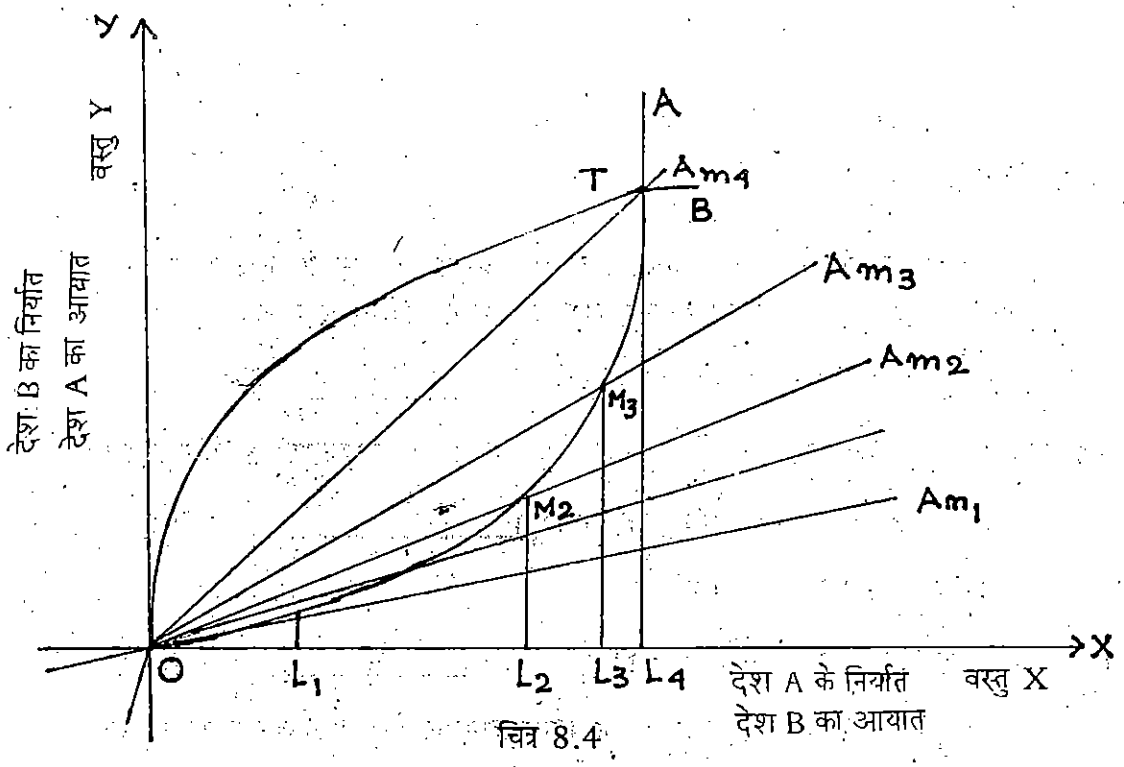

चित्र 8.4

देश A के अर्पण वक्र की व्युत्पति हेतु देश A की विभिन्न वैकल्पिक अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के प्रति प्रतिक्रिया देखते हैं। चित्र में क्रमशः X व Y अक्षों पर देश A के निर्यात तथा आयात की माप की जा रही है। वस्तु Y के रूप में वस्तु X के वैकल्पिक मूल्यों को OAm_1, OAm_2, OAm_3, व OAm_4 आदि रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है व्यापार पूर्व देश A बिन्दु M_1 पर उपयोग करता है जो यह बतलाता है कि बड़ी थोड़ी मात्रा के आयात की स्थिति में देश A व्यापार के प्रति उदासीन है। यदि विदेशी व्यापारी बेहतर विनिमय अनुपात प्रस्तुत करता है जैसा कि रेखा OAm_2 द्वारा दिखलाया है तो देश A के उपभोक्ता OL_2 वस्तु X को M_2L_2 वस्तु Y से प्रतिस्थापित करके अधिक संतुष्टि प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार OAm_3 विनिमय अनुपात की रेखा पर देश A, OL_3 वस्तु X को M_3L_3 वस्तु Y के बदले प्रस्तुत करेगा। अंत में बिन्दु T प्राप्त होगा जबकि देश A वस्तु Y की अतिरिक्त मात्रा के लिये अतिरिक्त वस्तु X देने को तत्पर नहीं होगा। M_1, M_2, M_3 तथा T बिन्दुओं को मिलाने वाला वक्र OA देश A का अर्पण वक्र है। इस प्रकार अर्पण वक्र किसी देश द्वारा निर्यात की विभिन्न मात्राओं को प्रदर्शित करता है जो वह आयात की विभिन्न मात्राओं के बदले देने के लिये इच्छुक होता है। इसी प्रकार देश B का अर्पण वक्र भी चित्रित किया जा सकता है और देश B का अर्पण वक्र OB जैसा होगा। जैसा कि चित्र 8.4 से स्पष्ट है। दोनों देश A व B के अर्पण वक्र क्रमशः OA तथा OB एक दूसरे को बिन्दु T पर काटते हैं। बिन्दु O और T को मिलाने वाली रेखा OT साम्य विनिमय शर्त की रेखा है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय शर्त की रेखा दोनों देशों की घरेलू विनिमय अनुपात की रेखाओं के मध्य स्थित है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों देशों को लाभ होगा। यद्यपि एक देश को अधिक तथा दूसरे देश को कम लाभ होगा। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात की रेखा घरेलू विनिमय अनुपात के आन्तरिक भाग में स्थित है तो व्यापार से एक देश को हानि, किन्तु दूसरे देश को लाभ होगा। यदि

व्यापार साम्य विनिमय अनुपात की रेखा पर होता है तो एक देश का आयात उसके निर्यात के बराबर होगा।

उपर्युक्त विश्लेषण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर आधारित है जैसा कि स्पष्ट है कि उत्पादन के साधनों की प्रचुरता में अन्तर तुलनात्मक लागतों में अन्तर उत्पन्न करता है जो कि व्यापार को बढ़ाता है तथा व्यापार के परिणाम स्वरूप वस्तुओं की कीमतें समान हो जाती हैं तथा तुलनात्मक लागतों का अन्तर समाप्त हो जाता है। यह मॉडल दो देश तथा दो वस्तुओं के लिये प्रस्तुत किया गया था लेकिन निकाले गये निष्कर्ष अनेक देश, अनेक वस्तु तथा अनेक साधनों पर भी लागू होता है।

8.3.1 मॉडल का गणितीय निरूपण (A Mathematical Formalisation of the Model)

खण्ड 8.3.1 में प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सरल सामान्य सन्तुलन मॉडल को गणितीय प्रतीकों द्वारा भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जा सकता है। यदि हम पहले देश A पर केन्द्रित करते हैं। यह देश दो वस्तु X तथा Y को उत्पादित करने में सक्षम है उनके उत्पादन फलन निम्न प्रकार हैं-

$$X^p = F(Lx, Kx) \text{ तथा } Y^p = G(Ly, Ky)$$

जहां Li तथा Ki (i = x,y) ith उद्योग में क्रमशः साधन श्रम व पूंजी है तथा P उत्पादन पूर्ति को प्रदर्शित करता है। इन उत्पादन फलनों से उत्पादन रूपान्तरण वक्र प्राप्त होता है जिसे निम्न समीकरण द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

$$Y^p = \phi(x^p) \quad \text{---------- (i)}$$

यहां पर $X_p \geq O$ तथा $Y^p \geq O$ उत्पादन रूपान्तरण वक्र यह माना जाता है कि मूल बिन्दु के उन्नोदर है अतः

$$\phi' < O \text{तथा } \phi'' < O \text{ ----- (2)}$$

X^p के सभी स्तरों के लिये है। यदि Px तथा Py क्रमशः वस्तु X तथा वस्तु Y की कीमतों के प्रतीक है तथा यदि $P = \frac{Px}{Py}$ दोनों वस्तुओं की तुलनात्मक कीमत है तथा प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादन का साम्य

$$P = -\phi' \text{ ---------- (3)}$$

अतः दिये गये P के लिये यह सम्बन्ध उत्पादन रूपान्तरण वक्र के एक निश्चित बिन्दु पर स्थित होगा। यह बिन्दु X वस्तु के उत्पादन का निर्धारण करेगा तथा समीकरण (1) से स्पष्ट है कि यह वस्तु Y के उत्पादन का निर्धारण कर सकता है।

यदि X^c तथा Y^c देश A में क्रमशः वस्तु X तथा वस्तु Y की उपभोग मात्राएँ हैं। यह मानते हैं कि देश एक उपभोक्ता की तरह व्यवहार करता है तथा इसका उपयोगिता फलन निम्न प्रकार लिख सकते हैं -

$$U = U(X^C, Y^C)$$

तथा किसी दिये गये कीमत अनुपात पर उपभोक्ता का सन्तुलन निम्न प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

$$P = \frac{Ux}{Uy} \text{ ---------- } (4)$$

जहां $Ux = \frac{\partial u}{\partial x^c}$ तथा $Uy = \frac{\partial u}{\partial y^c}$ एव यदि $V = \frac{Ux}{Uy}$ है तब V, X^C तथा Y^C का

फलन होगा अतः $P = V(X^C, Y^C)$ ------ (5)

माना Ex वस्तु X की देश में अतिरिक्त (अतिरिक्त पूर्ति) के रूप में परिभाषित करते है यदि $Ex > O(Ex > O)$ है इसी प्रकार Ey को भी परिभाषित कर सकते हैं तथा

$$X^C = X^P + Ex \text{ ---------- } (6)$$

$$Y^C = Y^P + Ey \text{ ---------- } (7)$$

स्पष्ट है कि $Ex > O$ देश द्वारा वस्तु X की आयातित मांग को प्रदर्शित करती है जबकि $Ex < O$ वस्तु X की निर्यातित पूर्ति को प्रदर्शित करती है। अब Ex तथा Ey के रूप में देश के बजट समीकरण को निम्न प्रकार बतलाया जा सकता है।

$$P_x E_x + P_y E_y = O \text{ या } PE_x + E_y = O \text{ ----------} (8)$$

यहां पर छः समीकरण (1), (2), (5), (6), (7), तथा (8) सात चर $X^P, Y^P X^C, Y^C$, Ex, Ey तथा P को निर्धारित करने के लिये दी गई है। फिर भी तंत्र को निर्धारित बनाने हेतु प्रत्येक $X^P, Y^P X^C, Y^C, E_x$ तथा E_y को कीमत अनुपात P का फलन मानते है। यदि देश शेष संसार की तुलना में बहुत छोटा है तो P इस देश के लिये बाहर से दिया हुआ होगा। तब तंत्र निर्धारित होगा क्योंकि छः समीकरण तथा छः अनिर्धारित चर होंगे।

यदि देश छोटा नहीं होगा तब P का निर्धारण इस देश तथा शेष संसार (देश B) के मध्य पूर्ति तथा मांग की प्रतिक्रिया (interaction) द्वारा निर्धारित होगा। देश B के मॉडल में प्रवेश होने के पश्चात् 12 समीकरण होंगे तथा 13 अनिर्धारित चर होंगे। देश A के लिये $X^P_a, Y^P_a, X^C_a, Y^C_a, E_x^a, E_y^a$ तथा देश B के लिये $X^P_b, Y^P_b, X^C_b, Y^C_b, E_x^b, E_y^b$ तथा कीमत अनुपात होगा। तंत्र को संगत Consistent बनाने हेतु यह ध्यान रखना चाहिये कि संतुलन अवस्था में संसार की प्रत्येक वस्तु के लिये अतिरिक्त मांग शून्य होनी चाहिये अर्थात

$$E_x^a + E_x^b = 0 \quad \text{तथा} \quad E_y^a + E_y^b = 0 \text{ ------ } (9)$$

एक देश की निर्यात पूर्ति दूसरे देश की आयात मांग के समान होनी चाहिये। समीकरण 8 में दोनों समीकरणें स्वतंत्र नहीं हैं क्योंकि दो बजट समीकरण $PE_x^a + E_y^a = 0$ तथा $PE_x^b + E_y^b = 0$ होती है अर्थात एक से दूसरे का निर्धारण किया जा सकता है। इसलिये समीकरण 8 से किसी भी एक समीकरण को 12 समीकरणों के साथ सम्मिलित किया जा सकता है, जिससे कि 13 समीकरण व 13 अनिर्धारित चर हो जायेंगे या किसी भी एक बजट

समीकरण को सम्मिलित कर सकते हैं जिससे कि 12 समीकरण से 13 समीकरण मॉडल में बन जाती है। इस प्रकार सामान्य संतुलन की अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात P का निर्धारण किया जा सकता है।

8.4 सामान्य साम्य की व्याख्या व्यापार देय वक्रों के रूप में (General Equilibrium in Terms of Trade offer Curve)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सामान्य सन्तुलन की व्याख्या एक अन्य नव-प्रतिष्ठित तकनीक द्वारा ज्यामिति की सहायता से स्पष्ट रूप से की जा सकती है इसे व्यापार अर्पण वक्र के नाम से जाना जाता है। इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम लियोन्टीफ तथा लर्नर ने किया तथा अन्त में प्रो. मीड ने सन् 1952 में अपनी पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ज्यामिती (Geometary of International Trade) में स्पष्ट रूप से व्यापार उदासीनता वक्र की तकनीक का प्रयोग करके व्यापार में संतुलन का निरूपण किया। इस तकनीक की विशेषता यह है कि इसमें अर्पण वक्र का उत्पादन रूपान्तरण वक्र तथा उपभोक्ता उदासीनता मानचित्र के सम्बन्ध को दिखलाकर सन्तुलन की समस्या का निरूपण करता है। यह सरलतापूर्वक व्यापार का उत्पादन, उपभोग तथा व्यापार से प्राप्त लाभ पर पड़ने वाले प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं।

व्यापार उदासीनता वक्र विदेशी व्यापार की विभिन्न मात्राओं - आयात व निर्यात के उन विभिन्न संयोगों के पक्ष को प्रदर्शित करता है जिससे किसी देश के उपभोक्ताओं को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अन्य शब्दों में व्यापार उदासीनता वक्र विदेशी व्यापार के उन विभिन्न संयोगों का वक्र है जिनके प्रति उपभोक्ताओं में समान अनुराग है।

व्यापार उदासीनता वक्र का निर्माण निम्न मान्यताओं के अन्तर्गत ही संभव है:-

1. एक द्विसूत्रित ढांचे पर विचार किया जा सकता है जिसमें दो A देश B व तथा दो वस्तु X व Y को सम्मिलित किया जा सकता है।
2. बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है तथा न तो बाह्यमितव्ययतायें (external economies) है व न ही अमितव्ययताएं diseconomies है।
3. यहां पर कुछ कीमत स्थिरता है जो कि साधनों को पूर्ण रोजगार की ओर अग्रेषित करती है।
4. प्रत्येक देश में व्यक्तिगत स्वाद तथ्य साधन प्रचुरता समान है। अर्थात दो देशों के बीच भिन्नता संभव है। परिणाम स्वरूप व्यक्तिगत उदासीनता वक्र से सीधे समुदाय उदासीनता वक्र का निरूपण संभव है।
5. व्यक्तिगत उदासीनता वक्र ऋणात्मक ढाल युक्त तथा मूल बिन्दु के उन्नतोदर (Convex) होते हैं।
6. उत्पादन के साधनों की पूर्ति सभी देशों में स्थिर रहती है।
7. सामान्य रूप से वर्तमान लागतें मानी जाती हैं जो यह बतलाती है कि समाज के उत्पादन रूपान्तरण वक्र मूल बिन्दु के नतोदर (Concave) होते हैं।

उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर व्यापार उदासीनता वक्र का निरूपण स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है।

8.4.1 व्यापार उदासीनता वक्र का निरूपण (Construction of Trade Indifference Curve)

इसके लिये एक ऐसे धरातल की रचना करनी चाहिये जो चार चतुर्शों (Quardent) में दो आयाताकार अक्षों XOX' तथा YOY' से बना हो जैसा कि चित्र 8.5 में प्रदर्शित किया गया है।

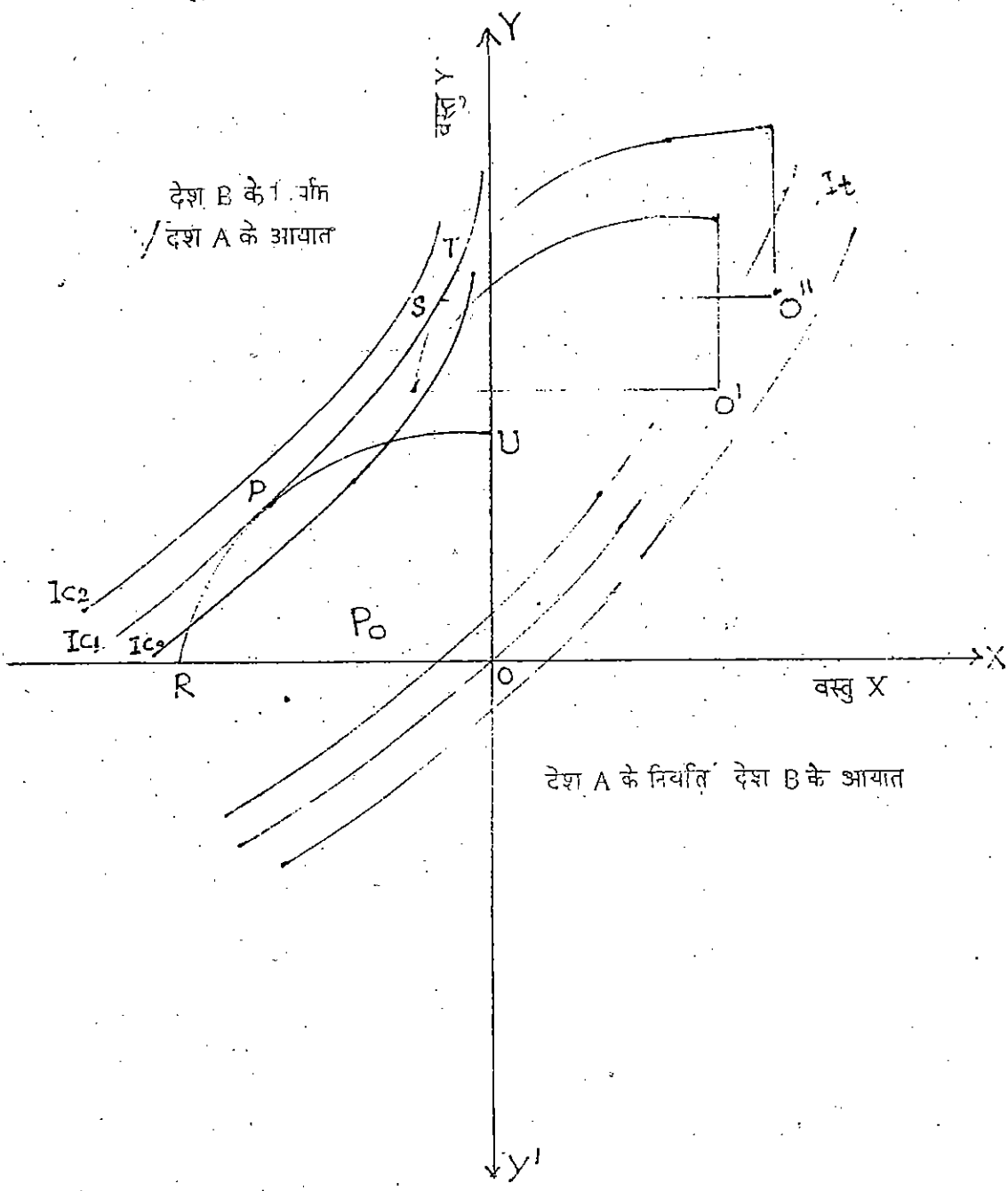

चित्र 8.5

उपर्युक्त चित्र 8.5 में क्षैतिज अक्ष पर वस्तु X की माप की जाती है। मूल बिन्दु से दायी ओर वस्तु X का निर्यात प्रदर्शित किया गया है तथा लम्बवत अक्ष पर वस्तु Y का माप किया जाता है। मूल बिन्दु से ऊपर की ओर वस्तु X के आयात को प्रदर्शित किया

गया है। अर्थात दूसरे शब्दों में अक्ष OX पर देश A के निर्यात तथा अक्ष OY पर देश A के आयात एवं अक्ष OX' पर देश A में वस्तु X का उपभोग तथा अक्ष OY पर देश A के वस्तु Y का उपभोग प्रदर्शित किया गया है। अतः स्पष्ट है कि खण्ड द्वितीय X'OY में समुदाय अधिमान वक्रों का एक कुलक Ic_0, Ic_1 तथा Ic_2 आदि द्वारा दिखलाया गया है। इसी खण्ड में उत्पादन का ब्लॉक P_o भी दिखलाया गया है जो समुदाय अधिमान वक्र Ic_1 को बिन्दु P_1 पर स्पर्श करता है। बिन्दु P व्यापार से पूर्व देश A के उत्पादन तथा उपभोग की दशा को चित्रित करता है। चित्र से स्पष्ट है कि इस स्थिति में वस्तु X की OR मात्रा तथा वस्तु Y की OU मात्रा का उत्पादन तथा उपभोग किया गया है।

अब उत्पादन खण्ड Po को इस भांति फिसलाना संभव है कि वह समुदाय अधिमान वक्र Ic_1 के स्पर्शज्या रहे तथा क्षैतिज अक्ष के समानान्तर रहे। चित्र 8.5 में स्पष्ट है कि उत्पादन खण्ड Po समुदाय अधिमान वक्र Ic_1 को P,S तथा T बिन्दु पर स्पर्श करता है। चूंकि उपभोक्ता अपने पूर्व अधिमान वक्र पर ही स्थिर रहता है। अतः वह वस्तुओं के किसी भी संयोग के प्रति उदासीन रहता है। इन तीनों बिन्दु P,S तथा T से सम्बन्धित उत्पादन खण्ड के क्रमशः तीन मूल बिन्दु O,O' हैं। ये तीनों बिन्दु आयात तथा निर्यात के उन विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करते हैं जिनसे उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्राप्त होती है। इन बिन्दुओं तथा इनके समान अन्य बिन्दुओं के पथ को व्यापार उदासीनता वक्र (It) कहते हैं। उत्पादन खण्ड, समुदाय अधिमान वक्र तथा उदासीनता वक्रों के सम्बन्धित बिन्दुओं पर उत्पादन में सीमान्त रूपान्तरण दर, उपभोग में सीमान्त प्रतिस्थापन दर और व्यापार में सीमान्त आयात निर्यात प्रतिस्थापन दर समान हैं। इसका अर्थ यह है कि समुदाय अधिमान वक्र का ढाल बिन्दु P,S व T पर उत्पादन सम्भावना वक्र के ढाल के बराबर है और समुदाय अधिमान वक्र, उत्पादन सम्भावना वक्र का P,S व T बिन्दुओं पर ढाल व्यापार अधिमान वक्र It के क्रमशः O,O' व O'' बिन्दुओं पर समान है। इस प्रकार हम Ic_0, Ic_1 व Ic_2 आदि समुदाय अधिमान वक्रों से सम्बन्धित व्यापार उदासीनता वक्र भी खींच सकते हैं।

इसी प्रकार देश B के लिये भी व्यापार उदासीनता वक्र प्राप्त किये जा सकते हैं। उनकी दिशा इनके विपरीत होगी तथा देश B के उपभोग व उत्पादन को चतुर्थ चर्तुश में प्रदर्शित किया जायेगा क्योंकि जो देश A के निर्यात हैं वे देश B के उपभोग हैं तथा जो देश A के आयात हैं वह देश B का उत्पादन हैं। परिणाम स्वरूप B देश के व्यापार उदासीनता वक्र प्रथम चर्तुशा में प्राप्त होंगे परन्तु वे क्षैतिज अक्ष के उन्नोतोदर (Convex) होंगे। चित्र में केवल देश A के व्यापार उदासीनता वक्र सरलता तथा स्वच्छता के कारण से प्रदर्शित किये गये हैं।

8.4.2 व्यापार अधिमान वक्रों द्वारा व्यापार देय वक्रों का निरूपण (Construction of Trade offer Curve from Trade Indifference Curve)

जैसा कि उपर्युक्त विश्लेषण में स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक समुदाय उदासीनता वक्र के तदनुरूपी व्यापार अधिमान वक्र होते हैं। अतः प्रत्येक समुदाय अधिमान वक्र मानचित्र के अनुरूपी व्यापार अधिमान वक्र पर पहुंच जाता है तो उसे व्यापार से लाभ होता है और व्यापार अधिमान वक्र समुदाय अधिमान वक्र के दिये हुए होने पर हम व्यापार देय

वक्र की रचना कर सकते हैं। जैसा कि निम्न चित्र 8.6 में स्पष्ट है।

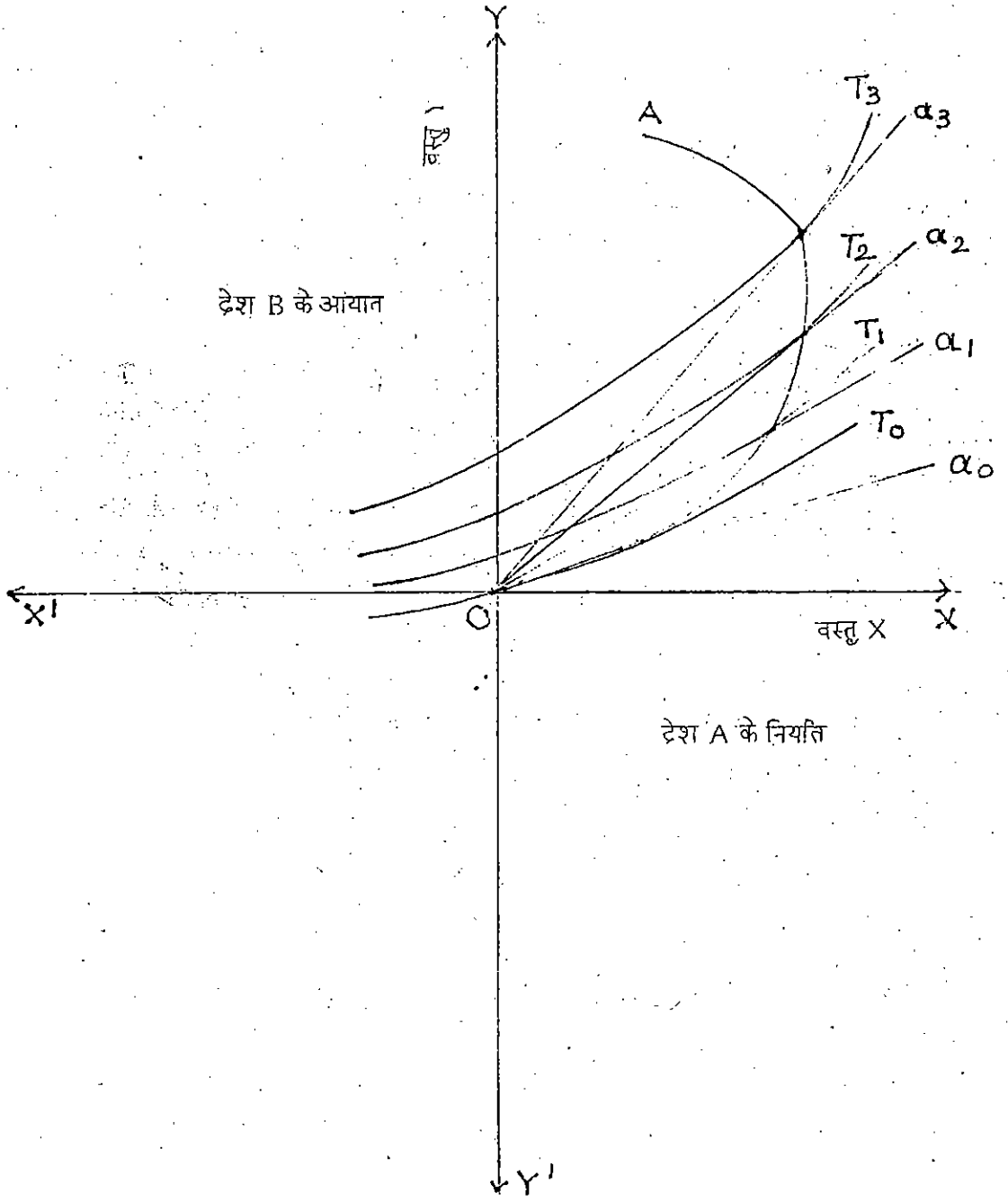

चित्र 8.6

उपर्युक्त चित्र संख्या 8.6 में देश A के व्यापार अधिमान वक्र को T_0, T_1, T_2 और T_3 आदि द्वारा तथा व्यापार शर्तों की रेखाओं को क्रमशः a_0, a_1, a_2 तथा a_3 द्वारा दिखलाया गया है जो मूल बिन्दु O से गुजरती है। जैसे-जैसे व्यापार शर्तों की रेखा अधिक ढालुवां होती जाती है देश A दिये हुये निर्यात के बदले अधिक आयात प्राप्त करता जाता है। उत्पादन और उपभोग से सामंजस्य स्थापित करने वाला आयात और निर्यात के अनुकूलतम संयोग का बिन्दु M_0, M_1, M_2 और M_3 है जहां पर व्यापार की शर्तें a_0, a_1, a_2 तथा a_3 क्रमशः T_0, T_1, T_2 व T_3 व्यापार उदासीनता वक्रों पर स्पर्श करती है। आयात निर्यात के कुशलतम संयोग के बिन्दुओं M_0, M_1, M_2 व M_3 आदि को मूल बिन्दु O से मिलाने वाली रेखा OA देश

A का व्यापार देय वक्र है। इसी प्रकार देश B के देय वक्र की रचना भी की जा सकती है। दोनों देशों के वक्र जिस बिन्दु पर एक दूसरे का छेदन करते हैं वहां संतुलन स्थापित होता है इस बिन्दु पर दोनों देशों के व्यापार उंदासीनता वक्र व्यापार शर्त रेखा के स्पर्शज्या होते हैं। जैसा कि निम्न चित्र 8.7 में दिखाया गया है।

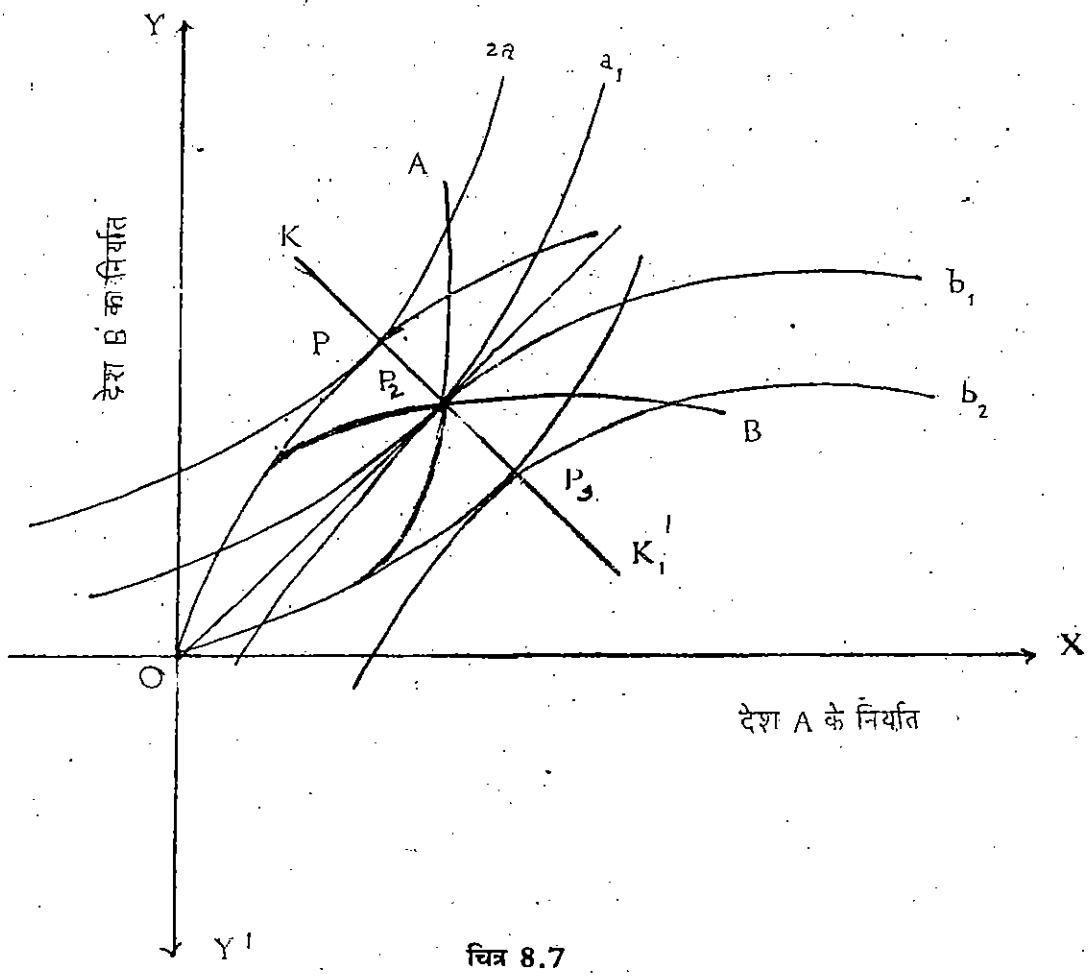

चित्र 8.7

चित्र 8.7 में देश A के व्यापार उदासीनता वक्र को a_0, a_1, a_2 देश B के व्यापार उदासीनता वक्र b_0, b_1, b_2 आदि द्वारा दिखलाया गया है। दोनों देशों के व्यापार अधिमान वक्रों की वक्रता एक दूसरे के विपरीत है। दोनों देशों के अधिमान वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं का छेदन करने वाली तथा मूल बिन्दु से खींची गई रेखा संतुलित व्यापार शर्त की रेखा कहलाती है। सन्तुलित व्यापार की शर्त की रेखा OP_2 को द्वारा दिखलाया गया है। इस व्यापार शर्त पर देश A का निर्यात उसके कुल आयात के समान है तथा दोनों देशों के व्यापार उदासीनता वक्रों के स्पर्श बिन्दु P_1, P_2 तथा P_3 को मिलाने वाली रेखा को आंकुचित वक्र कहते हैं।

8.5 व्यापार में सामान्य संतुलन (General Equilibrium in Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये आवश्यक विश्लेषणात्मक यन्त्रों जैसे उत्पादन सम्भावना वक्र, समुदाय अधिमान वक्र, व्यापार उदासीनता वक्र आकृति का विकास करने के बाद प्रो. मीड ने दो देशों के मध्य मुक्त व्यापार संतुलन बिना व्यापार शेष आधिक्य और न कोई घाटे को निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट रूप से समझाया

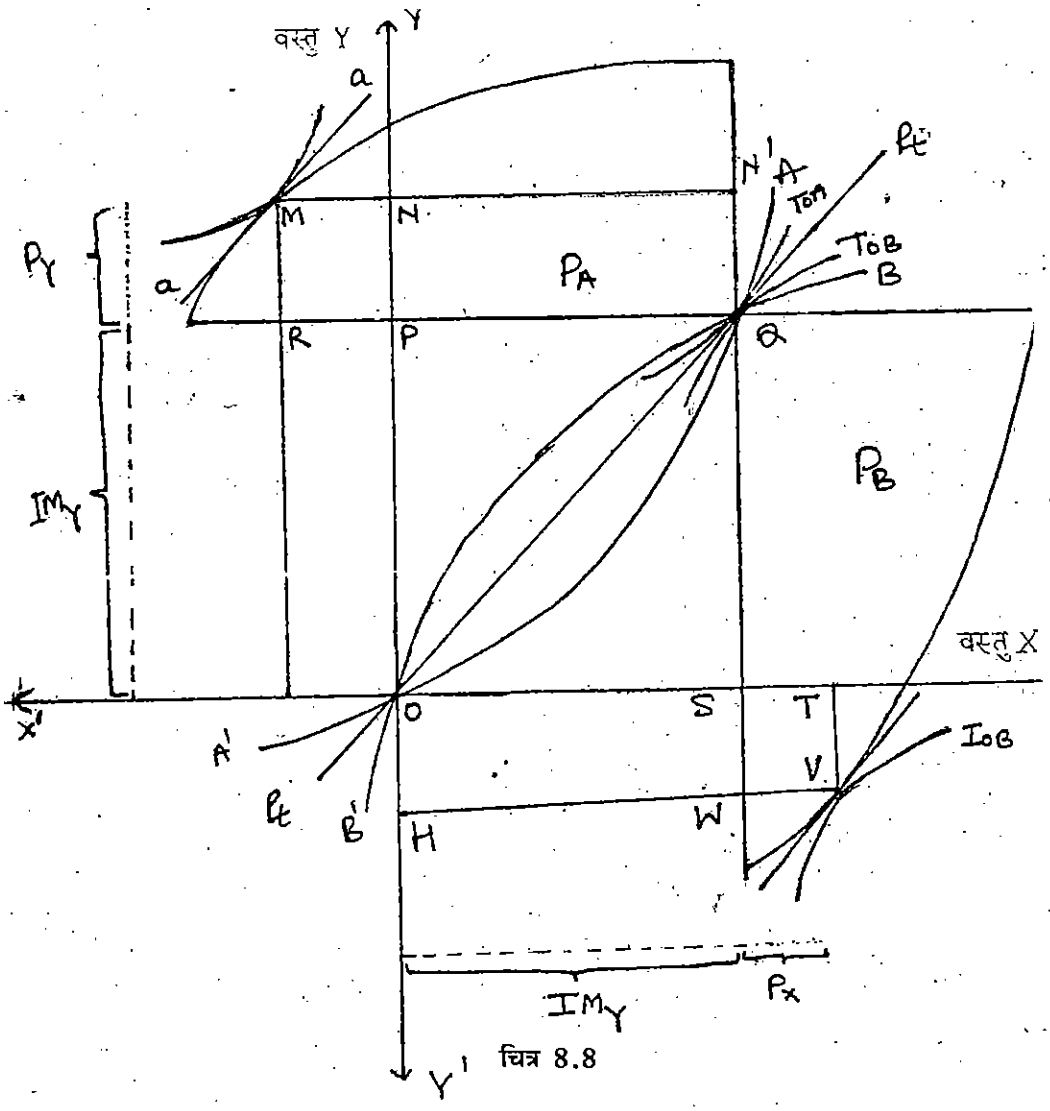

चित्र 8.8

चित्र 8.8 में अक्ष YOY' तथा XOX' क्रमशः वस्तु Y तथा वस्तु X की माप करते हैं। देश A में वस्तु Y का उपभोग जो घरेलू उत्पादन तथा देश B से आयात का योग है की OY माप अक्ष पर तथा वस्तु X के उपभोग जिसकी पूर्ति घरेलू उत्पादक द्वारा की जाती है OX' पर की जाती है। उपभोग बिन्दुओं से संगत करते हुए अनेक समुदाय अधिमान वक्र है एक ऐसा ही अधिमान वक्र Io_A द्वारा प्रदर्शित किया गया है। समुदाय अधिमान वक्र Io_A की स्थिति का निर्धारण करने के बाद उसके उत्पादन खण्ड Pa को इस प्रकार रखा गया है कि Io_A को स्पर्श करता है। देश A के निर्यात (वस्तु X) को क्षैतिज वक्र अक्ष पर तथा आयात (वस्तु Y) को लम्बवत अक्ष पर दिखलाते हुए उत्पादन खण्ड P_A को इस प्रकार फिसलाया जाता है कि उसका किनारा Q उच्चतम व्यापार उदासीनता वक्र To_A को स्पर्श करता है। अब हम अनेकों मूल्यानुपात की रेखायें मूल बिन्दु से खींचेंगे जो व्यापार उदासीनता वक्रों पर स्पर्श रेखायें हैं। मूल्यानुपात की रेखाओं और व्यापार उदासीनता वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं को मिलाने पर देश A का अर्पण वक्र OA प्राप्त होता है। इसी तकनीक का प्रयोग करके देश B का अर्पण वक्र भी प्राप्त कर सकते हैं जो OB द्वारा प्रदर्शित किया गया है। दोनों अर्पण वक्र एक दूसरे को Q बिन्दु पर काटते हैं। मूल बिन्दु O तथा Q को मिलाने वाली रेखा OQ संतुलित व्यापार शर्त की रेखा है। इस स्थिति में देश A में उपभोग का बिन्दु M है जहां पर कीमत रेखा aa का ढाल देश A के समुदाय अधिमान वक्र तथा देश A के उत्पादन खण्ड के ढाल के समान है और वह अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा PtPt के ढाल के समान है। यहां पर चित्र 8.8 से स्पष्ट

है कि देश A के वस्तु X का उपभोग OL अर्थात कुल उत्पादन के PQ भाग को निर्यात के लिये छोड़ दिया जायेगा। तथा वस्तु Y की कुल ON मात्रा का उपभोग होगा जिसमें से PN भाग देश में उत्पादित किया जायेगा और शेष OP देश B से आयात किया जायेगा। देश B में वस्तु X का कुल उपभोग OT होगा जिसमें से ST भाग देश B में उत्पादित होगा तथा OS भाग देश A से आयात किया जायेगा एवं वस्तु Y कुल उत्पादन QW होगा जिसमें से SW भाग देश B में उपभोग होगा तथा शेष QS का देश A को निर्यात किया जायेगा। देश B में उपभोग बिन्दु V पर समुदाय अधिमान वक्र Io_B तथा उत्पादन खण्ड का ढाल कीमत रेखा bb के ढाल के समान है तथा ये अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा Pt Pt के ढाल के समान है। अर्थात दोनों देश व्यापार सन्तुलन की अवस्था में है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ प्राप्त कर रहे हैं। अतः व्यापार की अनुपस्थिति से बेहतर स्थिति में हैं। यह हमारे दो व्यापारिक अर्थव्यवस्थाओं में पूर्ति तथा मांग की दी गई स्थिति में सामान्य संतुलन के अध्ययन का पूर्ण हल प्रस्तुत करते हैं।

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अर्पण वक्र से आप क्या समझते हैं। इनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साम्य कैसे प्राप्त होता है। क्या ये वक्र एक सामान्य साम्य को दर्शाते हैं?
2. व्यापार की जिस मात्रा पर दो देशों के अर्पण वक्र एक दूसरे को काटते हैं वहां केवल आयातक और निर्यातक ही नहीं अपितु दोनों देशों के उपभोक्ता और उत्पादक भी साम्यवस्था में होते हैं। स्पष्ट कीजिए।
3. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए।
   (अ) सामुदायिक अधिमान वक्र
   (ब) अर्पण वक्र
   (स) व्यापार अधिमान वक्र

8.7 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. Kindleberger, C.P. — **International Economics**, 1980
2. Kundu & Ray — **International Economics**, 1980
3. Ellsworth, P.T. — **The International Economy**, 1988
4. Mithani, D.M. — **Introduction to International Economics**, 1985
5. Wells — **International Economics**, 1978
6. Sodersten, B.O. — **International Economics**, Macmilliaon, 1985.

इकाई – 9

व्यापार तटस्थता-रेखायें तथा ऑफर-रेखायें

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 व्यापार तटस्थता-रेखायें

- 9.2.1 उत्पादन सम्भावनायें
- 9.2.2 परिवर्तन की सीमान्त-दर
- 9.2.3 व्यापार एवं प्राथमिकता
- 9.2.4 तटस्थता की रेखायें
- 9.2.5 तटस्थता की रेखायें तथा व्यापार
- 9.2.6 समरूप माँग तथा पूर्ति की विभिन्न अवस्थायें
- 9.2.7 समरूप पूर्ति तथा माँग की विभिन्न अवस्थायें

9.3 मार्शल-एजवर्थ ऑफर-रेखा

- 9.3.1 पारस्परिक माँग का नियम
- 9.3.2 ऑफर वक्र क्या है?
- 9.3.3 व्यापार के शर्तों का संतुलन
- 9.3.4 माँग तथा ऑफर वक्रों में परिवर्तन
- 9.3.5 ऑफर वक्र तथा पूर्ति में परिवर्तन

9.4 सारांश

9.5 शब्दावली

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

इस ईकाई के निम्नलिखित उद्देश्य हैं-

व्यापार के शर्त, व्यापार-तटस्थता की रेखाओं तथा ऑफर रेखाओं के विचारधारा की व्याख्या करना अंतर्राष्ट्रीय-व्यापार के क्षेत्र में इन विचारधाराओं के प्रयोग की व्याख्या करना।

प्राचीन सिद्धान्त की तुलना में व्यापार-तटस्थता की रेखाओं तथा ऑफर रेखाओं के लाभों की व्याख्या करना।

9.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाइयो में आपने व्यापार के प्राचीन सिद्धांत तथा मिल के पारस्परिक-माँग के सिद्धांत का अध्ययन किया। इस इकाई में हम लोग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में तटस्थता की रेखाओं के प्रयोग का अध्ययन करने जा रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सहित सभी आर्थिक क्रियाओं को नियंत्रित करने वाली दो आधारभूत शक्तियाँ हैं - पूर्ति तथा माँग। राष्ट्र व्यापार करते हैं क्योंकि व्यापार से उन्हें लाभ होता है। व्यापार के द्वारा देशों को मिलने वाली लाभ की मात्रा बहुत हद तक साधनों की कुशलता पर आधारित विशिष्टीकरण पर निर्भर करती है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण-विशिष्टीकरण की कल्पना की थी जिसका अर्थ यह था कि एक देश दूसरे देश से किसी वस्तु का आयात करता है तो उस वस्तु का उत्पादन उस देश में बिलकुल नहीं होता है। फिर भी, वास्तविक संसार में इस तरह का पूर्ण विशिष्टीकरण प्रायः असंभव है। हम व्यवहार में केवल अपूर्ण या अधूरे विशिष्टीकरण को पाते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक देश वस्तु का आयात करने के स्थान पर उसका-उत्पादन अपने देश में भी कर सकता है लेकिन उसका उत्पादन-व्यय अपेक्षाकृत ऊंचा होगा। इसकी व्याख्या कॉडफ्रिड हैबरलर द्वारा अवसर-व्यय-सिद्धांत के अंतर्गत किया गया है जिसे उत्पादन-सम्भावना रेखा के संदर्भ में देखा जा सकता है। इसका अध्ययन भी आपने पूर्व इकायों में किया है। इस इकाई में आप व्यापार-तटस्थता-रेखाओं का अध्ययन करेंगे जो माँग-पक्ष से व्यापार की व्याख्या करता है तथा ऑफर-रेखाओं का अध्ययन करेंगे जो पूर्ति-पक्ष से व्यापार की व्याख्या करता है।

9.2 व्यापार तटस्थता - रेखायें

आपने स्नातक-स्तर में तटस्थता वक्रों का अध्ययन किया है। जैसा कि आप पहले से ही जानते हैं - एक तटस्थता वक्र विभिन्न बिन्दुओं पर दो वस्तुओं के संयोग को प्रदर्शित करता है जिससे उपभोक्ता को समान संतुष्टी प्राप्त होती है। उपभोक्ता के स्थान पर यहां हम देश को रखते हैं तथा लगभग उसी तर्क को लागू करते हैं। जिस तथ्य का निरूपण किया जाता है उसकी व्याख्या उत्पादन-संभावना-रेखा तथा तटस्थता की मदद से विस्तृत रूप में की जाती है।

9.2.1. उत्पादन-संभावनायें

अपूर्ण विशिष्टीकरण की व्याख्या उत्पादन-सम्भावना-विवेचना की मदद से की जा सकती है। उत्पादन-सम्भावना का तात्पर्य वस्तुओं के उन विभिन्न संयोगों से है जिन्हें कोई देश दिये हुये संसाधनों के द्वारा उत्पादित कर सकता है। इसकी स्पष्ट व्याख्या अगली संभावना-रेखा

के द्वारा व्यय-वृद्धि स्थितियों के अंतर्गत किया जा सकता है। प्रत्येक देश के लिये उत्पादन - संभावनाओं की जाँच अलग-अलग की जा सकती है। हम लोग निम्नलिखित मान्यताओं पर आगे बढ़ेंगे -

1. साधन तथा वस्तु-बाजार में पूर्ण-प्रतियोगिता की स्थिति रहती है।
2. वस्तु का मूल्य सीमांत-उत्पादन व्यय के बराबर होता है।
3. साधन का मूल्य सीमांत-उत्पादकता के बराबर होता है।
4. पूर्ण-रोजगार-संतुलन रहता है।
5. साधनों की पूर्ति सीमित होती है।
6. व्यय-वृद्धि की स्थितियाँ रहती हैं।

इन मान्यताओं के आधार पर हम अमेरिका तथा ब्रिटेन नामक दो देशों को लेंगे तथा विभिन्न उत्पादन-संभावनाओं पर विचार करेंगे। चित्र 9.1 तथा 9.2 इसकी व्याख्या करते हैं-

चित्र 9.1

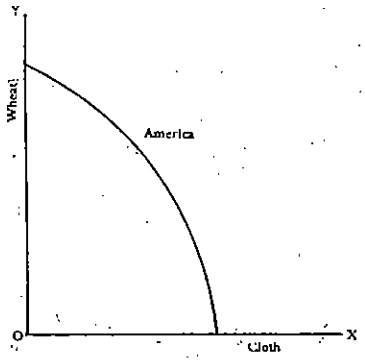

चित्र 9.2

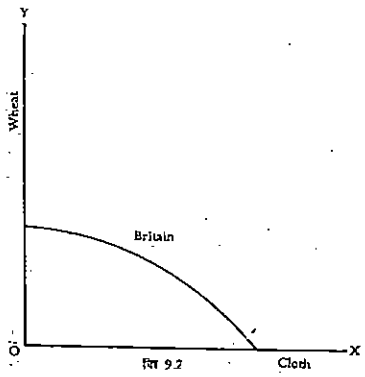

चित्र 9.2

9.2.2. परिवर्तन की सीमान्त-दर

परिवर्तन की सीमांत-दर वह दर है जिस पर एक वस्तु के उत्पादन को दूसरे वस्तु के उत्पादन की मात्रा में कटौती करके बढ़ाया जा सकता है। कारण यह है कि ऐसा मान लिया गया है कि साधनों की पूर्ति निश्चित रहती है तथा अर्थव्यवस्था पूर्ण-रोजगार की स्थिति में कार्यरत रहती है। (यदि आप इस संबंध में और विस्तृत जानना चाहते हैं तो इकाई-4 देखें) इसकी व्याख्या निम्नांकित चित्र संख्या 9.3 में दिखाई गयी है -

चित्र 9.3

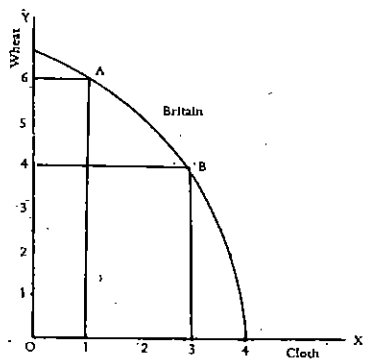

इस चित्र में देश संयोग अ से संयोग ब पर जाना चाहता है। ऐसा करने के लिये इसे गेहूँ की दो इकाईयों का त्याग करना पड़ता है जिससे यह कपड़े के दो और इकाईयों का उत्पादन कर सके, जैसाकि संयोग ब द्वारा दिखाया गया है। इस तरह परिवर्तन की सीमांत-दर गेहूँ की 2 इकाईयाँ कपड़े की 2 इकाईयों के बराबर है।

9.2.3. व्यापार एवं प्राथमिकता

हैबरलर द्वारा विवेचित उत्पादन-संभावना व्याख्या दो वस्तुओं के घरेलू मांग को महत्व नहीं देता है। इस दोष को दूर करने के लिये तटस्थता-वक्र विवेचना को व्यापार-सिद्धांत के संदर्भ में लागू किया गया है।

पूर्व की मान्यताओं के साथ-साथ हम लोग अब यह मानते हैं कि दो वस्तुओं के लिये प्रत्येक देश के लिये अपनी मांग एवं पूर्ति की स्थितियाँ होती हैं तथा मूल्य-ढांचे का नियन्त्रण घरेलू मांग एवं पूति की स्थितियों द्वारा होता है। इसलिये यह धारणा कि निम्न व्यय-मूल्य ढाँचे में पर्याप्त वस्तुओं का उत्पादन होगा, समाप्त हो जाती है। कारण यह है कि जब माँग एवं पूर्ति दोनों ऊंचे स्तर पर रहते हैं तब मूल्य भी ऊंचे स्तर पर रहेगा।

इसलिए जब दो देश व्यापार में संलग्न रहते हैं तो अकेले उत्पादन संभावनायें व्यापार-ढ़ाँचे को निश्चित नहीं करती। देशी बाजार के संतुलन अवस्था में प्रत्येक देश अपने उत्पादन-संभावना-वक्र पर एक ऐसे बिन्दु का चुनाव करता है जिस पर यह उत्पादन तथा उपभोग कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक देश दो वस्तुओं के उत्पादन एवं उपभोग के लिए अपना स्तर निर्धारित कर लेता है। दूसरे शब्दों में - प्रत्येक देश उपभोग की अपनी निजी प्राथमिकतायें रखता है जो उसके निर्यात तथा आयात को निर्धारित करेगी निम्नलिखित खण्ड में हम इसकी विवेचना करेंगे -

9.2.4: तटस्थता की रेखायें

ऊपर हमने देखा है कि व्यापार माँग के विभिन्न प्राथमिकताओं तथा पूर्ति-पक्ष के विभिन्न उत्पादन-संभावनाओं पर आधारित हो सकता है। तटस्थता-रेखाओं के तीन मुख्य गुण इस प्रकार हैं -

(अ) तटस्थता की रेखायें सदैव ऊपर से नीचे, बायें से दायें ओर झुकी रहती हैं।

(ब) वे सदैव मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर (Convex) होती हैं।

(स) कोई भी दो तटस्थता की रेखायें एक दूसरे को नहीं काट सकतीं।

अब चित्र 9.4 को देखें तथा इन गुणों का निरीक्षण करें

चित्र 9.4

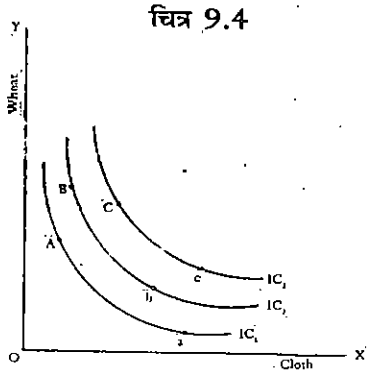

तटस्थता वक्र कपड़ा एवं गेहूँ के विभिन्न संयोगों को अभिव्यक्त करते है। अतः किसी वक्र के कोई दो बिन्दु, जैसे IC_1 पर A तथा a, IC_2 पर B तथा b तथा IC_3 पर C एवं c, समान संतुष्टि के स्तर को अभिव्यक्त करते है। यद्यपि प्रत्येक बिन्दु पर संयोगों में अन्तर रहता है। यह ध्यान देने की बात है कि IC_2 की कोई भी बिन्दु IC_1 के किसी भी बिन्दु से ऊंचे संतोष के स्तर को अभिव्यक्त करता है। इसी तरह IC_3 का कोई भी बिन्दु IC_2 के किसी भी बिन्दु से ऊंचे संतोष की मात्रा को परिलक्षित करती है। जब व्यापार में इसका प्रयोग किया जाता है तो तटस्थता वक्रों को समुदाय तटस्थता-वक्र कहते है। समुदाय-तटस्थता-वक्र यह परिलक्षित करते है कि समुदाय दो वस्तुओं के बीच चुनाव करता है।

9.2.5: तटस्थता वक्र तथा व्यापार

इस संदर्भ में दो मौलिक प्रश्न उठते हैं, वे हैं -

(अ) उत्पादन-संभावना वक्र पर किस बिन्दु को कोई देश अपना संतुलन-बिन्दु चुनता है।

(ब) व्यापार में भाग लेने वाले देशों को क्या लाभ मिलता है?

समुदाय तटस्थता वक्र तथा उत्पादन-संभावना रेखा इन प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करती है।

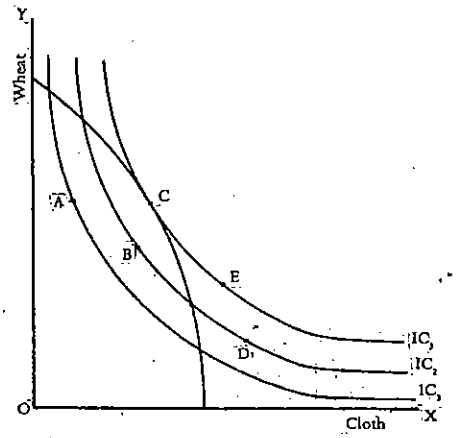

चित्र 9.5

यह स्पष्ट है कि दो वस्तुओं के संयोग द्वारा, जैसे कपड़ा एवं गेहूँ से, देश अधिकतम संभावित संतोष के स्तर को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। चित्र 9.5 में देश IC_3 पर A तथा B के ऊपर C संयोग का चुनाव करता है। विद्यमान उत्पादन-संभावना के अंतर्गत संयोग D तथा E उसकी पहुंच से परे है। इसकी प्राप्ति चित्र 9.5 में दिखाये गये उत्पादन-संभावना वक्र तथा समुदाय-तटस्थता-वक्र के स्पर्श-बिन्दु द्वारा होता है।

दूसरा प्रश्न व्यापार द्वारा लाभ से संबंधित है। प्राचीन-सिद्धांत दोनों देशों के घरेलू मूल्य-अनुपातों तथा कैसे दोनों देशों द्वारा उनका वहन किया जाता है, उनके अन्तर के रूप में इसकी व्याख्या करता है। इसके अतिरिक्त यह ऐसा मान कर चलता है कि लाभ का भाग दूसरे देश में वस्तु के माँग पर निर्भर करता है। तो भी यह विवेचना अपरिस्कृत तथा अमापशील है।

तटस्थता-वक्र के रूप में व्यापार द्वारा किसी देश को हम तब लाभान्वित मान सकते हैं जब व्यापार इसे ऊँचें तटस्थता वक्र पर पहुंचाने में समर्थ हो जाता है। अनुकूल-वस्तु के

विशिष्टीकरण की मात्रा में वृद्धि लाकर व्यापार द्वारा कोई देश ऊंची तटस्थता रेखा पर पहुंचने में समर्थ होता है। इसकी विवेचना चित्र 9.6 में की गयी है-

चित्र 9.6

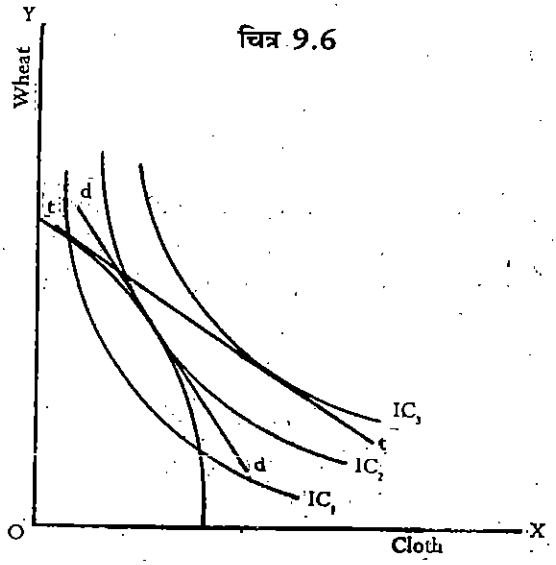

चित्र 9.6 एक देश **के उत्पादन-संभावनाओं को** दर्शाती है जो गेहूँ तथा कपड़े का उत्पादन करता है तथा इसकी **तटस्थता-रेखायें प्राथमिकतायें** दिखलाती हैं। सरल-रेखा dd, जो उत्पादन संभावना रेखा को स्पर्श करती है। स्पर्श बिन्दु पर घरेलू परिवर्तन के दर को परिलक्षित करती है। यह व्यापार के पूर्व **विद्यमान मूल्य-दर भी** है। सरल-रेखा tt व्यापार के बाद की रेखा है जो देश के ऊँची तटस्थता **की रेखा** IC_2 **पर ले जाती** है। दोनों तटस्थता की रेखाओं का अन्तर अर्थात पूर्व व्यापार तथा **व्यापार के बाद की रेखा** का अन्तर, व्यापार के फलस्वरूप देश को प्राप्त होने वाले लाभ को **दर्शाती है।**

9.2.6: समरूप माँग तथा पूर्ति की विभिन्न स्थितियाँ

इस भाग में हम अमेरिका तथा ब्रिटेन दोनों देशों की व्यापार के पूर्व तथा बाद की स्थितियों को यह मानते हुये देखेंगे कि उनकी समरूप माँग लेकिन विभिन्न पूर्ति की स्थितियाँ हैं। समरूप माँग का आधार यह है कि दोनों देशों की तटस्थता-रेखायें बिल्कुल एक समान हैं तथा विभिन्न पूर्ति का अर्थ हैं कि उनकी उत्पादन संभावनायें भिन्न-भिन्न हैं। चित्र 9.7 इसकी विवेचना करती है।

चित्र 9.7

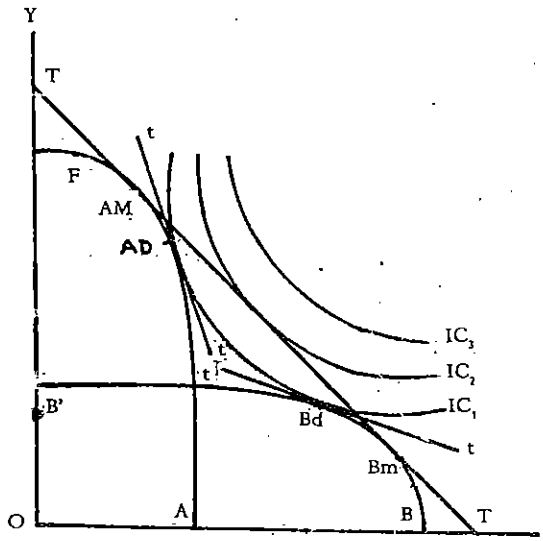

AA — अमेरिका की उत्पादन-संभावनायें

BB — ब्रिटेन की उत्पादन-संभावनायें

Ad — अमेरिका के व्यापार का पूर्ण-संतुलन

Bd — ब्रिटेन के व्यापार का पूर्ण-संतुलन

at — अमेरिका की घरेलू व्यापार-रेखा या घरेलू विनिमय-दर

bt — ब्रिटेन की घरेलू व्यापार-रेखा या घरेलू विनिमय-दर

Ic — अमेरिका तथा ब्रिटेन की समरूप मांगें

TT — अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार रेखा अर्थात अमेरिका तथा ब्रिटेन के बीच व्यापार

Am — अमेरिका का व्यापार के बाद का संतुलन

Bm — ब्रिटेन का व्यापार के बाद का संतुलन

यह दृष्टव्य है कि व्यापार के पूर्व अमेरिका तथा ब्रिटेन का घरेलू-संतुलन क्रमशः at तथा bt पर है। व्यापार के पूर्व Ad तथा Bd दोनों एक ही तटस्थता की रेखा IC_1 पर दो विभिन्न स्पर्श-बिन्दु हैं। जब दोनों देशों के बीच TT अंतर्राष्ट्रीय व्यापार-रेखा के माध्यम से व्यापार होता है तो दोनों देश अपना-अपना घरेलू-संतुलन क्रमशः Am तथा Bm पर परिवर्तित करते हुये IC_2 पर पहुंच जाते हैं जो IC_1 से ऊँचा है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि यदि समरूप माँग तथा विभिन्न पूर्ति-अवस्थाओं में दो देश एक दूसरे से व्यापार करते हैं तो उन्हें आपसी लाभ होता है।

9.2.7: समरूप पूर्ति तथा मांग की विभिन्न अवस्थाऐं

अब हम उस स्थिति की विवेचना करेंगे जिसमें दो देशों की समरूप पूर्ति लेकिन विभिन्न माँग की स्थितियाँ होती हैं। चित्र 9.8 इसकी विवेचना करती है। अमेरिका तथा ब्रिटेन-दोनों की पूर्ति की स्थितियाँ पूर्णतः समान हैं जिन्हें समान उत्पादन-संभावना रेखा से दिखाया गया है। लेकिन अमेरिका तथा ब्रिटेन की तटस्थता-रेखायें व्यापार के पूर्व दोनों वस्तुओं के माँग के विभिन्न स्तरों को दर्शाते हुए विभिन्न बिन्दुओं को स्पर्श करती है। अब निम्नलिखित चित्र 9.8 को देखें -

चित्र 9.8

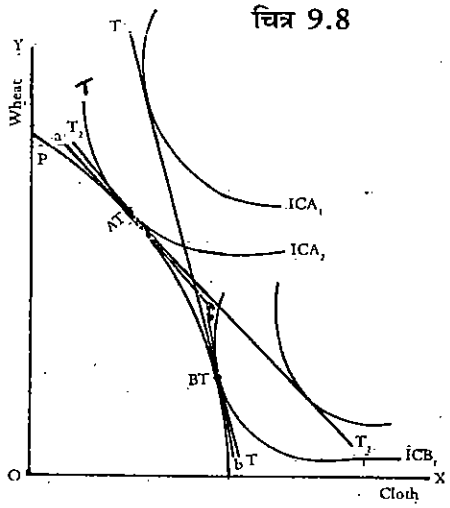

PP — अमेरिका तथा ब्रिटेन की उत्पादन-संभावना वक्र

IC_A — अमेरिका की तटस्थता रेखा

IC_B — ब्रिटेन की तटस्थता रेखा

aa — अमेरिका का घरेलू विनिमय-दर

bb — ब्रिटेन का घरेलू विनिमय-दर

At — अमेरिका का व्यापार के पूर्व संतुलन

Bt — ब्रिटेन का व्यापार के पूर्व संतुलन

TT_1 — पूरी लाभदायक अमेरिका के लिये नयी व्यापार-रेखा

TT_2 — पूरी लाभदायक ब्रिटेन के लिये नयी व्यापार-रेखा

यह उल्लेखनीय है कि व्यापार अमेरिका या ब्रिटेन को ऊँचे तटस्थता-रेखा पर पहुंचने में समर्थ बनाता है।

9.3 मार्शल-एजवर्थ ऑफर-रेखा

पिछले भाग में हमने दो देशों के बीच व्यापार के आधार देशों को प्राप्त होने वाले लाभ तथा व्यापार के ढाँचे को नियंत्रित करने वाले मांग एवं पूर्ति की स्थितियों को देखा है। इस भाग में हम ऑफर वक्र पर प्रकाश डालेंगे जो व्यापार के शर्तों को स्पष्ट करता हैं अर्थात् देश का निर्यात जिस विनिमय-दर पर आयात के लिये निर्धारित होता है।

9.3.1: पारस्परिक माँग का नियम

जे.एस. मिल ने सर्वप्रथम व्यापार के शर्तों के समस्या का पारस्परिक माँग के संदर्भ में क्रमबद्ध रूप में विश्लेषण करने का प्रयास किया था। लेकिन वे इस विचार को तालिकाबद्ध रूप देने से अधिक कुछ नहीं कर सके। मार्शल तथा एजवर्थ ने व्यापार के शर्तों को चित्र के रूप में अभिव्यक्ति दी है। इसे मार्शल-एजवर्थ ऑफर वक्र या सामान्यतः ऑफर वक्र के रूप में जाना जाता है।

9.3.2: ऑफर वक्र क्या है?

यदि तुलनात्मक लागत का सिद्धांत यह बताता है कि दो देशों के बीच किस वस्तु का व्यापार किया जाये तो पारस्परिक माँग का सिद्धांत बताता है कि दो देशों द्वारा विभिन्न मूल्यों पर कितनी मात्रा दी जाये। पहले जैसा हम दो देशों - अमेरिका तथा ब्रिटेन, दो वस्तुओं गेहूँ तथा कपड़ा को इस मान्यता के साथ लेंगे कि दोनों देशों में अपूर्ण विशिष्टीकरण है। सामान्यतः कोई भी देश जितना देता है उससे अधिक उसके बदले वापस पाना चाहता है। दूसरे शब्दों में वह कम निर्यात के बदले अधिक आयात चाहता है और इस प्रकार अपने व्यापार के शर्तों को अनुकूल बनाये रखना चाहता है। वास्तव में यह दोनों देशों में वस्तुओं के संबद्ध माँग की गहनता तथा उनकी पूर्ति करने की उनकी क्षमता पर निर्भर करती है।

इसकी विवेचना हम ब्रिटेन के उदाहरण से करेंगे जो कपड़े का उत्पादन तथा निर्यात अमेरिका से गेहूँ के आयात के संदर्भ में करता है। चित्र 9.9 ब्रिटेन के व्यापार के शर्तों

तथा उसके ऑफर वक्र को दिखाता है।

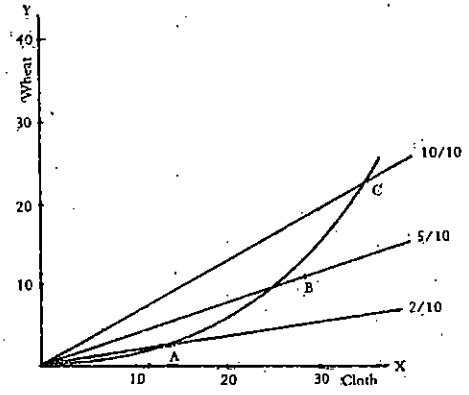

चित्र 9.9

माँग का सरल नियम यह बताता है कि ऊँचे मूल्यों की अपेक्षा निम्न मूल्यों पर अधिक खरीद की जाती है। व्यापार की शर्तों के पीछे भी यही तर्क काम करती है। बिन्दु A,B और C विभिन्न व्यापार-शर्तों को दर्शाते हैं तथा बिन्दु OA व्यापार के विभिन्न शर्तों पर ब्रिटेन द्वारा दिये जाने वाले मात्रा को दिखाता है। यह निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है -

बिन्दु	व्यापार की शर्तें	अमेरिकी गेहूँ (W) के विरुद्ध ब्रिटेन द्वारा दिया जाने वाला कपड़ा(C)
A	2/10	2w के लिये 10C
B	5/10	10w के लिये 20C
C	10/10	30w के लिये 30C

दृष्टव्य है कि व्यापार-शर्तें कपड़े के हित में (अनुकूल) जाती हैं जिससे ब्रिटेन गेहूं के विनिमय के लिये अधिक कपड़े का निर्यात करने के लिये तैयार है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोई देश अनुकूल व्यापार-शर्तों के अंतर्गत अधिक निर्यात करने की चेष्टा करता है। व्यापार-शर्त 2w:10C रहने पर ब्रिटेन कपड़े के केवल 10 इकाई का निर्यात करना चाहता है। जब यह मात्रा बढ़कर 5w:10C हो जाता है तो वह कपड़े की 20 इकाई का तथा 10w:10C हो जाने पर गेहूं के 30 इकाई के लिये कपड़े के 30 इकाई का निर्यात करने को तैयार हो जाता है। दूसरे देश, अर्थात् अमेरिका के लिये भी यही तर्क लागू हो सकता है।

अमेरिका की व्यापार-शर्तें तथा ऑफर-वक्र चित्र 9.10 में दिखाया गया है-

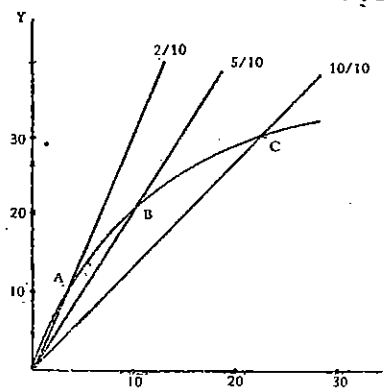

चित्र 9.10

बिन्दु	अमेरिका की व्यापार शर्तें	अंग्रेजी कपड़े (C) के विरुद्ध अमेरिकन गेहूँ (W) का देय
A	2/10	2C के लिये 10w
B	5/10	10C के लिये 20w
C	10/10	30C के लिये 30w

9.3.3: व्यापार के शर्तों का संतुलन

ऊपर दी गयी दोनों तालिकायें दिखलाती हैं कि अमेरिका तथा ब्रिटेन का देय केवल C बिन्दु पर संतुलन की अवस्था में हैं। व्यापार के इस शर्त पर, जो गेहूँ तथा कपड़े के 1:1 अनुपात को दर्शाती है, ब्रिटेन गेहूँ के 30 इकाईयों के बदले कपड़े के 30 इकाईयों को देने को तैयार है। इसी तरह अमेरिका भी कपड़े के 30 इकाईयों के बदले गेहूँ के 30 इकाईयों का विनिमय करने के लिये तैयार है। इस तरह दोनों देश C बिन्दु पर व्यापार-शर्तों के संतुलन पर हैं। चित्र 9.11 के C बिन्दु पर व्यापार-शर्तों के संतुलन की विवेचना करता है जहां दो ऑफर-वक्र व्यापार-शर्तों का 10:10 दिखाते हुये मिलती हैं -

चित्र 9.11

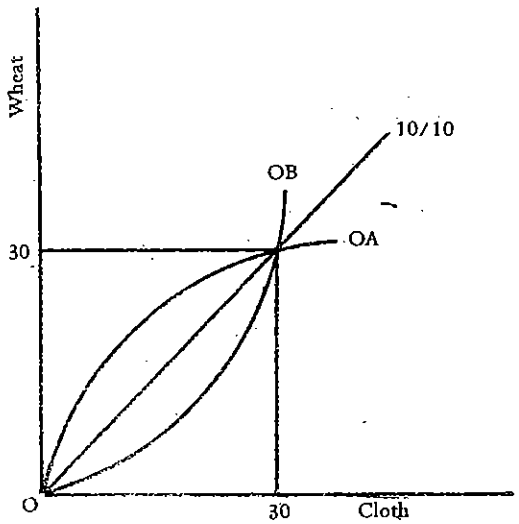

इसके अतिरिक्त दूसरे व्यापार शर्त का अर्थ यह होगा कि दोनों देशों में से एक के लिये यह प्रतिकूल होगा। इस तरह, माँग तथा पूर्ति की अवस्थाओं में परिवर्तन से ऑफर वक्र तथा व्यापार-शर्तों का संतुलन C बिन्दु से हटकर अन्यत्र हो सकता है। इसकी विवेचना निम्नांकित भाग में की गयी है।

9.3.4: माँग तथा ऑफर वक्रों में परिवर्तन

हम मान लें कि कपड़े के लिये ब्रिटेन की माँग बढ़ रही है। इसका अर्थ यह है कि ब्रिटेन को घरेलू उपयोग के लिये और कपड़े चाहिये इसलिये वह कपड़े की केवल छोटी मात्रा का निर्यात करने को तैयार है। हम यह भी मान कर चलें कि अमेरिकी-गेहूँ की पूर्ति लोचदार है। ब्रिटेन के ऑफर-वक्र को ऊपर की तरफ मोड़ देने से यह संभव हो सकता है। इसे निम्नांकित चित्र 9.12 में दिखाया गया है -

चित्र 9.12

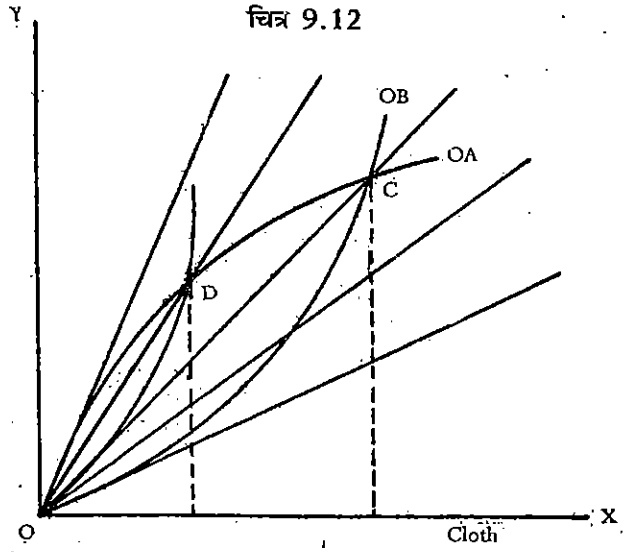

यह मानते हुए कि अमेरिकी गेहूँ की पूर्ति पूर्णतः लोचदार है, नया संतुलन का बिन्दु D होगा जो व्यापार-शर्त 10W:5C को दर्शाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कपड़े के लिये घरेलू-माँग में वृद्धि होने के कारण ब्रिटेन के कपड़े की पूर्ति में कमी आई है।

9.3.5: ऑफर वक्र तथा पूर्ति में परिवर्तन

इस भाग में हम ऑफर-वक्र पर पूर्ति में परिवर्तनों के प्रभावों को देखेंगे। हम अमेरिका को लेते हुये यह मानेंगे कि कृषि-समृद्धि के कारण अमेरिकी गेहूँ की पूर्ति में वृद्धि हुई है। यह ऑफर वक्र को एक नये संतुलन बिन्दु OA1 पर पहुंचा देगा, जैसा कि चित्र 9.13 में दिखाया गया है। इस परिवर्तन का अर्थ यह होगा कि अब अमेरिका प्रत्येक गज कपड़े के लिए और अधिक गेहूँ देने में समर्थ है। यह भी कहा जा सकता है कि अमेरिका गेहूँ के किसी भी मात्रा के बदले कपड़े की कम मात्रा स्वीकार करने के लिये तैयार है।

दूसरा प्रभाव यह है कि ब्रिटेन से अतिरिक्त कपड़े के विनिमय के लिये अमेरिकी गेहूँ के बढ़े हुये मात्रा की पूर्ति की जाती है जिससे व्यापार की मात्रा में वृद्धि होती है।

चित्र 9.13

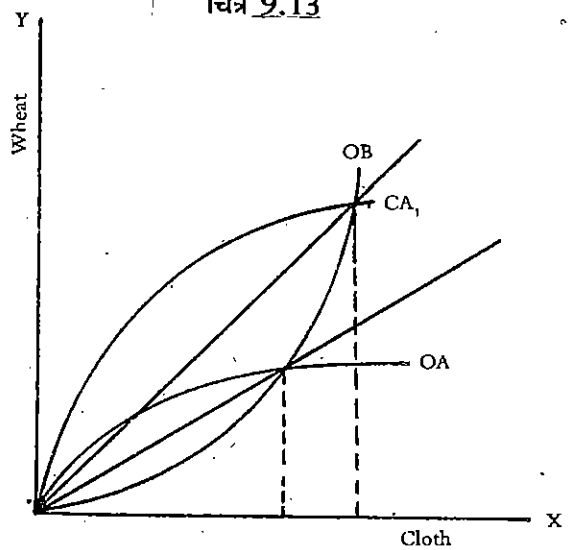

इस तरह ऑफर वक्र के माध्यम से व्यापार-शर्तों की व्याख्या से व्यापार-शर्तों पर माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन के प्रभाव तथा व्यापार की मात्रा को समझने में मदद मिलती है।

9.4 सारांश

संसाधनों में अंतर के कारण किन्हीं दो देशों के बीच व्यापार का उदय होता है। इससे व्यय-ढांचे में अंतर आ जाता है। व्यापार के द्वारा तुलनात्मक व्यय के अंतर के आधार पर देश लाभान्वित हो सकते हैं।

किसी देश को व्यापार में सहयोग करने की क्षमता उसके उत्पादन-संभावनाओं द्वारा निर्धारित होता है। बढ़ते हुए उत्पादन व्यय वाले देश की प्रवृति व्यापार में शामिल होने की अपेक्षा विशिष्टीकरण करने की कम रहती है।

किसी देश के घरेलू संतुलन-अवस्था तथा व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा के निर्धारण के लिये तटस्थता की रेखायें उपयोगी होती हैं। दिये हुये व्यापार-शर्तों के अन्तर्गत किसी देश का व्यापारिक-ढाँचा घरेलू बाजार में माँग एवं पूर्ति की स्थितियों पर निर्भर करती है। यदि उनके माँग तथा पूर्ति की स्थितियों में अंतर हो तो देश एक-दूसरे के साथ व्यापार कर सकते हैं।

ऑफर-वक्र व्यापार में संलग्न देश के लिये ग्राह्य दो वस्तुओं के सभी संभव-संयोगों को प्रस्तुत करता है। व्यापार के शर्तों के संतुलन का निर्धारण व्यापार में संलग्न दोनों देशों के ऑफर-वक्र के विच्छेदन द्वारा होता है।

1. व्यापार द्वारा देशों को प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा संसाधनों की कुशलता पर आधारित विशिष्टीकरण की मात्रा पर निर्भर करती है।

2. दिये हुये संसाधनों द्वारा कोई देश दो वस्तुओं के जिन विभिन्न संयोगों का उत्पादन कर सकता है उन्हें उत्पादन-संभावना कहते हैं।

3. घरेलू संतुलन में प्रत्येक देश अपने उत्पादन-संभावना वक्र पर एक बिन्दु का चुनाव करता है जिसपर वह उत्पादन एवं उपभोग करेगा।

4. यदि व्यापार किसी देश को ऊंचे तटस्थता वक्र तक पहुंचने में समर्थ बनाता है तो वह देश व्यापार से लाभान्वित माना जाता है।

5. ऑफर-वक्र व्यापार के विभिन्न शर्तों पर निर्यात एवं आयात के विभिन्न मात्राओं के बीच किसी देश के विकल्पों को प्रस्तुत करता है। एक तरह से यह माँग के सरल नियम पर आधारित है। जैसे यदि व्यापार की शर्तों में सुधार आता है (अथार्त् न्यून-निर्यात के बदले अधिक-आयात प्राप्त होने लगता है) तो देश अधिक मात्रा में निर्यात करने की चेष्टा करेगा।

6. जब दो देशों के ऑफर वक्र मिलते तथा एक दूसरे को काटते हैं तब दो देशों के बीच व्यापार के शर्तों के संतुलन की प्राप्ति होती है।

9.5 शब्दावली

घरेलू मूल्य-अनुपात - इसका अर्थ वह अनुपात है जिस पर घरेलू-बाज़ार में दो वस्तुओं का विनिमय होता है। औटार्की (Autorky) - घरेलू बाजार में जब कोई देश माँग एवं पूर्ति के संदर्भ में संतुलन की प्राप्ति करता है तो इसे औटार्की कहते हैं।

व्यापार तटस्थता-रेखायें - सामान्य तटस्थता-रेखाओं का प्रयोग जब अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिये किया जाता है तो उन्हें व्यापार तटस्थता रेखायें कहते हैं।

उत्पादन-सम्भावनायें - उपलब्ध संसाधनों की मदद से दो वस्तुओं के विभिन्न संभावित संयोगों के उत्पादन को उत्पादन संभावना कहते हैं।

परिवर्तन की सीमांत दर - यह वह दर है जिसपर कोई देश साधनों को स्थानान्तरित करके एक वस्तु के उत्पादन को बढ़ा या घटा सकता है। सामान्यतः उत्पादन संभावना वक्र के परिवर्तन की सीमांत दर बढ़ते हुये व्यय-स्थितियों को प्रकट करता है।

व्यापार की शर्तें - यह वह अनुपात है जिस पर किसी देश के निर्यात का विनिमय आयात से किया जाता है।

ऑफर वक्र - ऑफर-वक्र विभिन्न व्यापार-शर्तों पर किसी देश द्वारा निर्यात एवं आयात किये गये दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों का समूहीकरण है।

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. फ्रेडरिक : 'इंटरनेशनल इकॉनोमिक्स - कंसेप्ट्स एन्ड इस्सूज' मेक ग्रा हिल, कोगाकुशा लि. न्यू देहली 1974.
2. चार्ल्स पी. किंडलबर्जर : 'इंटरनेशनल इकॉनोमिक्स' रिचार्ड डी. इरविन, यू.एस. ए. 1976.
3. गौटफ्रेड हैबरलर : 'द थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल ट्रेड' मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1950.

इकाई – 10

आर्थिक विस्तार और व्यापार

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 उत्पादन प्रभाव और व्यापार

10.2.1 साधन देनों के उत्पादन प्रभाव

10.2.2 तकनीकी प्रगति के उत्पादन प्रभाव

10.3 उपभोग प्रभाव और व्यापार

10.4 कुल मिलाकर आर्थिक विस्तार के व्यापार पर प्रभाव

10.5 प्रावैगिक साधन, व्यापार और विकास

10.6 सारांश

10.7 शब्दावली

10.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.9 अभ्यास प्रगति की जाँच के लिये उत्तर

10.0 उद्देश्य

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का परम्परागत सिद्धान्त एक प्राचीन सिद्धान्त है जोकि प्रकृति से विशुद्ध रूप से स्थैतिक है। आर्थिक विकास और व्यापार का सिद्धान्त सिर्फ हाल के वर्षों में ही विकसित किया गया है। स्थैतिक विश्व का अस्तित्व कभी नहीं होता है। प्रावैगिक साधन एक विकासशील राष्ट्र के व्यापार स्वरूप को अधिकता से प्रभावित करते हैं। इस इकाई का उद्देश्य रूचियों में आन्तरिक परिवर्तनों, साधन देनों और प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के मध्य स्वतंत्रता की पूर्ण समझ की ओर अग्रसर होना हैं। इस इकाई के अध्ययन के बाद, आप

- आर्थिक विस्तार, साधन देनें, तकनीकी प्रगति की परिभाषा दे सकेंगे।
- व्यापार का वर्गीकरण निर्यात-अभिनत, अति-निर्यात-अभिनत, तटस्थता, आयात-अभिनत, अति आयात-अभिनत में करने के योग्य हो जाएंगे।
- आर्थिक विस्तार के उत्पादन प्रभाव और उपभोग प्रभाव को व्यक्त करने, और
- अल्प-विकसित देशों के लिये प्रावैगिक साधन, व्यापार और विकास का वर्णन करने में समर्थ हो सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम विस्तृत विवादों पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करते हैं। किसी व्यक्ति को संदेह होता है कि व्यापार सिद्धान्त का संस्थापक वर्णन, जो स्थैतिक स्थितियों में मान्य होता है, वह उस विश्व में भी लागू होता है जो आवश्यक रूप से प्रावैगिक है। समय गुजरने के साथ-साथ रुचियाँ परिवर्तित होती हैं, प्रौद्योगिक नवाचार (नई पद्धतियाँ) उत्पादन फलन में नई तकनीकें प्रवृत्त करती हैं, साधन पूर्तियाँ भी प्रत्येक देश में बदलती हैं। ये सभी शक्तियाँ, या जिन्हें प्रावैगिक साधन कहना अधिक उपयुक्त है, किसी देश के व्यापार आकार को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं।

आर्थिक विस्तार का प्रभाव किसी देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना होता है या चित्र की भाषा में मानें, तो उसका प्रभाव देश के उत्पादन सम्भावना वक्र (PPC) में बाहर और ऊपर की ओर विवर्तन करना होता है। ठीक वैसा ही आर्थिक विस्तार या विकास का प्रभाव आय में वृद्धि या रुचियाँ इत्यादि में परिवर्तन के कारण उपभोग वक्र या आकार के परिवर्तन में प्रतिम्बिबित होता है। आर्थिक विस्तार का कुल प्रभाव, जो इन दोनों वक्रों में विवर्तन का परिणाम होता है (पूर्ति पक्ष में उत्पादन सम्भावना वक्र और मांग पक्ष में तटस्थता वक्र द्वारा प्रदर्शित)। अन्य शब्दों में, उत्पादन व उपभोग के विवर्तनों का संयुक्त विशुद्ध प्रभाव विकासशील देश के अर्पण वक्र में विवर्तन की दिशा और विवर्तन की सीमा निर्धारित करेंगे और उसके अनुसार व्यापार की मात्रा और बनावट में परिवर्तन होंगे।

उत्पादन में पैमाने के स्थिर प्रतिफल, पूर्ण प्रतियोगिता की शर्तें, और अपरिवर्तित व्यापार की शर्त की मान्यता लेते हुये आपको इस इकाई में दो-देश, दो-साधन, दो-वस्तुओं के प्रमाणित निदर्श (Model) से परिचित कराया जायेगा।

10.2 आर्थिक विस्तार के उत्पादन प्रभाव और व्यापार

आर्थिक विस्तार के उत्पादन प्रभावों पर विचार करने में, हम उसे दो भागों में विभाजित करते हैं : प्रथम, साधन देनें जो उत्पादन फलन में बिना परिवर्तन करते हुये आयताकार चित्र की लम्बाई और चौड़ाई में विस्तार करती है; और द्वितीय तकनीकीय प्रगति, जो अर्थव्यवस्था के उत्पादन फलनों को बदलती है। सर्वप्रथम हम साधन देनों के उत्पादन प्रभावों पर विचार-विमर्श करेंगे।

10.2.1. साधन देनों के उत्पादन प्रभाव

हम कल्पना करते है कि सुधरी हुई स्वास्थ्य सेवाओं के परिणामस्वरूप समय गुजरने के साथ-साथ एक देश की जनसंख्या में वृद्धि श्रमशक्ति में बृद्धि को जन्म देती है। बचत व पूंजी संचय की प्रक्रिया पूंजी की पूर्ति को बढ़ाती हैं। राष्ट्रीय आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप संस्थागत परिवर्तन होते हैं, बचत की ऊँची सीमान्त प्रवृति के समूहों पर लोगों में मितव्यियता की आदतों के पक्ष में आय वितरण में परिवर्तन होते हैं। अन्वेषणों और आविष्कारों के द्वारा भी प्राकृतिक साधनों को बढ़ाया जा सकता है या पूर्णतया उपयोग करने पर कम किया जा सकता है।

समय समय के साथ-साथ न केवल साधन पूर्ति बदलती (वृद्धि या कमी) है, किन्तु यह भी सम्भव है कि एक राष्ट्र की सापेक्ष देनें भी बदल सकती हैं। उदाहरण के लिये उन्नीसवीं

शताब्दी में अमेरिका जिसमें भूमि प्रचुर मात्रा में और श्रम व पूंजी सापेक्षरूप से स्वल्प थी, से एक ऐसे राष्ट्र में परिणित हुआ जिसमें पूंजी प्रचुर साधन था।

अब आपको एक देश में रूपान्तरण फलन में परिवर्तनों के रूप में साधन देनों में परिवर्तनों से अवगत कराया जाता है। हम एक कल्पित देश A की स्थिति पर विचार करते हैं। जहां तक सम्भव हो विश्लेषण को सरल रखने के लिये, हम यह भी कल्पना करते हैं कि व्यापार के लिये एक आधार का अस्तित्व है, जैसे कुल साधन देनों में वृद्धि चित्र 10.1 में दो भागों में दर्शायी गई है : भाग (a) और भाग (b) में। भाग 10.1(a) में ऊपर और दाहिनी ओर (श्रम वृद्धि) विस्तार द्वारा और भाग 10.1(b) में उत्पादन सम्भावना वक्र के A B से

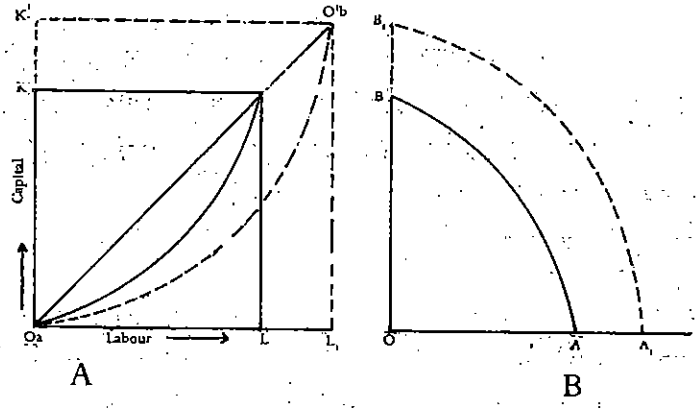

रेखाचित्र 10.1

A'B' तक बाहरी और ऊपर की ओर विवर्तन द्वारा। प्रदर्शित की गई स्थिति में, पूंजी (K) और श्रम (L) दोनों की पूर्ति समान अनुपात में बढ़ती है क्योंकि वे विकर्ण OaO'b के विस्तार के साथ-साथ बढ़ते हैं। अतः साधन अनुपात बदलता नहीं है, और बढ़ा हुआ रूपान्तरण वक्र पहले जैसे ही आकृति बनाये रखता है।

रूपान्तरण पर फलन प्रभाव - अब आपको स्थिर सापेक्ष कीमतों पर रूपान्तरण फलनों पर साधन दोनों की वृद्धि के प्रभाव से परिचित कराया जाता है। यह चित्र 10.2 में प्रदर्शित किया गया है, जहां बिन्दु Q वृद्धि के बिना उत्पादन का प्रारम्भिक उत्पादन बिन्दु है। वृद्धि आरम्भ होने के साथ-2 उत्पादन सम्भावना वक्र ऊपर तथा बाहर की ओर विवर्तित होता है (AB से A'B' तक)। स्पर्शिता का बिन्दु कुछ अंश तक Yi रेखा के सहारे है। चित्र 10.2 से हम प्राप्त करते हैं;

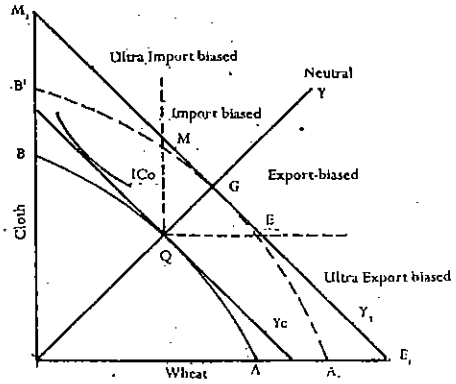

(वृद्धि और उत्पादन का स्वरूप)

चित्र 10.2

(अ) यदि उत्पादन का नया बिन्दु G पर है, तो वृद्धि स्पष्ट रूप से उत्पादन की ओर तटस्थ है, क्योंकि उत्पादित गेहूँ और वस्त्र का अनुपात अप्रभावित है;

(ब) (i) यदि उत्पादन G और E के बीच किसी भी स्थान पर किसी भी स्थान पर किसी बिन्दु की ओर बढ़ता है तो उत्पादन सम्भावना की वृद्धि निर्यात अभिनत कहलाती है, क्योंकि सापेक्ष रूप से निर्यात वस्तु 'गेहूँ' की अधिकता निर्यात के लिये उपलब्ध होती हैं।

(ii) विकास के लिये भी होना सम्भव है जिसे 'अति-निर्यात-अभिनत' कहा जाता है, अब निरपेक्ष रूप से वस्तु 'गेहूँ' की अधिकता और निरपेक्ष रूप से वस्तु 'वस्त्र' की कमी E और Ei के बीच की सीमा में उत्पन्न किये जाते हैं।

(स) ठीक उसी प्रकार, यदि उत्पादन बिन्दु G और M के बीच की सीमा पर पड़ता है तो यह आयात अभिनत तथा M और M_1 के मध्य किसी भी बिन्दु पर पड़ता तो यह 'अति-आयात-अभिनत' होती है। संक्षेप में, कुछ समय के लिये, यह सिर्फ ध्यान देना पर्याप्त है कि उत्पादन का बदलता हुआ (स्वरूप सामान्य रूप से विकास के साथ जुड़ा हुआ होता है)।

हमने दोनों देशों में एक समय में होने वाले विकास के प्रभावों का अध्ययन किया है। अब स्पष्टरूप से केवल एक देश का वर्णन करना ही पर्याप्त होगा और इस भाग में हम अध्ययन करेंगे कि दोनों देशों के व्यापारिक संबंधों का क्या होता है यदि दोनों देशों में से किसी एक देश में श्रम शक्ति या पूंजी की मात्रा में वृद्धि होती है। यह रिबजेन्स्की द्वारा प्रतिपादित रिबजेन्स्की नामक प्रमेय से, रेखा-गणित के रूप में व्यक्त की जायेगी। प्रमेय व्यक्त करता है कि

"उत्पादन के साधनों में से किसी एक साधन को बढ़ाया जाता है, दूसरे को स्थिर रखा जाता है, तो संचयी साधन का गहनता से उपयोग करने वाली वस्तु का उत्पादन बढ़ेगा और दूसरे साधन के उत्पादन में निरपेक्ष मात्रा में कमी होगी, बशर्ते कि उस वस्तु और साधन की कीमतों को स्थिर रखा जाता है।" इस प्रमेय का ज्ञान आपको व्यापार पर साधन देनों के परिवर्तनों के पड़ने वाले प्रभावों को ज्ञात करने के लिए समर्थ बनायेगी। यह प्रमेय दो प्रमुख मान्यताओं पर आधारित है:-

(अ) वस्तु-बाजार और साधन-बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है।

(ब) उत्पादन फलन प्रथम डिग्री के समरूपी उत्पादन फलन हैं।

हम यह कल्पना करते हुये, मान कर आरम्भ करते हैं कि दो देश व्यापार कर रहे हैं और चित्र 10.3 में दर्शाये अनुसार देश-A साम्यावस्था है। विकास के पूर्व देश की (प्रारम्भिक) साधन देनें आयताकार सन्दूक OAO'B के द्वारा मापी जाती है। पूंजी लम्बवत् अक्ष की ओर और श्रम क्षितिज अक्ष की ओर नापी जाती हैं। देश की निर्यात वस्तु जैसे गेहूँ का उत्पादन नीचे की ओर से बायें कोने से मापा जाता है और उसकी आयात प्रतियोगी वस्तु जैसे वस्त्र को ऊपरी दाहिने कोने की ओर से नापी जाती है। यह माना है कि निर्यात वस्तु श्रम प्रधान है और आयात प्रतियोगी वस्तु पूंजी प्रधान हैं।

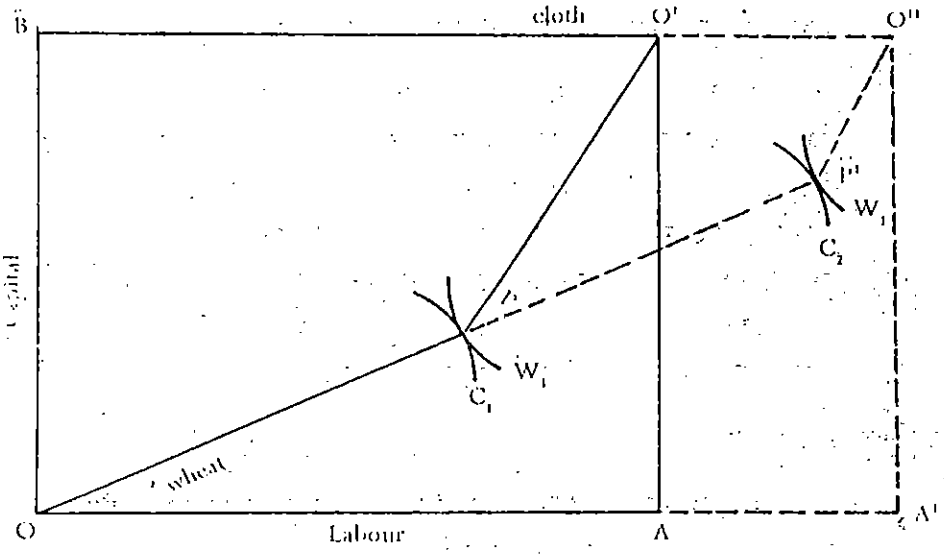

रेखाचित्र 10.3

विकास के पूर्व की स्थिति :

हम यह कल्पना करते हैं कि देश-A साधन (श्रम) वृद्धि के रूप में आर्थिक विस्तार के पूर्व, उसमें प्रसविदा वक्र OPO' के बिन्दु P पर उत्पादन करता है। तब निर्यात योग्य वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त साधन प्रधानता OP (श्रम प्रधान) होगी और आयात योग्य वस्तुओं में प्रयुक्त साधन प्रधानता O'P (पूंजी प्रधानता) होगी।

विकास के बाद की स्थिति :

अब देश-A स्थिर पूंजी मात्रा (OB=A'O'') के साथ उसकी श्रम शक्ति में (OA से OA' तक) वृद्धि प्राप्त करता है अब नया आयताकार सन्दूक चित्र OA' O''B है। आप देखेंगे कि उत्पन्न की जाने वाली मात्राओं, व्यापार की शर्तों और अन्य पर उसके प्रभाव क्या होंगे।

प्रभाव:

(i) इन प्रश्नों पर विचार करने के लिये, हम यह कल्पना करते हुये आरम्भ करते है कि वस्तु कीमतें स्थिर रखी जाती हैं। वस्तु कीमतें स्थिर रखने के लिए हमें साधन कीमतें भी स्थिर रखनी होती हैं। साधन कीमतें स्थिर रखने के लिए, उत्पादन की प्रत्येक दिशा में सीमान्त उत्पादकताओं (MPs) को स्थिर टिकना होता है। क्योंकि उत्पादन फलन प्रथम डिग्री के समरूपी फलन होते हैं, इसलिये सीमान्त उत्पादकताओं का अनुपात भी केवल साधन प्रधानताओं का फलन होता है। जब तक साधन प्रधानताएँ स्थिर रहती हैं तब तक प्रत्येक सीमान्त उत्पादकता का अनुपात नहीं बदलता है। नये

आयताकार सन्दूक के सिर्फ जिस बिन्दु पर उत्पादन के साधनों को उसी अनुपात में मिलाया जाता है जैसे P पर, वह है P', बिन्दु P व P' पर साधन प्रधानताएँ वही रहती हैं। साधन प्रधानताएँ $OP' = OP$ के है और साधन प्रधानताएँ $O'P = O''P$ के है। इसके अतिरिक्त दोनों बिन्दुओं P और P' पर सीमान्त उत्पादकताओं का अनुपात भी वहीं रहता है। अतः बिन्दु P' इष्टतम की शर्त पूरी करता है और यह आयताकार संदूक OA' O"B में प्रसंविदा वक्र पर है।

(ii) दूरी O"P' दूरी O'P से कम है। इसलिये P बिन्दु की अपेक्षा P' बिन्दु पर आयात-प्रतियोगी वस्तु (वस्त्र) का कम उत्पादन किया जाता है। समानता की दृष्टि से, बिन्दु P' पर की अपेक्षा निर्यात योग्य वस्तु (गेहूँ) का अधिकता से उत्पादन किया जाता है। यह प्रमेय को सिद्ध करता है कि यदि साधनों में से किसी एक साधन को बढ़ाया जाता है जबकि अन्य को स्थिर रखा जाता है तो स्थिर वस्तु कीमतों पर उस वर्द्धमान साधन में वस्तु प्रधान का उत्पादन निरपेक्ष राशि में बढ़ेगा, जबकि अन्य वस्तु का उत्पादन निरपेक्षरूप से कम होगा।

आर्थिक जटिलताएँ :

स्थिर वस्तु कीमतों के विषय में मान्यता का आशय स्थिर साधन कीमतों से है जिसका आशय दो उद्योगों में श्रम/पूंजी के स्थिर अनुपातों के यथाक्रम से है। किन्तु हम दो अनुपातों को कैसे स्थिर रख सकते हैं जबकि साधनों में से किसी एक साधन की मात्रा में वृद्धि की जाती है?

यह उत्पादन की दोनों दिशाओं के बीच (गेहूँ और वस्त्र) साधनों के पुनः आवंटन करने के द्वारा सम्भव होता है। जब श्रम की कुल मात्रा में वृद्धि की जाती है, तब सभी नये श्रम को श्रम-प्रधान उद्योग की ओर जाना होगा। पुराने साधन अंश को स्थिर रखने रखने के लिये हमें पूंजी प्रधान उद्योग से कुछ पूंजी की मात्रा को मुक्त करना होगा और उसे नये श्रम के साथ मिलाने देना होगा। जहां तक श्रम शक्ति वृद्धि जारी रखती है, तब तक हमें उत्पादन के साधनों को पूंजी-प्रधान से श्रम-प्रधान उद्योग की दिशा की ओर गतिशील करना होगा। इसका आशय यह है कि श्रम-प्रधान उद्योग में उत्पादन का विस्तार करना होगा जबकि पूंजी-प्रधान उद्योग में उत्पादन में कमी करनी होगी। यदि यह प्रक्रिया बिना किसी समय-सीमा के जारी रहती है तो देश पूर्ण-रूप से विशिष्ट होगा।

सारांश :

विकास रुचियों में परिवर्तनों, औद्योगिकी में परिवर्तनों और साधनों की पूर्ति में परिवर्तनों को सूचित करता है। न तो संस्थापकों का एक-साधन निदर्श और नहीं हैक्शर-ओहलिन का दो-साधन निदर्श विशेषरूप से एक विकासशील अर्थव्यवस्था में दृष्टिगोचर इन परिवर्तनों पर पर्याप्त ध्यान देता है। जिन पर परिवर्तनों को आपने ध्यान से देखा है, वे अन्य बातों के साथ-साथ, एक विकासशील अर्थव्यवस्था की तुलनात्मक लाभ की स्थिति को भी प्रभावित करते हैं। उसी समय विकासशील देश की व्यापार शर्तों पर उनका महत्वपूर्ण प्रभाव होता है।

बोध प्रश्न 1.

बोध प्रश्न 1. किसी देश के उत्पादन सम्भावना वक्र का आकार किस पर निर्भर करता है?

प्रश्न 2. एक देश में समय गुजरने के साथ-साथ क्या परिवर्तन होते हैं, जो उसकी वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन करने की क्षमता को प्रभावित करते है?

10.2.2 तकनीकी प्रगति के उत्पादन प्रभाव

अभी-अभी आपने व्यापार पर साधन वृद्धि के प्रभावों का अध्ययन किया है। आधुनिक आर्थिक जीवन में अन्य अधिक महत्वपूर्ण तत्व तकनीकी प्रगति है। प्रौद्योगिकी को नवाचारों के द्वारा परिवर्तित किया जाता है। नवाचार, नये उत्पादन फलनों की प्रस्तावनों को उसके राष्ट्रीय उत्पत्ति पर प्रभावों के रूप में विचार करना होगा।

संस्थापक न नवसंस्थापक अर्थशास्त्रियों ने तकनीकी प्रगति के अध्ययन में कोई भारी दिलचस्पी नहीं दिखाई थी, क्योंकि वे एक विशेष किस्म की साधन वृद्धि अर्थात् जनसंख्या में वृद्धि से पहले से ही इतने लीन थे कि वे आर्थिक विकास के लिये तकनीकी के महत्व को समझने में पूर्णतया असफल हो गये थे। यह प्रो. हिक्स था जिसने 1953 में इसे महत्वपूर्ण समझा था। इस खण्ड़ में **आपको व्यापार पर तकनीकी** प्रगति के प्रभावों से परिचित कराया जायेगा।

प्रौद्योगिकी में परिवर्तन :

इस भूमंडलीय विश्व में प्रौद्योगिकी निरन्तर रूप से परिवर्तित हो रही है। देश के लिये किसी विशेष उद्योग में या पर्याप्त संख्या **में उद्योगों में भी नयी** तकनीक के विकास को आरम्भ करने में अग्रसर होना स्वाभाविक है। लगातार **रचनात्मक शक्तियों व** सुधारों को अपनाने से नवाचारित उद्योग पर्याप्त समय तक, अपनी पहल **को बनाये रख** सकता है, या पहल तुरंत अन्य देश में स्थानान्तरित हो सकती है, जहां कर्मठ **प्रतियोगी** प्रारम्भिक नवाचार को अपनाते हैं और सुधार करते हैं।

प्रौद्योगिकी में परिवर्तन-व्यापार करने वाले देशों के मौलिक तुलनात्मक लागत संरचना को परिवर्तित कर सकते हैं। प्रौद्योगिक रूप से विकसित देश और एक अल्प विकसित देश के बीच व्यापार साधन अनुपातों की अपेक्षा प्रौद्योगिकीय अन्तर भली प्रकार आधारित हो सकते हैं। किन्तु यह व्यापार समाप्त हो सकता है या उसकी दिशा भी विपरीत हो सकती है यदि समय गुजरने के साथ-साथ पिछड़ा देश प्रौद्योगिकी से साधन सम्पन्न हो जाता है।

तटस्थ तकनीकी प्रगति :

व्यापार पर तकनीकी प्रगति के प्रभावों का अध्ययन करने के लिये, हम पुनः उत्पादन के दो साधनों का उपयोग करने वाली दो वस्तुओं का उत्पादन व उपभोग वाले दो देशों के प्रमाणिक निदर्श का उपयोग करेंगे। हम कल्पना करते हैं कि हमारे पास एक ऐसा देश है जिसे दो क्षेत्र - विनिर्माण व **कृषि** हैं। विनिर्माण पूंजी प्रधान क्षेत्र है और कृषि श्रम-प्रधान क्षेत्र है। दोनों क्षेत्रों के समोत्पत्ति **वक्र** चित्र 10.4 में प्रदर्शित किये गये हैं। हम कल्पना करते हैं कि केवल एक ही बार फसल **लेते हैं और** विनिर्माण क्षेत्र को नवाचारित उद्योग होना माना जाता है। हम एक साम्य स्थिति से आरम्भ करते हैं जिसमें सापेक्ष साधन कीमतें साधन कीमत रेखा PoPo द्वारा दी गई है। विनिर्माण क्षेत्र में प्रयुक्त पूंजी-श्रम अनुपात OR है और कृषि क्षेत्र में यह OQ हैं। तटस्थत नवाचार के आरम्भ होने के साथ, उत्पादन के दोनों दिशाओं में पूंजी/श्रम OR_1 अनुपात और OQ_1 होता है।

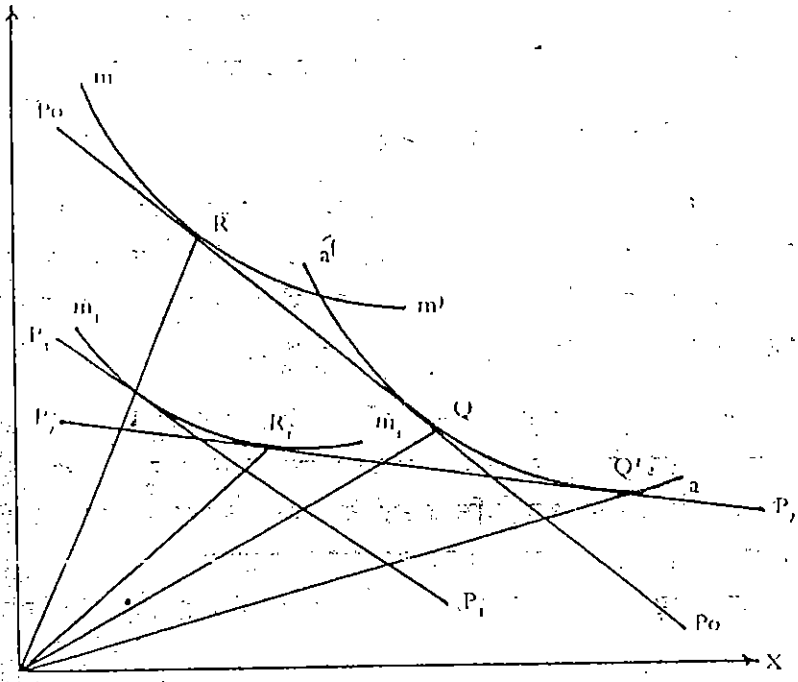

तटस्थत तकनीकी प्रगति के विनिर्माण क्षेत्र में उत्पत्ति पर प्रभाव :

वस्तु कीमतों को स्थिर रखने के लिए, साधन कीमतों को P_2P_2 में परिवर्तित करना होगा। यह प्रदर्शित करता है कि विनिर्माण क्षेत्र में तटस्थत नवाचार के कारण पूंजी की सापेक्ष कीमत बढ़ेगी। इस घटना की आर्थिक व्याख्या यह है कि नवाचार के कारण विनियोग क्षेत्र में उत्पादन के दोनों साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पादकता बढ़ी है। इसलिये स्थिर-साधन कीमत पर उत्पादक इस क्षेत्र में उत्पादन के अधिक साधनों के लिए सौदेबाजी करेंगे क्योंकि यह उद्योग पूंजी प्रधान है। वे अधिक पूंजी को आकर्षित करने के इच्छुक होते हैं और इससे उसकी सापेक्ष कीमत बढ़ने लगेगी। दोनों क्षेत्रों में उत्पादन की विधियां श्रम-प्रधान होगी जैसा कि OR_1 और OQ_1 के द्वारा दर्शाया गया है। जब उत्पादन की दोनों दिशाओं में उत्पादन की विधियों श्रम-प्रधान अधिक होती हैं तो इसका आशय नया बिन्दु S' प्रसंविदा वक्र पर S के बायीं ओर कहीं भी होगा। सारांश में, विनिर्माण क्षेत्र में तटस्थत तकनीकी प्रगति का वास्तविक परिणाम, स्थिर वस्तु कीमतें, निरपेक्ष रूप में विनिर्माण वस्तुओं के बड़े पैमाने में उत्पादन, और निरपेक्षरूप में कृषिगत वस्तुओं का उत्पादन कम होगा।

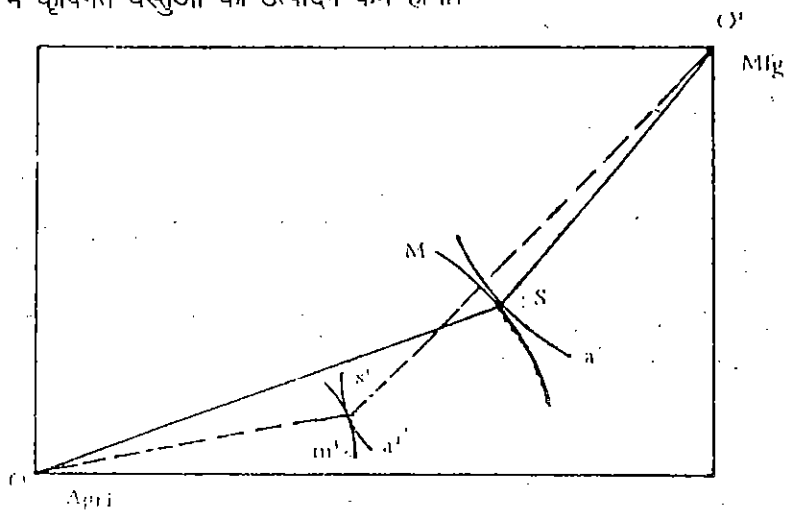

चित्र 10.5

(i) तकनीकी प्रगति राष्ट्रीय आय में वृद्धि को जन्म देगी। घटियां वस्तुओं के अस्तित्व को रोकते हुये, दोनों वस्तुओं की मांग में वृद्धि होगी।

(ii) एक देश के निर्यात क्षेत्र में तटस्थत तकनीकी प्रगति सदैव देश की व्यापार शर्तों में कमी को जन्म देगी जबकि तटस्थत तकनीकी प्रगति एक देश के आयात प्रतियोगी क्षेत्र में सदैव देश को सुधारात्मक (श्रेष्ठ) व्यापार शर्तें देती है।

(iii) तटस्थत तकनीकी प्रगति के अति-अभिनत उत्पादन प्रभाव होते हैं। इसका आशय यह है कि यदि पूंजी-प्रधान उद्योग, जोकि देश का निर्यात उद्योग है, में तटस्थत नवाचार घटित होता है तो उत्पादन प्रभाव अति-निर्यात-अभिनत (या अति-अनुकूल-व्यापार-अभिनत) होते हैं। उसी तर्क के अनुसार आयात प्रतियोगी पूंजी -प्रधान उद्योग में तटस्थत नवाचार के उत्पादन प्रभाव अति-आयात-अभिनव' (या अति-प्रतिकूल-व्यापार-अभिनत) होते है। आगे हम **अभिनत** तकनीकी प्रगति की स्थिति पर विचार करते हैं अर्थात श्रम **बचत तकनीकी प्रगति और** पूंजी बचत तकनीकी प्रगति। प्रत्येक ऐसी प्रगति के दो **प्रभाव** होते हैं।

(i) यह उद्योग में **उत्पादन लागत में कमी** करती और जिस साधन की मात्रा में कमी करती है उसे मुक्त करती है।

(ii) लागत में कमी करना और **साधन में बचत करना** - दोनों साथ मिलकर अभिनत तकनीकी प्रगति के **उत्पादन प्रभाव** निर्धारित करते हैं।

मान लीजिये कि श्रम प्रधान निर्यात उद्योग (**गेहूँ उत्पादन**) में श्रम-बचत नवाचार घटित होता है। यह गेहूँ में उत्पादन लागत को कम करेगा और श्रम की कुछ मात्रा को मुक्त करेगा। तटस्थत तकनीक प्रगति की स्थिति की तरह, लागत में कमी के लिये वस्त्र से नवाचारित उद्योग गेहूँ की ओर साधनों का विवर्तन आवश्यक होता है, जिससे साधन कीमत अनुपात प्रारम्भिक उत्पत्ति कीमत अनुपात को पूर्वावस्था में प्राप्त करते हुये परिवर्तित होता है। पुनः श्रम की पूर्ति की वृद्धि के समान, गेहूँ के नवाचार द्वारा जो श्रम युक्त किया जाता है, उसे निर्यात योग्य वस्तु (गेहूँ) के उत्पादन के विस्तार द्वारा अवश्य समायोजित किया जाना चाहिये, जो समान रूप से आयात योग्य वस्तु (वस्त्र) की लागत पर श्रम का प्रधानता से उपयोग करता है। उत्पादन प्रभाव वास्तव में, अति-निर्यात-अभिनत (या अति-अनुकूल-) अभिनत होते हैं।

तकनीकी प्रगति पर विशेष विवरण और व्यापार शर्तें :

तकनीकी प्रगति उत्पादन-फलन में विवर्तन को जन्म देती है, दिये हुये उत्पादन साधनों (इन्पुटों) से अपेक्षाकृत बड़ी मात्रा उत्पन्न की जायेगी। तकनीकी प्रगति सहित एक उत्पादन फलन के लिये विश्लेषणात्मक वर्णन के रूप में, हम लिख सकते है :

$Q = f(L, K, t)$

जहां Q उत्पादन की मात्रा के लिये L और K क्रमशः श्रम व पूंजी की मात्रा के लिये प्रयुक्त है और t तक प्रगति को दर्शाता है।

उत्पादन फलन में विवर्तन को आंशिक अवकलन (Partial Derivative) $\frac{\partial f}{\partial t}$ द्वारा व्याख्या की जाती है, जहां $\frac{\partial f}{\partial t}$ शून्य से अधिक है। आंशिक अवकलज सदैव धनात्मक होता है, क्योंकि हम तकनीकी प्रगति के आशय को एक बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता से लेते हैं।

हम t के संदर्भ में अन्य दो आंशिक अवकलनों $\frac{\partial f}{\partial L}$ dt और $\frac{\partial f}{\partial k}$ .dt को ले सकते हैं। इनमें से प्रथम श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति पर तकनीकी प्रगति के प्रभाव को दर्शाता है और द्वितीय पूंजी की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति पर तकनीकी प्रगति के प्रभाव को दर्शाता है। ये आंशिक अवकलज व्यापार शर्तों पर और निदर्श में अन्य चरों पर, तकनीकी प्रगति के प्रभावों को निर्धारित करने में अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

हम कल्पना करते हैं कि तकनीकी प्रगति सिर्फ निर्यात क्षेत्र में ही सम्पन्न होती है। हम जानते है कि इसका आशय है कि दिये हुये साधनों से अपेक्षाकृत अधिक निर्यात योग्य वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है या अन्य शब्दों में, यह $\frac{\partial f}{\partial t}$ धनात्मक होता है। यदि तकनीकी प्रगति का उत्पादन के दोनों साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति पर धनात्मक प्रभाव होता है, तो इसका आशय $\frac{\partial^2 f}{\partial L}$.dt और $\frac{\partial^2 f}{\partial K}$.dt दोनों धनात्मक होते हैं। यह सूचित करता है कि देश के लिये व्यापार शर्तों में ह्रास होगा।

इसे समझना आसान है कि ऐसा क्यों होना चाहिये।

प्रथम, सभी तीनों साधन (तकनीकी प्रगति, श्रम और पूंजी की सीमान्त भौतिक उत्पादकताएँ) एक ही दिशा में प्रवाहित होते हैं और स्थिर वस्तु कीमतों पर निर्यात योग्य वस्तु की पूर्ति का आधिक्य होगा। बाजार को मुक्त करने (वस्तु की बिक्री) के लिये, निर्यात वस्तुओं की कीमतों को गिराना होगा अर्थात व्यापार शर्तें देश के प्रतिकूल होंगी।

द्वितीय, आयात-प्रतियोगी क्षेत्र में तकनीकी प्रगति के प्रभाव पूर्णतया एक जैसे होंगे, बशर्ते की तकनीकी प्रगति के कारण दोनों भौतिक उत्पादकताएँ बढ़ती हैं अर्थात् सुधरी हुई व्यापार की शर्तों के वास्तविक आय पर सदैव धनात्मक प्रभाव होते हैं।

तृतीय, यदि निर्यात क्षेत्र में तकनीकी प्रगति होती है और यह प्रगति इस प्रकार की है जो उत्पादन के साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पादकता को कम करती है या उसे अपरिवर्तित छोड़ती है, तो निश्चित रूप से राष्ट्रीय आय पर उसके धनात्मक प्रभाव होंगे।

चतुर्थ, तकनीकी प्रगति जो व्यापार शर्तों को सुधारती है, का वास्तविक आय की वृद्धि पर प्रबल धनात्मक प्रभाव होते हैं, नवाचार व्यापार शर्तों में ह्रास को जन्म देते हैं, इससे यह स्थिति काफी जटिल बन जाती है। यदि व्यापार शर्तों में हानियाँ अधिक होती हैं, तो वे अधिकांश आय वृद्धि में भावी लाभों को रद्द कर सकती है।

पंचम, तकनीकी प्रगति साधन पुरस्कारों और आय वितरण को भी प्रभावित करती है। यदि तकनीकी प्रगति तटस्थ है तो साधन पुरस्कारों पर प्रभाव नवाचरित क्षेत्र में साधन-प्रधानताओं पर निर्भर करती हैं। यदि उद्योग श्रम प्रधान है, तो तटस्थ नवाचार मजदूरी में सापेक्ष वृद्धि उत्पन्न करेंगे। इसके विपरीत यदि क्षेत्र पूंजी प्रधान है, तो तटस्थ नवाचार पूंजी के प्रतिफल में वृद्धि को जन्म देंगें।

श्रम बचत तकनीकी प्रगति श्रम को लाभान्वित करती है, और पूंजी बचत तकनीकी प्रगति श्रम को लाभान्वित करती है, क्योंकि यह श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता में वृद्धि करती है। जिस विषय (विशेषता) पर बल देना है वह यह है कि, इसके विपरीत जो परम्परागत व्यापार सिद्धांत बतलाता है कि एक देश सदैव व्यापार के पहले उसके उत्पादक साधन की साधन पूर्ति के अनुसार विशिष्टीकरण नहीं करता है। यह उसकी तकनीकी योग्यता द्वारा दिये गये दिशा निर्देशों के अनुसार विशिष्टीकरण कर सकता है; उसके प्रारम्भिक व्यापार का आकार इन तकनीकी विचार-विमर्शों के अनुसार मार्गदर्शन किया जायेगा। पर्याप्त समय गुजरने पर देश अन्यत्र विकसित की गई उन्नत तकनीकी को अपना सकता है, जिससे उसके उत्पादन फलन और उसके तुलनात्मक लाभ की स्थिति भी बदल सकती है। एक प्रावैगिक विश्व में ऐसी घटना अक्सर होती रहती है।

बोध प्रश्न 2.

प्रश्न 1. यदि भारत की श्रम और पूँजी की पूर्ति में समान अनुपात में वृद्धि होती है, तो भारत में प्रौद्योगिकी में परिवर्तन किस प्रकार का होगा और यह परिवर्तन किसके अनुरूप होगा?

प्रश्न 2. एक निर्यात-अभिनत, आयात-अभिनत और अनभिनत या तटस्थ प्रौद्योगिकी प्रगति या नवाचार से आपका क्या आशय है?

10.3 आर्थिक विस्तार के उपभोग प्रभाव और व्यापार

हमने एक विकासशील देश में विभिन्न प्रकारा के विकासात्मक परिवर्तनों से उत्पन्न विभिन्न सम्भाव्य उत्पादन प्रभावों का परीक्षण किया है, किन्तु ये उत्पादन प्रभाव अकेले ही देश की बढ़ती आयातों की मांग और निर्यातों की पूर्ति को निर्धारित नहीं करते हैं। विश्लेषणात्मक उद्देश्यों के लिये, इन विकासात्मक परिवर्तनों के विभिन्न सम्भाव्य उपभोग प्रभावों पर विचार करना आवश्यक होता है।

दो देशों के बीच तुलनात्मक लागत का संस्थापक सिद्धांत स्थिर रूचियों के पाये जाने की मान्यता पर आधारित है। हालांकि यह मान्यता एक प्रावैगिक विश्व में शायद ही अनुरूप और न्याय संगत होती है। अधिकांश व्यापार की इतिहासिक शरूआयतों मे, प्रारम्भिक आदान-प्रदान नयी आवश्यकताओं के सृजन और उनकी संतुष्टि से संबद्ध होता था। "व्यापार के साथ-साथ रूचियाँ परिवर्तित होती हैं, यद्यपि व्यापार वर्तमान आवश्यकताओं को अधिक पूर्णरूप से संन्तुष्ट करती है।" कपास, मलमल, शक्कर, तम्बाकू, मदिरा और आलू इत्यादि की उत्पत्ति को याद करने के पीछे, उसकी विशेषता का महत्व होता है। रेग्नर नर्क्से ने प्रदर्शनात्मक प्रभाव की ओर संकेत किया है जिसके अन्तर्गत अल्प-विकसित देश उन्नत (विकसित) यूरोपीय देशों के श्रेष्ठ जीवन स्तरों के विषय में भली-भांति जान चुके हैं। उपभोग प्रभाव इतना प्रबल होता है कि इसने पूरे विश्व-भर में लोगों के उपभोग स्वरूप को विशेषरूप से बदल दिया है। परस्पर भोजन करना सर्वसाधारण हो गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में "इग्लैंड के निवासी महाद्वीपीय नाश्ते से भिन्न होते थे, और स्वयं महाद्वीप पर भी इटली के निवासियों, फ्रांसीसियों और स्केनीविया के निवासियों का भोजन पकाना बिलकुल भिन्न होता था। आज इंडोचीन के निवासी शिकायत करते हैं कि एशियाई देशी नाश्ता यूरोपीय अंडे, सुअर का माँस, और कॉफी का स्थान ले रहा है; जापान में चावल को गेहूँ के लिये अधिकता से त्यागा

जा रहा है; कोका-कोला विश्व में चारों ओर व्यापार चिन्ह हो गया है। प्रदर्शनात्मक प्रभाव अल्प-विकसित देशों के लिये अधिक महत्वपूर्ण है, जो स्वीस घड़ियों, ब्रिटिश साइकिलों और अमेरिका की पेनों का अधिकता से आयात करना चाहते हैं।" (सी.पी. किन्डल वर्गर)

एक प्रावैगिक विश्व में रुचियाँ स्थिर नहीं रहती हैं। वास्तव में रूचियों में परिवर्तन अनेक जटिल समस्याओं को जन्म देता है। संस्थापक सिद्धान्त में व्यापार से लाभ सही कथन हो सकता है। जब तक रूचियां स्थिर रहती हैं किन्तु व्यापार शर्तों में सुधार के साथ-साथ आयातों के लिये मांग में वृद्धि होती है, इससे स्थिति और भी जटिल हो जाती है। उत्पादन प्रभावों के समान, उपभोग प्रभावों के निम्न रूप हो सकते हैं।

(i) तटस्थत उपभोग प्रभाव

(ii) निर्यात-अभिनत या जिसे जोहन्सन कहते हैं "अनुकूल-व्यापार-अभिनत"

(iii) आयात-आभनत या जिसे जोहन्सन कहते हैं "प्रतिकूल-व्यापार-अभिनत"

(iv) अति-निर्यात-अभिनत या अति-अनुकूल-व्यापार-अभिनत और

(v) अति-आयात-अभिनत या अति-प्रतिकूल-व्यापार-अभिनत।

इस उद्देश्य के लिये, हम एक देश, जैसे भारत में आर्थिक विस्तार के परिणामस्वरूप वास्तविक आय में वृद्धि पर विचार करते हैं। अब प्रश्न यह है कि : माँग कैसे प्रभावित होगी जैसे-जैसे वास्तविक आय बढ़ती जाती है? आरम्भ में, हम कल्पना करते हैं कि रुचियाँ स्थिर हैं और आय वितरण नहीं होता है, इसलिये माँग का स्वरूप (अर्थात् सामाजिक तटस्थता वक्र) अपरिवर्तित रहता है।

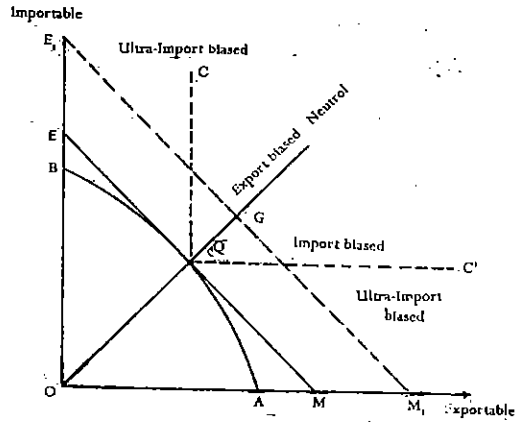

रेखाचित्र 10.6

चित्र 10.6 में बिन्दु Q जिस पर प्रारम्भिक व्यापार शर्त रेखा EM तटस्थता वक्र की स्पर्श रेखा है, जो आर्थिक विस्तार से पूर्व के उपभोग साम्य बिन्दु को प्रदर्शित करता है। EM के समानान्तर और दाहिनी ओर खींची गई E'M' रेखा उसी व्यापार शर्त को दर्शाती है, किन्तु यह आर्थिक विस्तार से बढ़ी हुई आय के कारण है। यदि आयात के लिये मांग की आय लोच इकाई (Yअक्ष) है और निर्यात के लिए यह इकाई (X अक्ष) है उपभोग का नया बिन्दु G मूल बिन्दु से गुजरने वाली सीधा रेखा "आय-उपभोग वक्र" OQG पर होगा। दी गई व्यापार शर्त पर क्रय किया Y:X का अक्ष पर G भी वहीं होता है। इस स्थिति में, आय का विस्तार आयात योग्य Y निर्यात योग्य X की मांग को उसी अनुपात में बढ़ाता है, तो उपभोग 'तटस्थत' होता है।

आय-उपभोग-वक्र क्षेत्र CQG में QG के बायीं ओर विवर्तित होता हुआ होता है इसका आशय यह होता है कि इस स्थिति में आय का विस्तार आयात योग्य Y की मांग को जो यह निर्यात योग्य X की मांग को बढ़ाता है, से अधिक अनुपात में बढ़ाता है। तब उपभोग प्रभाव निर्यात-अभिनत कहलाता है। क्योंकि कुल उपभोग में आयात-योग्य वस्तुओं के अपेक्षाकृत बड़े आनुपातिक भाग का भुगतान करने के लिये यह सापेक्षरूप से निर्यात योग्य वस्तुओं की पूर्ति में अधिक वृद्धि की मांग करता है। ठीक उसी प्रकार, आय उपभोग वक्र के C'QG क्षेत्र में QG के दाहिनी तरफ के विवर्तन का आशय उपभोग प्रभाव के आयात-अभिनत होने से होता है। आर्थिक विस्तार के और दो सम्भाव्य उपयोग प्रभाव होते हैं। आय उपभोग वक्र C'Q के दाहिनी ओर या नीचे हो सकता है। यह अति-आयात-अभिनत उपभोग प्रभाव होता है। यदि आय-उपभोग-वक्र CQ के बायीं तरफ होता है, तो यह अति-निर्यात अभिनत होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण स्थिर रूचियों की कल्पना करता है और आय वितरण पर आर्थिक विस्तार के प्रभावों की ओर ध्यान नहीं देता है। किन्तु आर्थिक विस्तार के साथ-साथ रुचियाँ और आय वितरण भी परिवर्तित होते रहते हैं। साधनों के बीच आय का पुनः वितरण भी दोनों वस्तुओं की सापेक्ष मांग में अच्छा परिवर्तन उत्पन्न कर सकता हैं। जिस बात पर हम बल देते हैं वह यह है कि आर्थिक विस्तार के उपभोग प्रभाव सिर्फ आय में परिवर्तनों द्वारा ही निर्धारित नहीं होते हैं किन्तु रुचियों और आय वितरण में परिवर्तनों द्वारा भी निर्धारित होते हैं।

इन विचार-विमर्शों के अन्तर्गत, प्रो. कॉरडन की "मांग विस्तार रेखा" का उपयोग करना लाभदायक होता है, जो स्थिर कीमतों पर, वस्तुओं की सापेक्ष मांग पर आय और पसन्दगियों में परिवर्तनों के संयुक्त परिणाम को दर्शाती है। मांग विस्तार रेखा आय उपभोग वक्र की तुलना में श्रेष्ठ है क्योंकि आय उपभोग वक्र विशुद्ध रूप से आय की मांग लोच पर निर्भर करती है जबकि मांग विस्तार रेखा वस्तुओं की सापेक्ष मांग पर आय और पसन्दगियों में परिवर्तनों के संयुक्त परिणाम को दर्शाती है। मांग विस्तार रेखा चित्र 10. 7 में दिये गये एक आय उपभोग वक्र (ICC) के दाहिनी तरफ होगी, यदि रूचियों X वस्तु के पक्ष में परिवर्तित होती है या आय उस साधन के पक्ष में पुनः वितरित होती है जिसकी X निर्यात योग्य वस्तु की उपभोग की औसत और सीमान्त प्रवृत्ति दूसरे साधन से ऊंची हैं। इसके विपरीत, यह एक दिये गये आय उपभोग वक्र के बायीं ओर होगी, यदि रूचियों और आय वितरण में परिवर्तन निर्यात योग्य वस्तु X की तुलना में आयात योग्य Y वस्तु के उपभोग का पक्ष करती है।

हम स्पष्ट करते हे कि भारत में गेहूँ से वस्त्र की ओर रुचियों में परिवर्तन (विवर्तन) भारत के तटस्थता मान-चित्र को कैसे प्रभावित करता है।

भारत में गेहूँ से वस्त्र की ओर रुचियों में विवर्तन भारत के सामाजिक तटस्था वक्रों के नीचे और दाहिनी ओर विवर्तित करेगा और वे अधिक ढालू होंगे वे नीचे और दाहिनी ओर विवर्तित होते हैं क्योंकि वास्तविक आय और अपरिवर्तित वस्त्र की कीमत/गेहूँ की कीमत (P_C/P_W) के प्रत्येक स्तर पर, भारत पहले की अपेक्षा गेहूँ की कम मात्रा और वस्त्र की अधिक मात्रा की मांग करता है। वे अधिक ढालू होते हैं (अर्थात् गेहूँ के लिये वस्त्र का प्रतिस्थापन सीमान्त दर, MRS_{CW}) भारत में बढ़ती है। यदि इसके विपरीत, भारत की

पसन्दगी वस्त्र से गेहूं की ओर विवर्तित होती है, तो भारत के तटस्थता वक्र ऊपर और बायीं ओर विवर्तित होंगे और अधिक समतल होंगे। किसी भी परिस्थिति में, जब रुचियाँ परिवर्तित होती हैं, तो एक राष्ट्र के तटस्थता वक्र अपना आकार बदलते हैं और राष्ट्र के प्रारम्भिक तटस्थता वक्रों को पार करते हैं (अर्थात् उनका आशय रूचियों में परिवर्तन से पहले के वक्रों से)।

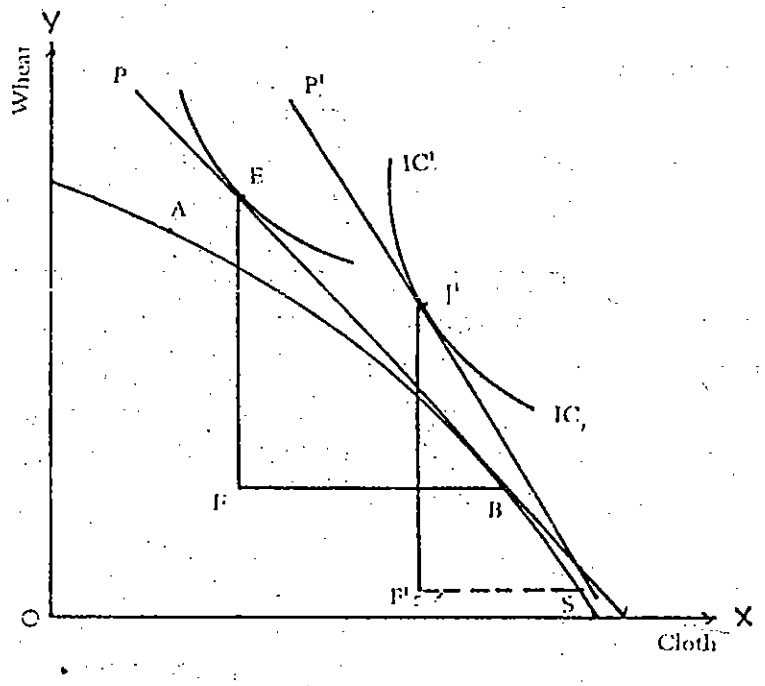

चित्र 10.7

भारत B बिन्दु पर उत्पादन करता है, FE गेहूँ के बदले FB वस्त्र देता है, और तटस्थता के E बिन्दु पर उपभोग करता है, तटस्थता वक्र IC' रूचियों में परिवर्तन से पहले का है। क्योंकि भारत की रूचियाँ गेहूं से वस्त्र की ओर विवर्तित होती हैं, इसलिये भारत अपरिवर्तित आय और P_C/P_W पर पहले की अपेक्षा गेहूं की कम मात्रा और वस्त्र की अधिक मात्रा की मांग करता है। यह, इस प्रकार प्रति समय अवधि में भारत द्वारा मांगे जाने वाले गेहूँ की मात्रा में थोड़ी कमी करते और वस्त्र की मात्रा में थोड़ी वृद्धि करते हुये P_C/P_W (अर्थात् भारत की व्यापार शर्त) में वृद्धि उत्पन्न करेगा। P' भारत की नयी और ऊँची व्यापार शर्त है उस पर भारत F'J' गेहूँ के लिए F'S कपड़ा देता है। इस प्रकार भारत को S बिन्दु पर उत्पादन और J' बिन्दु उपभोग करना चाहिये। J' बिन्दु पर, नया सामाजिक तटस्थता वक्र IC_2 है जो IC' से नीचे है दाहिनी ओर अधिक ढालू है और जो P'S की स्पर्श रेखा होनी चाहिए। यह दर्शाता है कि तुलनात्मक लागत की स्थिति रुचियों में परिवर्तन के साथ-साथ बदलती है। ध्यान रखिये, क्योंकि यहां भारत की प्रौद्योगिकी और साधन दोनों अपरिवर्तित मानी गई है इसलिये उत्पादन सम्भावना-वक्र परिवर्तित नहीं हुआ है।

10.4 कुल मिलाकर आर्थिक विस्तार के व्यापार पर प्रभाव

आयात योग्य वस्तुओं की मांग उसके उत्पादन और उपभोग प्रभावों का संयुक्त परिणाम होती है, जो इस स्थिति पर निर्भर करती है कि क्या वहां पूर्ण विशिष्टीकरण है या

अपूर्ण विशिष्टीकरण। हमने पूर्ण विशिष्टीकरण सहित, आर्थिक विस्फोट को देखा है। पूर्ण विशिष्टीकरण में विकासशील देश के आयातों की मांग पर कुल मिलाकर पांच प्रकार के विभिन्न प्रभाव हो सकते है। वे हैं : तटस्थत, निर्यात-अभिनत, अति-निर्यात-अभिनत, आयात-अभिनत, और अति-आयात-अभिनत। किन्तु, अपूर्ण विशिष्टीकरण में देश के आयातों की मांग सम्बन्धित वस्तु की कुल मांग और उसकी घरेलू पूर्ति का अन्तर होती है। अतः एक ऐसे देश की आयातों की कुल मांग पर विकास के कुल प्रभाव को आयातों की घरेलू पूर्ति में परिवर्तन को भारांकित द्वारा प्राप्त किया जाता है, जैसा कि उत्पादन प्रभाव में दिया गया है। आयातों की मांग में परिवर्तन के प्रतिकूल, जैसा कि उपभोग प्रभाव द्वारा दिया गया है। यह आर्थिक विस्तार का कुल प्रभाव है जो एक विकासशील देश के अर्पण वक्र में विवर्तन की दिशा और विस्तार को निर्धारित करता है।

बोध प्रश्न 3.

प्रश्न 1. समझाइये कि रूचियों में परिवर्तन (विवर्तन) एक विकासशील राष्ट्र के तटस्थता मानचित्र को कैसे प्रभावित करता है। एक उपयुक्त चित्र खींचिये और रूचियों में परिवर्तन के पहले और बाद एक राष्ट्र के लिये उत्पादन व उपयोग के बिन्दुओं को दशाईये।

प्रश्न 2. आर्थिक विस्तार के परिणामस्वरूप निर्यात-अभिनत उपभोग प्रभाव की व्याख्या कीजिये। अन्य सम्भाव्य उपभोग प्रभाव क्या होते हैं?

10.5 प्रावैगिक साधन, व्यापार और विकास

पश्चिमी यूरोप में कुछ मुट्ठीभर राष्ट्रों और एशिया और लेटिन अमेरिका में कुछ राष्ट्रों को छोड़कर विश्व के अधिकांश राष्ट्रों को अल्प विकसित देशों (LDCs) के रूप में वर्गीकृत किया जाता है या अन्य शब्दों में उन्हें दक्षिण या तीसरी दुनियां के देश कह सकते हैं, जैसा कि वे अक्सर पुकारे जाते हैं। वर्तमान में अल्पविकसित देशों का विश्व व्यापार में एक चौथाई से भी कम भाग माना जाता है। विशेषकर निर्मित वस्तुओं के बदले में उनका अधिकांश व्यापार औद्योगिक विश्व को कच्ची सामग्री, ईंधन, खनिजों और कुछ खाद्य पदार्थों के निर्यात से सम्बद्ध हैं। अल्प विकसित देश शिकायत करते हैं कि व्यापार शर्तों की संरचना उनके विरुद्ध की जाती है और न वे व्यापार के लाभ का अनुभव करते हैं।

प्रो. रेग्नर नर्क्से तर्क के रूप में छः कारण देते हैं :-

1. उन्नत अर्थव्यवस्थाओं में औद्योगिक उत्पादन के विशेष दबाव के कारण 'हल्के' उद्योगों से 'भारी' उद्योगों की ओर विवर्तन हो रहा है अर्थात् उन उद्योगों से जहां अन्तिम उत्पत्ति की कच्चे माल की सामग्री महंगी है, से वहां जहां पर यह सस्ती है।

2. औद्योगिक देशों के कुल उत्पादन में सेवाओं का अंश बढ़ रहा है, जिसके कारण उनके कच्चे माल की मांग उनकी राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि से पीछे रह जाती है।

3. अनेक कृषिगत वस्तुओं के लिये उपभोक्ता मांग की आय लोच कम होने लगती है।

4. कृषिगत संरक्षणवाद ने प्राथमिक पदार्थों के आयातों को बुरी तरह से प्रभावित किया है।

5. प्राकृतिक पदार्थों के औद्योगिक उपयोगों में पर्याप्त मितव्यितताएँ प्राप्त की जा चुकी हैं।

6. प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों का अधिकाधिक झुकाव प्राकृतिक कच्चे माल को कृत्रिम व अन्य मनुष्यकृत स्थानापकों से प्रतिस्थापित करना है। अल्पविकसित देश (LDC) साधारणतया अनुभव करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त विकास के मार्गदर्शक के रूप में असम्बद्ध है। अल्पविकसित देश दृढ़ता पूर्वक कहते हैं कि परम्परागत व्यापार सिद्धान्त की प्रकृति-पूर्णरूप से स्थैतिक है। उदाहरण के लिये, अल्पविकसित देश (LDC) और उन्नत देशों के बीच साधन देनों और औद्योगिकी के वर्तमान वितरण की स्थिति में, परम्परागत सिद्धान्त भविष्यवाणी करता है कि LDC को कच्चे माल, ईंधन, खनिजों और खाद्य पदार्थों के उत्पादन व निर्मित माल के बदले में उनके विकसित देशों को निर्यात में विशिष्टीकरण जारी रखना चाहिये। अल्प विकसित देश अनुभव करते हैं कि यद्यपि यह व्यापार स्वरूप अल्पकाल में उनके कल्याण को अधिकतम कर सकता है, किन्तु दीर्घकाल में यह उन्हें उद्योग के प्रावैगिक लाभों को प्राप्त करने और उनके कल्याण व विकास को अधिकतम करने का लगातार बहिष्कार करेगा। अल्प विकसित देशों का विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक पद्धति जो कम से कम 1974 तक क्रियाशील रही, प्राथमिक रूप से उनकी आवश्यकताओं को प्रतिम्बिबित करने व उनको संतुष्ट करने के लिये उन्नत (विश्व) राष्ट्रों द्वारा सृजित की गई थी। सुधारों में से जिसकी विकासशील देश मांग कर रहे हैं वह नये अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुरक्षित कोषों का उनमें वितरण करना है, जिससे वे उन्हें विकास पर खर्च कर सकें और विकासशील देश नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता पर भी बल दे रहे हैं।

बोध प्रश्न 4.

प्रश्न 1. व्याख्या कीजिये कि अल्पविकसित देश साधारणतया क्यों अनुभव करते हैं कि परम्परागत व्यापार सिद्धान्त विकास के मार्गदर्शिका के रूप में असम्बद्ध है?

10.6 सारांश

हमारा संस्थापक व नव संस्थापक द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त के दोनों पक्षों पूर्ति-पक्ष और मांग-पक्ष पर विचार-विमर्श हमारा ध्यान स्थैतिक स्थितियों की ओर केन्द्रित कर रहा है। तुलनात्मक लाभ का संस्थापक सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर देता है कि स्थिर रूचियों, स्थिर संसाधनों और स्थिर प्रौद्योगिकी के विश्व में कौन-कौन सी वस्तुएँ किन-किन कीमतों पर निर्यात और आयात की जावेगी, और व्यापार से कौन लाभ प्राप्त करेगा स्थैतिक विश्व का अस्तित्व कभी भी नहीं रहा है। विशेष रूप से, व्यापार का सिद्धान्त उस समय असम्बद्ध और अर्थहीन हो जाता है जब प्रावैगिक साधन उत्पादन सम्भावना-वक्र और तटस्थता मानचित्र में कुछ परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समय गुजरने पर रुचियाँ परिवर्तित होती हैं, विशेषरूप से, जैसे प्रदर्शनात्मक प्रभाव दूसरे देशों में विकसित उपभोग की वस्तुओं या उत्पादन के साधनों से एक देश को प्रभावित करता है। प्रौद्योगिकीय नवाचार उत्पादन फलनों में नयी तकनीकें आरम्भ करते हैं। आर्थिक विस्तार के परिणामस्वरूप प्रत्येक देश में साधन पूर्तियां भी परिवर्तित होती हैं। ये सभी शक्तियां स्थैतिक साम्य को अनवरत या बार-बार होने वाली बाधाएँ उत्पन्न करती हैं।

यह प्रो. हिक्स था जिसने 1953 में प्रथम बार इस कथन प्रस्ताव किया था कि एक दो-देशीय निदर्श जिसमें एक देश विकासशील और दूसरा स्थैतिक है। विकासशील देश में तकनीकी प्रगति व्यापार की शर्तों को उसके प्रतिकूल करेगी यदि प्रगति मुख्यरूप से निर्यात उद्योगों या 'निर्यात अभिनत' तक ही सीमित रहती है, और उसके अनुकूल होती है यदि प्रगति मुख्यरूप से आयात उद्योगों में या "आयात-अभिनत" होती है। हिक्स के विश्लेषण में अनेक कमियां थी और जिससे उसकी आलोचना की गई थी। डॉ. ई.जे. मिशन ने व्यापार शर्तों में परिवर्तन की दिशा के लिये उपभोग पर आय-प्रभाव के महत्व पर जोर देते हुये उसमें सुधार किया। प्रो. जोहन्सन, डॉ. कारडॉन और प्रो. भगवती ने इस विकासशील देश के व्यापार शर्तों पर विकास के कुल प्रभाव प्राप्त करने के लिये विश्लेषण में आगे विस्तार किया और विकास के उत्पादन प्रभाव व आय प्रभावों को संकलित करने के लिये ढूंढा है।

इस प्रभाव के कथनों को मालूम करना सर्वथा अनुपयोगी नहीं होता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में कुछ दोष हैं क्योंकि यह विकासशील देशों के लिये उपयोगी नहीं है। तुलनात्मक लागत का यह सिद्धान्त यह जिम्मेवारी नहीं लेता है कि किसी दिये हुये समय में एक देश को उत्पादन की विशिष्ट दिशा में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होने के कारण, उन्हें उन्हीं दिशाओं के अनुसार विकास और विस्तार करना चाहिये। हमने विकास और व्यापार सिद्धान्त से देखा है कि अर्थिक विकास के एक व्यापारिक देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय पर प्रभाव बिल्कुल विपरीत हो सकते हैं।

10.7 शब्दावली

1. **आर्थिक विस्तार** से आशय समय अवधि गुजरने के साथ-साथ राष्ट्रीय आय जनसंख्या, साधन देनें, तकनीकी प्रगति में वृद्धि और उपभोग में सुधार इत्यादि से होता है।

2. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार** से आशय राष्ट्रीय सीमाओं के परे एक देश या प्रदेश और अन्य देश या प्रदेश के बीच वस्तुओं और सेवाओं के आदान-प्रदान से होता है अर्थात एक देश और दूसरे देश के बीच व्यापार से है।

3. **साधन देनें** का आशय एक देश में उत्पादन साधनों की उपलब्धता से होता है।

4. **तकनीकी प्रगति** का अर्थ औद्योगिक विज्ञान की प्रगति से है। इसमें उत्पादन की विधियों और प्रकार में सुधार होता है। इस प्रकार, तकनीकी प्रगति तब प्रकट होती है जब एक दिया हुआ इन्पुट (साधन) से पहले की अपेक्षा, अधिक उत्पादन कर सकता है या एक दी हुई उत्पत्ति मात्रा के लिये पहले की अपेक्षा कम इन्पुटों की आवश्यकता होती है। यहां तकनीकी प्रगति को आर्थिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, का आशय वैज्ञानिक आविष्कारों की अपेक्षा नवाचारों में प्रगति से है।

5. **तटस्थत तकनीकी प्रगति** का आशय तटस्थत नवाचार से है - एक उत्पादन की नवीन प्रक्रिया से है, जैसे कि प्रो. हिक्स इसे दो-साधन उत्पादन फलन के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जैसे श्रम व पूंजी; तटस्थत नवाचार के प्रभाव से दोनों साधन-श्रम व पूंजी की सीमान्त उत्पादकताओं को उसी अनुपात में बढ़ाता होता है। इस प्रकार तटस्थत तकनीकी प्रगति श्रम व पूंजी के बीच सम्बन्ध की अपरिवर्तित रखती है।

6. **श्रम-बचत (या पूँजी उपयोग) तकनीकी प्रगति** प्रो. हिक्स के सिद्धान्त के अनुसार, इसका आशय तकनीकी प्रगति और उत्पादन प्रक्रिया में उस परिवर्तन से है जो श्रम की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि करती है। श्रम-बचत नवाचार के अन्तर्गत पूंजी की बढ़ती हुई मात्रा और श्रम की कम मात्रा के साथ उत्पादन फलन को संशोधित किया जाता है।

7. **पूँजी-बचत (या श्रम उपयोग) तकनीकी प्रगति** इसका आशय तकनीकी सुधार और उत्पादन प्रक्रिया में उस परिवर्तन से है जो पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि की अपेक्षा श्रम की सीमान्त उत्पादकता में अपेक्षाकृत, अधिक वृद्धि करती है। उत्पादन फलन पर पूंजी-बचत नवाचार के प्रभाव से पूंजी साधन में कमी और श्रम की मात्रा में वृद्धि करना होता है।

8. **मानव पूँजी** से आशय शिक्षा और प्रशिक्षण के द्वारा किसी व्यक्ति या समुदाय में ज्ञान और कौशल के संचय से होता है। मानव पूंजी उत्पादन बढ़ाने में सहायता करती है और आय में वृद्धि करने का भी एक स्रोत होती है।

9. **व्यापार शर्तों** से आशय उस दर से होता है जिस पर एक देश की वस्तुओं का दूसरे देश की वस्तुओं के साथ आदान-प्रदान किया जाता है। अर्थात निर्यात की कीमतें उसके आयातों की कीमतों के बीच में सम्बन्ध और ये देश के लिए अनुकूल तब होती है जब उसके निर्यातों की कीमतें उसके आयातों की कीमतों की अपेक्षा ऊंची होती है। जब एक देश के आयातों की कीमतों उसके निर्यातों की कीमतों की अपेक्षा ऊंची होती है, तब उस देश की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती है।

10. **तटस्थता वक्र** तटस्थता वक्र निर्यात योग्य और आयात योग्य वस्तुओं के संयोगों के असंख्य बिन्दुओं का एक बिन्दु पथ होता है जो संतुष्टि का समान स्तर दर्शाता है। तटस्थता वक्र का प्रमुख लक्षण होता है कि 'ऊंचे तटस्थता वक्र से, अपेक्षाकृत अधिक संतुष्टि प्राप्त होती है और नीचे तटस्थता वक्र से कम संतुष्टि प्राप्त होती है।

11. **आय उपभोग वक्र** स्थिर व्यापार शर्तों को मानते हुये, निर्यात योग्य वस्तुओं या आयात योग्य वस्तुओं की मांग पर वास्तविक राष्ट्रीय आय में परिवर्तन के प्रभाव को दर्शाता है।

10.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पी.टी एल्सवर्थ और जे. क्लॉर्क लीथ	:	अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, कोली - मेक्मिलन प्रकाशक, लंदन
सी.पी. किण्डल बर्गर	:	अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, प्रकाशक रिचर्ड डी. इरविन
पी.के.रे और के.बी. कुन्डु	:	अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, विशुद्ध सिद्धान्त और व्यापार नीति नव भारत, प्रकाशक कलकत्ता

साल्वाटोर डोमिनिक : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्त और समस्याएं, मक्ग्रा हिल बुक कम्पनी

सोडर्स्टन बो : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, मेक्मिलन प्रेस लि.

10.9 अभ्यास प्रगति की जाँच के लिये उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर 1. एक राष्ट्र के उत्पादन सम्भावना वक्र का आकार उस देश में उपलब्ध उत्पादन साधनों की मात्रा और प्रौद्योगिकी के स्तर पर निर्भर करता है। जितने अधिक मात्रा में किसी राष्ट्र में उत्पादन के साधन उपलब्ध होते हैं और जितनी अधिक उन्नत प्रौद्योगिकी के साथ उन्हें उत्पादन में मिलाया जाता है, राष्ट्र उतनी अधिक दोनों वस्तुओं की मात्राएँ उत्पन्न करने में समर्थ होता है, और राष्ट्र जितनी अधिक मात्रा में दोनों वस्तुओं का उत्पादन करने में समर्थ होता है उत्पादन सम्भावना वक्र का आकार उतना ही अधिक बाहर और ऊपर की ओर बड़ा होता है।

उत्तर 2. समय गुजरने के साथ-साथ एक राष्ट्र को उपलब्ध उत्पादन साधनों की मात्रा में परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरण के लिए किसी राष्ट्र की जनसंख्या में वृद्धि होती रहती है और यह उनकी श्रम पूर्ति को बढ़ाती है। राष्ट्र में शिक्षा और कौशल का स्तर अक्सर जिसे मानव पूंजी कहा जाता है में भी वृद्धि हो सकती हैं और ऐसी ही उसकी भौतिक पूंजी अर्थात मशीनरी और फेक्ट्रियों, कार्यालयों भवनों और साज-सज्जा (साधन व सामग्री), विद्युत उत्पन्न करने के संयंत्रों, ट्रकों और सड़कों, जहाजों और बन्दरगाहों, वायु-यानों और इवाई अड्डों इत्यादि की मात्रा में होती है। दूसरी ओर, कुछ प्राकृतिक साधन जैसे खनिज भंडारों का रिक्त होना और कृषिगत भूमि में कमी होना सम्भव हो सकता है, जवकि अन्य को नवीन खोजों के द्वारा ज्ञात किये जा सकते हैं और उनके उपयोग ढूंढ़े जा सकते हैं। इस प्रकार एक राष्ट्र को उपलब्ध साधनों की मात्रा में परिवर्तन होते रहते हैं, सामान्यतया समय गुजरने के साथ-साथ वृद्धि होती है। समय गुजरने के साथ-साथ प्रौद्योगिकी में सुधार होता है।

बोध प्रश्न 2

उत्तर 1. यदि भारत की प्रौद्योगिकी उसी अवस्था में रहती है किन्तु उसकी श्रम और पूंजी की पूर्ति में समान अनुपात में वृद्धि होती है, तब भारत का उत्पादन सम्भावना वक्र उसकी सम्पूर्ण लम्बाई के साथ-साथ समानरूप से बाहर और ऊपर की ओर विवर्तित होना है जैसा कि चित्र 10.1(b) या 10.2 में प्रदर्शित किया गया है। इसका आशय है कि मूल बिन्दु से किसी सीधी रेखीय किरण द्वारा जिन बिन्दुओं पर वे काटे जाते हैं वहां पर AB और A'B' के ढाल समान होते हैं या दोनों वस्तुओं की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समान होती हैं। इस प्रकार भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र में बाहरी विवर्तन होगा यदि साधनों की पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु भारत में वस्त्र और गेहू उत्पादन में तटस्थत नवाचार होता है।

उत्तर 2. एक निर्यात अभिमत प्रौद्योगिकीय नवाचार वह होता है जो उसके आयात प्रतियोगी वस्तु की तुलना में राष्ट्र के निर्यात वस्तु की मात्रा में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि करती

है। एक आयात अभिनत नवाचार ठीक उसके विपरीत दिशा में होता है। एक अनभिनत या तटस्थत नवाचार वह होता है जो राष्ट्र के निर्यात और आयात-प्रतियोगी वस्तुओं के उत्पादन में ठीक उसी मात्रा में वृद्धि करता है।

बोध प्रश्न 3.

उत्तर 1. यदि गेहूँ को Y अक्ष के सहारे और वस्त्र को X अक्ष के सहारे मापा जाये तो एक राष्ट्र में वस्त्र से गेहूं की ओर रूचियों में विवर्तन राष्ट्र के सामाजिक तटस्थता वक्र को नीचे और दाहिनी तरफ विवर्तित करेगा और वे अधिक ढालू होंगे। वे नीचे और बायीं ओर विवर्तित होते हैं क्योंकि वास्तविक आय और अपरिवर्तित Pc/Pw (वस्त्र कीमत/गेहूँ कीमत) के प्रत्येक स्तर पर राष्ट्र पहले की तुलना में गेहूँ की कम मात्रा और वस्त्र की अधिक मात्रा की मांग करता है। इसलिये वे अधिक ढालू होते हैं। इसके विपरीत, यदि राष्ट्र की रूचियाँ वस्त्र से गेहूँ की ओर विवर्तित होती है, तो राष्ट्र का तटस्थता वक्र ऊपर तथा बायीं और विवर्तित होगा और अधिक समतल होगा। किसी भी अवस्था में जब रुचियाँ परिवर्तित होती हैं, तब राष्ट्र की तटस्थता वक्र आकार बदलते हैं और उसके प्रारम्भिक तटस्थता वक्रों अर्थात् इसका आशय रुचियों में परिवर्तन से पहिले को पार करते हैं। (b) चित्र 10.7 को देखिये।

उत्तर 2. उपभोग प्रभाव निर्यात-अभिनत कहलाते हैं, क्योंकि कुल अपभोग में आयात योग्य वस्तुओं के अपेक्षाकृत बड़े आनुपातिक भाग का भुगतान करने के लिये यह सापेक्षरूप से निर्यातों की पूर्ति में वृद्धि की मांग करता है। उपभोग प्रभावों के अन्य रूप भी हो सकते हैं : 'तटस्थत उपभोग प्रभाव', 'निर्यात-अभिनत' या 'अनुकूल व्यापार अभिनत', आयात-अभिनत या 'प्रतिकूल-व्यापार-अभिनत' 'अति-निर्यात-अभिनत' और 'अति-आयात-अभिनत। (चित्र 10.6 को देखिये)

बोध प्रश्न 4.

उत्तर 1. प्रावैगिक साधन, व्यापार और विकास के लिये खण्ड 10.5 को देखिये।

इकाई – 11

व्यापार की शर्तें

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 व्यापार की शर्तों का अर्थ

11.3 अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार की शर्तें

11.4 व्यापार की शर्तों के विभिन्न रूप

11.4.1 वस्तुओं के विनिमय अनुपात से सम्बन्धित

11.4.2 उत्पादन संसाधनों के विनिमय से सम्बन्धित

11.4.3 व्यापार से होने वाले लाभों से सम्बन्धित

11.5 व्यापार की शर्तों को मापने में कठिनाइयां

11.6 व्यापार की शर्तों के निर्धारक तत्व

11.7 व्यापार की शर्तों का महत्व

11.8 सारांश

11.9 शब्दावली

11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.11 अभ्यासों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको व्यापार की शर्तों का अर्थ स्पष्ट किया जायेगा और इनके विभिन्न रूपों से परिचित कराया जायेगा। साथ ही आपको इन शर्तों का महत्व भी बताया जायेगा। इस ईकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप :

- व्यापार की शर्तों का अर्थ स्पष्ट कर सकेंगे;
- व्यापार की शर्तों के विभिन्न रूपों की व्याख्या कर सकेंगे;
- व्यापार की शर्तों को मापने में होने वाली कठिनाइयों को बता सकेंगे;
- व्यापार की शर्तों का महत्व प्रतिपादित कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

व्यापार की शर्तों का विषय कोई नया नहीं है। व्यापार शर्तों का एक देश के लिए अत्यधिक महत्व है, उसकी आर्थिक स्थिति इन शर्तों पर निर्भर हैं। शर्तों के महत्व को प्रतिपादित करने के पूर्व हम शर्तों का आशय और उनके जो विभिन्न रूप हैं, उनका अध्ययन करेंगे। साथ ही हम यह ज्ञात करने का प्रयास करेंगे कि शर्तों को मापने में क्या समस्याएं आती हैं और कौन से घटक है जो कि शर्तों को प्रभावित करते हैं।

11.2 व्यापार की शर्तों का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जिस मूल्य पर वस्तुओं का विनिमय होता है, उसे व्यापार की शर्तों का नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि दो देशों में जिन दो वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है, उनके विनिमय अनुपात का सम्बन्ध व्यापार की शर्तों से होता है। पर, जब व्यापार दो से अधिक वस्तुओं का होता है तो व्यापार की शर्तों का सम्बन्ध उस दर से होता है जिस पर आयातों और निर्यातों का विनिमय होता है। संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि व्यापार की शर्तें निर्यात और आयात कीमतों में सम्बन्ध को प्रदर्शित करती हैं। सूत्र के रूप में यदि हम व्यक्त करें -

$$\text{व्यापार शर्तें} = \frac{\text{आयात का कुल मूल्य}}{\text{निर्यात का कुल मूल्य}}$$

11.3 अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार की शर्तें

व्यापार की शर्तें अनुकूल अथवा प्रतिकूल किसी देश के लिए हो सकती है। अनुकूल तो तब होती है जब आयातों के मूल्य की अपेक्षा निर्यातों का मूल्य अधिक होता है। यह भी कहा जा सकता है कि जब आयात की दी हुई मात्रा के लिए कम वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो व्यापार की शर्तें अनुकूल होती हैं। प्रतिकूल तब होती है जबकि निर्यातों के मूल्य की अपेक्षा आयातों का मूल्य अधिक होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब दी हुई आयात की मात्रा के लिए अधिक वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो व्यापार की शर्त प्रतिकूल होती है।

बोध प्रश्न-1

1. व्यापार की शर्तों से क्या अभिप्राय है?
2. व्यापार की शर्तें अनुकूल तथा प्रतिकूल कब कही जाती है?

11.4 व्यापार की शर्तों के विभिन्न रूप

अब हम शर्तों का अर्थ समझने के पश्चात इनके विभिन्न रूपों का अध्ययन करेंगे। विस्तृत रूप से हम शर्तों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं :

11.4.1 वस्तुओं के विनिमय अनुपातों से सम्बन्धित शर्तें

(i) शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें (Net Barter Terms of Trade)

प्रो. टाजिंग (F.W. Taussig) ने शुद्ध और सकल वस्तु विनिमय व्यापार

शर्तों में अंतर किया है। उसके अनुसार शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें एक देश के आयात और निर्यात कीमतों का अनुपात है। इन्हें वस्तु व्यापार शर्तें (Commodity Terms of Trade) भी कहते हैं। इन शर्तों को सूत्र से भी बता सकते हैं :-

$$N = \frac{Px}{Pm}$$

यहां P = मूल्य निर्देशांक
x = निर्यात
m = आयात
N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें
यदि Px > Pm तब व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी।

समय की दो अवधियों में शर्तों के परिवर्तन को ज्ञात करने के लिए दोनों अवधियों के आयात और निर्यात कीमतों के अनुपात को निकाला जाता है। सूत्र में —

$$\frac{Px_1}{Pm_1} = \frac{Px_0}{Pm_0}$$

यहां Px_0 = आधार वर्ष के निर्यात मूल्य
Px_1 = वर्तमान वर्ष के निर्यात मूल्य
Pm_0 = आधार वर्ष के आयात मूल्य
Pm_1 = वर्तमान वर्ष के आयात मूल्य

यदि हम यह मान लें कि भारत के लिए आधार वर्ष 1980 है तो आधार वर्ष में आयात और निर्यात दोनों की ही कीमतों का निर्देशांक 100 होगा। अब यदि 1990 में आयात कीमतों का निर्देशांक 120 और निर्यात कीमतों का निर्देशांक 160 हो जाते हैं तो व्यापार की शर्तें इस प्रकार होंगी

$$N = \frac{160}{120} \times \frac{100}{100} = 1.33$$

इसका अर्थ यह हुआ कि 1980 की तुलना में 1990 में व्यापार की शर्तों में 33 प्रतिशत सुधार हुआ है। शर्तों में सुधार के कारण निश्चित निर्यातों के द्वारा 33 प्रतिशत अधिक आयातों को 1990 में 1980 की अपेक्षा किया जा सकता है। इसके विरूद्ध यदि आयात-कीमतों में निर्यात-कीमतों की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है तो व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

(ii) सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें (Gross Barter Terms of Trade)

शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें व्यापार की मात्रा की उपेक्षा करती है, ये इसलिए भुगतान संतुलन के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं देती है - प्रो. मार्शल ने शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया था। इन शर्तों की इस कमी को दूर करने के लिए प्रो. टॉजिग ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों का विकास किया था। टॉजिग ने कहा कि आयात और निर्यात कीमतों में सम्बन्ध स्थापित करने के स्थान पर आयात और निर्यात की कुल मात्राओं में सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। इस प्रकार वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें आयात की कुल भौतिक मात्रा और निर्यात की कुल भौतिक मात्रा के मध्य सम्बन्ध बताती है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि सकल वस्तु विनिमय व्यापार की पूर्ति एक देश के कुल निर्यातों और कुल आयातों के मध्य विनिमय दर को स्पष्ट करती है। सूत्र के रूप में -

$$G = \frac{Qm}{Qx}$$

सूत्र में G = सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Q = मात्रा

x = निर्यात

m = आयात

यदि $Qm > Qx$ तब व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी।

समय की दो अवधियों में व्यापार शर्तों में परिवर्तन को देखने के लिए सूत्र है-

$$\frac{Qm_1}{Qx_1} : \frac{Qm_0}{Qx_0}$$

मात्रा Qm_0 = आधार वर्ष के आयात की मात्रा

Qm_1 = चालू वर्ष के आयात की मात्रा

Qx_0 = आधार वर्ष के निर्यात की मात्रा

Qx_1 = चालू वर्ष के निर्यात की मात्रा

यदि चालू वर्ष में G में वृद्धि होती है तो इसका अर्थ यह है कि आधार वर्ष की अपेक्षा आयात की मात्रा दी हुई निर्यात की मात्रा से अधिक रहेगी।

सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें भुगतान संतुलन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी देती है। पर, ये कीमतों में परिवर्तन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं देती है। इसलिए अनेक अर्थशास्त्री शुद्ध विनिमय व्यापार की शर्तों का प्रयोग अधिक ठीक मानते है।

(iii) आय व्यापार की शर्तें (Income terms & trade)

जी. एस. डोरेन्स ने आय पर आधारित व्यापार की शर्तों का निर्धारण करने की एक विधि बताई है। उसने कहा है कि किसी देश की आयात करने की क्षमता का निर्धारण निर्यात वस्तुओं की कीमत और मात्रा तथा आयात वस्तुओं की कीमत और मात्रा से होता है। एक देश की आयात क्षमता में निम्न परिस्थितियों में वृद्धि हो जाती है -

(अ) जब निर्यात मूल्यों (Px) में वृद्धि हो जाती है,

(ब) जब निर्यात की मात्रा (Ox) में वृद्धि हो जाती है,

(स) जब आयात मूल्य (Pm) कम हो जाते हैं।

देश की वर्तमान आयात-क्षमता (आय-व्यापार शर्तों) को सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है-

$$Om = \frac{Px_1 \times Ox_1}{Pm_1}$$

यहां Om_1 = देश की वर्तमान आयात-क्षमता

Px_1 = वर्तमान निर्यात मूल्य

Ox_1 = वर्तमान निर्यात की मात्रा

Pm_1 = वर्तमान आयात का मूल्य

11.4.2 उत्पादक संसाधनों के विनिमय से सम्बन्धित शर्तें

एक घटकीय व्यापार की शर्तें (Single Factoral Terms of Trade)

वाइनर ने एक घटकीय व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया है। ये व्यापार की शर्तें निर्यात-कीमतों के निर्देशांक और आयात कीमतों के निर्देशांकों के बीच सम्बन्ध बताती है। वाइनर के अनुसार यदि वस्तु व्यापार शर्तों के निर्देशांक को निर्यात - वस्तु के तकनीकी गुणांकों (Coefficient) के निर्देशांक के व्युत्क्रम से गुणा करने से जो निर्देशांक आयेगा वह व्यापार से लाभ की प्रवृत्ति का व्यापार शर्तों के निर्देशांक से उत्तम है।

एक तत्व वाली व्यापार शर्तों के सूत्र में -

$$S = NZx$$

यहां S = एक तत्व वाली व्यापार शर्तें

N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Zx = निर्यात की उत्पादकता का निर्देशांक

यदि S में वृद्धि होती है तो वह लाभप्रद है। ऐसा इसलिए है - वस्तुओं के

उत्पादन में लगाई गई प्रति इकाई साधन की मात्रा के लिए अधिक मात्रा में आयात किया जा सकता है।

(iii) द्विघटकीय व्यापार की शर्तें (Double Factoral Terms of Trade)

किसी भी देश के आयात और निर्यात को उत्पादकता का तकनीकी गुणांक समानरूप से प्रभावित करता है। यदि व्यापार की शर्तों के निर्धारण के लिए आयात को भी ध्यान में रखा जाये तो हमें द्विघटकीय व्यापार की शर्तें प्राप्त होती हैं। सूत्र में -

$$D = \frac{NZx}{Zm}$$

यहां D = द्विघटकीय व्यापार की शर्तें

Zm = आयात उत्पादकता निर्देशांक

N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Zx = निर्यात उत्पादकता निर्देशांक

यदि D में वृद्धि होती है तो इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादन में लगे हुए एक स्वदेशी घटक के बदले आयातों में लगे हुए विदेशी घटकों की अधिक इकाईयां प्राप्त हो सकती है।

11.4.3 व्यापार से होने वाले लाभों से सम्बन्धित शर्तें

(i) वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें (Real Cost Terms of Trade)

वाईनर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त वास्तविक लाभों को ज्ञात करने के लिए वास्तविक लागत व्यापार शर्तों का भी प्रतिपादन किया है उनके अनुसार व्यापार से कुल लाभों की गणना निर्यातों में त्याग की गई उपयोगिता के बदले आयातों से प्राप्त अतिरिक्त उपयोगिता से की जाती है। यदि निर्यातों के उत्पादन से त्याग की गई उपयोगिता पर विचार करना हो तो एक घटकीय व्यापार की शर्तों के निर्देशांक में उन उत्पादन साधनों की प्रति इकाई त्याग की गई उपयोगिता के निर्देशांक के व्युत्क्रम का गुणा करते हैं जो निर्यातों के उत्पादन में लगाये जाते हैं। इस तरह से जो निर्देशांक आता है, उसे वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें कहते है। सूत्र में -

$$R = NZx\ Rx$$

यहां R = वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें

N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Zx = निर्यात की उत्पादकता का निर्देशांक

Rx = निर्यातों के उत्पादन में प्रति इकाई साधन के उपयोगिता त्याग का निर्देशांक

R में वृद्धि यह बताती है कि प्रति इकाई वास्तविक लागत से प्राप्त आयातों की मात्रा अधिक है।

(ii) उपयोगिता व्यापार की शर्तें (Utility of Market Terms of Trade)

वास्तविक लागत व्यापार की शर्तों में आयात की सापेक्षिक उपयोगिता और त्याग की गई वस्तुओं के निर्देशांक (U) से गुणा करने पर उपयोगिता व्यापार की शर्तें ज्ञात हो जाती है। सूत्र में -

$$U = NZx\ Rxu$$

बोध प्रश्न-2

1. शुद्ध और सकल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों में अंतर बताइये।

2. वस्तु और आय से सम्बन्धित व्यापार शर्तों में क्या भेद है।

11.5 व्यापार की शर्तों को मापने में कठिनाइयाँ

अब हम व्यापार की शर्तों को मापने में जो कठिनाइयाँ आती हैं उन पर विचार करेंगे। शर्तों को मापने में आने वाली कठिनाइयाँ इस तरह हैं -

1. **निर्देशांकों की कठिनाई** - व्यापार की शर्तों को मापने के लिए निर्देशांकों का प्रयोग किया जाता है। यदि दो देशों द्वारा एक वस्तु का निर्यात और एक ही वस्तु का आयात किया जाता है तब तो व्यापार शर्तों के निर्देशांक बनाना सरल होता है। पर ये देश अनेक वस्तुओं का आयात और निर्यात करते हैं जिससे निर्देशांकों का बनाना एक कठिन काम हो जाता है।

2. **भारांकन की समस्या** - आयात और निर्यात की जानेवाली वस्तुओं के निर्देशांक बनाते समय वस्तुओं को भार देने की समस्या उत्पन्न होती है। भार वस्तुओं के महत्व के अनुसार देना होता है। पर विभिन्न वस्तुओं का महत्व विभिन्न देशों के लिए अलग अलग होता है और इसके साथ जुड़ी हुई समस्या यह भी है कि एक ही देश में विभिन्न वस्तुओं का महत्व भी बदलता रहता है। इन परिस्थितियों में निर्देशांक वास्तविकता से दूर रह जाते हैं।

3. **निर्यात और आयात में समय अन्तराल** - व्यापार शर्तों का मापन किसी वर्ष में आयातों और निर्यातों की तुलनात्मक कीमतों से किया जाता है। पर कीमतें जो हैं वे पूरे वर्ष एक सी नहीं रहती और कोई भी देश कीमतों में परिवर्तन का लाभ उठाकर व्यापार शर्तों को अपने अनुकूल बना सकता है। यह संभव है कि कोई देश आयात तब करे जब कीमतें सबसे कम हो और निर्यात तब करे जब कि कीमतें अधिक हो और इस तरह से व्यापार शर्तों को अनुकूल बनाले। पर वास्तव में व्यापार शर्तें अनुकूल नहीं बनती है वे तो अपरिवर्तित ही रहती हैं। इस तरह हम यह देखते हैं कि व्यापार शर्तों का सही मापन तभी हो सकता है जब आयात और निर्यात एक साथ ही किये जायें।

4. **वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन** - व्यापार की शर्तों का मापन यदि केवल कीमतों में होने वाले परिवर्तन के आधार पर किया जाता है, तो मापन सही नहीं होगा क्योंकि वस्तुओं के गुणों में भी तो परिवर्तन होता है। आज बनी हुई फियेट कार और तीस वर्ष पहले बनी हुई फियेट कार एक ही नाम होते हुए भी एक ही वस्तु तो नहीं कही

जा सकती है। इस स्थिति में कीमतों में परिवर्तन व्यापार शर्तों का सही मापन नहीं है।

5. **परिवहन और बीमा आदि का व्यय** - व्यापार की शर्तों के मापन में केवल आयातों और निर्यातों की कीमतों को शामिल किया जाता है। पर जो विकसित देश है वे तो अपने निर्यातों में परिवहन और बीमा का व्यय भी जोड़ लेते हैं। फिर ये विकसित देश अर्द्ध-विकसित देशों से किये गये आयातों में परिवहन और बीमा व्यय भी जोड़ लेते हैं जबकि ये इन व्ययों का भुगतान अर्द्ध-विकसित देशों को करते ही नहीं है। क्योंकि परिवहन और बीमा की सेवाएं तो विकसित देशों द्वारा ही उपलब्ध कराई जाती है। इस तरह से विकसित देशों के लिए जो व्यापार शर्तें हैं वे सही नहीं है क्योंकि आयातों की कीमतों में परिवहन, बीमा आदि का व्यय भी शामिल है।

11.6 व्यापार की शर्तों के निर्धारक तत्व -

अब हम व्यापार की शर्तों के प्रमुख घटकों की चर्चा करेंगे यद्यपि निर्धारक घटक अनेक है।

1. **मांग की लोच** - व्यापार की शर्तें विभिन्न देशों की पारस्परिक मांग की तीव्रता पर निर्भर करती हैं। भारत के लिए व्यापार की शर्तें भारत द्वारा दूसरे देशों की वस्तुओं की मांग और दूसरे देशों द्वारा भारत की वस्तुओं की मांग पर निर्भर करेगी। यदि भारत की मांग विदेशी वस्तुओं की विदेशों द्वारा भारतीय वस्तुओं की मांग की अपेक्षा अधिक है तो फिर व्यापार शर्तें भारत के प्रतिकूल होंगी। इसके विपरीत, यदि भारत द्वारा विदेशी वस्तुओं की मांग, विदेशों द्वारा भारतीय वस्तुओं की मांग से कम है तो व्यापार की शर्तें भारत के अनुकूल होंगी।

2. **स्थानापन्न वस्तुएं** - यदि किसी देश की निर्यात वस्तुओं के लिए विदेशों में स्थानापन्न वस्तुएं है तो इस स्थिति में निर्यात करने वाले देश के लिये व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती है। निर्यात की वस्तु में जरा भी मूल्य वृद्धि होने से, विदेशों में उसकी मांग कम हो जाती है।

3. **प्रशुल्क नीति** - सीमाशुल्क लगाकर कोई भी देश अपनी व्यापार शर्तों में सुधार कर सकता है। सीमा शुल्क लगाने से आयात कम हो जाते हैं पर विदेशी अपने निर्यात बढ़ाने के लिए वस्तुओं की कीमतें कम कर देते हैं। इससे सीमा शुल्क लगाने वाले देश को आयातों की कम कीमत देना पड़ती है। इस तरह से निर्यातों की कीमतों की अपेक्षा उसके लिए आयातों की कीमतें कम हो जाती हैं। और उसकी व्यापार शर्तों में सुधार हो जाता है। सीमा शुल्क का व्यापार शर्तों पर जो प्रभाव पड़ता है उसे मार्शल-एजवर्थ प्रस्ताव वक्र Offer Curve विश्लेषण से स्पष्ट किया जा सकता है।

4. **अवमूल्यन का प्रभाव** - अवमूल्यन से देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में कम हो जाता है। इससे देश की वस्तुओं की मांग विदेशों में बढ़ जाती है क्योंकि ये वस्तुएं विदेशों में सस्ती हो जाती हैं। इसके विपरीत देश में विदेशी वस्तुओं की मांग कम हो जाती है क्योंकि इन वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य देना पड़ता है। इस प्रकार अवमूल्यन से देश की व्यापार शर्तें अनुकूल हो जाती हैं क्योंकि उसके निर्यात तो बढ़ते हैं पर आयात कम हो जाते हैं।

5. **पूंजी की गतिशीलता** - देश को पूंजी के प्राप्त होने से भुगतान संतुलन पर अनुकूल तथा पूंजी के बाहर जाने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पूंजी प्राप्त होने के अर्थ हैं कि विदेशी भुगतान कर रहे हैं और पूंजी के भुगतान का तात्पर्य है कि विदेशियों को भुगतान किया जा रहा है। इस प्रकार पूंजी की पर्याप्त पूर्ति देश की व्यापार शर्तों को अनुकूल बनाती है और पूंजी के भुगतान से व्यापार शर्तें देश के लिये प्रतिकूल हो जाती है।

6. **आर्थिक विकास और भुगतान संतुलन की स्थिति** - विकसित देश कम लागत पर वस्तुओं का निर्माण करते हैं और अधिक निर्यात करते हैं। इनके आयात कम होते हैं। इसलिए विकसित देशों का भुगतान संतुलन पक्ष में होता है। पर विकासशील देश आयात अधिक करते हैं। फिर ये औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं और निर्यात कम करते हैं। फलस्वरूप इन देशों का भुगतान संतुलन विपक्ष में होता है और इनके लिये व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि देश का आर्थिक विकास भुगतान संतुलन को प्रभावित करता है। और यह व्यापार शर्तों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।

11.7 व्यापार की शर्तों का महत्व -

व्यापार की शर्तें देश की आय और उसके वितरण को प्रभावित करती है। व्यापार की शर्तों पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से मिलने वाला लाभ भी निर्भर करता है। हम यहां व्यापार शर्तों के महत्व की विवेचना करेंगे।

1. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ** - किसी भी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ की गणना व्यापार शर्तों से ही हो सकती है। यदि ये शर्तें किसी देश के अनुकूल हो जाती हैं तो उसे अधिक लाभ मिलने लगता है और उसकी आय में वृद्धि होने लगती है। इसके विपरीत, यदि शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं तो उसका लाभ कम होने लगता है और आय भी घटने लगती है। यदि हम यह मान लें भारत जूट का निर्यात करता है और जिन देशों को वह निर्यात करता है वहां जूट के स्थान पर किसी और वस्तु का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया गया है तो ऐसी स्थिति में जूट की मांग कम जो जायेगी और व्यापार की शर्तें पहले की अपेक्षा प्रतिकूल बन जावेगी और जो व्यक्ति जूट के उत्पादन और निर्यात में लगे थे उनकी आय कम हो जायेगी।

2. **साधनों का पुरुस्कार तथा रोजगार** - व्यापार की शर्तों का प्रभाव साधनों और उनके पुरूस्कार पर पड़ता है। व्यापार शर्तों के सुधार से निर्यातों में वृद्धि होती है जिससे निर्यात उद्योग विकसित होते हैं और इन उद्योगों में लगे हुए साधनों की मांग बढ़ती है जिससे रोजगार बढ़ता है और साधनों को मिलने वाला पुरूस्कार भी बढ़ता है। जब निर्यात उद्योग में लगे हुये साधनों की आय बढ़ती है तो उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में भी वृद्धि होती है जिससे ये उद्योग भी विकसित होते हैं और इनमें भी साधनों को अधिक रोजगार मिलता है और उनकी आय भी बढ़ती है। व्यापार शर्तों के प्रतिकूल हो जाने से परिणाम विपरीत हो जाते हैं - रोजगार कम होता है और आय भी कम होती है।

3. **जीवन स्तर का अनुमान** - व्यापार की शर्तों का देशवासियों के जीवन स्तर पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश के लिए व्यापार शर्तें अनुकूल हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह निश्चित निर्यात वस्तुओं के बदले में अधिक वस्तुओं का आयात कर सकता है। अधिक वस्तुओं के प्राप्त होने से वहां के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठता है। प्रतिकूल व्यापार शर्तों से आयात कम हो जाते हैं और वस्तुएं भी कम उपलब्ध होती हैं जिससे जीवन स्तर नीचे गिरता है। जिस देश का विदेशी व्यापार का कुल उत्पादन में प्रतिशत अधिक होता है वहां व्यापार शर्तें लोगों का जीवन स्तर निर्धारित करने में महत्वपूर्ण होती है। पर यदि अर्थ-व्यवस्था आत्म निर्भर है तो व्यापार की शर्तों का महत्व नहीं होता है।

4. **विदेशी विनिमय का अनुमान** - विदेशी विनिमय की कितनी आवश्यकता है इसका पता भी व्यापार की शर्तों से लगाया जाता है। इन शर्तों से यह ज्ञात हो जाता है कि आयात मूल्य और निर्यात मूल्य क्या है। यदि आयात मूल्य निर्यात मूल्य से अधिक है तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितनी विदेशी मुद्रा की अतिरिक्त आवश्यकता भुगतान के लिए होगी।

5. **आर्थिक विकास में सहायक** - आर्थिक विकास पर भी व्यापार शर्तों का प्रभाव पड़ता है। व्यापार शर्तें अनुकूल होने पर विकासशील देश तेजी से विकास कर सकते हैं। वे कच्चे माल का निर्यात करके अधिक मात्रा में पूंजीगत वस्तुएं और मशीनों का आयात कर सकते हैं जिससे देश का तीव्र गति से विकास होता है।

बोध प्रश्न-3

1. परिवहन और बीमा व्यय व्यापार शर्तों को किस तरह प्रभावित करते है?

2. किसी देश की मुद्रा के अवमूल्यन का उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है?

3. प्रशुल्क का व्यापार शर्तों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

4. व्यापार शर्तों का व्यवहारिक महत्व क्या है?

11.8 सारांश

व्यापार शर्तों से हमारा तात्पर्य उस अनुपात से है जिस पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तुएं एक दूसरे के बदले बेची जाती हैं।

आयात मूल्य और निर्यात मूल्य के अनुपात के रूप में व्यापार शर्तें सूत्र में Px/Pm लिखी जायेंगी। सूत्र में Px आयात मूल्य तथा Pm निर्यात मूल्य है। आयात और निर्यात मूल्यों का अनुपात (Px/Pm) में जब वृद्धि होती रहती है। तो अनुकूल व्यापार शर्तें और जब यह अनुपात कम होता जाता है तो प्रतिकूल व्यापार शर्तें होती हैं।

व्यापार शर्तें तीन वर्गों में सात प्रकार की होती है -

(अ) वस्तु विनिमय के आधार पर -

(i) शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें

(ii) सकल विनिमय व्यापार शर्तें

(iii) आयगत व्यापार शर्तें

(ब) उत्पादक साधनों की उत्पादकता के आधार पर -

(i) एक घटकीय व्यापार शर्तें

(ii) द्विघटकीय व्यापार शर्तें

(स) आयात और निर्यात को उपयोगिता के आधार पर -

(i) वास्तविक लागत व्यापार शर्तें

(ii) उपयोगिता व्यापार शर्तें

व्यापार शर्तों के मापने में अनेक कठिनाइयां हैं जैसे निर्देशांकों का निर्माण और वस्तुओं को भार देने की कठिनाई, निर्यात और आयात का एक साथ न होना, वस्तुओं के गुणों में परिवर्तन, विकसित देशों द्वारा परिवहन और बीमा व्यय का जोड़ दिया जाना।

व्यापार शर्तों का निर्धारण देशों में पारस्परिक मांग की तीव्रता, स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि, सीमा शुल्क, अवमूल्यन आदि घटकों पर निर्भर करता है।

व्यापार शर्तों का व्यवहारिक महत्व है। इन शर्तों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त लाभ की गणना की जा सकती है। इनके अनुकूल होने से निर्यात उद्योगों का ही विकास नहीं होता अपितु उपभोक्ता उद्योगों का भी विकास होता है, साथ ही देश के निवासियों का जीवन स्तर भी ऊंचा रहता है और देश तीव्र गति से विकास कर सकता है। इन शर्तों से ही पता लगता है कि भुगतान के लिए अतिरिक्त विदेशी विनिमय की जरूरत पड़ेगी या नहीं।

11.9 शब्दावली

अवमूल्यन का आशय किसी देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करने से होता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके फलस्वरूप मुद्रा का आन्तरिक मूल्य भी आवश्यक रूप से कम है।

प्रशुल्क (तटकर) एक कर है जो निर्यातों और आयातों दोनों पर लगाया जाता है। पर सामान्यतः इसे आयातों पर ही लगाया जाता है। यही कारण है की तटकर तथा आयात कर को एक समान माना जाता है।

आयात प्रतिस्थापन - वह नीति जिसके अर्न्तगत देश में ऐसा वस्तु का उत्पादन किया जाता है जो या तो आयतित वस्तु के समान होती है अथवा उसका निकट स्थानापन्न होती है।

भुगतान संतुलन - किसी देश के निवासियों और शेष विश्व के निवासियों के मध्य एक दी हुई अवधि में साधारणतः एक वर्ष में किये जाने वाले समस्त आर्थिक लेन-देनों का एक व्यवस्थित विवरण है।

11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. जे.सी. वार्ष्णय तथा आर.सी. अग्रवाल : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, रतन प्रकाशन मंदिर, आगरा

2. एच.एस. अग्रवाल तथा सी.एस. बरला : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा

3. वी.सी. सिन्हा : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली

4. जी.सी. सिंघई : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा

5. डॉ. विष्णु दत्त नागर तथा डॉ. घनश्याम सिंह शर्मा, : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, गोयल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ

6. M.C. Vaish and Sudama Singh : International Economics, Oxford and IBH Publishing Co., New Delhi

7. M.C. Jhingan : International Economics, Konark Publications, New Delhi

8. Mehta, David and Mithani : International Economics, Himalaya Publishing House, Bombay.

11.11 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जिस मूल्य पर वस्तुओं का आदान-प्रदान होता है उसे व्यापार की शर्तों के नाम से जाना जाता है।

2. व्यापार की शर्तें अनुकूल तब कही जाती हैं जब कि एक देश एक निश्चित निर्यात मात्रा के बदले पहले से अधिक आयात करने की स्थिति में होती है और प्रतिकूल तब कही जाती है जब कम आयात कर पाता है।

बोध प्रश्न-2

1. शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें एक देश के आयात और निर्यात कीमतों का अनुपात है। पर, सफल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें आयात और निर्यात की कुल मात्राओं का अनुपात है।

2. वस्तु व्यापार शर्तें जिन्हें शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार शर्तें भी कहा जाता है एक देश के आयात और निर्यात मूल्यों का अनुपात है। आयगत व्यापार शर्तें निर्यात वस्तुओं

के मूल्य का वह सूचकांक है जिसमें आयतित वस्तुओं के मूल्य सूचकांक का भाग दिया जाता है।

बोध प्रश्न-3

1. विकसित देश परिवहन और बीमा व्यय को अपने आयातों और निर्यातों में जोड़ देते हैं। आयातों में ये व्यय जोड़ लेने से इन देशों की शर्तें सही नहीं रहती क्योंकि इन व्ययों का भुगतान अर्द्धविकसित देशों को नहीं किया जाता है।
2. किसी देश द्वारा अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने से एक ओर उसके निर्यात बढ़ जाते हैं तथा दूसरी ओर आयात कम हो जाते हैं।
3. प्रशुल्क लगाकर एक देश अपनी व्यापार शर्तों में सुधार कर सकता है। वह आयात कर लगाकर पहले से कम कीमत पर वस्तुओं का आयात कर सकता है क्योंकि निर्यातकर्ता देश निर्यात करने के उद्देश्य से अपनी वस्तुओं की कीमत कम कर देता है।
4. अनुकूल व्यापार शर्तें होने पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देश को लाभ होता है, निर्यात उद्योगों के साथ ही उपभोक्ता उद्योगों का विस्तार होता है, देशवासियों का जीवन स्तर ऊंचा हो जाता है, भुगतान के लिए अतिरिक्त विदेशी विनिमय की आवश्यकता नहीं रहती और देश तीव्र गति से विकास करता है। शर्तों के प्रतिकूल हो जाने से परिणाम भी ठीक विपरीत हो जाते हैं।

इकाई – 12

प्राथमिक उत्पादों का निर्यात तथा व्यापार शर्तें

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 व्यापार शर्तें और आर्थिक विकास

12.2.1 व्यापार शर्तें और आर्थिक विकास पर जेवन्स का मत

12.3 प्राथमिक उत्पादों की व्यापार शर्तें : अर्थशास्त्रियों के विचार

12.3.1 प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री

12.3.2 राल प्रेबिश

12.3.3 सिंगर

12.3.4 जगदीश भगवती

12.3.5 लिंडर

12.4 प्रतिकूल व्यापार शर्तों के कारण

12.5 व्यापार शर्तों को सुधारने के सुझाव

12.6 सारांश

12.7 शब्दावली

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.9 अभ्यासों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने व्यापार शर्तों का अर्थ, प्रकार और महत्व का अध्ययन किया है। इस इकाई में आपको बताया जायेगा कि प्राथमिक उत्पादों को निर्यात करने वाले अर्द्ध-विकसित देशों के लिए व्यापार शर्तें किस प्रकार की रहती हैं। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

1. व्यापार शर्तों और आर्थिक विकास में सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे।
2. प्राथमिक उत्पादों का निर्यात और व्यापार शर्तों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के विचार जान सकेंगे।

3. प्राथमिक उत्पादों के लिये प्रतिकूल व्यापार शर्तों के कारण बता सकेंगे।

4. व्यापार शर्तों को सुधारने के लिए सुझाव रख सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

आप यह जानते ही हैं कि अनुकूल तथा प्रतिकूल व्यापार शर्तों का एक देश पर क्या प्रभाव पड़ता है? अब आपको यह बताया जायेगा कि अर्द्ध विकसित देश जो कि मुख्य रूप से प्राथमिक वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं, उनकी व्यापार शर्तें उनके आर्थिक विकास को किस प्रकार प्रभावित करती हैं और व्यापार शर्तों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री क्या कहते हैं। इस बात का परीक्षण भी किया जायेगा कि इन देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल क्यों होती हैं? और फिर इन शर्तों में सुधार करने के उपाय क्या हैं?

12.2 व्यापार शर्तें और आर्थिक विकास

व्यापार शर्तों का आर्थिक विकास से गहरा सम्बन्ध है। इन शर्तों से आर्थिक विकास प्रभावित होता है। व्यापार शर्तें सुधरती हैं तो देश की क्रय क्षमता बढ़ती है, निर्यात बढ़ते हैं, विदेशी पूंजी आती है और देश का आर्थिक विकास गतिशील होता है। इसके विपरीत व्यापार शर्तों के ह्रास से क्रय शक्ति कम होती है और आयात की मात्रा पूर्ववत बनाये रखने के लिए अधिक निर्यात करना पड़ता है। इससे विकास की क्षमता कम होती है। इस बात को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि एक देश कच्चे माल का निर्यात करता है। वह निर्यात से जो कुछ भी आयात करता है। उसका पूरी तरह भुगतान भी हो जाता है। अब यदि विदेशी बाजार में कच्चे माल का मूल्य बढ़ जाता है, जो कुछ भी यह देश आयात करता है उसका मूल्य अपरिवर्तित ही रहता है अथवा थोड़ा बहुत बढ़ जाता है, तो ऐसी परिस्थिति में व्यापार शर्तें अर्द्ध-विकसित देश के अनुकूल हो जाती हैं। निर्यातों से यह देश, निर्यातों की मात्रा पूर्ववत रखने पर भी अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त कर लेता है। आयातों का मूल्य अथवा निर्मित वस्तुओं का मूल्य क्योंकि स्थिर है अथवा उसमें कुछ वृद्धि हुई है तब भी इन वस्तुओं की पूर्ववत मात्राओं को खरीदने पर इस अर्द्धविकसित देश के पास कुछ विदेशी विनिमय शेष रह जाता है जिसका कि प्रयोग आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में कर सकता है।

व्यापार शर्तों के सुधार से अर्द्ध-विकसित देशों को जो भी अतिरिक्त विदेशी विनिमय मिल जाता है, वह एक तरह से अनुदान सदृश्य है। इस अतिरिक्त विदेशी विनिमय पर, विदेशी ऋण के समान न तो ब्याज देने की समस्या है और न ही मूलधन लौटाने की एक तरह से यह प्राप्ति विदेशों से प्राप्त अनुदान से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि अनुदान देने वाले देश से यदाकदा विरोध भी हो सकता है, पर इस तरह कि प्राप्ति से किसी से भी विरोध होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता है। रेगनर नर्क्से ने ठीक ही कहा है कि अनुकूल व्यापार शर्तें किसी देश के लिये पूंजी निर्माण का संभावित स्रोत हैं। इनका लाभ भी अत्याधिक है। इनसे न तो विदेशी ऋण के भार में वृद्धि होती है और न ही विभिन्न देशों के द्वारा ऋणों के लेन-देन को लेकर किसी प्रकार का विरोध होता है।

व्यापार शर्तों के प्रतिकूल होने से आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। विदेशी बाजार में निर्यात वस्तुओं की कीमतें कम होने से, एक देश की क्रय शक्ति कम हो जाती है। निर्यातों से प्राप्त आय का स्तर पूर्ववत बनाये रखने के लिये उसे और अधिक मात्रा

में निर्यात करने पड़ते हैं, जिसके लिये निर्यात उद्योगों में अतिरिक्त साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश की विकास क्षमता कम हो जाती है।

अब यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास में व्यापार शर्तें सहायक अथवा बाधक हो सकती हैं। मेयर और बाल्डविन कहते हैं कि व्यापार शर्तों में सुधार से विदेशी बाज़ारों में देश की क्रय शक्ति में वृद्धि होती है और देश का आर्थिक विकास होता है। अतः प्रत्येक देश व्यापार शर्तों में सुधार का प्रयत्न करता है। वे फिर आगे कहते हैं कि व्यापार शर्तों में गिरावट से इन देशों की क्रय शक्ति गिर जाती है और विकास की क्षमता भी कम हो जाती है।

12.2.1 व्यापार शर्तें और आर्थिक विकास पर जेवेन्स का मत

जेवेन्स व्यापार शर्तों को विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ का प्रतीक नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि व्यापार शर्तों से आयात की सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता और निर्यात की सीमान्त इकाई से प्राप्त अनुपयोगिता का सम्बन्ध बताया जाता है। परन्तु व्यापार से लाभों की गणना के लिये आयात से प्राप्त कुल उपयोगिता और निर्यात की कुल अनुपयोगिता का अंतर लिया जाता है। वे कहते हैं कि यह भी संभव है कि व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर भी विदशी व्यापार से प्राप्त लाभ में वृद्धि हो। व्यापार से प्राप्त लाभ उस समय अधिकतम होंगे जब आयातों की सीमान्त उपयोगिता और निर्यातों की सीमान्त अनुपयोगिता बराबर हो ($MUm=MUx$)। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापार की अंतिम इकाई कोई लाभ नहीं देती है।

इस तरह से जेवेन्स के अनुसार व्यापार शर्तों और आर्थिक विकास में कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर भी देश को मिलने वाला लाभ क्रमशः बढ़ सकता है। अल्पकाल में व्यापार शर्तें प्रतिकूल होने पर भी, यदि कच्चा माल और आवश्यक मशीनें भी उपलब्ध हो सकती हैं तो देश का आर्थिक विकास किया जा सकता है।

यदि हम व्यापार शर्तों का जो तुरन्त ही प्रभाव पड़ता है, उस पर ध्यान दें तो जेवेन्स का विचार उचित प्रतीत नहीं होता है। फिर दीर्घकाल तक प्रतिकूल रहने वाली व्यापार शर्तें किसी भी प्रकार आर्थिक विकास में सहायक नहीं हो सकती हैं।

बोध प्रश्न-1

:- इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1. अर्द्ध विकसित देशों के लिये अनुकूल व्यापार शर्तों का क्या महत्व है?
2. अनुकूल व्यापार शर्तों से प्राप्त राशि अर्द्ध-विकसित देश के लिये अनुदान से भी श्रेष्ठ क्यों है?
3. जेवेन्स व्यापार शर्तों को विदेशी व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ का प्रतीक क्यों नहीं मानते?

12.3 प्राथमिक उत्पादों की व्यापार शर्तें : अर्थशास्त्रियों के विचार

अर्द्ध-विकसित देश प्राथमिक उत्पादों का निर्यात करते हैं। इन उत्पादों की कीमतों में निर्मित वस्तुओं की तुलना में लगातार घटने की प्रवृत्ति रही है। अतः इन देशों की व्यापार

शर्तें प्रतिकूल रहती हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इन देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होने के कारणों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

12.3.1 प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री

मार्शल जैसे प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्रियों का मत था कि कतिपय मौलिक नियमों के कारण व्यापार शर्तें औद्योगिक देशों के प्रतिकूल रहेगी। वे यह मानते थे कि कृषि में उत्पत्ति ह्रास नियम और उद्योगों में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। वास्तव में उत्पादन की तकनीकों में निरन्तर सुधार से निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में श्रम की मात्रा कम होती गई है पर कृषि उत्पादों के साथ ऐसा नहीं हुआ है। इस तरह से निर्मित वस्तु के उत्पाद की एक इकाई में कृषि उत्पाद की एक इकाई की अपेक्षा कम श्रम लगता है। अब यदि वस्तुओं का विनिमय उनके उत्पादन में व्यय श्रम के आधार पर होता है तो यह कहा जा सकता है कि व्यापार शर्तें औद्योगिक देशों के प्रतिकूल रहेंगी। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि कृषि उत्पादों की एक निश्चित मात्रा के लिये पहले से अधिक निर्मित वस्तुएं देना पड़ेगी।

इन अर्थशास्त्रियों के मत का जब समंकों के आधार पर परीक्षण किया गया तो बात कुछ और ही सामने आयी। 19वीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध से ही ब्रिटेन निर्यात तो विशेषकर निर्मित वस्तुओं का करता था और आयात खाद्यान और कच्चे माल का। देखा यह गया कि 19वीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध से लेकर द्वितीय महायुद्ध तक निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में हमेशा ही घटने की प्रवृत्ति रही है। फलस्वरूप प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातों की एक निश्चित मात्रा इस अवधि के अन्त में निर्मित वस्तु की उस कुल मात्रा की केवल 60 प्रतिशत का ही भुगतान कर सकी है जितनी की इसके द्वारा प्रारम्भ में खरीदी जा सकती थी। संक्षेप में निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि व्यापार शर्तें अर्द्ध-विकसित देशों के प्रतिकूल और विकसित देशों के अनुकूल होती हैं।

12.3.1 राल प्रेबिश

इनका कहना है कि अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तें निरन्तर ही प्रतिकूल होती जा रही हैं। वे लिखते हैं कि दीर्घकाल में निर्मित वस्तु की कीमतों की तुलना में प्राथमिक उत्पादन के मूल्यों में गिरावट की प्रवृत्ति रही है। वे अपनी बात को स्पष्ट करते हुये बताते हैं कि अल्पविकसित देश चाय, जूट, चीनी, काफी, तांबा, टिन इत्यादि वस्तुओं का अधिकतर उत्पादन करते हैं। वे इन वस्तुओं में कोई गुणात्मक सुधार नहीं करते हैं। दूसरी ओर विकसित देश निर्मित वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और इनमें गुणात्मक सुधार भी करते हैं। परिणामस्वरूप निर्मित वस्तुओं की कीमतों में प्राथमिक उत्पादनों की तुलना में अधिक वृद्धि होती है। कुल मिलाकर स्थिति यह बनती है कि विकसित देशों की व्यापार शर्तें तो अनुकूल होती जाती हैं और अर्द्ध-विकसित देशों की प्रतिकूल बनती जाती हैं।

12.3.3 सिंगर

सिंगर ने अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तों के प्रतिकूल होने की व्याख्या प्रेबिश से कुछ हटकर की है। उसने कहा है कि तकनीकी प्रगति का प्रतिफल उत्पादकों को अधिक लाभ के रूप में अथवा उपभोक्ताओं को कम कीमतों के रूप में प्राप्त हो सकता है विकसित देशों में तो यह प्रतिफल उत्पादकों को बढ़ी हुई आय के रूप में प्राप्त होता है) इस सबका

परिणाम यह होता है कि विकसित देशों में जो कि निर्मित वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, कीमतों का स्तर पूर्ववत ही बना रहता है किन्तु अर्द्ध-विकसित देशों में गिर जाता है और व्यापार शर्तें अर्द्ध-विकसित देशों के प्रतिकूल हो जाती है।

12.3.4 जगदीश भगवती

भगवती का विचार है कि अर्द्ध-विकसित देशों का विकास दरिद्रता को विकसित करने वाला विकास है। इस दरिद्रता में वृद्धि के कारण ही इन देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं। वे आगे कहते हैं कि इन देशों में केवल निर्यात उद्योगों का ही विकास होता है, जिस कारण से ये देश केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन से परिचित है जिनका कि वे निर्यात करते है।

12.3.5 लिन्डर

अर्थशास्त्री लिंडर का मत है कि अर्द्ध-विकसित देशों में मध्यवस्तुओं (Intermediate goods) की कमी होती है। इन वस्तुओं की कमी के कारण ये देश ठीक से अपनी अर्थ-व्यवस्था का न तो विविधीकरण कर पाते हैं और न ही रूपान्तरण। ये देश मध्यवस्तुओं की कमी के कारण अपने साधनों का भी पूरी तरह प्रयोग नहीं कर पाते हैं। घरेलू साधन सीमित होने के कारण से ये देश अपने आयातों का प्रतिस्थापन भी एक सीमा तक ही कर पाते हैं। इन देशों की जनसंख्या भी तेजी से बढ़ती है और इस कारण से आयातों में वृद्धि करना, इनकी एक विवशता बन जाती है। इन सब कारणों से अर्द्धविकसित देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती है।

12.4 प्रतिकूल व्यापार शर्तों के कारण

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल किन कारणों से हैं-

1. **अधिक जनसंख्या और जनसंख्या वृद्धि दर** — अल्पविकसित देशों में, विकसित देशों की तुलना में, एक ओर तो आकार बड़ा होता है तथा दूसरी ओर जनसंख्या में वृद्धि की दर भी तेज होती है। इस कारण से इने देशों में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग निरन्तर बढ़ती रहती हैं। उपभोक्ता वस्तुओं की मांग वृद्धि का परिणाम दो रूपों में सामने आता है। निर्यात वस्तुओं का अतिरेक कम हो जाता है और पूंजीगत वस्तुओं का आयात बढ़ जाता है। कुल मिलाकर व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती है।

2. **निम्न उत्पादकता** — अर्द्ध-विकसित देशों में पुरानी तकनीकों से उत्पादन किया जाता है जिससे उत्पादन कम होता है और उत्पादन लागतें ऊँची होती हैं। इससे इन देशों के निर्यात कम होते हैं। विकसित देश नई और उन्नत तकनीकों से उत्पादन करते हैं जिससे उत्पादन लागतें कम होती हैं। परिणामस्वरूप विदेशी बाजार में अर्द्ध-विकसित देशों के उत्पाद प्रतियोगिता में ठहर नहीं पाते हैं और उनकी व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं। इसके विपरीत, उन्नत तकनीकों के कारण विकसित देशों की व्यापार शर्तें अनुकूल रहती हैं।

3. **प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन** — अर्द्ध-विकसित देश प्रमुख रूप से प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। जैसे श्रीलंका में चाय, नारियल, इन्डोनेशिया में टिन, रबर, तेल मलाया में रबर, टिन, जाम्बिया में तांबा आदि। इन वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम के अंतर्गत होता है। इसके विपरीत विकसित देश निर्मित वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जो कि उत्पादन वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है। अतः अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल और विकसित देशों की अनुकूल हो जाती हैं।

4. **स्थानापन्न वस्तुएं** — विकसित देशों ने अर्द्धविकसित देशों की वस्तुओं के लिए अनेक स्थानापन्न वस्तुएं बना ली हैं जिससे इन देशों की आयात मांग लोचदार हो गई। पर अर्द्धविकसित देशों के पास विकसित देशों की वस्तुओं के लिये कोई स्थानापन्न वस्तुएं नहीं होती जिससे कि इनके आयातों की मांग बेलोचदार रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

5. **उत्पादन साधनों की गतिशीलता** — विकसित देशों में उत्पादन के साधन अर्थात श्रम व पूंजी अत्याधिक गतिशील होते हैं। ये साधन इन वस्तुओं के उत्पादन से हट जाते हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मूल्य गिर जाता है। और इन वस्तुओं के उत्पादन में लग जाते हैं जिनका मूल्य बढ़ जाता है। पर अर्द्धविकसित देशों में ऐसा नहीं होता है। इन देशों के साधनों में गतिशीलता नहीं होती है अतः उन वस्तुओं का उत्पादन होता रहता है। जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कीमतें गिर गई हैं और ये देश कम मूल्य पर भी वस्तुएं बेचने के लिये तैयार रहते हैं। साधनों की गतिशीलता के अभाव में इन देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

6. **सौदा करने की शक्ति** — अर्द्ध-विकसित देशों की मोलभाव करने की शक्ति कम होती है। इन देशों के पास एक तो निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या ही कम होती है और दूसरे इन वस्तुओं में से अनेक ऐसी होती हैं जो अधिक समय तक टिक नहीं सकती हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन देशों की मोलभाव करने की शक्ति विकसित देशों की अपेक्षाकृत कम हो जाती है। और व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

7. **संगठन का अभाव** — अर्द्ध-विकसित देशों द्वारा कुछ ऐसी वस्तुओं जैसे चाय, काफी, शक्कर, कोको, चौड़ का तेल आदि और खनिज पदार्थों का उत्पादन किया जाता है जिनका की उत्पादन विकसित देश बहुत कम करते हैं। अथवा नहीं करते है। यदि ये देश आपस में मिलकर यूरोपियन साझा बाजार के समान संगठन बना लें और फिर इन वस्तुओं को बेचें तो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन्हें अच्छी कीमतें प्राप्त हो सकती है और व्यापार शर्तें भी अनुकूल हो सकती है। पर ये देश ए.एस. मक्लेड के अनुसार, आवश्यक संगठन के अभाव के कारण अपनी वस्तुओं के बाजारों की प्राप्ति हेतु आपस में प्रतियोगिता करते रहते हैं। परिणामस्वरूप इनके लाभा का अंश कम होता चला जाता है। विकसित देश इस प्रतियोगिता का लाभ उठा लेते हैं।

8. **आयात नियन्त्रण** — विकसित देशों द्वारा कृषि पर आधारित उद्योगों की रक्षा के लिये कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के आयात प्रतिबंध कर दिये जाते हैं जिससे अर्द्ध विकसित देशों के निर्यात कम हो जाते हैं और व्यापार शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

12.5 व्यापार शर्तों में सुधारने के उपाय

हम यहां देखेंगे कि अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तों में सुधार किस तरह किया जा सकता है जिससे कि वे विदेशी व्यापार से अधिक लाभ प्राप्त कर सकें। व्यापार शर्तों में सुधार के लिये निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं:

1. **निर्यातों में वृद्धि और विविधता** — अर्द्ध-विकसित देशों के सामने समस्या केवल निर्यातों को बढ़ाने की ही नहीं है। इनके सामने एक और समस्या है और वह है निर्यातों में विविधता उत्पन्न करना। अभी तो ये केवल प्राथमिक वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं। पर आवश्यकता इस बात की है कि ये प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन के साथ-साथ अपने उत्पादनों में विविधता लायें और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या में वृद्धि करें। भारत ने इस दिशा में प्रयास किया है। वह इंजीनियरिंग का सामान, तैयार कपड़े, तैयार चमड़े की वस्तुएं आदि का निर्यात करने लगा है। फिर इन देशों को उन वस्तुओं का उत्पादन करने में भी जुट जाना चाहिये जिनका कि वे आयात करते हैं। ठीक उसी तरह से जैसे कि विकसित देशों ने प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करना प्रारम्भ कर दिया है। यह सब करने से इन देशों की व्यापार शर्तों में सुधार हो सकता है।

2. **आपसी समझौते** — अर्द्ध-विकसित देशों को आपस में मिल बैठकर समझौते कर लेना चाहिये जिससे कि उनमें आपसी प्रतिस्पर्धा तो समाप्त हो ही और वे अपनी निर्यात वस्तुओं के लिये अच्छी कीमतें विदेशी बाजारों में प्राप्त कर सकेंगे।

3. **पारस्परिक व्यापार** — अर्द्ध-विकसित देशों द्वारा पारस्परिक व्यापार को प्रोत्साहित करना चाहिये। उन्हें विकसित देशों को तो निर्यात बढ़ाना ही चाहिये पर साथ ही दूसरे अर्द्ध-विकसित देशों को भी निर्यात करना चाहिये। इससे वे अपने आप को उस शोषण से मुक्त कर सकेंगे जो कि विकसित देशों द्वारा किया जाता है। देखने में यह आया है कि विदेशी व्यापार का 80% व्यापार ये देश विकसित देशों के साथ करते हैं। यह प्रतिशत प्रत्येक दशा में गिरना चाहिये। आपस में व्यापार करने के लिये इन्हें व्यापारित प्रतिबंधों को हटा देना चाहिये।

4. **वस्तुओं का भंडारण** — अर्द्ध-विकसित देशों को मूल्यों में उतार-चढ़ाव की रोकथाम के लिये वस्तुओं का भंडारण करना चाहिये। कभी-कभी प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले अर्द्ध-विकसित देशों के पास निर्यात के लिये पर्याप्त वस्तुएं नहीं रहती हैं। इस तरह की स्थिति से निपटने के लिये वस्तुओं के भंडार स्थापित करना चाहिये। जिससे कि वे निर्यात जारी रख सकें और व्यापार शर्तों को प्रतिकूल होने से रोक सकें।

बोध प्रश्न-2

:- इकाई के अंत में दिये गए उत्तरों से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1. दीर्घकाल में अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तों की प्रवृत्ति प्रतिकूल होने की रहती है। कारण बताइये।

2. अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होने के क्या कारण हैं?

3. अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार शर्तों में सुधार के लिए आप क्या सुझाव देंगे।

12.6 सारांश

प्राथमिक उत्पादों का निर्यात करने वाले अर्द्ध-विकसित देशों के लिये व्यापार शर्तों का अत्याधिक महत्व है। शर्तों के अनुकूल होने पर आयातों का भुगतान करने पर भी विदेशी मुद्रा इनके पास बची रहती है। जिसको वे आर्थिक विकास के लिये प्रयुक्त कर सकते हैं। इस प्रकार से प्राप्त पूंजी से इनका विदेशी ऋण का भार नहीं बढ़ता है।

जेवेन्स का विचार है कि प्रतिकूल व्यापार शर्तों से देश का आर्थिक विकास प्रभावित नहीं होता है। उनका विचार उचित नहीं है। प्रतिकूल व्यापार शर्तों का प्रतिकूल प्रभाव ही आर्थिक विकास पर पड़ता है। प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात अर्द्ध-विकसित देशों के द्वारा किया जाता है। इन देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल हैं। मार्शल जैसे अर्थशास्त्रियों का विचार था कि कुछ मूलभूत नियमों के कारण इनकी व्यापार शर्तें, समय बीतने के साथ, अनुकूल होती जायेगी। पर हुआ उनके विचार के विपरीत ही, व्यापार शर्तें उनके प्रतिकूल होती चली गई। राल प्रेबिश, सिंगर, भगवती, लिंडर आदि अर्थशास्त्रियों ने अपने तर्क देकर यह स्पष्ट बताया कि दीर्घकाल में इन देशों की व्यापार शर्तों में प्रतिकूल होने की प्रवृत्ति है।

इन देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होने के भी अनेक कारण हैं - जनसंख्या का बृहत आकार तथा जनसंख्या वृद्धि की तीव्र गति, निम्न उत्पादकता, आयातों की बेलोचदार मांग, अर्थ-व्यवस्था में लोच का अभाव, मोलभाव की कम शक्ति, संगठन का अभाव, निर्यातोन्मुखी अर्थ-व्यवस्था आदि।

इनकी व्यापार शर्तों में सुधार निर्यातों में वृद्धि, वस्तुओं के भण्डारन, सामूहिक समझौते और पारस्परिक व्यापार को प्रोत्साहन देकर किया जा सकता है।

12.7 शब्दावली

यूरोपियन साझा बाजार एक सीमा संघ (custom union) है। 1958 में इसके छः सदस्य थे - फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्डस और लक्जेमबर्ग। इन देशों में वस्तुओं और सेवाओं के आवागमन में पूर्ण स्वतंत्रता है। इन देशों के बीच कोई प्रशुल्क नहीं है।

सीमा संघ - (Custom Union)

एक समूह के सदस्यों के बीच ऐसा समझौता है जिसमें सदस्य देशों के बीच आयात प्रशुल्क समाप्त कर दिये जाते हैं। संघ के बाहर के देशों के लिये सभी सदस्य देश समान प्रशुल्क (आयात कर) लगाते हैं।

12.8 कतिपय उपयोगी पुस्तकें

1. जी.सी. सिंघई : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा
2. वी.सी. सिन्हा : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली
3. डॉ. विष्णु दत्त नागर तथा डॉ. घनश्याम सिंह शर्मा, : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, गोयल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ
4. एच.एस. अग्रवाल तथा सी.एस. बरला : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
5. डॉ. शिवध्यान सिंह चौहान और द्वारका प्रसाद गौतम : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा
6. M.L. Jhingan : International Economics, Konark Publications, New Delhi.
7. O.S. Srivastava : International Economics, Kalyani Publishers, Ludhiana

12.9 अभ्यास के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. **व्यापार शर्तों की दीर्घकाल में प्रवृत्ति प्रतिकूल होने के कारण -**

   (i) प्राथमिक वस्तुओं का प्रमुख रूप से उत्पादन तथा इनमें गुणात्मक सुधार का न होना है।

   (ii) तकनीकी प्रगति के फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि का लाभ उपभोक्ताओं को कम कीमतों के रूप में मिलना,

   (iii) विकास का निर्यातोन्मुखी प्रकार,

   (iv) मध्य वस्तुओं की कमी के कारण अर्थव्यवस्था का विविधीकरण न होना, आयात प्रतिस्थापन की संभावनाओं का अभाव तथा अत्याधिक जनसंख्या वृद्धि के कारण आयात की विवशता।

2. **व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने के कारण -**

जनसंख्या में वृद्धि, प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन, मोलभाव की शक्ति का अभाव, संगठन का अभाव, निम्न उत्पादकता, उत्पादन साधनों में गतिशीलता का अभाव आदि हैं।

3. निर्यातों में वृद्धि, वस्तुओं के भंडारण, सामूहिक समझौते और पारस्परिक व्यापार को प्रोत्साहन से व्यापार शर्तों में सुधार किया जा सकता है।

बोध प्रश्न-2

1. अर्द्ध-विकसित देश व्यापार शर्तें के अनुकूल होने पर अपने निर्यातों से अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त करते हैं और आयातों का भुगतान करने के बाद भी इनके पास विदेशी मुद्रा बच जाती है जिसका प्रयोग वे आर्थिक विकास में करते हैं।

2. नर्क्से ने कहा है कि अनुकूल व्यापार के कारण मिलने वाली प्राप्ति अनुदान से भी श्रेष्ठ है क्योंकि इससे न तो ऋण भार बढ़ता है और न ही इस पर ब्याज देना पड़ता है।

3. जेवेन्स का मत था कि व्यापार शर्तों से आयात की सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता तथा निर्यात की सीमान्त इकाई से प्राप्त अनुपयोगिता को व्यक्त किया जाता है। जबकि व्यापार शेष की गणना के लिये आयात से प्राप्त कुल उपयोगिता और निर्यात की कुल उपयोगिता का अंतर लिया जाता है।

इकाई - 13

व्यापार से प्राप्त लाभ का सिद्धान्त
(The Theory of Gains from Trade)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 व्यापार से प्राप्त लाभों की प्रकृति

13.3 व्यापार से प्राप्त लाभों का वितरण

13.4 व्यापार से प्राप्त लाभों के परिमाण (Size) के निर्धारक तत्व

- 13.4.1 तुलनात्मक लागतों के अन्तर
- 13.4.2 व्यापार की शर्तें
- 13.4.3 अर्पण वक्र की लोच
- 13.4.4 उत्पादक कुशलता में वृद्धि

13.5 छोटे व बड़े राष्ट्र के लिए लाभ अधिकतम की भिन्न शर्तें

13.6 व्यापार से प्राप्त लाभों का माप

13.7 व्यापार से प्राप्त गत्यात्मक लाभ

- 13.7.1 तीव्र आर्थिक विकास
- 13.7.2 तकनीकी अन्तराल में कमी
- 13.7.3 निर्यात अंगुवाई वाला विकास
- 13.7.4 घरेलू बाजार के आकार में वृद्धि
- 13.7.5 समग्र औद्योगिक विकास के लाभ

13.8 सारांश

13.9 शब्दावली

13.10 बोध प्रश्न

13.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

रिकार्डो व हैक्श्चर - ओहलिन (Heckscher-Ohlin) के सिद्धान्तों में यह दर्शाया गया था कि व्यापाररत राष्ट्र व्यापार से लाभान्वित होते हैं। रिकार्डो ने अपने 'तुलनात्मक लागत' सिद्धान्त की सहायता से साबित किया कि उनके इंग्लैण्ड व पुर्तगाल वाले उदाहरण में व्यापार से दोनों ही राष्ट्र लाभान्वित होंगे।

प्रस्तुत अध्याय में हम व्यापार से प्राप्त लाभों (gains) की प्रकृति, इनके परिमाण के निर्धारक-तत्व (Determinants), लाभों के माप (measurement) तथा छोटे राष्ट्र के लिए व्यापार से प्राप्त सर्वाधिक लाभ की स्थिति का अध्ययन करेंगे।

13.1 प्रस्तावना

व्यापार से प्राप्त 'लाभों का सिद्धान्त' लगभग उतना ही पुराना है जितना अर्थशास्त्र स्वयं। व्यापार सिद्धान्त में प्रारम्भिक योगदानों को प्रमुख उद्देश्य वणिकवादियों द्वारा समर्थित संरक्षणवाद की नीति को निरर्थक साबित करना था।

एडम स्मिथ (Adam Smith) ऐसे प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने यह दर्शाया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से 'श्रम-विभाजन' (Division of Labour) अथवा 'विशिष्टीकरण' (specialisation) के अवसरों में वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यापाररत राष्ट्र लाभान्वित होंगे। तत्पश्चात् रिकार्डो, माल्थस व अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने व्यापार से प्राप्त लाभों का विस्तृत विवेचन किया। आधुनिक अर्थशास्त्रियों में प्रो. पाल सेम्युअलसन (Paul Samuelson) ने व्यापार से प्राप्त लाभों पर गहन विचार किया है। प्रो. सेम्युअलसन ने अपने विचार 'Canadian Journal of Economics and Political Science' में 'The Gains from International Trade' शीर्षक के लेख में तथा पुनः सन् 1962 में लन्दन से छपने वाली पत्रिका 'Economic Journal' में 'The gains from International Trade once Again' शीर्षक के लेख में प्रस्तुत किये हैं।

13.2 व्यापार से प्राप्त लाभों की प्रकृति

यह तो हमें ज्ञात ही है कि प्रत्येक राष्ट्र स्वेच्छा से व्यापार करता है अतः कोई भी राष्ट्र व्यापार तभी करेगा जब उसे व्यापार से लाभ प्राप्त हो। व्यापाररत राष्ट्र को व्यापार से विशिष्टीकरण व विनिमय के लाभ प्राप्त होते हैं जिसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों के कल्याण के स्तर में वृद्धि होती है।

प्रो. हेबरलर (Haberler) ने ठीक ही लिखा है कि अधिकतम विश्व उत्पादन के आधार पर एक स्वतंत्र व्यापार का सर्वोत्तम नीति के रूप में औचित्य ठहराया जा सकता है, उन्हीं के शब्दों में "केवल इस आधार पर एवं निश्चय ही इसी मान्यता पर कि वांछनीय उद्देश्य सामाजिक उत्पत्ति अधिकतम होते हैं, स्वतंत्र व्यापार का विज्ञान सम्मत औचित्य ठहराया जा सकता है। यद्यपि राजनैतिक प्रचार के उद्देश्य से अन्य तर्कों को अग्रिम पंक्ति में प्रस्तुत किया जा सकता है।" अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्य लाभों को संक्षेप में अग्रलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है :-

1. व्यापार व्यापार में आयातकर्ता राष्ट्र को आयात वस्तु नीची लागत पर प्राप्त होती है, साथ ही व्यापाररत राष्ट्रों को उपयोग हेतु अनेक ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं जिनका विश्व के कुछ ही भागों में उत्पादन सम्भव है।

2. व्यापार के परिणाम स्वरूप हानिकारक घरेलू एकाधिकारों पर रोक लगती है अथवा इनका स्थापित होना अधिक दुष्कर हो जाता है।

3. व्यापार से व्यापाररत राष्ट्रों को विक्रय हेतु विस्तृत बाजार उपलब्ध होते हैं।

4. स्वतंत्र व्यापार से प्रत्येक राष्ट्र को विश्व के आधुनिकतम उत्पादन तकनीक अपनाने की प्रेरणा मिलती है।

5 व्यापार में प्रत्येक राष्ट्र को उसकी निर्यात-वस्तु की ऊंची कीमत प्राप्त होती हैं एवं साथ ही विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं।

6. अतः व्यापार से एक ओर तो राष्ट्र विशिष्टीकरण से लाभान्वित होता है तथा दूसरी ओर उसे विनिमय के लाभ प्राप्त होते हैं।

व्यापार चाहे स्वतंत्र हो अथवा प्रतिबन्धित वह व्यापार विहीन स्थिति से सदैव ही श्रेष्ठ होता है। व्यापार की स्थिति को व्यापार-विहीन स्थिति से उत्तम साबित करने हेतु उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve) का ज्यामितीय उपकरण बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

चित्र 13.1 में यह दर्शाया गया है कि व्यापार विहिन स्थिति की तुलना में व्यापार की स्थिति उत्तम है।

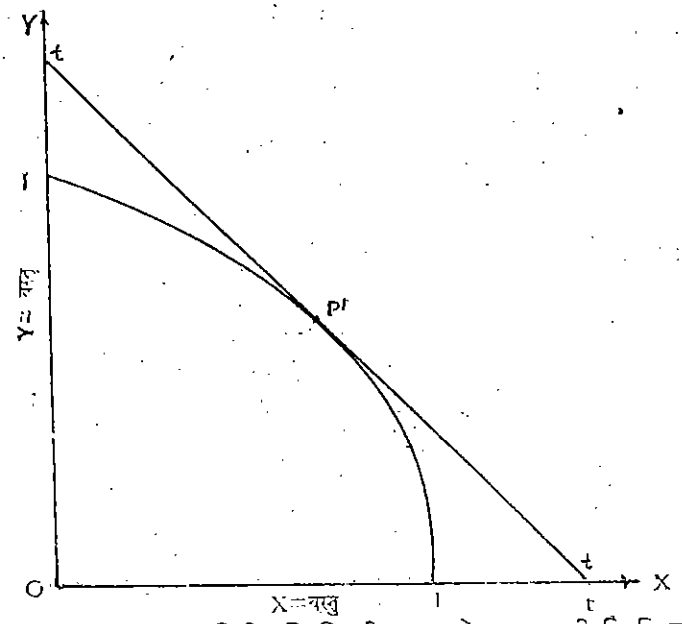

रेखाचित्र 13.1: व्यापार विहीन स्थिति की तुलना मे व्यापार की स्थिति उत्तम

चित्र 13.1 में I-I प्रथम राष्ट्र का उत्पादन-सम्भावना है तथा t-t रेखा व्यापार की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात दर्शाती है। व्यापार-विहीन स्थिति में इसका उपभोग बिन्दु I-I उत्पादन सम्भावना वक्र पर कहीं स्थित हो सकता है जबकि व्यापार की स्थिति राष्ट्र का 'उपभोग सम्भावना वक्र' (Consumption Possibility Frontier) tP't रेखा वाला

होगा अतः व्यापाररत राष्ट्र का उपयोग बिन्दु t-t रेखा पर भी स्थित हो सकता है। स्पष्ट ही है कि सिवाय उपयोग बिन्दु P' के tt रेखा I-I उत्पादन सम्भावना वक्र से, दायीं ओर बाहर की तरफ अर्थात् व्यापार की अनुपस्थिति वाले 'उपभोग सम्भावना वक्र' IP'I से t P't 'उपभोग सम्भावना वक्र' सिवाय बिन्दु P' के प्रत्येक स्थान उत्तर-पूर्व (North-East) में विद्यमान है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यापार रत राष्ट्र को उपभोग हेतु अधिक मात्रा में वस्तुएं उपलब्ध हैं। इसी आशय में व्यापार की स्थिति व्यापार विहिन स्थिति से उत्तम होती है। जहां तक उभयनिष्ठ (Common) बिन्दु P' का प्रश्न है इसकी स्थिति को निम्नांकित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है:-

1. यदि व्यापार-विहीन स्थिति में P' साम्य बिन्दु है तो व्यापार की स्थिति में इस सीमान्त स्थिति (Limiting Case) पर शून्य व्यापार होगा अथवा हम यह कह सकते हैं कि इस बिन्दु पर व्यापार से न तो लाभ होगा और न ही हानि।

2. लेकिन यदि P' बिन्दु के सिवाय I-I उत्पादन सम्भावना वक्र पर किसी भी दूसरे बिन्दु पर व्यापार-विहीन अवस्था का साम्य बिन्दु है तो उन सभी बिन्दुओं की तुलना में व्यापाररत राष्ट्र के tt 'उपभोग सम्भावना वक्र' के समस्त बिन्दु कल्याण के उच्च स्तर का प्रतिनिधित्व करेंगे क्योंकि tt 'उपभोग सम्भावना वक्र' I-I 'उपभोग सम्भावना वक्र' से सभी बिन्दुओं पर (सिवाय बिन्दु P' के) बाहर की ओर (उत्तर-पूर्व) में विद्यमान है।

यहां ध्यान देने योग्य बिन्दु यह है कि उपर्युक्त विश्लेषण में व्यापार की स्थिति को व्यापार-विहीन स्थिति से उत्कृष्ट साबित करने हेतु हमने न तो 'छोटे राष्ट्र' की मान्यता मानी है और न ही इस सम्बन्ध में कोई मान्यता मानी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा t-t किस प्रकार निर्धारित होती है।

अतः हम कह सकते हैं कि व्यापार-विहीन स्थिति की तुलना में व्यापार की स्थिति प्रत्येक राष्ट्र के लिए उत्कृष्ट होती है चाहे वह राष्ट्र छोटा हो अथवा बड़ा।

13.3 व्यापार से प्राप्त लाभों का वितरण (The Division of gains from Trade)

डेविड रिकार्डो को एक ओर तो उनके इस दावे के लिये दोषी ठहराया गया है कि व्यापार के समस्त लाभ एक ही राष्ट्र को प्राप्त होंगे तथा दूसरी ओर इस बात के लिए कि प्रत्येक राष्ट्र को व्यापार के समस्त लाभ प्राप्त होंगे।

लेकिन पी. सराफा (P. Sraffa) व प्रो. विनर (Viner) ने दर्शाया है कि रिकार्डो इस गलती के दोषी नहीं थे।

जे.एस. मिल (J.S. Mill) के एक अन्य सहकर्मी (Co-worker) विलियम एलिस (William Ellis) उसी वर्ष (सन् 1825) में मिल जैसे गणितीय उदाहरण की सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि व्यापार से प्राप्त लाभ व्यापार रत राष्ट्रों में समान रूप से विभाजित होंगे।

यद्यपि रिकार्डो ने अपने पुर्तगाल-इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध उदाहरण में ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात माना जो कि दोनों राष्ट्रों के व्यापार पूर्व घरेलू कीमत अनुपात के लगभग मध्य

वाला कीमत अनुपात था। लेकिन उन्होंने यह नहीं इंगित किया कि व्यापार में वास्तविक कीमत अनुपात व्यवहार में किस प्रकार निर्धारित होगा तथा न ही यह इंगित किया कि उन का मध्य कीमत अनुपात उनके द्वारा मानी गई स्थिति का परिणाम हैं।

लोंगफील्ड (Longfield) तथा टॉरेन्स (Torrens) के निबन्धों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि साम्य 'व्यापार की शर्तें' (अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-अनुपात) परिवर्तनशील होती हैं। तथा ये दोनों व्यापाररत राष्ट्रों में एक दूसरे की वस्तुओं के लिए मांग की शक्ति पर निर्भर करती हैं। पेनिंगटन (Pennigton) ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से प्रकाशित रूप में इंगित किया कि दोनों व्यापार राष्ट्रों की तुलनात्मक लागतें ही 'व्यापार की शर्तों' की न्यूनतम एवं अधिकतम सीमाएं हैं तथा इन सीमाओं के मध्य वास्तविक व्यापार शर्तें प्रतिपूरक मांग (Reciprocal Demand) के प्राचलन द्वारा तय होगी। टारेन्स भी लम्बे समय तक इस बात पर जोर देते रहे कि व्यापार की शर्तें प्रतिपूरक मांग द्वारा निर्धारित होती है। लेकिन जे.एस. मिल (J.S. Mill) ने सन् 1829 व 1830 के मध्य छपे अपने लेखों में इसी प्रश्न का विवेचन किया। तत्पश्चात् सन् 1848 में छपी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Principles of Political Economy' में मिल ने व्यापार की शर्तों के निर्धारण के प्रश्न को दोहराया एवं इसके उत्तर को विकसित किया। बाद के अर्थशास्त्रियों ने 'प्रतिपूरक माँग' के सिद्धान्त का मिल से ही अधीनीकरण (takeover) किया न कि लोंगफील्ड, टॉरेन्स अथवा पेनिंगटन से।

मिल ने अपने 'प्रतिपूरक माँग' के सिद्धान्त में स्पष्ट किया कि दोनों राष्ट्रों के व्यापार पूर्व वस्तु कीमत अनुपात ही ऐसी दो सीमाएँ होंती हैं जिनके मध्य अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-अनुपात निर्धारित होगा। इन सीमाओं के मध्य वास्तविक कीमत अनुपात 'प्रतिपूरक माँग' (Reciprocal Demand) द्वारा निर्धारित होगा। जिस किसी भी राष्ट्र की अपनी निर्यात वस्तु के रूप में आयात-वस्तु की माँग अपेक्षाकृत अधिक होगी उसी राष्ट्र के व्यापारपूर्व वस्तु-कीमत अनुपात के अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात अधिक करीब निर्धारित होगा। फलतः ऐसा राष्ट्र व्यापार से कम लाभान्वित होगा।

साम्यावस्था में राष्ट्र के निर्यातों का मूल्य उसके आयातों के कुल मूल्य के समान होना चाहिए। सम्भावित वस्तु कीमत अनुपातों में से वास्तविक वस्तु कीमत अनुपात वह होगा जिस पर प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अर्पण की गई निर्यात वस्तु की मात्रा दूसरे राष्ट्र द्वारा आयात के रूप में चाहे जाने वाली मात्रा के मूल्य के ठीक बराबर हो। बाद में निकोलसन (Nicholson) ने इंगित किया कि यदि व्यापाररत दोनों राष्ट्रों का आकार असमान है तो व्यापार की शर्तें बड़े राष्ट्र के व्यापारपूर्व कीमत अनुपात वाली अथवा इसके करीब निर्धारित होंगी अर्थात् व्यापार से समस्त लाभ छोटे राष्ट्र को प्राप्त होंगे।

फ्रेंक डी. ग्राह्म (Frank D. Graham) ने सार में यह स्पष्ट रूप से इंगित किया कि प्रत्येक व्यापारत राष्ट्र को व्यापार से प्राप्त लाभों का पर्याप्त अंश प्राप्त होने हेतु व्यापार में शामिल वस्तुओं का सापेक्ष महत्व तथा साथ ही व्यापार रत राष्ट्रों के सापेक्ष महत्व का समान होना आवश्यक है। अपने इस तर्क के आधार पर ग्राह्म इस बात पर जोर देते हैं कि स्थिर लागत की स्थिति में, दो राष्ट्र व दो वस्तुओं की मान्यता के अन्तर्गत व्यापार से प्राप्त समस्त लाभ एक ही राष्ट्र को प्राप्त होने की जिस स्थिति को मिल ने 'चरम व मात्र कल्पनीय स्थिति' (extreme and barely Conceivable case) माना वह सामान्य स्थिति होती है। लेकिन ग्राह्म इस बात पर मिल से सहमत है व्यापार से प्राप्त लाभों का व्यापार रत राष्ट्रों के मध्य विभाजन सामान्यतया पाई जाने वाली स्थिति (Normal Case) है क्योंकि सामान्यतया

दो से अधिक वस्तुओं का व्यापार होता है अतः जब कभी भी वस्तु विशेष के अधिक निर्यातों के परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तें राष्ट्र के प्रतिकूल चलन करने लगती हैं तो वह ऐसी अन्य वस्तुओं का निर्यात करने लगता है जिनमें इसका तुलनात्मक लाभ कम है और इस प्रकार वह व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल चलन को नियंत्रित (Checks) करता है। ग्राह्म यह भी स्वीकार करते हैं कि बेस्टेबिल (Bastable) ने छोटे व बड़े राष्ट्र के मध्य व्यापार में इन सम्भावनाओं को पहचाना था लेकिन वे समस्या पर विचार करने की बेस्टेबिल की विधि (Manner) की आलोचना करते हैं।

ग्राह्म का तर्क तो युक्तियुक्त (Sound) है लेकिन उनके द्वारा की गई मिल की आलोचना का औचित्य आंशिक ही है क्योंकि मिल ने सन् 1852 में अपनी पुस्तक 'Principles' के तृतीय संस्करण में दिये गये एक भाग (Section) में प्रथम बार स्पष्ट रूप से यही समस्या उठाई जो ग्राह्म ने उठाई है तथा इसका ठीक वही समाधान प्रदान किया जो ग्राह्म ने किया था।

13.4 व्यापार से प्राप्त लाभो के परिमाण के निर्धारक तत्व (Determinants of the Size of gains from Trade)

व्यापाररत राष्ट्रों को प्राप्त लाभों के परिमाण (Size) के प्रमुख निर्धारक घटक निम्नांकित हैं :-

13.4.1 तुलनात्मक लागतों के अन्तर:

व्यापाररत राष्ट्रों में व्यापारपूर्व लागत अनुपातों के अन्तर जितने अधिक होंगे उतने ही व्यापार सें राष्ट्र अधिक लाभान्वित होंगे।

व्यापार के परिणामस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र अपनी निर्यात वस्तु का उत्पादन अधिक तथा आयात वस्तु का उत्पादन कम अथवा शून्य करेगा। उत्पादन में इस परिवर्तन के फलस्वरूप राष्ट्र की निर्यात व आयात वस्तु की उत्पादन लागत परिवर्तित होगी जिससे लागतों के नये अनुपात विस्थापित होंगे। यदि लागतों के ये नये अनुपात भी दोनों व्यापाररत राष्ट्रों में भिन्न है तो और अधिक व्यापार से व्यापाररत राष्ट्र लाभान्वित होंगे। अतः राष्ट्र उस समय तक व्यापार बढ़ायेंगे जब तक दोनों राष्ट्रों में वस्तु लागत अनुपात ठीक बराबर नहीं हो जाते हैं।

13.4.2 व्यापार की शर्तें (Terms of Trade) :

राष्ट्र विशेष को व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों का परिमाण (Size) व्यापार की शर्तों पर भी निर्भर करता है।

व्यापार की शर्तें (अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात) राष्ट्र विशेष के व्यापार पूर्व वस्तु-कीमत अनुपात के जितनी अधिक करीब (Near) होंगी राष्ट्र को व्यापार में उतना ही कम लाभ प्राप्त होगा। इसी तरह राष्ट्र के व्यापारपूर्व वस्तु-कीमत अनुपात से व्यापार की शर्तें जितनी अधिक भिन्न होंगी उतना ही राष्ट्र व्यापार से अधिक लाभान्वित होगा। यदि व्यापार की शर्तें राष्ट्र विशेष के व्यापारपूर्व वाले वस्तु-कीमत अनुपात के बराबर ही हैं तो राष्ट्र को व्यापार से लाभ प्राप्त नहीं होगा।

व्यापार की शर्तें मिल के 'प्रतिपूरक माँग (Reciprocal demand) सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होंगी।

13.4.3 अर्पण वक्र की लोच :

व्यापार की शर्तों का परिवर्तन अर्पण वक्र की लोच पर निर्भर करता है। यदि विदेशी राष्ट्र की अर्पण वक्र की लोच अनन्त है तो स्वदेशी राष्ट्र प्रशुल्क जैसे प्रतिबन्ध लगाकर व्यापार की शर्तों को अपने पक्ष में परिवर्तित नहीं कर पायेगा। इसके विपरीत यदि विदेशी राष्ट्र का अर्पण वक्र बेलोचदार है तो स्वदेशी राष्ट्र प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क (retaliatory tariff) में प्रशुल्क की अनुपस्थिति में प्रशुल्क द्वारा व्यापार की शर्तें अपने पक्ष में परिवर्तित कर सकता है। ऐसी स्थिति में सामने वाले राष्ट्र के अर्पण वक्र की लोच अनन्त से कम होने पर स्वदेशी राष्ट्र अनुकूलतम प्रशुल्क लगाकर व्यापार से अधिकतम लाभ अर्जित कर सकता है।

13.4.4 उत्पादक कुशलता में वृद्धि :

यदि स्वदेशी राष्ट्र में उत्पादक कुशलता बढ़ती है तो विदेशी राष्ट्र को वस्तुएँ सस्ती उपलब्ध हो पायेंगी अतः व्यापार की शर्तों में सुधार के परिणामस्वरूप व्यापार की मात्रा में वृद्धि होगी। अतः विदेशी राष्ट्र को व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों में भी वृद्धि होगी।

13.5 छोटे व बड़े राष्ट्र के लिए लाभ अधिकतम की भिन्न शर्तें (Different Conditions for maximisation of gains for a small and a large country)

एक छोटा राष्ट्र (अर्थात् ऐसा राष्ट्र जो विश्व बाजार में प्रचलित कीमत को प्रभावित करने में असमर्थ है) पूर्णतया स्वतंत्र व्यापार की नीति अपनाकर व्यापार से प्राप्त लाभ अधिकतम कर सकता है। यहां स्वतंत्र व्यापार से हमारा अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें परिवहन लागतों की अनुपस्थिति में व्यापार में शामिल वस्तुओं की घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें समान हो जाती है। अतः छोटे राष्ट्र के लिए 'स्वतंत्र व्यापार' ही 'इष्टतम' (Optimum) नीति है।

जहां बड़े राष्ट्र का प्रश्न है उसके लिये स्वतंत्र व्यापार की तुलना में प्रतिबन्धित व्यापार उत्कृष्ट नीति साबित हो सकती है, लेकिन इतना तो सत्य ही है कि बड़े राष्ट्र के लिए भी स्वतंत्र व्यापार अथवा किसी भी तरह का व्यापार, व्यापार-विहीन स्थिति की तुलना में श्रेष्ठ है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एकाधिकार शक्ति वाले बड़े राष्ट्र के लिए बिना व्यापार की स्थिति की तुलना में स्वतंत्र व्यापार की उत्कृष्टता (Superiority) दर्शाने हेतु प्रो. केम्प (Kemp) ने निम्न स्पष्टीकरण किया है :-

चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एकाधिकारी शक्ति वाला राष्ट्र व्यापार प्रतिबन्ध लगाकर व्यापार की शर्तें अपने पक्ष में परिवर्तित करने में सक्षम होता है अतः ऐसा राष्ट्र व्यापार प्रतिबन्ध द्वारा कल्याण के उच्च स्तर पर पहुंचने में सफल हो सकता है। लेकिन जब व्यापार प्रतिबन्ध द्वारा व्यापार-विहीन अवस्था प्राप्त करली जाती है तो व्यापार की शर्तों में सुधार से प्राप्त लाभ भी शून्य हो जाता है क्योंकि जब व्यापार ही नहीं होगा तो विदेशी व्यापार की शर्तों अथवा उनसे प्राप्त लाभ विद्यमान होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

अतः प्रत्येक राष्ट्र (चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा के लिए व्यापार विहीन स्थिति की तुलना में स्वतंत्र व्यापार अथवा व्यापार की स्थिति उत्कृष्ट होती है) अतः स्पष्ट है कि राष्ट्र व्यापार से लाभान्वित होते हैं।

13.6 व्यापार से प्राप्त लाभों का माप

समय विशेष पर व्यापार से प्राप्त लाभों को ज्ञात करने हेतु यह जानना आवश्यक है कि राष्ट्र सस्ते विदेशी स्रोत से आयात करने की बजाय यदि स्वयं इन्हें उत्पादित करता तो आयात उसे कितनी लागत पर प्राप्त होते हैं लेकिन इस तरह लाभों की सही-सही गणना करने हेतु आवश्यक सूचना पूर्णतया अपर्याप्त है। उतना ही नहीं यदि ऐसी सूचना उपलब्ध हो तो भी व्यापार से प्राप्त लाभों की गणना हेतु अत्यधिक परिश्रम आवश्यक है। अतः अर्थशास्त्री समय विशेष पर व्यापार से प्राप्त निरपेक्ष लाभ मापने का प्रयत्न करने की बजाय इस लाभ के चलन की दिशा (direction of movement) का ही आकलन करते हैं। इस आकलन हेतु अर्थशास्त्री व्यापार की शर्तों के परिवर्तनों को मापने हेतु भिन्न रीतियां प्रयुक्त करते हैं।

व्यापार से प्राप्त लाभों की प्रवृत्ति को मापने का सर्वाधिक प्रचलित मापदण्ड 'वस्तु व्यापार की शर्तें' अथवा 'वस्तु विनियम व्यापार की शर्तें' हैं। वस्तु व्यापार की शर्तें राष्ट्र के निर्यातों व आयातों की कीमतों का सम्बन्ध दर्शाती हैं। इन्हें निम्नांकित सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है:-

$$Tc = \frac{Px_1}{Px_0} / \frac{Pm_1}{Pm_0}$$

यहां x व m क्रमशः निर्यात व आयात हैं तथा 1 व 0 क्रमशः चालू वर्ष व आधार वर्ष हैं। उदाहरणार्थ, माना कि राष्ट्र विशेष की व्यापार की शर्तों के लिए हम सन् 1965 को आधार वर्ष लेते हैं अतः उस वर्ष के आयात व निर्यात कीमतों के निर्देशांक 100 हैं। यदि सन् 1975 में निर्यात वस्तुओं की कीमतों का निर्देशांक 120 व आयात वस्तुओं की कीमतों का निर्देशांक 140 हो जाता है तो व्यापार की शर्तों का परिवर्तन निम्नांकित होगा:-

$$Tc = \frac{120}{100} / \frac{140}{100} = 0.86$$

0.86 (लगभग) अर्थात $0.86 \times 100 = 86$

इसका अभिप्राय यह है कि इस राष्ट्र की व्यापार की शर्तें सन् 1965 की तुलना में 1975 में 14 प्रतिशत प्रतिकूल हो गई हैं। इस परिवर्तन को दो प्रकार से निर्वाचित किया जा सकता है। या तों हम कह सकते हैं कि राष्ट्र को दी हुई निर्यातों की मात्रा के विनिमय में अब 14 प्रतिशत कम आयात प्राप्त हो रहे हैं अथवा दी हुई आयातों की मात्रा प्राप्त करने हेतु इस राष्ट्र को 16 प्रतिशत अधिक निर्यात देने होंगे। अर्थात् राष्ट्र को व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों में कमी हुई है। इसी प्रकार व्यापार की शर्तों के सुधार को राष्ट्र को व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों में वृद्धि का सूचक माना जाता है।

लेकिन व्यापार की शर्तों में परिवर्तन के साथ अन्य परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप व्यापार से प्राप्त लाभों में वृद्धि अथवा कमी से सम्बद्ध निष्कर्ष भी प्रभावित होंगे। उदाहरणार्थ,

सूचकांको के परिवर्तनों में आयात-निर्यात वस्तुओं की गुणवत्ता (quality) के परिवर्तनों का समावेश नहीं होता है। इसके अतिरिक्त सूचकांकों में आधारवर्ष के बाद के वर्षों में आयातों व निर्यातों में शामिल नई वस्तुओं को शामिल नहीं किया जा सकता है। अतः समयावधि जितनी कम होगी उतना ही व्यापार की शर्तों का परिवर्तन व्यापार से प्राप्त लाभों की दिशा में चलन का अधिक उत्तम मापदण्ड होगा।

इसी प्रकार यदि व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाने के साथ-साथ राष्ट्र के निर्यातों में वृद्धि हो जाती है तो राष्ट्र की 'आयात क्षमता' में सुधार होना सम्भव है। यद्यपि 'आयात क्षमता' व्यापार से प्राप्त लाभों में परिवर्तन का माप नहीं है लेकिन यह राष्ट्र की भुगतान क्षमता को अवश्य इंगित करती है।

इसी प्रकार व्यापार की शर्तों का परिवर्तन पूर्ण अथवा आंशिक रूप से निर्यात क्षेत्र की उत्पादन दक्षता (Productive efficiency) के परिवर्तनों द्वारा दुरुस्त हो सकता है। अतः 'एकल कारक व्यापार की शर्तें' (Single Factoral Terms of Trade) का समावेश वांछनीय होगा।

अतः स्पष्ट है कि व्यापार से प्राप्त लाभों की दिशा इंगित करने हेतु 'व्यापार की शर्तों' के चलनों के निर्देशांक का उपयोग अत्यधिक सावधानी पूर्वक ही किया जाना चाहिए।

13.7 व्यापार से प्राप्त गत्यात्मक लाभ (Dynamic gains from Trade

हमारे अब तक के विश्लेषण में हमने व्यापार से प्राप्त स्थैनिक (Static) लाभों पर ही ध्यान केन्द्रित किया था तथा कारक पूर्ति व तकनीकी को अपरिवर्तित मान लिया था। उपभोक्ताओं पर व्यापार के माध्यम से नई वस्तुओं से अवगत होने का प्रभाव एवं उत्पादकों द्वारा उत्पादन की नई विधियों को अपनाने हेतु उत्प्रेरित होने के प्रभाव को नजरअन्दाज किया गया था।

लेकिन व्यापार के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था होने वाले अनेक अन्य परिवर्तनों से भी राष्ट्र लाभान्वित होता है। व्यापार के इन गत्यात्मक लाभों को हम निम्न शीर्षकों में विभाजित करके स्पष्ट कर सकते हैं -

13.7.1 तीव्र आर्थिक विकास

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा पूर्णरोजगार वाली अर्थव्यवस्था में उत्पादन कारकों के अधिक कुशल उपयोग के परिणामस्वरूप आय में वृद्धि होती है। आय की इस वृद्धि के साथ बचत में वृद्धि होगी तथा विनियोग हेतु अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध होंगे। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार से सापेक्ष कीमतें परिवर्तित होती हैं। जिससे विनियोग की प्रवृति और अधिक प्रबल होती है। उदाहरणार्थ, यदि राष्ट्र विनियोग वस्तुओं का आयात कर रहा है अथवा ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में आयातित माल प्रयुक्त होता है तो व्यापार के परिणामस्वरूप आयातों की कीमत निर्यात वस्तुओं व अन्य वस्तुओं के सापेक्ष के रूप में घटने से विनियोग की प्रवृत्ति और प्रबल होगा।

13.7.2 तकनीकी अन्तराल (gap) में कमी

व्यापार में तैयार माल के साथ-साथ संयंत्र (Plant), उप-निर्मित व अर्द्ध-निर्मित माल व कच्ची सामग्री भी शामिल होती है। चूँकि अधिकांश विकासशील राष्ट्र तर्क ज्ञान के अभाव में स्वयं इस तरह के संयंत्र व उपकरण तैयार करने में असमर्थ होते हैं अतः ऐसे उपकरणों व्यापार से सदियों से चला आ रहा तकनीकी अन्तराल एक पीढ़ी की अवधि में ही समाप्त हो जाता है।

13.7.3 निर्यात अगुवाई वाला विकास (Export-ledgrowth)

निर्यातों से अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्र भी प्रभावित होता है जब निर्यात उद्योगों का विस्तार होता है तो इन्हें अन्य क्षेत्रों से उपादानों (inputs) की आवश्यकता होती है जिसे उपादान उत्पादित करने वाले उद्योगों को विनियोग तकनीकी विकास हेतु प्रेरणा, मिलती है। इसी प्रकार निम्न उद्योगों में कार्यरत लोगों की आय व जीवन स्तर में वृद्धि के साथ इन लोगों द्वारा उपयोग में ली जानेवाली वस्तुओं की मात्रा व गुणवत्ता में वृद्धि होती है। उत्पादन की इस वृद्धि के साथ इन उद्योगों को उपादान की पूर्ति करने वाले उद्योगों में विकास की प्रेरणायें बढ़ती है। इस प्रकार के निर्यात अगुवाई' वाले विकास ने अनेक राष्ट्रों के आर्थिक विकास में भूमिका निभाई है।

13.7.4 घरेलू बाजार के आकार में वृद्धि

विदेशी व्यापार के विकास के परिणामस्वरूप बाजार के आकार में होने वाली वृद्धि से विकसित व विकासशील दोनों ही प्रकार के राष्ट्र लाभान्वित होते हैं। निर्यातों के फलस्वरूप छोटे व मध्यम दोनों ही प्रकार के राष्ट्र ऐसे अनेक कुशल आकार के संयंत्र चालू करने में सक्षम हो जाते हैं जो व्यापार विहीन अवस्था में चालू रखने असम्भव थे। अतः फर्में न केवल 'आन्तरिक मितव्ययताओं' से ही लाभान्वित होती है अपितु अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धी कीमतें विद्यमान रहने से फर्मों पर उत्पाद सुधार, तकनीकी प्रगति एवं नव प्रवर्तनों (innovations) को लागू करने का सुप्रभाव भी पड़ता है।

13.7.5 समग्र औद्योगिक विकास के लाभ

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ही है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में समग्र (overall) औद्योगिक विकास सम्भव होता है जिसके परिणामस्वरूप आवश्यक आधारिक संरचना (infra-structure) जैसे परिवहन, शक्ति के स्त्रोत आदि-का विकास होता है। इन सुविधाओं से समस्त उद्योग लाभान्वित होते हैं अर्थात् 'बाह्य मितव्ययताएँ' विकसित होती है।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणाम स्वरूप घरेलू एकाधिकारी स्थिति के बावजूद आयात-प्रतिस्पर्धी उद्योगों पर आयातों की प्रतिस्पर्धा में टिके रहने हेतु प्रतियोगी-कीमत वसूल करने का प्रभाव भी उत्पन्न होता है।

अन्त में हम कह सकते हैं व्यापार से प्राप्त गत्यात्मक लाभों का सही-सही मापना तो सम्भव नहीं है लेकिन ये लाभ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं तथा व्यापाररत राष्ट्र द्वारा इनमें लाभान्वित होने की भारी सम्भावना बनी रहती है।

13.8 सारांश

एडम स्मिथ, रिकार्डो व अन्य प्रतिदिन अर्थशास्त्रियों ने व्यापाररत राष्ट्रों को व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों की स्पष्ट व प्रभावी व्याख्या की है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों में प्रो. सेम्युअलसन ने अपने लेखों में इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

व्यापाररत राष्ट्र व्यापार तभी करते हैं जब उन्हें व्यापार से लाभ प्राप्त हो। व्यापाररत राष्ट्रों को व्यापार से विनिमय व विशिष्टीकरण से लाभ प्राप्त होते हैं। पूर्णतया स्वतंत्र व्यापार से विश्व उत्पादन अधिकतम हो जाता है। व्यापार से घरेलू एकाधिकारों पर अंकुश लगता है, घरेलू बाजार का विस्तार होता है, प्रत्येक निर्यातकर्ता राष्ट्र निर्यात वस्तु को विश्व के आधुनिकतम उत्पादन तकनीक से उत्पादित करता है, प्रत्येक राष्ट्र को निर्यात वस्तु की ऊंची कीमत प्राप्त होती है तथा आयात वस्तु सस्ती उपलब्ध होती है।

व्यापार चाहे स्वतंत्र हो अथवा प्रतिबन्धित वह व्यापार विहीन स्थिति से उत्तम होता है। इस बिन्दु को उत्पादन सम्भावना वक्र द्वारा भलि-भाँति दर्शाया जा सकता है।

व्यापार से प्राप्त लाभों का वितरण प्रतिपूरक माँग (Reciprocal Demand) द्वारा निर्धारित व्यापार की शर्तों पर निर्भर करता है। व्यापार से प्राप्त लाभों का परिमाण (Size) तुलनात्मक लागतों के अन्तर, व्यापार की शर्तों, अर्पण वक्र की लोच, उत्पादक कुशलता में वृद्धि आदि पर निर्भर करता है।

छोटे राष्ट्र के लिए स्वतंत्र व्यापार एक 'इष्टतम' नीति है। जबकि व्यापार से एकाधिकारी शक्ति वाले बड़े राष्ट्र के संदर्भ में ऐसा निष्कर्ष संभव नहीं है लेकिन व्यापार विहीन स्थिति की तुलना में व्यापार की स्थिति प्रत्येक राष्ट्र के लिए उत्कृष्ट है।

व्यापार से प्राप्त लाभों के चलन की दिशा ज्ञात करने हेतु 'व्यापार की शर्तों' के परिवर्तनों के साथ होने वाले अन्य प्रकार के परिवर्तनों का समावेश आवश्यक है।

व्यापार से प्राप्त गत्यात्मक लाभ भी काफी महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन लाभों में तीव्र आर्थिक विकास, तकनीकी अन्तराल में कमी, नियति अगुवाई वाला विकास, घरेलू बाजार के आकार में वृद्धि, समग्र औद्योगिक विकास के लाभ आदि प्रमुख हैं।

13.9 शब्दावली

प्रतिपूरक मांग (Reciprocal demand): मांग की वह मात्रा जो एक राष्ट्र भिन्न वस्तु कीमत अनुपातों पर आयातों की भिन्न मात्राओं के बदले निर्यातों की प्रस्तुति के रूप में करता है।

व्यापार की शर्तें (Terms of trade) : आयातों व निर्यातों की कीमतों का आपसी अनुपात ही व्यापार की शर्तें कहलाता है, उदाहरणार्थ, वस्तु अथवा शुद्ध (net) व्यापार की शर्तों (TC) को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है:-

$$TC = \frac{px}{Pm}$$

यहाँ Px क्रमशः आयात व निर्यात कीमतों के निर्देशांक हैं।

छोटा राष्ट्र (Small Country): छोटा राष्ट्र वह राष्ट्र है जो विश्व बाजार में प्रचलित वस्तु-कीमत अनुपात को प्रभावित नहीं कर पाता है अर्थात् उसकी आयात अथवा निर्यात के सन्दर्भ में एकाधिकारी स्थिति नहीं है।

व्यापार से प्राप्त स्थैतिक लाभ (Static gains from Trade) स्थिर साधन पूर्ति की स्थिति में व्यापार के माध्यम से विशिष्टीकरण व विनिमय से प्राप्त होने वाले लाभ।

व्यापार से प्राप्त गत्यात्मक लाभ (Dynamic gains from trade) :

व्यापार का राष्ट्र की आर्थिक वृद्धि (growth) पर पड़ने वाला प्रभाव तथा इस प्रकार व्यापार रत राष्ट्र द्वारा प्रयुक्त अथवा उपलब्ध कराये जाने वाले अतिरिक्त साधनों पर पड़ने वाले व्यापार के प्रभाव को गत्यात्मक लाभों में सम्मिलित किया जाता है।

निर्यात अगुवाई वाला विकास (Export Led growth) :

निर्यात उद्योगों के विस्तार का अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में विनियोग व तकनीकी विकास के रूप में प्रभाव व अन्य क्षेत्रों से नई-नई वस्तुओं की मांग उत्पन्न करने का प्रभाव जिससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विकास को गति प्रदान हो।

13.10 बोध प्रश्न

1. व्यापार से प्राप्त लाभों का उदय कैसे होता है?
2. व्यापार से प्राप्त लाभों की प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
3. चित्र द्वारा दर्शाइये कि व्यापार विहीन स्थिति की तुलना में व्यापार की स्थिति उत्तम होती है।
4. व्यापार से प्राप्त लाभों का व्यापाररत राष्ट्रों वितरण किस आधार पर होता है? (13.3)
5. व्यापार से प्राप्त लाभों के परिमाण के कोई दो निर्धारक तत्व बतलाइये। (13.4)
6. व्यापार की शर्तों को व्यापार से प्राप्त लाभों के सूचक के रूप में प्रयुक्त करते समय किन घटकों का समावेश अपेक्षित है। (13.6)
7. व्यापार से प्राप्त किन्हीं दो गत्यात्मक लाभों की प्रकृति स्पष्ट कीजिए। (13.7)

13.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. स्वामी, के.डी. : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साईन्टिफिक पब्लिशर्स, मान भवन, रातानाडा, जोधपुर -342001 (1989)
2. बरला व अग्रवाल : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा
3. Viner, Jacob : Studies in the Theory of International Trade, George Allen and Unwin.
4. Haberler, G. : The Theory of International Trade - William Hodge & Co. Ltd.
5. Kreinin, M.E. : International Economics 2/e - Harcourt Brace.
6. Batra, R.N. : Studies in the Pure Theory of International Trade & Macmillan
7. Chacholidas, M. : Principles of International Economics, MC Graw Hill.

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

MAEC-05

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति 3

खण्ड परिचय

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नीति

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति पर इस खण्ड में कुल 6 इकाइयाँ हैं।

इकाई संख्या 14 में तटकर के विभिन्न प्रभावों को स्पष्ट किया गया है। देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए तटकर का प्रयोग व्यापक रूप से किया जाता है। परन्तु तटकर एक देश के लिए तभी तक लाभदायक होता है जब तक दूसरा देश तटकर न लगाए। इसका अन्त तभी होता है जब दो देशों के बीच स्वतंत्र व्यापार समझौता हो जाए।

इकाई संख्या 15 में अनुकूलतम तटकर की अवधारणा की विस्तृत व्याख्या की गई है। अनुकूलतम तटकर अथवा प्रशुल्क राष्ट्र को उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र पर पहुंचा देता है। अधिकतम कल्याण के लिए राष्ट्र को उस सीमा तक तटकर लगाना चाहिए कि वह विदेशी अर्पण वक्र के लोन्द्वार हिस्से में प्रवेश करले।

इकाई संख्या 16 में व्यापार नियंत्रण के एक अन्य अस्त्र अभ्यंश (Quota) निर्धारण की चर्चा की गई है। आयात अभ्यंश व तटकर (Tariff) के प्रभावों का इस इकाई में तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

इकाई संख्या 17 में व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप के पक्ष एवं विपक्ष में दिए गये तर्कों का विवेचन किया जाएगा। इसके साथ ही "पेरेटो उत्तमावस्था" के लिए आवश्यक शर्तों को भी स्पष्ट किया गया है।

इकाई संख्या 18 में विकासशील देशों की व्यापारिक नीति की चर्चा की गई है। व्यापारिक नीति में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित नीति को सम्मिलित किया जाता है। इसमें आयात निर्यात के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं की चर्चा भी होती है। विकासशील देशों की व्यापारिक नीति का मुख्य उद्देश्य भुगतान संतुलन में घाटे की स्थिति से छुटकारा पाना एवं आर्थिक विकास करना है। विदेशी सहायता पर निर्भरता के स्थान पर निर्यात प्रोत्साहन की नीति अधिक सफल होती है।

इकाई संख्या 19 में राष्ट्रों के आर्थिक एकीकरण के लिए गठित विभिन्न संगठनों की चर्चा की गई है। इनमें चुंगी संघ, सांझा बाजार आर्थिक संघ, आर्थिक एकीकरण, स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र आदि प्रमुख हैं।

यूरोपीय आर्थिक संघ ने अपने संगठन देशों में चलन में सामान्य मुद्रा (यूरो) का प्रयोग प्रारम्भ कर संघ की श्रेष्ठतम अवस्था प्राप्त कर ली है। हाल के वर्षों में ऐसे संगठन बनाने में कई राष्ट्र पहल कर रहे हैं उनकी भौगोलिक निकटता इनमें सहायक सिद्ध होती है।

खण्ड-3

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति

इकाई 14
तटकर : तटकर के प्रभाव, तटकर की लागतें, लाभ एवं प्रभावी संरक्षण दर 7-17

इकाई 15
अनुकूलतम प्रशुल्क 18-26

इकाई 16
आयात अभ्यंश 27-37

इकाई 17
व्यापार में हस्तक्षेप की आवश्यकता, शिशु उद्योग, बाजार विकृतियां और बाह्य मितव्ययताएं 38-51

इकाई 18
विकासशील देशों की व्यापारिक नीति 52-64

इकाई 19
चुंगी संघ का सिद्धान्त एवं आर्थिक एकीकरण 65-72

इकाई 14

तटकर: तटकर के प्रभाव, तटकर की लागतें, लाभ एवं प्रभावी संरक्षण दर

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 तटकर के प्रभाव
- 14.2.1 राजस्व प्रभाव
- 14.2.2 संरक्षणात्मक प्रभाव
- 14.2.3 पुनर्वितरण प्रभाव
- 14.2.4 उपभोग प्रभाव
- 14.2.5 कीमत प्रभाव
- 14.2.6 तटकर एवं आय का वितरण: स्टोलपर सेमुअलसन प्रमेय।
- 14.2.7 तटकर; व्यापार की शर्तें एवं कीमतें।
- 14.2.8 तटकर एवं राष्ट्रीय आय
- 14.2.9 तटकर एवं बेरोजगारी
- 14.2.10 तटकर एवं भुगतान संतुलन

14.3 तटकर की लागतें एवं लाभ:
- 14.3.1 तटकर की आर्थिक लागतें
- 14.3.2 तटकर के लाभ

14.4 प्रभावी संरक्षण दर एवं अनुकूलतमतटकर
- 14.4.1 प्रभावी संरक्षण दर
- 14.4.2 अनुकूलतम तटकर
- 14.4.3 प्रतिशोधात्मक तटकर

14.5 बोध प्रश्न
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के मुख्य उद्देश्य निम्नांकित है-

- तटकर तथा तटकर के मुख्य प्रभावों का अध्ययन करना।
- तटकर की लागतों एवं लाभों का विश्लेषण करना, तथा
- प्रभावी संरक्षण दर की जानकारी एवं अनुकूलतम तटकर के विचार की व्याख्या करना।

14.1 प्रस्तावना

क्लासिकल अर्थशास्त्री मुक्त व्यापार के समर्थक थे उनके अनुसार: उत्पादन के साधनों के समुचित उपयोग, भौगोलिक श्रम-विभाजन, उपभोक्ताओं को लाभ, एकाधिकारी संघों पर प्रतिबंध,

उत्पादन विधियों एवं तकनीक में सुधार, एवं बाजारों के विस्तार की दृष्टि से मुक्त व्यापार लाभदायक होता है। आधुनिक वर्षों में मुक्त व्यापार की नीति का महत्व दिनों दिन कम होता जा रहा है तथा संरक्षण की नीति का अनुसरण बढ़ता जा रहा है। सर्वप्रथम 1791 में अमरीकी अर्थशास्त्री है मिल्टन ने देश के आर्थिक विकास हेतु संरक्षण के सिद्धान्त का सुझाव दिया था। जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट भी संरक्षण नीति के प्रबल समर्थक थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लगभग विश्व के सभी देशों ने संरक्षण नीति का अनुसरण प्रारम्भ कर दिया है।

संरक्षण के पक्ष में मुख्य रूप से: उद्योगों स्वदेशी बाजार, आधार उद्योगों एवं रोजगार में वृद्धि का तर्क दिया गया तथा राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों के उचित उपयोग, द्रव्य को घर में रखने, लागतों को समान रखने संरक्षित उद्योगों में उत्पादन वृद्धि व्यापार संतुलन राशिपातन से सुरक्षा, राष्ट्रीय स्वावलम्बता एवं राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी तर्क भी संरक्षण के पक्ष में दिये गये। संरक्षण नीति में आयात-व्यापार पर प्रतिबंध लगाये जाते हैं। ये प्रतिबंध मुख्य रूप से व्यापारिक प्रतिबंधों, करों एवं कोटा निर्धारण द्वारा लगाये जाते हैं। आयात-निर्यात पर लगाये जाने वाले करों को तटकर कहा जाता है। तटकर द्वारा ही संरक्षण नीति को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जाता है।

14.2 तटकर के प्रभाव

आयात पर कर तटकर मुख्य रूप से घरेलू बाजार को संरक्षण प्रदान करने एवं राजस्व प्राप्त करने की दृष्टि से लगाये जाते हैं। इस भाग में हम तटकर के प्रभावों का अध्ययन करेंगे। तटकर के मुख्य प्रभाव निम्नांकित है:-

आंशिक विश्लेषण

चित्र 14.1 में आंशिक विश्लेषण द्वारा तटकर के प्रभावों को दिखाया गया है तटकर से पूर्व कीमतें OP है, OQ_5 मात्रा का उपभोग हो रहा है उत्पादन OQ_1 है तथा $Q_1 Q_5$ मात्रा

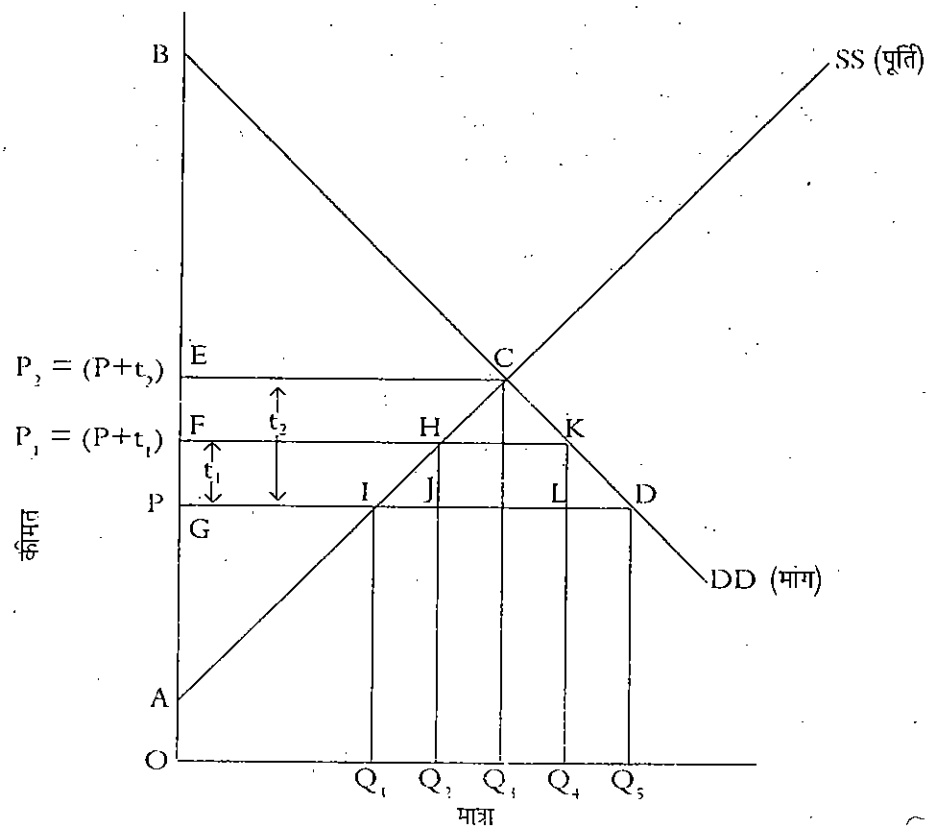

रेखा चित्र 14.1

का आयात हो रहा है। तटकर के राजस्व, संरक्षणात्मक, पुनर्वितरण उपभोग एवं कीमत प्रभावों की व्याख्या इस चित्र के द्वारा निम्न प्रकार से की जा सकती है।

14.2.1 राजस्व प्रभाव

तटकर एक विशेष प्रकार के कर हैं जो सरकार के राजस्व में वृद्धि करते हैं। चित्र 14.1 में कीमत OP पर यदि t_2 के बराबर तटकर लगा दिये जायें तो आयात शून्य हो जाएंगे और सरकार की आय में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होगी। इस तटकर को निषेधात्मक तटकर कहा जाता है। यदि तटकर की मात्रा t_1 के बराबर है तो नई कीमत $P+t_1$ पर आयात Q_2Q_4 के बराबर होगा तथा सरकार की आय में होने वाली कुल वृद्धि JHKL के बराबर होगी। आय में होने वाली यह वृद्धि तटकर के राजस्व प्रभाव को प्रकट करती है।

14.2.2 संरक्षणात्मक प्रभाव

तटकर के परिणामस्वरूप घरेलु कीमते OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है। बढ़ी हुई कीमतों पर घरेलु उत्पादन OQ_1 से बढ़कर OQ_2 हो जाता है। उत्पादन में होने वाली यह वृद्धि तटकर का संरक्षणात्मक प्रभाव है। तटकर का संरक्षणात्मक प्रभाव पूर्ति वक्र की लोच पर निर्भर करता है। यदि पूर्ति वक्र अधिक लोचदार है तो उत्पादन में होने वाली वृद्धि अधिक होगी और बेलोचदार होने पर उत्पादन में वृद्धि कम होगी।

14.2.3 पुनर्वितरण प्रभाव

तटकर के परिणाम स्वरूप उत्पादकों की आय में वृद्धि GFHJ क्षेत्र के बराबर होती है। इस क्षेत्र में से GIHF क्षेत्र उत्पादक की बचत को प्रकट करता है। यह वह मात्रा है जो उपभोक्ताओं से उत्पादकों की ओर जाती हैं आय के इस स्थानान्तरण को तटकर पुनर्वितरण प्रभाव कहा जाताहै। यह प्रभाव उपभोक्ताओं के प्रतिकूल एवं उत्पादकों के पक्ष में होता है।

14.2.4 उपभोग प्रभाव

तटकर का उपभोग प्रभाव कुल उपभोग में कमी करता है। तटकर से पूर्व कुल उपभोग OQ_5 के बराबर था जब कि t_1 तटकर के बाद कुल उपभोग कम होकर OQ_4 हो जाता है। इस प्रकार उपभोग में होने वाली कमी Q_4Q_5 तटकर के उपभोग प्रभाव को दिखाती है। तटकर के परिणाम स्वरूप उपभोक्ता की बचत में भी शुद्ध कमी होती है। तटकर के पूर्व उपभोक्ता की बचत GBD के बराबर थी जो घटकर तटकर के बाद FBK के बराबर रह जाती है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत में शुद्ध कमी GFKD क्षेत्र के बराबर होती है।

14.2.5 कीमत प्रभाव

तटकर विश्लेषण की यह व्याख्या इस मान्यता पर आधारित है कि तटकर के परिणामस्वरूप विदेशी कीमतें (आयात कीमतें) अपरिवर्तित रहती है घरेलु कीमतें तटकर के बराबर बढ़ जाती है। तटकर का कीमत प्रभाव कीमतों में वृद्धि के रूप में होता है। t_1 तटकर लगाने पर OP कीमतें बढ़कर OP_1 हो जाती है। वास्तव में आयातक देश में वस्तुओं की कीमतें कितनी बढ़ेगी और निर्यातक देश में कीमतें किस प्रकार से परिवर्तित होगी यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उत्पादन में लागत वृद्धि समता या ह्रासमान कौन सा नियम लागू हो रहा है।

14.2.6 तटकर एवं आय का वितरण: स्टोलपर-सेमुअलसन प्रमेय:-

स्टोलपर-सेमुअलसन ने तटकर के आय-वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या सामान्य साम्य विश्लेषण के द्वारा निम्न प्रकार से की है।

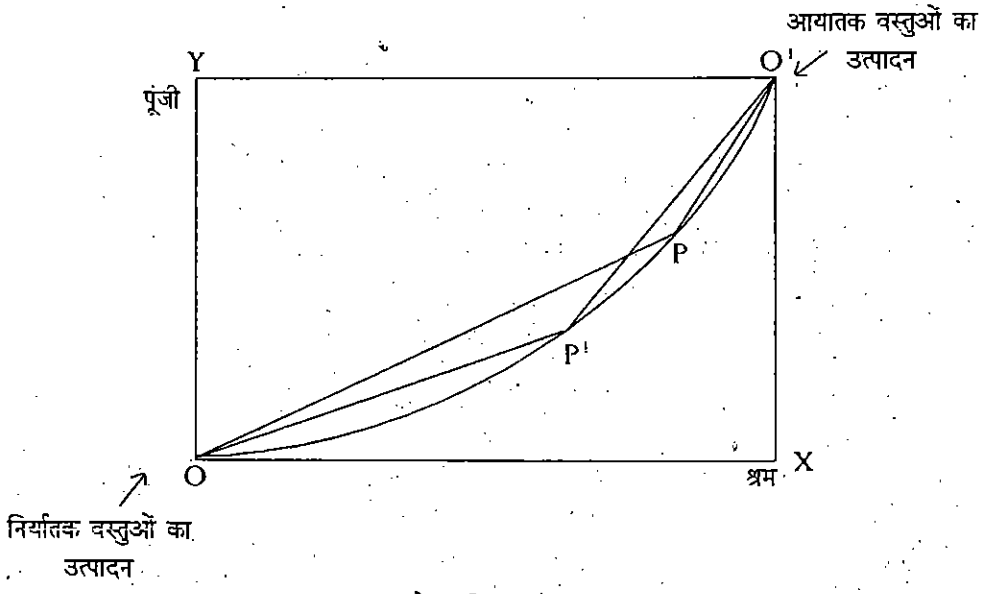

रेखा चित्र 14.2

चित्र 14.2 के द्वारा स्टोलपर-सेमुअलसन प्रमेय की व्याख्या की गई है। चित्र में OQ' एक प्रसंविदा वक्र है, OX पर श्रम तथा OY पर पूंजी को दिखाया गया है, निर्यातक वस्तुओं के उत्पादन को O से तथा आयातक वस्तुओं के उत्पादन को O' से मापा गया है। स्वतंत्र व्यापार के समय साम्यावस्था P बिन्दु पर है। तटकर के परिणास्वरूप आयात वस्तुओं की घरेलु कीमतों में वृद्धि हो जाती है। घरेलु उत्पादक अपनी उत्पादन संरचना में परिवर्तन करते हैं, आयातक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ातें है एवं निर्यातक वस्तुओं का उत्पादन कम करते हैं। नया उत्पादन साम्यावस्था बिन्दु P' पर आ जाता है।

इस परिवर्तन का साधन कीमतों पर पड़ने वाले प्रभाव को भी चित्र 14.2 द्वारा दिखा सकते हैं। निर्यात क्षेत्र में उत्पादन विधियां अधिक श्रम गहन हो जाती है तथा अयात-प्रतिस्थापन उद्योगों में भी श्रम गहनता बढ़ जाती है ऐसा इस वजह से होता है क्योंकि उत्पादक महंगी पूंजी के स्थान पर सस्ते श्रम का प्रतिस्थापित करने लगते हैं। आयातक वस्तु उद्योगों में प्रमुख साधन पूंजी की कीमतें बढ़ती है तथा श्रम की मजदूरी घटती है। आय वितरण पूंजी के पक्ष में तथा श्रम के प्रतिकूल हो जाता है।

स्टोलपर-सेमुअलसन प्रमेय के अनुसार तटकर आय वितरण को उस साधन के पक्ष में परिवर्तित करेगा जिसका प्रयोग आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों में अधिक हो रहा है। तटकर से आयातक वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हे, इस वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त साधन की मांग बढ़ती है और उसकी कीमतें बढ़ने लगती है।

उत्पादन बिन्दु P से P' हो जाने पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता (MPP_L) में कमी हो जाती है क्योंकि श्रम की अतिरिक्त इकाइयों को काम पर लगाया जाता है और चुंकि पूर्ण रोजगार की स्थिति में प्रतिफल का निर्धारण सीमान्त उत्पादकता से होना है अंतः राष्ट्रीय आय में श्रम का अंश कम हो पाता है

मान्यताएँ : उपर्युक्त विश्लेषण निम्नांकित मान्यताओं पर आधारित है -

(1) उत्पादन फलन समरूप है।

(2) आय का वितरण पूर्ण रूप से श्रम एवं पूंजी के मध्य हो जाता है अतः लाभ शून्य है।

(3) वस्तु एवं साधन बाजार में प्रतियोगिता।

(4) पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान है।

(5) दो वस्तु एवं दो साधन।

(6) व्यापार शर्तें पूर्ववत रहती है।

स्टोलपर-सेमुअलसन प्रमेय को गणितीय रूप में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है- स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में P बिन्दु पर:

$$Y = L.w + C.r$$

यहाँ Y = राष्ट्रीय आय, L = श्रम की मात्रा w = मजदूरी C = पूंजी की मात्रा तथा r = पूंजी के प्रतिफल को व्यक्त करते हैं।

तटकर के परिणामस्वरूप उत्पादन P^1 पर आ जाता है जहाँ,

$$y_1 = L.w_1 + C.r_1$$

चुँकि साधनों का प्रतिफल साधन गहनता का फलन है अतः

$$L.w_1 < L.w \text{ तथा}$$

$$C.r_1 > C.r$$

क्योंकि $w_1 < w$ तथा $r_1 < r$ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तटकर के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आय में श्रम का अंश कम हो जाता है और पूंजी का अंश बढ़ जाता है। यह तटकर का आय-वितरण प्रभाव है।

14.2.7 तटकर, व्यापार की शर्तें एवं घरेलू कीमतें:

तटकर के परिणामस्वरूप व्यापार की शर्तों एवं घरेलू कीमतों पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या सामान्य साम्य की दशाओं में निम्न प्रकार से की जा सकती है:

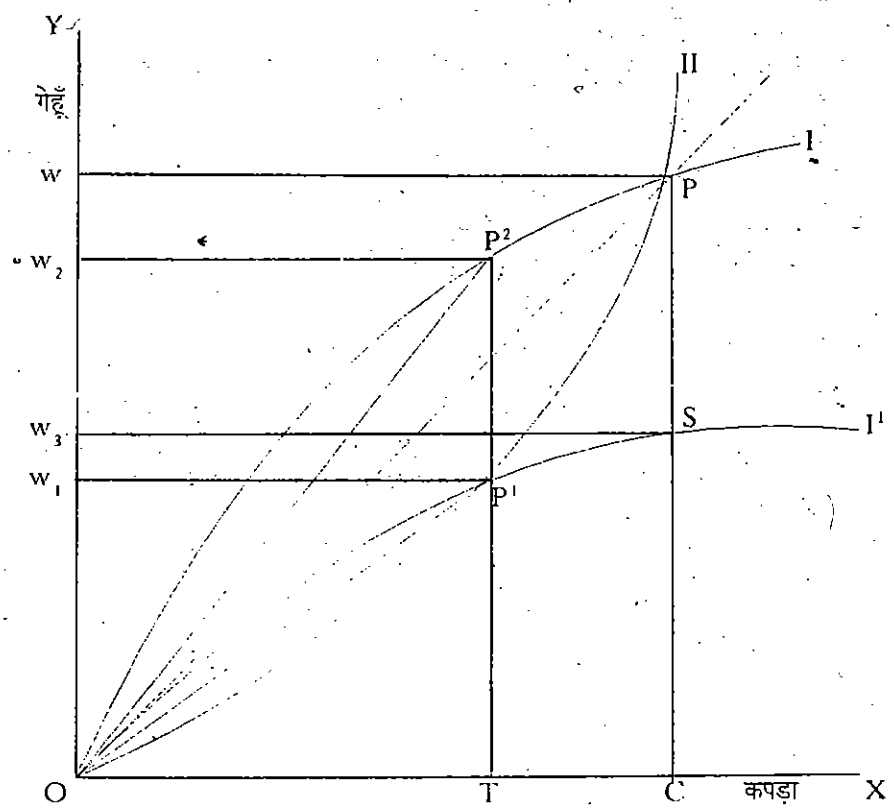

रेखा चित्र 14.3

प्रथम देश को गेहूँ के उत्पादन में तथा द्वितीय देश के कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। चित्र 14.3 में OI प्रथम देश का तथा OII द्वितीय देश का प्रस्ताव वक्र है। साम्यावस्था P बिन्दु पर है जहाँ OC कपड़े OW गेहूँ के बदले विनिमय किया जा रहा है। साम्यावस्था व्यापार की शर्तें OP है।

प्रथम देश तटकर लगाता है, उस देश का नया प्रस्ताव वक्र OI' हो जाता है। नई स्थिति में OC कपड़े के बदले प्रथम देश के आयातक केवल OW_3 गेहूँ देना चाहेंगे क्योंकि उन्हें तटकर का भी भुगतान करना पड़ रहा है। अतिरिक्त मात्रा $WW^3 = PS$ तटकर के बराबर होगी। नया साम्यावस्था बिन्दु P' होगा। इस बिन्दु पर व्यापार की मात्रा पहले से कम हो गई है तथा व्यापार की शर्तें प्रथम देश के अनुकूल हो गई है। अनुकूल व्यापार शर्तों के परिणाम स्वरूप प्रथम देश को पहले की तुलना में प्रति इकाई निर्यात पर अधिक आयात प्राप्त हो रहे हैं। चित्र 14.3 के अनुसार $TP'/W'W' < CP/WP$ है यह अनुपात व्यापार की शर्तों में अनुकूल परिवर्तन को दिखाता है। व्यापार शर्तों की नई रेखा OP' हो जाती है।

यदि द्वितीय देश का प्रस्ताव वक्र पूर्ण तथा लोचदार है तो तटकर से व्यापार शर्तें अप्रभावित रहेगी केवल व्यापार की मात्रा कम हो जाएगी।

तटकर के परिणामस्वरूप घरेलू कीमतें बढ़ती है। चित्र 14.3 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रथम देश P^1 बिन्दु पर OW_1 गेहूँ का OT कपड़े से विनिमय कर रहा है किन्तु घरेलू बाजार में OT कपड़े के लिए OW_2 गेहूँ देना पड़ेगा अर्थात आयातक वस्तुकी कीमतें घरेलु बाजार में बढ़ जाती है। (OP^2 रेखा OP रेखा से बांयी तरफ है)। इस प्रकार तटकर के परिणामस्वरूप व्यापार शर्तों में सामान्यतया अनुकूल परिवर्तन होते हैं, घरेलु कीमतें बढ़ती है और आय वितरण पर प्रभाव स्टोलपर-सेमुअलसन प्रमेय के अनुसार होते हैं। अर्थात तटकर उस साधन को लाभान्वित करेंगे जिसका प्रयोग आयात प्रतियोगी वस्तु उद्योगों में अधिक गहनता से हो रहा है।

14.2.8 तटकर एवं राष्ट्रीय आय

तटकर के राष्ट्रीय आय पर पड़ने वाले प्रभाव को चित्र 14.4 में दिखाया गया है।

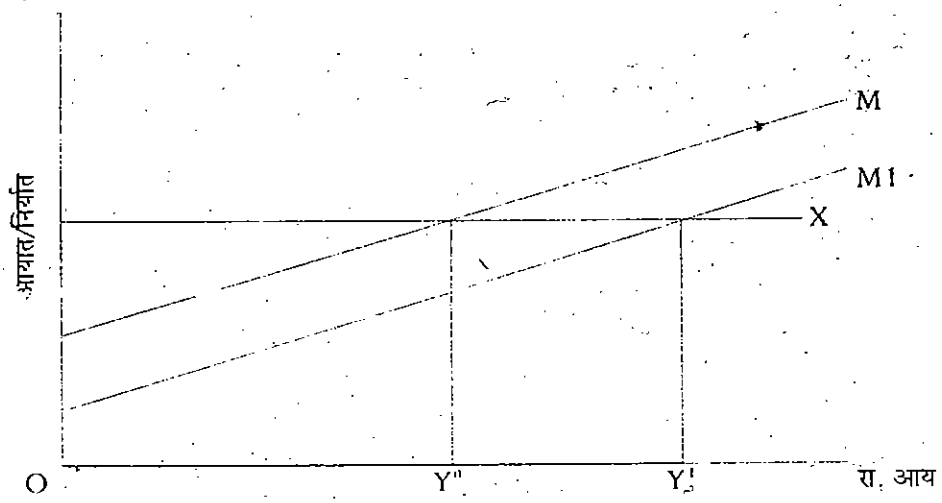

रेखा चित्र 14.4

तटकर से पूर्व आयात M रेखा एवं निर्यात X रेखा द्वारा दिखाये गये हैं। संतुलन स्तर पर राष्ट्रीय आय yo है। तटकर के प्रभावों से आयात कम हो जाते हैं। नई आयात रेखा M_1 हो जाती है। नये संतुलन स्तर पर राष्ट्रीय आय बढकर y^1 हो जाती है। इस प्रकार तटकर के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

14.2.9 तटकर एवं बेरोजगारी

तटकर का प्रयोग कई बार बेरोजगारी को समाप्त करने या कम करने के लिए भी किया जाता है। इस प्रकार की नीति को 'Beggar-my-neighbour' की नीति कहा जाता है। यदि व्यापार कर्ता दोनों राष्ट्रों में बेरोजगारी है तो तटकर लगाने वाला राष्ट्र कुछ सीमा तक बेरोजगारी को निर्यात करने में सफल हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रतिशोधात्मक तटकर प्रारम्भ हो जाते हैं और वास्तव में तटकर के लाभ प्राप्त नहीं हो पाते। यदि बेरोजगारी एक ही देश में है और वह देश तटकर का प्रयोग करता है तो उस देश में निश्चित रूप से बेरोजगारी में कमी होगी और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी।

14.2.10 तटकर एवं भुगतान संतुलन

तटकर भुगतान संतुलन पर अनुकूल प्रभाव डालता है। जब एक देश तटकर लगाता है तो इसका आरंभिक प्रभाव आयातों में कमी के रूप में दिखाई देता है, निर्यात अप्रभावित रहते हैं फलस्वरूप भुगतान संतुलन पर अनुकूलन प्रभाव होता है। अन्तिम प्रभाव किस प्रकार के होंगे यह इस बात पर निर्भर करेगा कि व्यापारकर्ता दूसरा देश किस प्रकार का व्यवहार करता है यदि प्रतिशोध कम है तो अनुकूल प्रभाव जारी रहेंगे। यदि व्यापारकर्ता देश प्रतिशोधात्मक तटकर लगाना प्रारंभ कर देता है तो अनुकूल प्रभाव प्रतिबंधित हो जाएगें। तटकर के परिणास्वरूप बढ़ी हुई आय का प्रयोग आयात बढ़ाने में किये जाने पर भी भुगतान संतुलन के अनुकूल प्रभाव सीमित हो जाएंगे।

इस प्रकार तटकर से सरकार की आय में वृद्धि होती है, घरेलु कीमतों में वृद्धि होती है, उत्पादन बढ़ता है, उपभोग में कमी होती है, आयात में कमी होती है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, बेरोजगारी कम होती है तथा भुगतान संतुलन पर अनुकूल प्रभाव होते हैं। इस नीति के अनुकूल प्रभाव मुख्य रूप से इसके क्रियान्वयन तथा व्यापारकर्ता देश के व्यवहार पर निर्भर करेंगे। अतः इस नीति का प्रयोग राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों के पूर्ण विश्लेषण के बाद ही किया जाना चाहिये।

14.3 तटकर की लागतें एवं लाभ

तटकर की लागतों एंवं लाभ की व्याख्या चित्र 14.1 की सहायता से की जा सकती है।

14.3.1 तटकर की आर्थिक लागतें:

यदि t_1 के बराबर तटकर लगाया जाता है तो कीमतें OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है। उसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता की बचत में कमी हो जाती है।

तटकर सें पूर्व उपभोक्ता की बचत = GBD

तटकर के बाद उपभोक्ता की बचत = FBK

उपभोक्ता की बचत में कमी = GFKD

उपभोक्ता की बचत में होने वाली कमी का एक भाग सरकार को तटकर राजस्व के रूप में प्राप्त होता है चित्र 14.1 के अनुसार सरकार की आय में होने वाली वृद्धि JHKL है।

उपभोक्ता की बचत का कुछ भाग उत्पादकों को प्राप्त होना है उत्पादकों की बचत में होने वाली वृद्धि GIFH के बराबर है।

उपभोक्ता की बचत में होने वाली कमी एवं सरकारी आय तथा उत्पादकों की बचत में होने वाली वृद्धि की तुलना करने पर IJH तथा KLD क्षेत्र बच जाता है। ये दोनों क्षेत्र संरक्षण या तटकर की लागत को प्रकट करते है। इन्हें दो भागों में विभाजित कर सकते है-

(1) **तटकर की उत्पादन लागत:** चित्र 14.1 में IJH क्षेत्र तटकर की उत्पादन लागत

को प्रकट करता है। तटकर के परिणाम स्वरूप उत्पादन Q_1Q_2 के बराबर बढ़ता है इसकी लागत Q_1Q_2HI के बराबर है जबकि तटकर के पूर्व इस मात्रा का आयात Q_1Q_2JI राशि से किया जा रहा था इन दोनों का अन्तर IJH तटकर की उत्पादन लागत है।

तटकर की उत्पादन लागत (IJH) उत्पादन लागत ($Q_1Q_2H_1I$) आयात ($Q_1Q_2J_1I$)

(2) तटकर की उपभोग लागत: चित्र 14.1 में KLD क्षेत्र तटकर की उपभोग लागत को व्यक्त करता है। तटकर के परिणामस्वरूप उपभोग में Q_4Q_5 के बराबर कमी होती है। अतः उपभोक्ता की बचत में उपभोग में कमी के कारण KLD के बराबर कमी हो जाती है। जिस वस्तु पर तटकर लगाया जाता है उसकी कीमत अन्य वस्तु की तुलना में बढ़ जाती है और उपभोग का ढांचा बिगड़ जाता है परिणाम स्वरूप उपभोक्ता की बचत में कमी हो जाती है।

इस प्रकार तटकर की आर्थिक लागतें उत्पाद लागत में वृद्धि एवं उपभोक्ता की बचत में कमी के रूप में होती है

14.3.2 तटकर के लाभ: खण्ड 14.2 में तटकर के प्रभावों की व्याख्या के अन्तर्गत तटकर के अनुकूल प्रभावों (लाभों) की व्याख्या भी की गई है। तब के लाभ मुख्य रूप से आयातों में कमी, सरकारी आय में वृद्धि घरेलु उत्पादन में वृद्धि, व्यापार शर्तों मं अनुकूल परिवर्तन, भुगतान संतुलन में सुधार, बेरोजगारी में कमी तथा राष्ट्र में वृद्धि के रूप में होते हैं।

चित्र 14.1 के अनुसार तटकर के लाभों निम्न प्रकार से स्पस्ट कर सकते हैं।

(1) आयातों में कमी : Q_1Q_5 से घटकर Q_2Q_4

(2) सरकारी आय में वृद्धि : JHKL

(3) घरेलू उत्पादन में वृद्धि : Q_1Q_2

(4) उत्पादकों की बचत में वृद्धि : GIHF

तटकर के अन्य लाभों की विस्तृत व्याख्या खण्ड 14.2 में की गई है।

14.4 प्रभावी संरक्षण दर एवं अनुकूलतम तटकर

14.4.1 प्रभावी संरक्षण दर

तटकर के संरक्षणात्मक एवं उपभोग प्रभावों के अध्ययन में तटकर की सामान्य दर के स्थान पर प्रभावी दर का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। मानाकि x वस्तु पर 10% तटकर लगाया जाता है और इससे सम्बन्धित कच्चा माल कर मुक्त है। कच्चे माल का अनुपात निर्मित वस्तु में 50 प्रतिशत है। x वस्तु के उत्पादन में जोड़े गये मूल्य का प्रतिशत 50 होगा। अतः 10% तटकर वास्तव में इसके 50 प्रतिशत मूल्य पर है अतः प्रभावी संरक्षण दर 20% हो जाती है। प्रभावी संरक्षण दर निम्न सूत्र से ज्ञात की जा सकती है -

$$\text{प्रभावी संरक्षण दर} = \frac{t - qr}{1 - r}$$

यहाँ t = तटकर की सामान्य दर

q = कच्चे माल पर कर की दर

r = आयातित कच्चे माल का निर्मित वस्तु में अनुपात यदि कच्चा माल कर मुक्त है तो सूत्र निम्न प्रकार होगा-

$$\text{प्रभावी संरक्षण दर} = \frac{t}{1 - r}$$

उपर्युक्त उदाहरण में t = 10% r = 50% = 1/2

प्रभावी दर = $\frac{10}{1-.5} = \frac{10}{.5} = 20\%$

यदि निर्मित वस्तु और कच्चे माल पर तटकर की दर समान हो तो तटकर की सामान्य दर और प्रभावी दर समान होगी।

यद्यपि तटकर की प्रभावी दर की गणना कठिन है क्योंकि वस्तु के मूल्य में कच्चे माल का अनुपात कीमतों में परिवर्तन के साथ-साथ बदलता रहता है। फिर भी तटकर के संरक्षणात्मक एवं उपभोग प्रभावी सरक्षण की प्रभावी दर पर निर्भर करते हैं। अतः इसका अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है।

14.4.2 अनुकूलतम तटकर अनुकूलतम तटकर, तटकर की वह मात्रा है जिसके द्वारा देश उच्चतम उदासीनता वक्र पर पहुँच जाता हैं और उसके वास्तविक कल्याण में वृद्धि होती है। अनुकूलतम तटकर की मात्रा ही संरक्षण की अनुकूलतम दर कहलाती है।

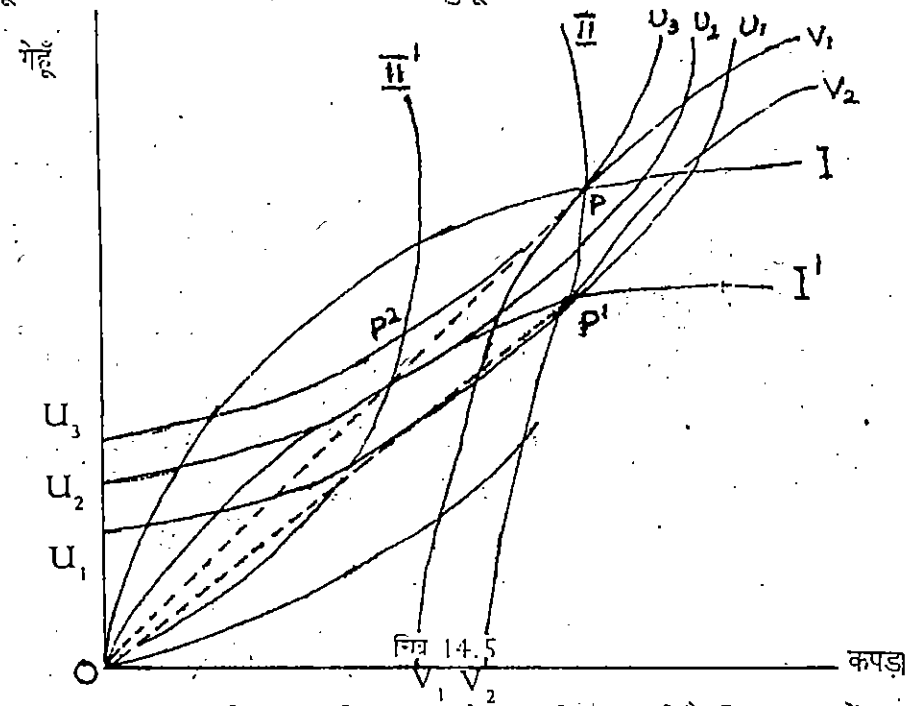

चित्र 14.5

अनुकूलतम तटकर की व्याख्या चित्र 14.5 के द्वारा की जा सकती है। चित्र 14.5 में स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में प्रथम देश का प्रस्ताव वक्र OI तथा द्वितीय देश का प्रस्ताव वक्र OII है। साम्यावस्था बिन्दु P तथा व्यापार शर्तें OP है। उदासीनता वक्र V_1V_2 प्रथम देश की तथा $U_1U_2U_3$ द्वितीय देश की पसन्दगी को व्यक्त करते हैं।

प्रथम देश संरक्षण के लिए तटकर का प्रयोग करते तटकर का प्रयोग करने पर प्रस्ताव वक्र OI से OI' हो जाता है, नया साम्यावस्था बिन्दु P' हो जाता है तथा व्यापार शर्तें OP' हो जाती है। तटकर की यह मात्रा अनुकूलतम क्योंकि इसके परिणास्वरूप प्रथम देश उच्चतम उदासीनता V_2V_2 पर पहुंच जाता है। इस बिन्दु पर प्रथम देश का वास्तविक कल्याण अधिकतम हो जाता है। अनुकूलतम तटकर यद्यपि प्रथम देश के वास्तविक कल्याण में वृद्धि करता है, किन्तु दूसरे देश पर इसके प्रभाव प्रतिकूल होते हैं। चित्र 14.5 के अनुसार दूसरे देश की व्यापार शर्ते प्रतिकूल हो जाती है तथा वह एक निम्न उदासीनता वक्र पर आ पाता है। तथा विदेशी व्यापार की मात्रा भी कम हो जाती है। यदि द्वितीय देश का प्रस्ताव वक्र सीधी रेखा के रूप में है तो प्रथम देश तटकर द्वारा लाभान्वित नहीं होगा।

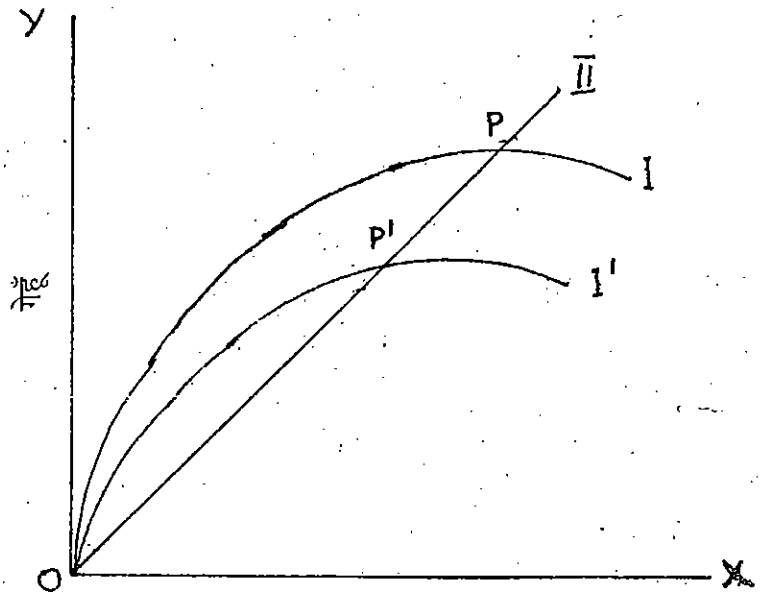

रेखा चित्र 14.6

चित्र 14.6 में दिखाया गया है कि यदि द्वितीय देश का प्रस्ताव वक्र OII है तो प्रथम देश तटकर द्वारा लाभ प्राप्त नहीं कर पाएगा। तटकर के बाद प्रथम देश का प्रस्ताव वक्र OI' हो जाता है साम्यवस्था P' पर होती है। व्यापार शर्ते पूर्ववत ही है व्यापार की मात्रा कम हो जाती है। इस स्थिति में अनुकूलतम तटकर शून्य होगा। इस विशेष स्थिति में स्वतन्त्र व्यापार द्वारा ही प्रथम देश अपने कल्याण को अधिकतम कर सकेगा।

14.4.3 प्रतिशोधात्मक तटकर एक देश तटकर द्वारा तब तक ही लाभान्वित हो सकता है जब तक दूसरा देश प्रतिशोधात्मक तटकर का प्रयोग नहीं करता है। प्रथम देश द्वारा जब तटकर लगाया जाता है तो वह प्रथम देश की व्यापार अनुकूलतम तटकर, तटकर शर्तों को अनुकूल रूप से प्रभावित करता है एवं उसके वास्तविक में कल्याण वृद्धि होती है (P^1 बिन्दु)। यदि दूसरा देश भी प्रतिक्रिया स्वरूप तटकर नीति का प्रयोग करे तो दूसरे देश का प्रस्ताव वक्र चित्र 14.5 के अनुसार OII' हो जाएगा जो प्रथम देश के प्रस्ताव वक्र के P^2 बिन्दु पर काटेगा। दूसरे देश की स्थिति P^1 की तुलना में अच्छी होगी क्योंकि वह U_2U_2 उदासीनता वक्र पर पहुंच जाता है। किन्तु P^2 बिन्दु P की तुलना में घटिया है प्रतिशोधात्मक तटकर (तटकर खेल) के समय P^2 साम्यावस्था बिन्दु स्थिर नहीं होगा प्रथम एवं द्वितीय दोनों देश व्यापार शर्तों को अनुकूल करने के लिए तटकर का प्रयोग करेंगे और अन्ततः व्यापार शून्य हो जाएगा। इस प्रकार की स्थिति का समाधान स्वतंत्र व्यापार से ही हो सकेगा। दोनों को स्वतन्त्र व्यापार के लिए समझौता करना होगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुकूलतम तटकर, तटकर की वह मात्रा है जो देश के वास्तविक कल्याण को अधिकतम करती है। तटकर नीति उस समय तक ही लाभान्वित होगी जब तक दूसरा देश इसका प्रयोग नहीं कर रहा है यदि प्रतिशोधात्मक तटकर प्रारंभ हो जाता है तो यह दोनों देशों के लिए हानिकारक होगा, व्यापार की मात्रा कम होती जाएगी और अन्ततः व्यापार शून्य हो जाएगा। इस स्थिति का समाधान स्वतंत्र व्यापार नीति के अनुसरण द्वारा ही सम्भव होगा।

14.5 बोध प्रश्न

1. तटकर का प्रयोग क्यों किया जाता है? तटकर के मुख्य प्रभावों की व्याख्या कीजिए।
2. तटकर आय वितरण को किस प्रकार प्रभावित करता है? स्टोलपर-सेमुअलसन प्रमेय की व्याख्या कीजिए
3. तटकर की आर्थिक लागतों एवं लाभों की व्याख्या कीजिए।
4. प्रभावी संरक्षण दर क्या है? अनुकूलतम तटकर की विचारधारा को स्पष्ट कीजिए।

14.6 सारांश

तटकर का प्रयोग मुख्यतया शिशु उद्योगों को संरक्षण देने, स्वदेशी बाजार, आधारभूत उद्योगों एवं रोजगार को बढ़ावा देने, राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों के उचित प्रयोग, सरकारी आय में वृद्धि करने, व्यापार शर्तों को अनुकूल करने, भुगतान संतुलन में सुधार करने तथा राष्ट्रीय स्वावलम्बता के लिए किया जाता है। तटकर के कुछ प्रभाव अनुकूल एवं कुछ प्रतिकूल होते हैं किन्तु कुल मिलाकर तटकर से देश के वास्तविक कल्याण में वृद्धि होती है तटकर की आर्थिक लागतें उपभोक्ता की बचत में कमी एवं उत्पादन की बढ़ी हुई लागतों के रूप में होती है जबकि लाभ घरेलु उत्पादन में वृद्धि, आयात में कमी, रोजगार में वृद्धि, बेरोजगारी में कमी एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि के रूप में होते हैं। तटकर यद्यपि घरेलु कीमतों को बढ़ाते हैं किन्तु इनसे व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जाती हैं और देश के वास्तविक कल्याण में वृद्धि होती है। अनुकूलतम तटकर, तटकर की वह मात्रा है जो देश के वास्तविक कल्याण को अधिकतम करती है। तटकर एक देश के लिए तब तक ही लाभदायक हो सकता है जब तक दूसरा देश तटकर नहीं लगाता है यदि 'तटकर खेल' प्रारम्भ हो जाता है तो इसका अन्त स्वतंत्र व्यापार के लिए समझोते द्वारा ही संभव है

14.7 शब्दावली

तटकर, व्यापार शर्तें प्रस्ताव वक्र अनुकूलतम तटकर खेल, प्रतिशोधात्मक तटकर, प्रभावी संरक्षण दर।

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. बी सी डर्स्टन : इन्टरनेशनल इकोनोमिक्स
2. रे एण्ड कुन्डू : इन्टरनेशनल इकोनोमिक्स
3. ओ.पी. किंडलबर्जर : इन्टरनेशनल इकोनोमिक्स
4. एच.जी.पी. श्रीवास्तव : इन्टरनेशनल इकोनोमिक्स
5. वी.सी. सिन्हा : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
6. बरला अग्रवाल : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

14.9 बोध-प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1 : तटकर या संरक्षण के पक्ष में तर्क दीजिये तथा तटकर के प्रभावों की व्याख्या करिये। (14.1 तथा 14.2)

प्रश्न 2: तटकर के प्रभावों की संक्षिप्त व्याख्या करिये तथा 14.2.6 को विस्तार से लिखिये तथा 14.2.7 द्वारा भी स्टोलपर सेमुअलसन विचारधारा की वैधता को समझाइये।

प्रश्न 3: तटकर की आर्थिक लागतों के लिए 14.4.1 की व्याख्या करिये तथा लाभों की व्याख्या के लिए मुख्य अनुकूल प्रभावों की व्याख्या 14.2 के आधार पर कीजिये।

प्रश्न 4: प्रभावी संरक्षण दर का अर्थ 14.4.1 के द्वारा समझाइये। 14.4.2 तथा 14.4.3 को विस्तार से लिखिये।

इकाई 15

अनुकूलतम प्रशुल्क
(Optimum Tariff)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 अनुकूलतम प्रशुल्क से अभिप्राय

15.3 अनुकूलतम प्रशुल्क का चित्र द्वारा निरूपण

15.4 अनुकूलतम प्रशुल्क व अर्पण वक्र की लोच

15.5 इकाई लोच व अनन्त लोच का महत्व

15.6 अनुकूलतम प्रशुल्क की अवधारणा का मूल्यांकन

15.7 सारांश

15.8 शब्दावली

15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.10 अभ्यास व उनके हल हेतु संकेत

15.0 उद्देश्य -

विश्व व्यापार में बड़ा राष्ट्र प्रशुल्क द्वारा व्यापार की शर्तें अपने पक्ष में परिवर्तन करने में सक्षम हो सकता है लेकिन इसके लिए आवश्यक शर्त यह है कि विदेशी राष्ट्र का अर्पण वक्र अनन्त लोच वाला नहीं हो तथा वह राष्ट्र प्रतिशोध के रूप में प्रशुल्क न लगाये। अतः महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि उपर्युक्त शर्तों के पूरा होने पर अधिकतम लाभ अर्जित करने हेतु राष्ट्र को कितनी प्रशुल्क लगानी चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर प्रदान करने हेतु हम अनुकूलतम प्रशुल्क की अवधारणा का अध्ययन करते हैं।

15.1 प्रस्तावना :

अनुकूलतम प्रशुल्क के अस्तित्व का कारण प्रशुल्क में वृद्धि के परिणामस्वरूप दो विरोधी शक्तियों का कार्यरत होना है।

यदि सामने वाले राष्ट्र का अर्पण वक्र अनन्त से कम लोच वाला है तथा यह राष्ट्र प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क नहीं लगाता है तो प्रशुल्क लगाने से (1) व्यापार की शर्तें प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के अधिकाधिक अनुकूल होती जाती है, लेकिन साथ ही (2) अधिकाधिक प्रशुल्क से आयातों की मात्रा में उत्तरोत्तर कटौती होती है। अनुकूलतम स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब प्रशुल्क के कारण कुल लाभ आयातों में कटौती से होने वाली हानि से सर्वाधिक हो।

15.2 अनुकूलतम प्रशुल्क से अभिप्राय :

अनुकूलतम प्रशुल्क वह प्रशुल्क की दर है जो प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र को उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र (Trade Indifference Curve) पर पहुंचा दे और इस प्रकार उसे उच्चतम समुदाय उदासीनता वक्र व अधिकतम सम्भावित कल्याण के स्तर पर पहुंचा दे।

15.3 अनुकूलतम प्रशुल्क का चित्र द्वारा निरूपण :

अर्पण वक्र चित्र के रूप में अनुकूलतम प्रशुल्क वह प्रशुल्क है जो प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र को उस उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र पर पहुंचा दे तथा वह व्यापार उदासीन वक्र सामने वाले राष्ट्र के अर्पण वक्र के स्पर्श होना चाहिये।

चित्र 15.1 में प्रशुल्क लगाने के परिणामस्वरूप B राष्ट्र का अर्पण वक्र OB से OB_1 हो जाता है। यह प्रशुल्क वास्तव में अनुकूलतम प्रशुल्क है क्योंकि प्रशुल्क लगाने से B राष्ट्र अपने उच्चतम उदासीनता वक्र संख्या 7 पर पहुंचा जाता है। वास्तव में ऐसा कोई भी प्रशुल्क जिससे B राष्ट्र का अर्पण वक्र A राष्ट्र के अर्पण वक्र को PQ हिस्से में काटे, B राष्ट्र का स्वतंत्र व्यापार वाले व्यापार उदासीनता वक्र 4 से ऊँचे उदासीनता वक्र पर पहुंचा देता है लेकिन अनुकूलतम प्रशुल्क लगाकर राष्ट्र अपने उच्चतम व्यापार उदासीनता वक्र पर पहुंच जाता है। B राष्ट्र का उच्चतम उदासीनता वक्र A राष्ट्र के अपर्णवक्र से स्पर्श होना भी आवश्यक है क्योंकि B राष्ट्र का साम्य A राष्ट्र के अपर्ण वक्र पर ही सम्भव है। व्यापार में दोनों व्यापाररत राष्ट्रों की नग्नता आवश्यक है।

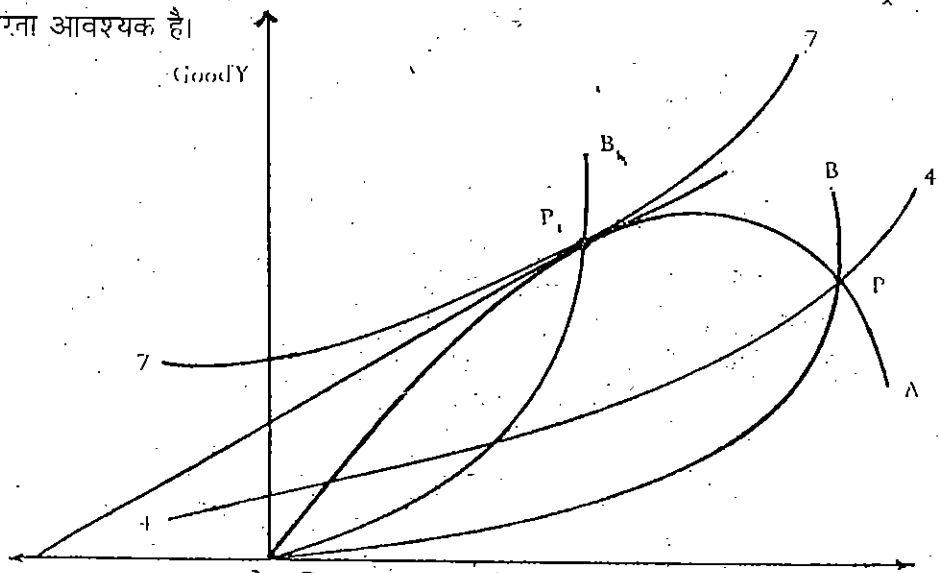

रेखाचित्र 15.1 अनुकूलतम प्रशुल्क

चित्र 15.1 में व्यापार की शर्तें दर्शाने वाली रेखा RP_1 को B राष्ट्र के व्यापार उदासीन वक्र के स्पर्श खींचा गया है क्योंकि हमने प्रशुल्क के माप की प्रो. मीड (Meade) द्वारा प्रयुक्त विधि का अनुसरण किया है। प्रो. मीड की विधि में सरकार प्रशुल्क द्वारा एकत्र आगम को पुनः उपदान (Subsidy) के रूप में वितरित कर देती है अतः उपभोक्ता इस मात्रा को दोनों वस्तुओं पर सामान्य ढंग से व्यय कर देते हैं।

चित्र 15.1 में RP_1 रेखा जहां पर क्षैतिज अक्ष को काटती है वही प्रशुल्क का माप है। चित्र में Ro प्रशुल्क है।

15.4 अनुकूलतम प्रशुल्क व अर्पण वक्र की लोच

अनुकलतम प्रशुल्क की गणना A राष्ट्र का अपर्णवक्र की लोच के रूप में की जा सकती है। चित्र 14.2 में P_1 ऐसा बिन्दु है जहां B राष्ट्र का प्रशुल्क सहित वाला अर्पण वक्र A राष्ट्र के अर्पण वक्र को काटता है। P_1 बिन्दु पर A राष्ट्र Y वस्तु की ob मात्रा के विनिमय में X वस्तु की bP_1 मात्रा लेने को तत्पर है। लेकिन OP_1 कीमत रेखा (जिसे चित्र में नहीं खींचा गया है) B के व्यापार उदासीन वक्र के स्पर्श नहीं है अतः X वस्तु की bP_1 मात्रा का व्यापार करते हुए साम्यावस्था नहीं है। B राष्ट्र P_1 बिन्दु पर केवल उसी कीमत पर व्यापार करेगा जो P_1 बिन्दु

पर उसके व्यापार उदासीन वक्र के स्पर्श हो (यह कीमत रेखा A राष्ट्र के अर्पण वक्र के भी स्पर्श होगी)। अतः हम चित्र 15.2 इस तरह की स्पर्श रेखा खींचते हैं तथा इसे लम्बवत अक्ष पर a बिन्दु से होते हुए क्षैतिज अक्ष पर R बिन्दु ले जाते हैं। यह रेखा B राष्ट्र में साम्य कीमत दर्शाएगी। अतः B राष्ट्र RP_1 रेखा के ढाल वाली कीमत पर व्यापार करेगा जबकि A राष्ट्र OP_1 रेखा वाली कीमत पर व्यापार करेगा।

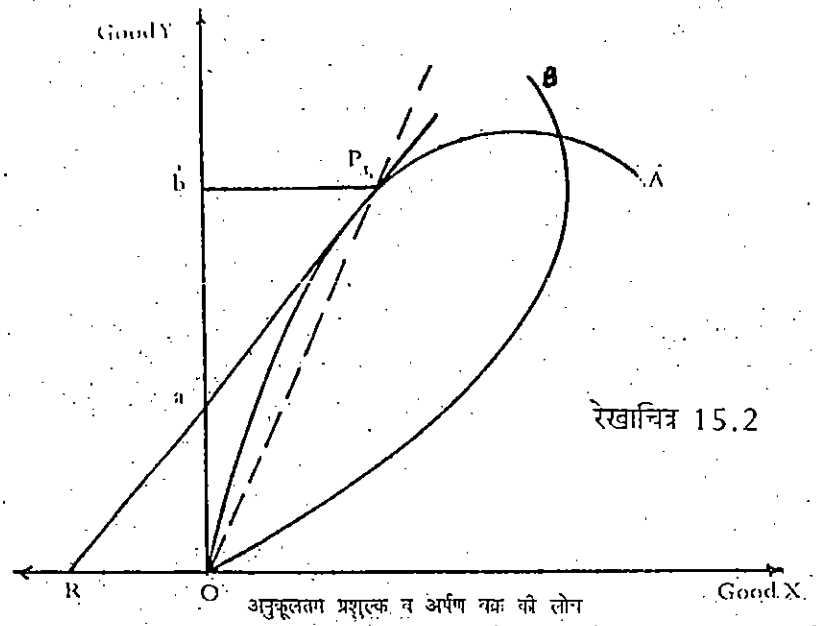

रेखाचित्र 15.2

चित्र 15.2: अनुकूलतम प्रशुल्क व अर्पण वक्र की लोच चित्र में यदि X वस्तु पर निर्यात कर दर्शाते हैं तो B राष्ट्र में $\frac{Ro}{bP_1}$ निर्यात प्रशुल्क होगी अथवा Y वस्तु की ba मात्रा के आयातों पर $\frac{ao}{ab}$ प्रशुल्क की दर है।

चित्र 15.2 में यदि हम Y की X के रूप में चित्र घरेलू कीमत $(\frac{bP_1}{ba})$ को P_1 द्वारा इंगित करे तथा Y की X के रूप में विदेशी कीमत (व्यापार की शर्तें) $(\frac{P_1b}{ob})$ को π द्वारा दर्शाएं तो Y वस्तु की विदेशी कीमत पर लगी अनुकूलतम प्रशुल्क को अग्रलखित समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$P_1 = (1+t)\pi$ (1)

उदाहरणार्थ, यदि वस्तु की विदेशी कीमत 10 रु. है तथा प्रशुल्क 20 प्रतिशत, तो घरेलू कीमत 12 रु. (अर्थात् $(1+.2)10=10+2=12$) होगी।

समीकरण (1) को अनुकूलतम प्रशुल्क t के लिए हल करने पर

$P_1 = \pi + \pi t$

अथवा $\pi t = P_1 - \pi$

अथवा $t = \frac{P_1}{\pi} - 1$

अब चित्र 15.2 से P_1 तथा π का मान इस अन्तिम समीकरण में रखने पर

$$t = \frac{(bP_1/ba)}{(bP_1/ob)} - 1 = \frac{bP_1}{ba} \times \frac{ob}{bP_1} - 1 = \frac{ob}{ba} - 1$$

लेकिन $\frac{ob}{ba}$ विदेशी राष्ट्र A के अर्पण वक्र की कुल लोच (efrd) है, अतः

$$t = efrd - 1$$

अर्थात् अनुकूलतम प्रशुल्क विदेशी राष्ट्र के अर्पण वक्र की लोच से इकाई कम के बराबर होती है। इस प्रकार प्रकार हम A राष्ट्र के अर्पण वक्र की मांग लोच में भी अनुकूलतम प्रशुल्क का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

अनुकूल प्रशुल्क $\frac{Ro}{bP_1}$ है अतः एक समान त्रिभुजों से

$$t = \frac{Ro}{bP_1} = \frac{ao}{ba} = \frac{1}{ba/ao}$$

लेकिन चित्र 15.2 में $ba = ob - ao$

अतः $\frac{1}{\frac{ba}{ao}} = \frac{1}{\frac{ob-ao}{ao}} = \frac{1}{\frac{ob}{ao}-1}$

लेकिन $\frac{ob}{ao}$ विदेशी राष्ट्र A के अर्पण वक्र की P_1 बिन्दु पर आयात लोच है अतः अनुकूलतम प्रशुल्क $\frac{Ro}{bP_1}$ को निम्न रूप में लिखा जा सकता है

$$\frac{Ro}{bP_1} = \frac{1}{\frac{ob}{ao}-1} = \frac{1}{efd-1}$$

अर्थात् अनुकूलतम प्रशुल्क विदेशी अर्पण वक्र की मांग लोच से इकाई कम के व्युत्क्रम reciprocal) के बराबर होती है।

उदाहरणार्थ, यदि विदेशी अर्पण वक्र की मांग लोच 5 है तो अनुकूलतम प्रशुल्क

$$t = \frac{1}{5-1} = \frac{1}{4} = 0.25$$

अर्थात 25 प्रतिशत प्रशुल्क राष्ट्र को कल्याण उच्चतम स्तर पर पहुंचा देगा। इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र के अर्पण वक्र की लोच अनन्त (∞) है तो अनुकूलतम प्रशुल्क $t = \frac{1}{\infty - 1} = 0$

अर्थात कल्याण के उच्चतम स्तर पर बने रहने हेतु राष्ट्र को प्रशुल्क नहीं लगानी चाहिये।

15.5 ईकाई व अनन्त लोच का महत्व

अनुकूलतम प्रशुल्क विदेशी अर्पण वक्र उस हिस्से में निर्धारित होती है जहां विदेशी अर्पण वक्र की लोच इकाई से अधिक लेकिन अनन्त से कम हो।

यदि विदेशी राष्ट्र के अर्पण वक्र की लोच अनन्त है तो अनुकुलतम प्रशुल्क शून्य होगी। इस बिन्दु को चित्र 15.3 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

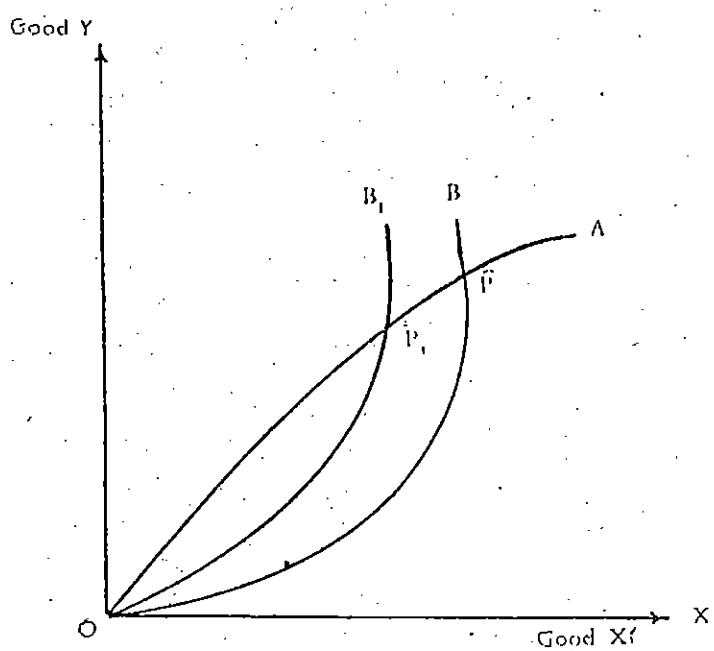

रेखाचित्र 15.3 विदेशी अर्पण वक्र की लोच अनन्त

चित्र 15.3 में A राष्ट्र के अर्पण वक्र की लोच अनन्त है अतः B राष्ट्र द्वारा प्रशुल्क लगाने से व्यापार की शर्तें तो अपरिवर्तित रहती हैं ($OP=OP_1$) लेकिन व्यापार घटकर P से P_1 हो जाता है। वास्तव में ऐसी स्थिति में व्यापार घटने के परिणाम स्वरूप राष्ट्र का कल्याण का स्तर गिर जाता है। अतः ऐसी स्थिति में B राष्ट्र के लिए अनुकूलतम प्रशुल्क शून्य होगी अर्थात् इस राष्ट्र के प्रशुल्क नहीं लगानी चाहिये। इसी प्रकार यदि विदेशी अर्पणवक्र की लोच इकाई हो तो अनुकूलतम प्रशुल्क $t=\frac{1}{1-1}=\infty$ (अनन्त) होगी –

अर्थात कल्याण का स्तर अधिकतम करने हेतु इस राष्ट्र को ऊंची से ऊंची प्रशुल्क लगानी चाहियें। इन बिन्दु को चित्र 15.4 में स्पष्ट किया गया है।

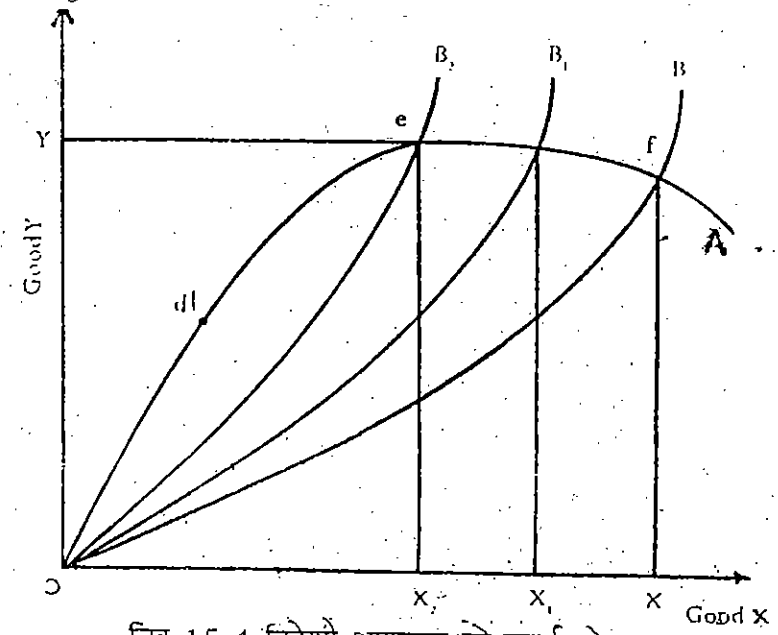

चित्र 15.4 विदेशी अपणवक्र को इकाई लोच

चित्र 15.4 में OA विदेशी राष्ट्र का अर्पण वक्र है। OA अर्पण वक्र के Od हिस्से की लोच अनन्त है जबकि ef हिस्सा इकाई लोच वाला है। यदि स्वतंत्र व्यापार वाला साम्य बिन्दु f है तो B राष्ट्र को तब तक प्रशुल्क बढ़ाते जाना चाहिए जब तक कि बिन्दु e व d के मध्य के हिस्से पर कहीं साम्य स्थापित न हो जाये। d बिन्दु के पीछे A अर्पण वक्र का Od हिस्सा पूर्णतया लोचदार है इसलिए और अधिक प्रशुल्क लगाना लाभप्रद नहीं होगा।

अतः स्पष्ट है कि अनुकूलतम प्रशुल्क अर्पण वक्र के d-e जैसे हिस्से में (जहां इस वक्र की लोच इकाई से अधिक तथा अनन्त से कम है) निर्धारित होती है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि अर्पण चक्र के ef हिस्से में विदेशी अर्पण वक्र OA की इकाई लोच की स्थिति में अधिकतम लाभ अर्जित करने हेतु B राष्ट्र को प्रशुल्क बढ़ाते ही जाना चाहिये इस बिन्दु को स्पष्ट करने हेतु हमें इस ओर ध्यान देना होगा कि अर्पण वक्र के इकाई लोच वाले हिस्से में व्यापार की मात्रा में परिवर्तन के बावजूद A राष्ट्र का कुल व्यय OY निर्यात के बराबर स्थिर बना रहता है अतः ऐसी स्थिति से अधिकतम लाभान्वित होने हेतु B राष्ट्र के अपने X वस्तु के निर्यात X_1 से घटाकर X_2 तक ले जाने पर भी पूर्ववत् आयात की मात्रा प्राप्त होती रहेगी अतः B राष्ट्र को अपने निर्यात न्यूनतम कर देने चाहिए।

अतः स्पष्ट है कि अनुकूलतम प्रशुल्क विदेशी राष्ट्र के अर्पण वक्र के उस हिस्से में निर्धारित होगी जहां इसकी लोच इकाई से अधिक लेकिन अनन्त से कम हो।

15.6 अनुकूलतम प्रशुल्क की अवधारणा का मूल्यांकन

प्रश्न यह उठता है कि अनुकूलतम प्रशुल्क की ऊँचाई व्यवहार में कैसे निर्धारित हो?

प्रो. हेबरलर (Haberler) के अनुसार "लेकिन प्रशुल्क की सापेक्ष ऊँचाई के सन्दर्भ में इस तरह का निर्णय साबित करने का प्रयास तथा इसे ठीक संख्यात्मक रूप में व्यक्त करने में बहुत भारी कठिनाइयां सामने आती हैं। ये कठिनाइयां मात्र तकनीकी व सांख्यिकी की प्रकृति की ही नहीं है अपितु इनका इस तथ्य से भी उदय होता है कि जांचोंपरान्त तटकर की उंचाई की अवधारणा किसी भी दृष्टि कोण से स्पष्ट व असंदिग्ध साबित नहीं होती है।"

डा. हेबरलर आगे लिखते है कि "वस्तु विशेष पर प्रशुल्क के भार की गणना करने हेतु उस वस्तु की आयातकर्ता अथवा निर्यातकर्ता राष्ट्र में कीमत को आधार मानना पड़ता है लेकिन प्रशुल्क द्वारा कीमत प्रभावित होने की कठिनाई सदैव ही बनी रहती है। इस प्रकार दी हुई प्रशुल्क का महत्व आयातकर्ता व निर्यातक दोनों राष्ट्रों में मांग व पूर्ति की लोच के साथ परिवर्तित होगा।"

इसी प्रकार इ. जे. मिशान (E.J. Mishan) अपने विचार अग्रलिखित शब्दों में व्यक्त किये "अनुकूलतम प्रशुल्क का यह सुझाव कि प्रतिशोध के अभाव में प्रशुल्क का एक ऐसा गणनायोग्य कुलक (Set) होता है जो कि उस राष्ट्र के लिए सर्वोत्तम हो, अत्यधिक सरल व लापरवाही युक्त है।"

अतः स्पष्ट है कि व्यवहार में अनुकूलतम प्रशुल्क की गणना अत्यधिक दुष्कर कार्य है।

15.7 सारांश –

विश्व बाजार में बड़े राष्ट्र को प्रशुल्क द्वारा अधिकतम लाभ अर्जित करने हेतु अनुकूलतम (optimum) प्रशुल्क लगानी चाहिए।

प्रशुल्क के परिणामस्वरूप दो विरोधी शक्तियां कार्यरत रहती है। सामने वाले राष्ट्र के अर्पण वक्र की अनन्त से कम लोच होने पर तथा प्रतिशोधात्मक प्रशुल्क के अभाव में प्रशुल्क लगाने से (1) व्यापार की शर्तें प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र के पक्ष में परिवर्तित हो जाती है लेकिन साथ ही (2) अधिकाधिक प्रशुल्क के साथ आयातों की मात्रा में कटौती होती है।

अनुकूलतम स्थिति उस समय प्राप्त होती है जब (1) से कुल लाभ (2) से होने वाली हानि से सर्वाधिक हो।

अनुकूलतम प्रशुल्क प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र को कल्याण के उच्चतम स्तर पर पहुंचा देती है।

चित्र के रूप में अनुकूलतम प्रशुल्क वह प्रशुल्क है जो प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र को उसके उच्चतम व्यापार उदासीन वक्र पर पहुंचा दे तथा वह व्यापार उदासीन वक्र सामने वाले राष्ट्र के अर्पण वक्र के स्पर्श हो।

अनुकूलतम प्रशुल्क व अर्पण वक्र की लोच के आपसी सम्बन्ध को निम्न सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है $t = \frac{1}{efd - 1}$ यहां efd सामने वाले राष्ट्र की अर्पण वक्र की लोच है। यदि विदेशी अर्पण वक्र की लोच इकाई है तो अनुकूलतम प्रशुल्क अनन्तक होगी।

इसका अभिप्राय यह है कि अधिकतम कल्याण हेतु राष्ट्र को उस समय तक प्रशुल्क लगाते जाना चाहिए जब कि कि विदेशी अर्पण वक्र के लोचदार हिस्से में प्रवेश न हो जाए।

इसी प्रकार यदि विदेश अर्पण वक्र की लोच अनन्त है (अर्थात् अर्पण वक्र मूल बिन्दु से सरल रेखा है) तो अनुकूल प्रशुल्क शून्य होगी अर्थात् प्रशुल्क लगाने का राष्ट्र के कल्याण का स्तर घट जायेगा अतः राष्ट्र को प्रशुल्क नहीं लगानी चाहिए।

लेकिन व्यवहार में अनुकूलतम प्रशुल्क के गणना अति दुष्कर कार्य है क्योंकि इसे ठीक संख्यात्मक रूप में व्यक्त करने में सांख्यिकीय अवधारणा की स्पष्टता से सम्बन्ध कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

15.8 शब्दावली

अनुकूलतम प्रशुल्क (Optimium Tariff): वह प्रशुल्क की दर जिसे लगाने से प्रशुल्क की स्थिति में प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र का कल्याण का स्तर अधिकतम हो जाता है।

बड़ा राष्ट्र (Large Country)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसा महत्वपूर्ण राष्ट्र जो अपनी क्रियाओं द्वारा विश्व बाजार कीमत को प्रभावित करने में सक्षम हो।

व्यापार उदासीनता वक्र (Trade Indifference Coures)

व्यापार उदासीनता वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर राष्ट्र व्यापार व बिना व्यापार की स्थिति के बीच उदासीन रहता है। व्यापार उदासीनता वक्र समुदाय उदासीनता वक्र की भांति मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर (Convex) तथा ऋणात्मक ढाल वाले होते हैं। प्रत्येक समुदाय उदासीनता वक्र के तदरूप (corresponding) एक व्यापार उदासीनता वक्र होता है। चूकि ऊँचा समुदाय उदासीनता वक्र कल्याण के उच्चस्तर का प्रतिनिधित्व करता है अतः ऊँचा व्यापार उदासीनता वक्र भी कल्याण के उच्च स्तर का द्योतक होता है।

अर्पण वक्र की लोच (elasticity of offer Curve)

अर्पण वक्र की लोच को तीन प्रकार से निर्वचित किया जा सकता है। कुल लोच, आयातों की मांग की लोच तथा निर्यातों की पूर्ति लोच। इसमें से हमने मांग लोच का सर्वाधिक उपयोग किया है। अपर्ण वक्र की मांग लोच की गणना का सूत्र अग्रलिखित है।

$$efd = \frac{\text{आयातों की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आयातों की कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

अर्पण वक्र चित्र के रूप में अर्पण वक्र की मांग लोच को लम्बवत रेखा द्वारा क्षैतिज अक्ष को काटने वाले बिन्दु की मूल (origin) से दूरी को वक्र के बिन्दु पर स्पर्श रेखा द्वारा क्षैतिज अंश को काटने वाले बिन्दु की मूल बिन्दु से दूरी द्वारा विभाजित करके प्राप्त किया जा सकता है।

अनुकूलतम प्रशुल्क (t) व विदेशी अर्पणवक्र की मांग लोच का आपसी सम्बन्ध निम्न सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

$$t = \frac{1}{efd - 1}$$

15.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें :-

1. Lindert, P.H.— International Economics (Richard D. Irwin, Inc.)
2. Salvatore, D. — International Economics (Schaum's outline series) MC Graw-Hill Book Co.
3. Swami, K.D. - अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

1989. (Hindi) Scientific Publishers, 5/A New Pali Road,

15.10 अभ्यास व उनके हल हेतु संकेत

1. अनुकूलतम प्रशुल्क की अवधारणा को चित्र द्वारा प्रस्तुत कीजिये।

   संकेत : देखिए अध्याय का भाग 15.3 व चित्र 15.1

2. यदि सामने वाले राष्ट्र के अर्पण वक्र की लोच अनन्त (∞) हो तो प्रशुल्क लगाने से प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र कल्याण का स्तर कैसे प्रभावित होगा? चित्र द्वारा दर्शाइये।

   संकेत : प्रशुल्क लगाने वाले राष्ट्र का कल्याण का स्तर गिर जायेगा। देखिए अध्याय का 15.5 भाग 1 चित्र 15.3

''यदि विदेशी राष्ट्र के अर्पण की लोच इकाई है तो अनुकूलतम प्रशुल्क अनन्त (∞) होगी'' इस कथन में निहित आर्थिक तर्क को स्पष्ट कीजिये।

संकेत - अध्याय के भाग 15.5 को ध्यान से पढें व चित्र 15.4 का अध्ययन करें।

इकाई 16
आयात अभ्यंश
(Import Quota)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 प्रमुख बिन्दु

16.2.1 आयात अभ्यशों का अर्थ

16.2.2 उदाहरण

16.3 आयात अभ्यंशों के प्रकार

16.3.1 प्रशुल्क अभ्यंश

16.3.2 एक पक्षीय अभ्यंश

16.3.3 द्विपक्षीय अभ्यंश

16.3.4 मिश्रित अभ्यंश

16.3.5 आयात लाइसेन्स प्रणाली

16.4 आयात अभ्यंश और प्रशुल्क में अन्तर

16.5 अभ्यंश के प्रभाव

16.6 सारांश

16.7 शब्दावली

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.9 अभ्यासों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य व्यापार-नियन्त्रण के अस्त्र के रूप में आयात अभ्यंश से आपका परिचय कराना है। प्रशुल्क के साथ इसका भेद बतलाते हुए दोनों के आर्थिक प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाएगा।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप आयात अभ्यंशों का अर्थ और इसके उद्देश्यों को जान पायेंगे। प्रशुल्क के साथ इसका विभेद समझ सकेंगें तथा इस बात से अवगत हो पायेंगे कि किन परिस्थितियों में सरकार प्रशुल्क की अपेक्षा आयात अभ्यंशों का ही चुनाव श्रेयकर समझती है। आयात अभ्यंशों के विभिन्न प्रकारों की जानकारी भी आपको दी जायेगी। आयात अभ्यंश का वस्तु की मांग, पूर्ति, कीमत, सरकारी आय, बाजार के स्वरूप आर्थिक कल्याण पर पड़ने

वाले प्रभावों को भी आप समझ सकेंगे; और इनमें तथा प्रशुल्क के प्रभावों के बीच विभेद भी कर सकेंगे।

16.2 प्रमुख बिन्दु

16.2.1 आयात अभ्यंश का अर्थ : आयात अभ्यंश व्यापार नियन्त्रण का एक अस्त्र है इसमें आयात की भौतिक मात्रा निर्धारित कर दी जाती है।

16.2.2 उदाहरण : यदि सरकार आयात किये गए रंगीन टी. वी. की संख्या में एक वर्ष में दस हजार पर निर्धारित करती है तब इसे आयात-अभ्यंश की संख्या दी जा सकती है। इसका प्रयोग प्रशुल्क के विकल्प के रूप में किया जाता है। प्रशुल्क में विदेशों से आयात की गयी वस्तुओं की कीमतों पर सरकार कर लगा देती है जिससे कीमत बढ़ जाती है और आयात की मात्रा घट जाती है।

बोध प्रश्न 1

प्रश्न - 1. आयात अभ्यंश से आप क्या समझते है प्रशुल्क से यह किस प्रकार भिन्न है।

16.3 आयात अभ्यंश के प्रकार

आयात अभ्यंश कई रूपों में लगाया जा सकता है:

16.3.1 प्रशुल्क अभ्यंश (Tariff Quota)

इसके अन्तर्गत किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा का आयात करों की रियायती दरों पर किया जाता है। इससे अधिक मात्रा का आयात करों की ऊंची दरों पर ही किया जा सकता है। इसकी खूबी यह है कि यह स्थिर अभ्यंश तथा सामान्य प्रशुल्क की विशेषताओं का समिश्रण करता है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यूरोप के कई देशों ने इसे अपनाया था।

16.3.2 एक पक्षीय अभ्यंश (Unilateral Quota)

इसमें कोई देश किसी अवधि में किसी वस्तु के आयात की निरपेक्ष मात्रा निश्चित कर देता है जिसका निर्धारण विदेशी सरकारों के साथ बिना किसी पूर्व समझौता के आधार पर किया जाता है। ऐसा स्थिर अभ्यंश भी दो प्रकार से निश्चित किया जाता है।

(क) विश्वस्तरीय अभ्यंश (Universal Quota) : इसमें अभ्यंश की मात्रा विश्व स्तर पर निश्चित की जाती है और कोई भी बाहरी देश अभ्यंश के तहत निश्चित मात्रा की पूर्ति न्युनतम मूल्य पर कर सकता है। अभ्यंश निश्चित करने वाले देश को न्यूनतम कीमत का लाभ मिलता तथा विश्व-स्तरीय अभ्यंश गैर-विभेदात्मक होते है।

(ख) आवंटित अभ्यंश : इसमें निर्धारित कुल अभ्यंश का आवंटन और वितरण विभिन्न बाहरी देशों के बीच किसी पूर्व निश्चित कसौटी के आधार पर तय किया जाता है। आवंटित अभ्यंश विभेदात्मक प्रकृति के होते है और अभ्यंश लागू करने वाला देश विश्व-स्तरीय अभ्यंश का मूल्य लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। विश्वस्तरीय अभ्यंश के दोषों के कारण ही आवांटित अभ्यंश को विभिन्न देशों के द्वारा अपनाया गया। ये दोष निम्नलिखित है :

(i) ऐसे अभ्यंश की सूचना मिलते ही बड़े आयातक फर्म अपने व्यापार सम्बंधों एवं अच्छी साख के कारण बड़ी मात्रा में आयातों का आर्डर देते है और छोटे आयात कर्ता पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लेते है।

(ii) आयात सम्बंधी सरकारी निर्णय की घोषणा होते ही इसकी पूर्ति की होड़ मच जाती है जिसका लाभ निकट-स्थित देश ही उठा लेते है और सुंदूर स्थित देश इस प्रतियोगिता में पीछे रह जाते हैं।

(iii) अभ्यंश की अनुमति की घोषणा किये जाने वाले देश में वस्तुओं की प्राप्ति की होड़ के परिणामस्वरूप कई बार अभ्यंश से अधिक आयात की भी सम्भावना बनी रहती है जिसमें कीमतों में उतार-चढ़ाव बढ़ जाता हैं। नाशवान वस्तुओं में ऐसी आंशका अधिक रहती है।

विश्वस्तरीय अभ्यंश के इन दोषों के अलावा एक-पक्षीय अभ्यंश लागू करने के पीछे एक कारण यह भी रहा है कि कुछ देश किसी विशेष निर्यातक देश के पक्ष में भेद पूर्ण नीति अपनाना चाहते हैं। एक अन्य कारण अभ्यंश वाले देश के हितों के विरूद्ध व्यापार नीति अपनाने वाले देशों से बदला लेने की भावना भी रही है।

प्रायः एक-पक्षीय अभ्यंश निर्यातक देश के द्वारा पूर्व के किसी आधार वर्ष में की गई पूर्ति के प्रतिशत योगदान पर आधारित होता है। इस नीति की सफलता के लिए आधार वर्ष का सामान्य एवं सही प्रतिनिधित्व करने वाला होना आवश्यक है।

यह भी पाया गया है कि जो देश अभ्यंश वाले देश में अपने निर्यात के प्रति आश्वस्त रहते है वे एकाधिकारी की तरह आचरण करने लगते है।

16.3.3 द्विपक्षीय अभ्यंश (Bilateral Quota) : इसमें अभ्यंश की मात्रा का निर्धारण आयातक और निर्यातक देशों के बीच मोल-भाव के पश्चात परस्पर सहमति से होता है।

1. इसका प्रमुख लाभ यह है कि इसमें बदले की कारवाई की सम्भावना नहीं रहती है।
2. इसमें विदेशी सरकारों की रूचि इस बात में रहती है कि अभ्यंश देश में आयात की मात्रा विश्वस्तरीय अभ्यंश से अधिक न हो।
3. इस बात की भी व्यवस्था इसमें की जा सकती है कि निर्यात अविध अभ्यंश की अवधि में इस प्रकार समान ढ़ग से वितरित किए जाए कि आयात की गयी पूर्ति में अत्यधिक उतार-चढ़ाव के दोष से बचा जा सके।
4. सहमति के आधार पर निर्यातक देश को एकाधिकार जैसी स्थिति प्राप्त न हो — इसकी व्यवस्था की जा सकती है।
5. विदेशों में विभिन्न फर्मों के बीच निर्यात की मात्रा को लाइसेंस प्रणाली के द्वारा निर्धारित किये जाने के कारण उत्पादक इसका विरोध नहीं करते।
6. इस व्यवस्था में लाइसेंस का प्रबंध निर्यातक देश के द्वारा किया जाता है अतः आयात अभ्यंश निर्धारित करने वाले देश में आयातों की होड़ समाप्त हो जाती है। किन्तु इस व्यवस्था का प्रमुख दोष यह है कि अभ्यंश ऐसे संघों को सौंप दिया जाता है जो शक्तिशाली रहते है। इससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। एक अन्य दोष यह है कि इससे निर्यातक देश में भी कीमतों में वृद्धि होती है जो अभ्यंश वाले देश के हितों के भी विरूद्ध है।

16.3.4 मिश्रित अभ्यंश (Mixed Quota)

कई देशों में यह व्यवस्था की जाती है कि निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग किये गए कच्चे मालों या अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं का एक निश्चित प्रतिशत भाग घरेलु साधनों का होना चाहिए।

उदाहरण के लिए रोटी के उत्पादन में प्रयुक्त आटे का एक निश्चित प्रतिशत भाग घरेलू आटे का होना चाहिए। ऐसा प्रावधान ब्राजील तथा ग्रेट-ब्रिटेन जैसे देशों में किया गया। यह व्यवस्था प्रायः प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन के सिलसिले में की जाती है। वस्त्र के धागों (कच्चा ऊन या मिश्रित धागे), तम्बाकू (घरेलू या विदेशी पत्तियां) और रबर (प्राकृतिक या कृत्रिम) ऐसे उदाहरण हैं।

इसका लाभ यह है कि यह विदेशी एकाधिकार पर पूर्ण निर्भरता से स्वदेश को बचाता है लेकिन इसके साथ वह भी सच है कि यह तुलनात्मक लाभ के आधार पर साधनों के आवंटन के सिद्धांत का हनन करता है। फलतः कीमतें ऊंची होती है और वस्तु की किस्म का स्तर भी गिर जाता है।

16.3.5 आयात लाइसेंस प्रणाली

विश्वस्तरीय अभ्यंश के प्रशासन की कठिनाईयों को दूर करने के लिए यह व्यवस्था अपनाई गई। यह आयात करने की होड़ को रोकने में सहायक है। इस व्यवस्था में आयात के इच्छुक लोगों को लाइसेंस के लिए आवेदन देना पड़ता है। सरकार जिन्हें लाइसेंस प्रदान करती है वे ही आयात के अधिकारी होते है। इसके आधार पर उन्हें विदेशी मुद्रा के प्रयोग की अनुमति मिलती है। यह प्रत्यक्ष रूप से आयात को नियन्त्रित करने के बदले परोक्ष रूप में ही ऐसा करता है।

इसके गुण इस प्रकार है :

(i) यह विश्वस्तरीय अभ्यंशों में पाये जाने वाले आयात की होड़ को सीमित करता है;

(ii) इसमें लोच का गुण है क्योंकि बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार लाइसेंस आधार पर आयात की भार घटायी या बढ़ायी जा सकती है।

(iii) इसके द्वारा दुर्लभ विदेशी मुद्रा की मांग को सीमित कर पूर्ति के बराबर किया जा सकता है।

इस व्यवस्था के दोष निम्नलिखित है :—

(i) अन्य नियन्त्रणों की तरह आयात लाइसेंस प्रणाली भी भ्रष्टाचार और काले धन को जन्म देती है। लाइसेंस प्राप्त करने की होड़ में रिश्वत देने वाले इसे प्राप्त करने में सफल होते है;

(ii) प्रायः बड़े उद्योगपति इसे प्राप्त कर एकाधिकारी लाभ प्राप्त करते है;

(iii) नये कुशल लेकिन कम साधन वाले उद्योगपति लाइसेंस प्राप्त करने की होड़ में पीछे छूट जाते है और अपनी योग्यता का उपयोग नहीं कर पाते।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न - 1. आयात अभ्यंश के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त परिचय दें। इनके सापेक्षिक गुण दोषों को बताएं।

प्रश्न - 2. आयात लाइसेंस प्रणाली से आप क्या समझते है? क्या आप इसके प्रयोग के पक्ष में हैं?

16.4 आयात अभ्यंश और प्रशुल्क में अंतर

16.4.1 उद्देश्य

आयात अभ्यंश और प्रशुल्क दोनों के उद्देश्य लगभग समान हैं दोनों का उद्देश्य आयात को घटाकर घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना, व्यापार संतुलन के घाटे को दूर करना और देश में रोजी एवं आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊपर उठाना है।

16.4.2 कार्य प्रणाली

यद्यपि दोनों के उद्देश्य लगभग समान हैं, फिर भी दोनों की कार्य-प्रणाली अलग अलग है। प्रशुल्क प्रत्यक्ष रूप से आयात की कीमत को प्रभावित करता है और इसकी मात्रा को परोक्ष रूप से आयात अभ्यंश आयात की मात्रा को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है और इसकी कीमत को परोक्ष रूप से। चूंकि अभ्यंश और प्रशुल्क दोनों आयात की कीमत को बढ़ाते और इसकी मात्रा को घटाते हैं। अतः दोनों का उपभोग, उत्पादन, व्यापार सन्तुलन, व्यापार की शर्तो राष्ट्रीय आय, वितरण, आर्थिक विकास और आर्थिक कल्याण पर प्रभाव पड़ता है।

16.4.3 दोनों में अन्तर

इन दोनों में कुछ अन्तर भी है जो निम्नलिखित है:—

1. प्रशुल्क से सरकार को आय की प्राप्ति होती है लेकिन आयात अभ्यंश से नहीं इसके साथ पुनर्वितरण तथा कल्याण संबंधी कुछ प्रश्न भी जुड़े हुए हैं। प्रशुल्क में उपभोक्ता को होने वाली क्षति का एक भाग सरकार को प्रशुल्क आय के रूप में उपलब्ध होता है अभ्यंश प्रणाली के अन्तर्गत उपभोक्ता को होने वाले घाटे की मात्रा लगभग उतनी ही रहती है लेकिन यह अतिरेक किसे प्राप्त होता है — यह स्पष्ट नहीं है। यह सरकार को प्राप्त हो सकता है। यदि वह आयात लाइसेंस के बदलें कीमत लें। ऐसी स्थिति में आयात लाइसेंस शुल्क आयात प्रशुल्क से प्राप्त आय सरकारी आय के समकक्ष ही होगा। लेकिन यदि आयात अभ्यंश का वितरण आयातकों के बीच निःशुल्क किया जाता है तब आयातकों को प्राप्त अतिरेक में वृद्धि होगी जबकि सरकारी आय या उपभोक्ता की बचत में कमी होगी। पुनः प्रशुल्क-आय का प्रयोग सामाजिक व्यय के रूप में किया जा सकता है। लेकिन अभ्यंशों के लाभ आयातकों को उपलब्ध होते है। जिनके द्वारा सामाजिक कल्याण में वृद्धि की जाने की सम्भावना नहीं है।
2. आयात लाइसेंस का वितरण प्रायः भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी को जन्म देता है जबकि आयात प्रशुल्क ऐसी समस्या को जन्म नहीं देता।
3. आयात की वस्तुओं की घरेलू मांग तथा पूर्ति की रेखाओं के बेलोचदार होने की स्थिति में अभ्यंश आयात नियंत्रण में प्रशुल्क की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी होते है। क्योंकि मांग तथा पूर्ति की लोच कम होने पर कीमत में वृद्धि की तुलना में मांग में सापेक्षिक कमी तथा पूर्ति में सापेक्षिक वृद्धि अपेक्षाकृत कम होती है।

बोध प्रश्न 3

प्रश्न-1. आयात अभ्यंश और प्रशुल्क की कार्य-प्रणाली में प्रमुख अन्तर कौन-कौन हैं?

प्रश्न-2. किन परिस्थितियों में अभ्यंश प्रशुल्क की अपेक्षा आयात को घटाने में अधिक प्रभावपूर्ण होता है?

प्रश्न-3. आयात अभ्यंश का सरकारी आय पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या यह प्रशुल्क के प्रभाव से भिन्न होता है?

16.5 अभ्यांश के प्रभाव

16.5.1 कीमत, मांग, पूर्ति और आयात पर प्रभाव

अभ्यंश और प्रशुल्क के प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी है। रेखाचित्र 16.1 व रेखाचित्र 16.2 में प्रशुल्क तथा आयात अभ्यंशों के प्रभावों को दिखाया गया है। रेखा चित्र 16.1 में प्रशुल्क लगाये जाने के पहले PO वस्तु की कीमत, OQ_3 मांग, OQ_1 घरेलू पूर्ति तथा Q_1Q_5 आयात हैं। t_1 के बराबर प्रशुल्क लगाने पर वस्तु की कीमत बढ़कर $p+t_1$ हो

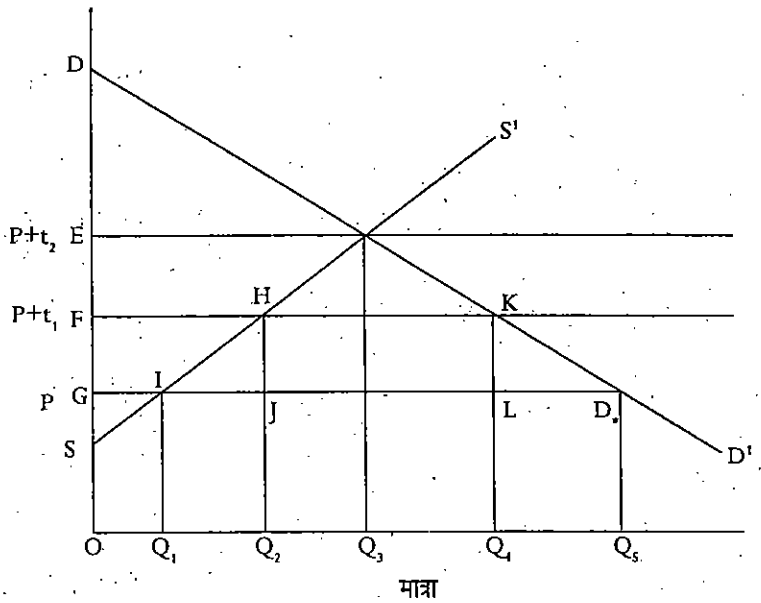

रेखाचित्र 16.1

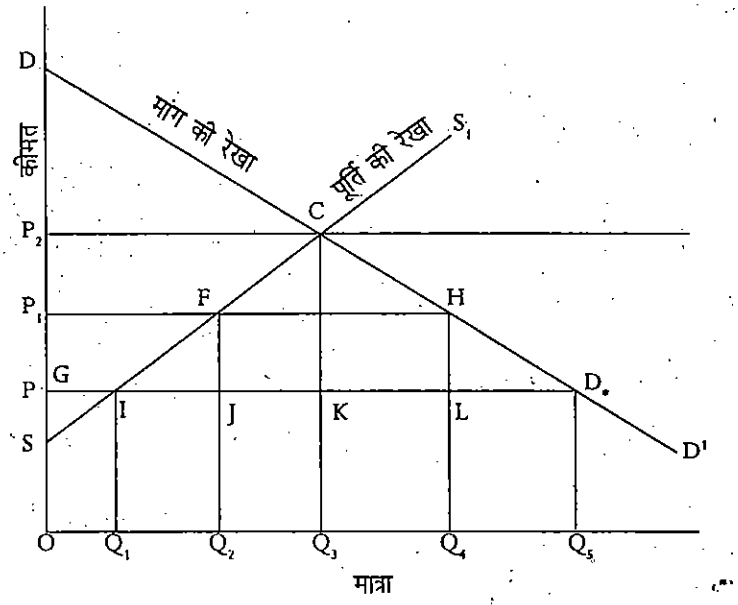

रेखाचित्र 16.2

जाती है। उपभोग घटकर OQ_4 हो जाता है। घरेलू पूर्ति बढ़कर OQ_2 हो जाती है और आयात घटकर $Q_2 Q_4$ हो जाता है। इसी प्रकार ऊंची दर t_2 पर यदि प्रशुल्क लगाया जाय तब कीमत बढ़कर $p+t_2$ हो जायेगी। घरेलू पूर्ति और बढ़कर OQ_3 हो जायेगी तथा उपभोग घटकर OQ_3 हो जायेगा और आयात शून्य हो जायेगा। प्रशुल्क t_2 निषेधात्मक प्रशुल्क का उदाहरण है जो इतना ऊंचा है तो कि हर प्रकार के आयात को पूर्णतः समाप्त कर देता है।

रेखाचित्र 16.2 में आयात अभ्यंश का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रारम्भ में मूल्य PO है। इस मूल्य पर देश OQ_5 मात्रा की मांग करता है और पूर्ति OQ_1 मात्रा की। Q_1Q_5 आयात की मात्रा है। अब आयात अभ्यंश की मात्रा Q_2Q_4 पर निर्धारित कर दी जाती है। आयात को घटा कर Q_2Q_4 करने वाला अभ्यंश कई मामलों में रेखाचित्र 16.1 में दिखलाये गये। प्रशुल्क t_1 के समान है जो वस्तु की घरेलु कीमत को बढ़कर $p+t_1$ कर देता है। रेखाचित्र 16.2 में कीमत p_1 रेखाचित्र 16.1 में कीमत p_1+t_1 के बराबर है। घरेलू उत्पादन, उपभोग, घरेलू कीमत,

तथा आयात पर प्रभाव एक समान है। लेकिन एक प्रमुख अन्तर यह है कि प्रशुल्क में सरकार को HJLK के बराबर प्रशुल्क आय की प्राप्ति होगी। जबकि अभ्यंश में यह रकम इसके धारक को प्राप्त होगी। लेकिन यदि सरकार अभ्यंश के अधिकार का निलाम कर इतने के बराबर कीमत ले तब यह अन्तर नहीं होगा। यदि आयात उद्योग में पहले से प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान हो तब अभ्यंश के धारक को एकाधिकारी लाभ की प्राप्ति होगी। एक दूसरा अन्तर यह है कि प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है जबकि अभ्यंश का प्रभाव अनिश्चित है।

16.5.2 उपभोक्ता की बचत पर प्रभाव

प्रशुल्क में (रेखाचित्र 16.1) घरेलू कीमत में वृद्धि उपभोक्ता की बचत में FKDG की कमी लाती है। इसका JLKH भाग सरकार को आय के रूप में मिलता है। उपभोक्ता की बचत की कमी का एक दूसरा भाग उत्पादकों को उत्पादक बचत के रूप में प्राप्त होता है। यह GIHF है। शेष बचने वाले दो त्रिभुज IJH तथा LDK समाज के लिए संरक्षण का व्यय बतलाते हैं। IJH इसका उत्पादन व्यय है क्योंकि पूर्व के आयात का q_1, q_2 भाग अब देश में ही उत्पादित होता है। जिसका व्यय अधिक है। दूसरा त्रिभुज LD_*K संरक्षण का उपभोग देय व्यय है।

आयात अभ्यंश (रेखाचित्र 16.2) में भी ये प्रभाव इसी प्रकार होगें। उपभोक्ता की बचत में कमी $P_1 HD_*P$ के बराबर होगी जो रेखाचित्र 16.1 के FKD_*G के बराबर है। लेकिन यहां JLHF आयात जो रेखाचित्र 16.1 के JLKH के बराबर है सरकार को प्रशुल्क आय के रूप में उपलब्ध होने के बदले अभ्यंश के धारक को एकाधिकारी लाभ के रूप में प्राप्त होगा। हां, यदि सरकार अभ्यंश को इसी कीमत पर निलाम कर दें तभी प्रशुल्क की तरह इतने के बराबर आय की प्राप्ति हो सकती है। अभ्यंश में भी त्रिभुज IJK तथा LD_*H संरक्षण के क्रमशः उत्पादन तथा उपभोग व्यय है।

16.5.3 अभ्यंश का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव

व्यापार की शर्तों पर प्रभाव के मामले में आयात अभ्यंश और प्रशुल्क में अन्तर हैं। प्रशुल्क का इस पर प्रभाव निश्चित होता है। जिसका पूर्वानुमान सम्भव है लेकिन अभ्यंश का प्रभाव अनिश्चित होता है। इसे रेखाचित्र 16.3 तथा 16.4 में दिखलाया गया है। रेखाचित्र 16.3

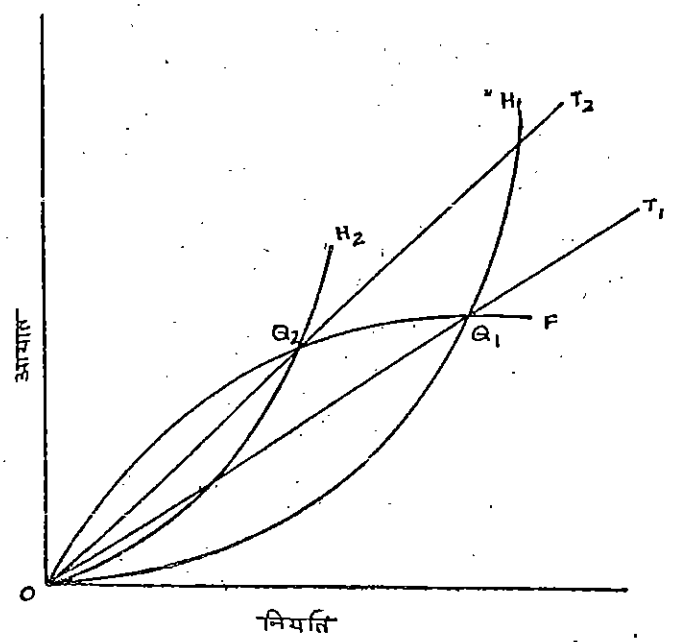

रेखाचित्र 16.3

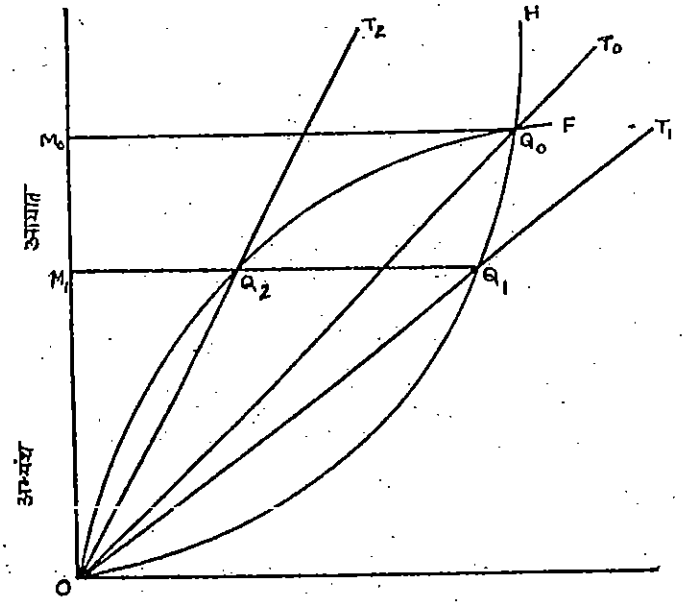

रेखाचित्र 16.4

में प्रशुल्क लगानेवाले देश का प्रस्ताव-वक्र (offer curve) OH_1 से OH_2 हो जाता है। जिसके फलस्वरूप व्यापार की शर्ते में सुधार होता है और यह OT_1 से OT_2 हो जाता है। रेखाचित्र 16.4 में अभ्यंश लगाने वाले देश का प्रस्ताव वक्र OH तथा विदेश का प्रस्ताव वक्र OF है। स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में संतुलन बिन्दु QO है जहां व्यापार की शर्ते OT_o है। M_oO देश का आयात व MoQo निर्यात है अब देश-आयात अभ्यंश अपनाता है और आयात की मात्रा OM_1 पर तय करता है प्रश्न है M_1o पर आयात अभ्यंश निर्धारित करने के पश्चात देश की व्यापार की शर्ते क्या होगी? M1 से सीधी क्षितिज मान रेखा खीचने पर यह विदेश के प्रस्ताव वक्र को Q_2 पर तथा स्वदेश के प्रस्ताव वक्र को Q_1 पर काटती है। यदि अभ्यंश लागू करने पर व्यापार संतुलन Q_2 पर होता है.स्वदेश के व्यापार की शर्ते में अभ्यंश के फलस्वरूप सुधार होगा। लेकिन यदि ऐसा संतुलन Q_1 बिन्दु पर होता है। तब व्यापार की शर्ते OT_1 होगी अर्थात यह स्वदेश के विपक्ष में हो जायेगी। क्योंकि OT_1 ढ़ाल OT_2 की ढ़ाल से कम है। इस आधार पर अभ्यंश का व्यापार की शर्त पर प्रभाव अनिश्चित होता है।

16.5.4 दोनों के प्रभावों में भिन्नता लानेवाली परिस्थितियां

अभ्यंश और प्रशुल्क के प्रभावों की समानता बाजार की स्थिति पर निर्भर करती है विदेशों में बाजार में प्रतियोगिता या घरेलू आयात - प्रतिस्थापन उद्योगों में स्वतंत्र प्रतियोगिता की स्थिति रहने पर और इसके साथ ही अभ्यंशों के धारकों में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति रहने पर ही अभ्यंश का आर्थिक प्रभाव प्रशुल्क की तरह होगा।

लेकिन सभी बाजारों में प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान नहीं रहती। अभ्यंश का प्रयोग कृषिगत वस्तुओं के आयात को नियन्त्रित करने के लिए किया जाता रहा है। 1930 के दशक में इसका प्रयोग काफी प्रचलित था क्योंकि कई वस्तुओं पूर्ति बेलोचदार थी। ऐसी दशा में प्रशुल्क इसका प्रयोग करने वाले देश के प्रक्ष में व्यापार की शर्ते को बदल सकता है। लेकिन यह आयात को सीमित कर घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने में असफल रहता है।

16.5.5 अभ्यंशों के प्रयोग की उपयुक्तता

कृषिगत वस्तुओं की पूर्ति प्रायः अल्पकाल में बेलोच रहती है। यही नहीं इनकी मांग भी

बेलोचदार होती है। ऐसी परिस्थिति में अभ्यंश के द्वारा आयात को सीमित किया जा सकता है तथा वस्तु की घरेलू कीमत से स्थिरिता कायम की जा सकती है। कई देशों में घरेलू कृषिगत नीति की एक विशेषता मूल्यों को समर्थन प्रदान करने की है ताकि किसानों को एक न्यूनतम आय की गारंटी मिल सके। इस उद्देश्य से कृषि वस्तुओं के संबंध में आयात-अभ्यंश की नीति अल्पकाल में प्रशुल्क की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हो सकती है।

बोध प्रश्न 4

प्रश्न-1. रेखाचित्र की सहायता से मांग, पूर्ति, आयात तथा उपभोक्ता की बचत पर आयात अभ्यंश का प्रभाव बतलाये। यह प्रशुल्क के प्रभाव से किस मामले में भिन्न होगा?

प्रश्न-2. किन परिस्थितियों में आयात-अभ्यंश का आर्थिक प्रभाव प्रशुल्क के प्रभाव से भिन्न होगा?

प्रश्न-3. किन क्षेत्रों में आयात-अभ्यंशों का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है और क्यों?

16.6 सारांश

इस इकाई में आयात-अभ्यंश से आपका परिचय कराते हुए प्रशुल्क और आयात अभ्यांश में अन्तर बतलाया गया है। इन दोनों के आर्थिक प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। आयात अभ्यंश में सरकार आयात की भौतिक मात्रा निर्धारित करती है। प्रशुल्क में आयात की गयी वस्तु की कीमत पर कर लगाया जाता है। अभ्यंश आयात की मात्रा को पत्यक्ष रूप से नियत्रित करता है जबकि प्रशुल्क आयातित वस्तु की कीमत को बढ़ाकर इसकी मांग को परोक्ष रूप से नियत्रित करता है।

अभ्यंश के प्रकार है : 1. प्रशुल्क अभ्यंश, 2. एकपक्षीय अभ्यंश, 3. द्विपक्षीय अभ्यंश, 4. मिश्रित अभ्यंश, 5. आयात-लाइसेंस प्रणाली।

आयात अभ्यंश तथा प्रशुल्क दोनों का उद्देश्य आयात को नियंत्रित करना, व्यापार संतुलन के घाटे में कमी लाना तथा रोजी और आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊपर उठाना है। प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान रहने पर दोनों का आर्थिक प्रभाव लगभग समान होता है। दोनों कीमत को बढ़ाते है; आयातित वस्तु की मांग को घटाकर और इसकी घरेलू पूर्ति को बढ़ाकर आयात की मात्रा को घटाते है। दोनों उपभोक्ता की बचत में भी कमी लाते है लेकिन प्रशुल्क में सरकार को आय की प्राप्ति होती है जबकि अभ्यंश में ऐसा नहीं होता है। सरकार प्रशुल्क आय के बराबर कीमत अभ्यंश के अधिकार को बेचकर प्राप्त करें तब यह अन्तर नहीं होगा। आमतौर पर अभ्यशं में यह में यह रकम आयात-कर्ता को प्राप्त होती है। इन दोनों का एक अन्तर व्यापार की शर्तो को लेकर है। प्रशुल्क व्यापार की शर्ते को अपने पक्ष में करता है जबकि अभ्यंश का प्रभाव इस पर अनिश्चत रहता है। आयात की मांग तथा आयात प्रतिस्थापना वस्तु की घरेलू पूर्ति वे लोचदार रहने पर अभ्यंश की नीति आयात नियन्त्रण में प्रशुल्क की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी होती है।

प्रतियोगिता की अनुपस्थिति में अभ्यंश का आर्थिक प्रभाव प्रशुल्क भिन्न होता है।

व्यवहार में कृषिगत वस्तुओं के संबंध में अभ्यंश की नीति अपनायी जाती रही है क्योंकि ऐसी वस्तुओं की पूर्ति अल्पकाल में बेलोचदार रहती है।

16.7 शब्दावली

विभेदात्मक अभ्यंश : अभ्यंश जिसमें विभिन्न देशों के साथ भेद-भाव किया है।

तुलनात्मक लाभ : किसी देश को दूसरे देश की तुलना में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में जो सापेक्षिक लाभ होता है उसे तुलनात्मक लाभ कहते है।

काला धन : गैर कानूनी ढ़ंग से अर्जित आय या संपति

एकाधिकार : किसी वस्तु की पूर्ति पर सिर्फ एक व्यक्ति का नियंत्रण

निषेधात्मक प्रशुल्क : वह प्रशुल्क जिस पर आयात शून्य हो जाए।

उपभोक्ता की बचत : उपभोक्ता जो कीमत देने को तैयार रहता है और वास्तव में क़ीमत चुकाता है - इन दोनों का अन्तर

मांग और पूर्ति की लोच :

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{पूर्ति में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

यहां भागफल एक होने पर लोच ईकाई, एक से अधिक होने पर मांग और पूर्ति लोचदार तथा एक से कम होने पर बेलोचदार कहे जाते है।

पूर्ण प्रतियोगिता - इसमें किसी एक वस्तु का मूल्य किसी एक समय सभी के लिये एक ही है। कोई भी क्रेता या विक्रेता अपनी निजी क्रियाओं से कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता।

अल्पकाल- वह अवधि जिसमें सिर्फ परिर्वतनशील साधनों में परिवर्तन कर उत्पादन को घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. International Economics, Bo Sodersten, Macmillan 1970
2. International Economics, Theory and Policy Issues; H.G. Mannur, Vikas Publishing House, 1983.
3. अन्तराष्ट्रीय अर्थशास्त्र, डा. जी. सी. सिंघई, साहित्य भवन, आगरा, 1987.

16.9 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

प्रश्न 1. आयात अभ्यंश में आयात की भौतिक मात्रा निर्धारित कर दी जाती। प्रशुल्क में आयात की जाने वाली वस्तु की कीमत पर कर लगाया जाता है। यह आयात की कीमत को बढ़ाकर परोक्ष रूप से इसकी मात्रा को घटाता है जबकि अभ्यंश आयात की मात्रा को प्रत्यक्ष रूप से घटाकर परोक्ष रूप से इसकी कीमत को बढ़ाता है।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 1. इस प्रश्न के उत्तर के लिये 16.3.1 से 16.3.5 देखें।

प्रश्न 2. इसमें आयातकर्ताओं को आयात की अनुमति के लिये लाइसेंस प्राप्त करना पड़ता

है सरकार अपनी नीति के आधार पर किसी प्राथमिकता के क्रम के अनुसार बिशिष्ट वस्तु की विशिष्ट मात्रा के आयात की अनुमति विशिष्ट आवेदकों को देती है।

आयात की होड़ को घटाता है। इसमें लोच का गुण भी है क्योंकि आयात की मात्रा आवश्यकतानुसार घटायी-बढ़ायी जा सकती है। लेकिन इसका लाभ बड़े उद्योगपति ही उठा लेते है। साथ ही यह भ्रष्टाचार को बढ़ावा देता है।

बोध प्रश्न 3

प्रश्न 1. प्रशुल्क में सरकार को आय की प्राप्ति होती है जबकि अभ्यंश में सरकार से वंचित रहती है और यह आयात कर्त्ता को प्राप्ति होता है। लेकिन यदि सरकार अंश का अधिकार कीमत लेकर बेच दे तब इसमें भी प्रशुल्क की तरह सरकार को आय होगी।

प्रश्न 2. आयात की वस्तु की मांग तथा इसकी प्रतिस्थापन वस्तुओं की घरेलु पूर्ति बेलोचदार न पर अभ्यंश की नीति प्रशुल्क की अपेक्षा आयात-नियत्रण में अधिक प्रभाव पूर्ण होती है।

प्रश्न 3. आमतौर पर अभ्यंश में सरकार उस आय से वंचित रहती है जो प्रशुल्क की नीति अपनाने पर इसे प्राप्त होती है। यह आप अभ्यंश के धारक को प्राप्त होती है। लेकिन अभ्यंश के अधिकार की नीलामी-कर सरकार इसकी क्षतिपूर्ति कर सकती है।

बोध प्रश्न 4

प्रश्न 1. इस प्रश्न के उत्तर के लिये 16.5.1 और 16.5.2 देखें।

प्रश्न 2. देखें 16.5.3।

प्रश्न 3. कृषिगत वस्तुओं में आयात-अभ्यंशों का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा है क्योंकि इनकी मांग तथा अल्पकाल में इनकी पूर्ति बेलोचदार रहती है। ऐसी स्थिति में प्रशुल्क की नीति आयात की मात्रा घटाने में असफल रहती है।

इकाई 17

व्यापार में हस्तक्षेप की आवश्यकता – शिशु उद्योग, बाजार विकृतियाँ और बाह्य मितव्ययिताएँ

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 तटकर (प्रशुल्क) के लिये शिशु उद्योग तर्क

- 17.2.1 आधारभूत तर्क
- 17.2.2 तर्क की प्रावैगिक प्रकृति
- 17.2.3 पैमाने की आन्तरिक मितव्ययिताएँ (किफायतें)
- 17.2.4 बाह्य मितव्ययिताएँ तर्क
- 17.2.5 तर्क का चित्र द्वारा निरूपण
- 17.2.6 मिल - बेस्टेबल परीक्षण
- 17.2.7 कठिनाइयाँ और सीमाएँ

17.3 बाह्य मितव्ययिताएँ

17.4 बाजार अपूर्णताएँ / घरेलू विकृतियाँ

- 17.4.1 बाजार विकृतियों की प्रकृति
- 17.4.2 बाजार विकृतियों के उदाहरण
- 17.4.3 घरेलू विकृतियों की परिभाषाएँ
- 17.4.4 परेटो उत्तमावस्था (अनुकूलता) का वर्णन
- 17.4.5 विकृतियों के प्रकार
- 17.4.6 चित्र द्वारा स्पष्टीकरण (निरूपण)

17.5 सारांश

17.6 शब्दावली

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम एक देश के विदेशी व्यापार में सरकार के हस्तक्षेपों के पक्ष के कुछ महत्वपूर्ण तर्कों की समीक्षा करेंगे। इकाई 13 में, आपको बताया गया था कि स्वतंत्र व्यापार में ऐसे लाभ हैं जिन्हें एक देश प्राप्त कर सकता है। स्वतंत्र व्यापार एक सर्वश्रेष्ठ व्यापार नीति मानी जाती है क्योंकि इसमें एक देश का सामाजिक तटस्थता वक्र, जिसमें व्यापार सम्भव नहीं होता

है या व्यापार प्रतिबंधित होता है, की तुलना में अधिक उँचे स्तर पर पहुंचता है। परन्तु इसके उपरान्त भी कुछ निर्विवाद स्थितियाँ है जो व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप को न्याय सगंत मानती है । अन्तराष्ट्रीय अर्थशास्त्र में अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा इन हस्तक्षेपों की विस्तृत रूप से समीक्षा की गई है। वे इनका समर्थन करने के लिए विभिन्न तर्क प्रस्तुत करते हैं। ये तर्क दो प्रकार के हैं जो प्रकृति से गैर आर्थिक हैं जैसे सुरक्षा की आवश्यकताएँ, देश की प्रतिष्ठा और प्रतियोगियों की प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित हैं।

हम यहाँ पर सिर्फ हस्तक्षेप के आर्थिक तर्कों पर ही विचार कर रहे हैं। हम यह देखेंगे कि इनका देश के कल्याण पर क्या प्रभाव पड़ता है और यह भी देखेंगे कि उपभोग, उत्पादन और साधन आबंटन पर भी उसका क्या प्रभाव पड़ता है?

17.1 प्रस्तावना

यहाँ हस्तक्षेप के तीन आधारभूत आर्थिक तत्त्वों की समीक्षा की जायेगी, अर्थात्

शिशु उद्योग तर्क, बाह्य मितव्ययिताएँ / अमितव्ययिताएँ तर्क और बाजार विकृतियों के तर्क।

कभी - कभी इन में से प्रथम दो तर्कों की, उनकी पारस्परिक अन्तर निर्भरता के तर्क कारण, साथ - साथ समीक्षा की जाती है। इसलिये कुछ पुस्तकों में उनका वर्णन संयुक्त रूप से दिया गया हैं। जैसे - जैसे आप इस इकाई का अध्ययन करेंगे वैसे - वैसे आप भी देखेंगे की उनकी समीक्षा साथ - साथ की जा सकती है।

ये तर्क विकासशील देशों की स्थिति में सही रूप से प्रबल हैं। ये देश स्वंय अपने आप ही तीव्रता से विकास के लिये प्रयत्नशील हैं। किन्तु वे पाते हैं कि उनकी घरेलू बाजार संरचना अपूर्ण है और वह उनके स्वतंत्र विदेशी व्यापार में रूकावटें उत्पन्न करती हैं। ठीक उसी प्रकार से वे पाते हैं कि उनके नये उद्योग विदेशों में कड़ी (कठोर) प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने की स्थिति में भी नहीं हैं। परिणामस्वरूप उनके घरेलू उद्योगों की स्थापना नहीं की जा सकती हैं। ये प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ सरकार को हस्तक्षेप करने के लिये प्रेरित करती हैं।

हस्तक्षेप कई रूपों में आरम्भ किया जा सकता है, किन्तु इनमें से सबसे अधिक लोकप्रिय तटकर/आर्थिक सहायता है। आयातों पर तटकर या निर्यातों को आर्थिक सहायता सरकारी हस्तक्षेप का महत्वपूर्ण साधन हैं। इस इकाई में, हम नियंत्रण की इन दोनों विधियों और उनके प्रभावों पर विचार करेंगें।

17.2 शिशु उद्योग तर्क

सर्व प्रथम हम शिशु उद्योग तर्क पर विचार करते हैं। संरक्षण के लिये सभी आर्थिक और गेर-आर्थिक तत्वों में, इसको एक सबसे अधिक मान्य विचारा जाता है। इसके पीछे तर्क प्रबल हैं।

यह तर्क सर्व प्रथम 1791 में अमेरिकन अर्थशास्त्री एलेक्जेण्डर हेमिल्टन के द्वारा प्रतिपादित किया गया तथा बाद में अर्थशास्त्री जे. एस. मिल और फेंड्रिक लिस्ट द्वारा आगे विस्तार किया गया।

17.2.1 आधारभूत तर्क

हेक्शचर ओहलिन तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त व्यक्त करता है कि एक देश को उसमें विशिष्टीकरण अपनाना चाहिये और उस वस्तु का निर्यात करना चाहिये जो देश के उत्पादन के प्रचुर साधन का गहनता से उपयोग करता है (देखिये इकाई 5) उत्पादन का सापेक्षिक प्रचुर साधन किसी अन्य दुर्लभ (स्वरूप) साधन की तुलना में अधिक सस्ता होगा। इसलिये अधिक गहनता

से इसका उपयोग करके देश सस्ता उत्पादन करेगा और उसे निर्यातों में अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त होगा। प्रत्येक देश को उत्पादन के प्रचुर साधन के उपयोग के आधार पर अपने निर्यात स्वरूप निश्चित करना चाहिये। यदि सभी देश इसके अनुसार कार्य करें, तो वे सस्ती वस्तुओं का उत्पादन और व्यापार करेंगें। इस प्रकार सभी देश लाभान्वित होंगे।

हालांकि, यह स्पष्ट किया जाता है कि एक विकासशील देश में, प्रर्याप्त मात्रा में साधनों की सुलभता सम्भव होने के कारण एक विशिष्ट उद्योग की स्थापना को उचित ठहराया जाता है, परन्तु ठीक उसी प्रकार के उद्योग के विदेशी सस्ते आयातों की प्रतियोगिता के कारण उसको विकसित नहीं किया गया है। कुछ एतिहासिक कारणों से, अन्य देशों में पहल की और विशिष्ट उद्योग को सबसे पहले स्थापित किया। वे पहले से ही इस वस्तु का उत्पादन कर रहें है। इसलिये उनसे सस्ते आयात, यहाँ घरेलू उद्योग के विकास की अनुमति नहीं दे रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में यह तर्क दिया जाता है कि घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण दिया जाना चाहिये।

तर्क यह है कि शिशु अवस्था में जब विकासशील उद्योग कोमल होता है, और विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए सक्षम नहीं होता है, तब आर्थिक सहायता देकर उसकी मदद करनी चाहिये या वैकल्पिक रूप से आयातों पर तटकर लगाते हुये उन्हें मंहगा किया जाना चाहिये। इस प्रकार स्थानीय उद्योगों को कीमत लाभ दिया जायेगा और उन्हें पर्याप्त मांग का आत्मविश्वास दिलाया जायेगा। ये उसके आगे बढ़ने में मदद करेंगे और उसके आधार को दृढ़ता से विकसित करेंगे। 'सीखने की प्रक्रिया' से गुजरने और 'परिपक्व' होने के बाद, वह स्वतंत्र रूप से अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे (आत्मनिर्भर होंगे)। जब शैशवावस्था समाप्त होती है और उद्योग शक्तिशाली हो जाता है, तब आयात कर / आर्थिक सहायता के रूप में दिया गया संरक्षण वापस लिया जा सकता है। तब उद्योग को स्वतंत्र व्यापार की स्थिति में काम करने के योग्य और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार कीमतों पर आयातों से प्रतियोगिता करने की स्थिति में माना जा सकता है।

17.2.2 तर्क की प्रावैगिक प्रकृति

संरक्षण के लिये शिशु उद्योग तर्क प्रकृति से आवश्यकरूप से प्रावैगिक होता है। यह सिर्फ सीखने की अवधि में अस्थायी और अल्पकालीन संरक्षण का समर्थन करता है। दीर्घकाल में उद्योग से अपेक्षा की जाती है कि वह संरक्षण के बिना उत्पादन करने की स्थिति में हो। इस प्रकार यह तर्क घरेलू उद्योगों के स्थायी सरंक्षण का समर्थन नहीं करता है। मुख्य विशेषता यह है कि साधनों की प्रचुरता पर यह आधारित तुलनात्मक लाभ का वास्तविक स्वरूप, जो व्यापार की स्वतंत्र शक्तियों के क्रियाशील होने के कारण पहले स्थापित नहीं किया जा सका, अब इस अल्पकालीन संरक्षण की सहायता से उभर सकेगा। संरक्षण की यह अस्थाई प्रकृति है जो तर्क को प्रावैगिक बनाती है।

यहां यह भी स्पष्टरूप से दर्शाया जाना चाहिये कि यह तर्क स्वतंत्र व्यापार नीति के विरूद्ध नहीं है। दीर्घकालीन विश्लेषण में, इस प्रकार का संरक्षण व्यापार के पक्ष में होता है न कि व्यापार के प्रतिकूल।

17.2.3 पैमाने की आन्तरिक मितव्ययिताएँ (किफायतें)

शिशु उद्योगों के संरक्षण के पक्ष में प्रमुख तर्क उसके पैमाने की मितव्ययिताएँ हैं। यदि आयात प्रशुल्क/आर्थिक अनुदान उपायों से हतोत्साहित किये जाते हैं, तो घरेलू उद्योग स्थानीय बाजार को उसके लिये सुरक्षित पाता है। वह स्थानीय मांग को पूरा करने के लिये उत्पादन का विस्तार करने में समर्थ होता है। उत्पादन के विस्तार के साथ - साथ, उद्योग पैमानें के किफायतों (पैमानें के वर्द्धमान प्रतिफल) के लाभ प्राप्त करने की स्थिति में होगा। वह बड़े पैमाने के उत्पत्ति के लिये आधुनिक प्रोद्यौगिकी (तकनीकी मितव्ययिताएँ) को आरम्भ करेगा। वह बड़ी मात्रा में कच्चा माल खरीदेगा और इसलिये वह उसे अधिक सस्ता पा सकता है। ठीक उसी प्रकार बड़ी मात्रा

में विक्रय द्वारा, वह उसकी वस्तु कीमत को उसके पक्ष में प्रभावित कर सकता है। (बाजार मितव्ययिताएँ)। बड़ा उप्पादक होने के कारण, वह बड़ी मात्रा में वित्त का प्रबंध कर सकेगा और वह भी सुविधाजनक शर्तों पर (वित्तीय मितव्ययिताएँ)। वह उत्पादन के अलग - अलग क्षेत्रों के संचालन के लिये प्रशिक्षित व अनुभवी अधिकारियों को नियुक्त करेगा जैसे प्रबन्ध, निरीक्षण, बिक्री, श्रम नियंत्रण, वित्त इत्यादि। इससे अधिक कार्यकुशल उत्पादन होने लगेगा और इससे लागतों में कमी होगी (प्रबन्धकीय मितव्ययिताएँ)। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि बढ़े हुये पैमाने के उत्पादन के साथ - साथ संयत्र श्रम विभाजन/विशिष्टीकरण लागू करेगा और इसके परिणाम से लागत और समय में बचत होगी।

17.2.4 बाह्य मितव्ययिताएँ

कभी - कभी यह दर्शाया जाता है कि यदि संरक्षण केवल उद्योग को ही नहीं दिया जाता, किन्तु कई उद्योगों को एक साथ दिया जाता है, तब यह उनके विकास में अधिक मदद करेगा। उद्योगों के पारस्परिक अनुभव व उत्पादन से बाह्य मितव्ययिताओं का लाभ उठाने की सम्भावना होगी। उनमें से कुछ अपने उत्पादन से दूसरों को पूर्ति करेंगे, जिसका उनके उत्पादन में इन्पुट (कच्चे माल) के रूप में उपयोग किया जा सकता हैं। उनके पारस्परिक मांग बढ़ाने में मदद करेगा। यह सरकार की मदद करेगा यदि इन उद्योगों का स्थानीकरण किया जाय, और सामान्य संरचनात्मक सुविधाएँ (Infrastructure) जैसे सड़कें, रेलवे, डाक व तारघर, बैंक इत्यादि की स्थापना की जायें। ये बाह्य मितव्ययिताएँ अधिक कार्यकुशल उत्पादन को आगे बढ़ायेगी और उत्पादन लागत में कमी करेगी शिशु उद्योग तर्क का कभी-कभी शिशु अर्थ व्यवस्था तर्क में विस्तार किया जाता है तो इससे न केवल एक किन्तु आवश्यक आधारभूत संरचनात्मक सुविधाओं के साथ-साथ कई उद्योगों का विकास होने लगता है। ये सब बाह्य मितव्ययिताओं के लाभों में वृद्धि करते हैं।

17.2.5 तर्क का रेखा-चित्र द्वारा निरूपण

संलग्न चित्र (17.1) में, एक शिशु उद्योग से संरक्षण के लाभ को प्रदर्शित किया गया है। देश के उत्पादन सीमा (उत्पादन सम्भावना वक्र) को SS वक्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शर्तें (कीमत रेखा) PP दी गई है।

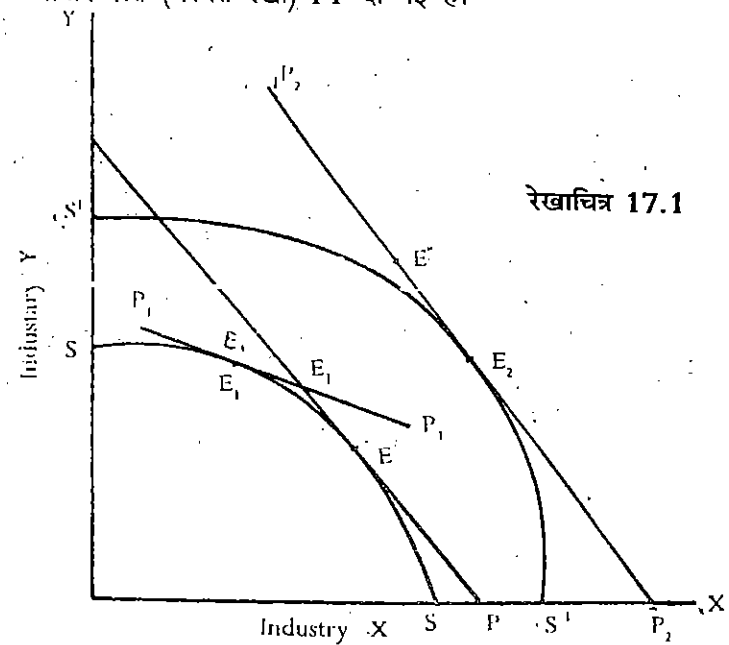

रेखाचित्र 17.1

जब कोई व्यापार नहीं होता है, तब PP रेखा SS वक्र को E बिन्दु पर स्पर्श से है। PP रेखा E बिन्दु पर तटस्थता वक्र (यहां नहीं दर्शाया गया है) की भी स्पर्श रेखा है। इस प्रकार, बिन्दु E घरेलु साम्य को दर्शाता है, अर्थात् देश E बिन्दु पर उत्पादन व उपभोग कर रहा है।

व्यापार आरम्भ होने के साथ, नया साम्य E' हो जाता है, जो यह दर्शाता है कि देश पहले के भांति E बिन्दु पर उत्पादन कर रहा है किन्तु E' पर उपभोग कर रहा है। बिन्दु E' देश के कल्याण (प्रगति) के लाभ को दर्शाता है। क्योंकि यह ऊँचे तटस्थता वक्र IC पर पहुंचता है। (अगर आप इसे चित्र पर खींचते है तो आप उसे व्यापार न होने की स्थिति की तुलना में वक्र से ऊँचा पायेंगे।

अब देश Y उद्योगों को संरक्षण देने का निश्चय करता है। उन्हें महँगा करने के लिये आयातों पर निषेधात्मक प्रशुल्क (तटकर) लगाया जाता है। इसे नयी कीमत रेखा $P_1 P_1$ द्वारा दिखाया गया है, जो उत्पादन सम्भावना वक्र SS के E_1 बिन्दु पर एक स्पर्श रेखा है। E_1 पर स्पष्ट है कि इससे देश के कल्याण में गिरावट होती है क्योंकि E_1 पर नया तटस्थता वक्र Ic_1 तटस्थता वक्र IC से नीचे है। इससे स्पष्ट होता है कि आरम्भ में व्यापार प्रतिबन्ध देश के कल्याण में कमी लाता है हालांकि संरक्षण शिशु उद्योग के तीव्र विकास में सहायता करता है। यह संरक्षित बाजार में इसके उत्पादन का विस्तार करता है। उससे पैमाने की मितव्ययिताएँ और उत्पादन की कुशलता प्राप्त की जाती हैं। परिणामस्वरूप, उत्पादन लागत और कीमतों में कमी होती हैं। उत्पादन सम्भावना वक्र ऊपर की ओर खिचकता है। अब नया उत्पादन सम्भावना वक्र S'S' होता है। मान लीजिये देश पहले की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपातों (व्यापार शर्तों) पर पुनः स्वतंत्र व्यापार आरम्भ करने का निश्चय करता है। नयी कीमत रेखा $P_2 P_2$ प्रारम्भिक कीमत रेखा PP के ठीक समानान्तर खींची जाती है। $P_2 P_2$ उत्पादन सम्भावना वक्र S'S' के बिन्दु E_2 पर एक स्पर्श रेखा है। व्यापार के माध्यम से देश E'' की ओर बढ़ सकता है। क्योंकि स्पष्ट है कि बिन्दु E'' उच्चतर तटस्थता वक्र पर है और जो देश कें कल्याण में वृद्धि को दर्शाता है।

इस प्रकार, तटकर (प्रशुल्क) लगाने के कारण, प्रारम्भिक अवस्था में उपभोक्ता के कल्याण में कमी होती है। किन्तु दीर्घकाल में, कल्याण में वृद्धि होती है क्योंकि देश के उत्पादन सम्भावना सीमा में ऊपर की ओर उछलाव (छलांग) होता है जिससे उच्च सम्भावना वक्र पर पहुंचना सम्भव होता है।

17.2.6 मिल-बेस्टेबल परीक्षण

उपर्युक्त चित्र के अध्ययन से आपने ध्यान से देख लिया हैं कि शिशु उद्योगों के संरक्षण से अल्पकाल में देश के कल्याण में क्षति होती है। यह सिर्फ दीर्घकाल में ही देश के कल्याण को बढ़ाता है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि संरक्षण सिर्फ उन उद्योगों को दिया जाये जो अन्त में प्रारम्भिक अवस्था में हुये अर्थव्यवस्था की हानियों की पुनः क्षतिपूर्ति के योग्य हो। अर्थात् दीर्घकालीन लाभ अल्पकालीन हानियों की क्षतिपूर्ति के लिये अधिक हो। सिर्फ वे ही उद्योग जो उसकी जिम्मेदारी लेवें, संरक्षण के पात्र होते हैं। उसके प्रतिपादक सी. एफ. बेस्टेबल के अनुसार, यह सिद्धांत 'बेस्टेबल परीक्षण' के नाम से विख्यात है।

बेस्टेबल सीखने की अवधि में लगने वाली लागतों को एक प्रकार का विनियोग मानता है जिसके प्रतिफल अर्थव्यवस्था को भावी लागतों में कमियों के रूप में प्राप्त होते हैं। अन्य शब्दों में, 'बेस्टेबल परीक्षण' के लिये यह आवश्यक है कि भावी लागतों का वर्तमान बट्टा मूल्य कम से कम उतना अधिक हो जितना कि शिशु (उद्योगों) के विकास के सहायता के लिये लगी प्रारम्भिक लागतों के। किन्तु इस परीक्षण के पहले दूसरा सिद्धान्त 'मिल परीक्षण' जो एस. मिल के नाम से विख्यात है इस परीक्षण के अनुसार संरक्षण केवल उन उद्योगों को दिया जाना चाहिए जो अन्तराष्ट्रीय कीमतों पर उत्पादन करेंगे तथा सरकार द्वारा उनसे संरक्षण वापस लिये जाने के बाद आयातों से प्रतियोगिता करेंगे।

17.2.7 कठिनाइयां और सीमाएं

किन्तु इन दोनों सिद्धान्तों का अनुसरण करना कठिन होता है। सर्वप्रथम यह भय रहता है

कि 'शिशु' कभी न सीखें और न कभी परिपक्व हो सकें। उद्योग उस स्तर तक विकास नहीं कर सकें जिस स्तर तक यह अपने पैरों पर खड़ा हो सकें। यह सामान्य अनुभव है कि जब संरक्षण वापस लिया जाता है तब उद्योग अपने आपको असुरक्षित और घायल अवस्था में पाता है। यह विश्व प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकता है क्योंकि यह प्रतियोगी कीमतों पर उत्पादन करने की स्थिति में नहीं होता है। उस स्थिति में उद्योग मिल परीक्षण को पूरा नहीं करता है। तब उसके लिये बेस्टेबल परीक्षण भी पूरा करना सम्भव नहीं होता है। उपभोग पक्ष और स्थगित किये गये वैकल्पिक उत्पादन के रूप में दोनों पर सहन की गई हॉनियों की क्षतिपूर्ति पूर्णतया नहीं की जा सकती।

तथ्य यह है कि शिशु उद्योग प्रशुल्क, जो एक बार लगाया जाता है, को वापस हटाना अत्यन्त कठिन होता है। यद्यपि संरक्षित उद्योगों ने कुशलता और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के लिये आवश्यक आकार को प्राप्त कर लिया है, फिर भी वे उस प्रशुल्क द्वारा दिये गये अतिरिक्त सुरक्षित लाभ के हटाने का स्वागत नही करते है। उस स्थिति में जहां संरक्षित उद्योगों ने आवश्यक कार्यकुशलता को प्राप्त नहीं किया है, उसका आशय सरकारी प्रयासों की असफलता से है। यद्यपि उस स्थिति में भी, संरक्षण को वापस लिया जाता है, तो यह नये स्थापित किये गये उद्योग के जीवन रक्षक रस्सी को काटता है और देश को स्थाई कल्याण की क्षति की और ले जाता है।

शिशु उद्योग तर्क का उपयोग बहुत ही चयनित रूप से और सतर्कता के साथ किया जाना चाहिये। कभी-कभी पहले से तत्काल यह निर्धारित करना बड़ा कठिन होता है कि कौन-कौन से उद्योगों में सम्भावित तुलनात्मक लाभ पाया जा सकता है। यदि एक गलत उद्योग को संरक्षण दिया जाये तो समाज के लिये उसकी लागते अधिक होगी। फर्मे अपनी उत्पादन क्षमता का विस्तार करेगी।, किन्तु उनकी प्रति इकाई लागतें ऊंची रहेगी। उस स्थिति में अनवरत रूप से संरक्षण देना होगा।

शिशु उद्योग तर्क के लिये एक महत्वपूर्ण सीमा भी है। यह दर्शाया जा चुका है कि एक उद्योग विकसित नहीं हो सकता यद्यपि उसे तटकर संरक्षण का आश्वासन दिया जाता है। यह स्थिति एक विकासशील अर्थव्यवस्था में हो सकती है जहां वित्त और कौशल के अभाव की विशेष रूकावटें होती है। ये अभाव सभी प्रकार के साधनों के अभाव के कारण हो सकते हैं; किन्तु उसकी पिछड़ी प्रकृति और पूंजी बाजार/साधन बाजार में अपूर्णताओं के कारण भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उद्यमियों को उपलब्ध अवसरों के विषय में सही सूचनाएं प्राप्त नहीं हो सकती हैं। द्वितीय उत्पादन की उन परिस्थितियों में जहां बाह्य मितव्ययिताएं/अमितव्ययिताए/ का अस्तित्व होता है वहां उनमें विनियोग प्रवाहित न हो सकें। और दृष्टान्त के रूप में, विनियोग की कुछ दिशाएँ हो सकती है, जहां निजी प्रतिफल सामाजिक प्रतिफलों (अर्थात् शिक्षा) से कम होती हैं। उन परिस्थितियों में विनियोग आरम्भ नहीं हो सकता है जब तक कि उनमें पर्याप्त क्षतिपूर्ति नहीं हो। ये दोनों विशेषताएँ बाह्य मितव्ययिताएँ और बाजार विकृतियों के संदर्भ की समीक्षा को जन्म देती है।

बोध प्रश्न-1

प्रश्न 1 शिशु उद्योग तर्क की प्रावैगिक प्रकृति की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 2 मिल - बेस्टेबल परीक्षण क्या है?

प्रश्न 3 शिशु उद्योग तर्क लागू करने में होने वाली कठिनाइयों की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 4 पैमाने की किफायतें (मितव्ययिताएँ) शिशु उद्योग से किस प्रकार संबद्ध है?

17.3 बाह्य मितव्ययिताएँ एक बार पुनः

कभी सरकारी हस्तक्षेप उन आर्थिक क्रियाओं के संबंध में सुझाया जाता है जहां मितव्ययिताएं मुख्य विशेषता होती है। इन परिस्थितियों में, जहां विनियाग पर प्रतिफल की निजी दर प्रतिफल की सामाजिक दर से नीची होती है। इसलिये निजी उद्यमियों को विनियोग के लिये आकर्षित करने के लिये सरकार को उन्हें पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता देनी चाहिये अन्यथा वे विनियोग करने से बच जायेंगे।

उदाहरण के लिये एक विकासशील अर्थ व्यवस्था में, आवश्यक श्रम कौशल का सामान्य अभाव होता है। अपने उद्योग को सुचारू रूप से चलाने के लिये उद्यमी को अपनी श्रमशक्ति को प्रशिक्षित करना चाहिये। हांलाकि, प्रशिक्षण व कौशल सुधार में उसके विनियोग के प्रतिफल का पूर्णरूपेण उपयोग उसके द्वारा नहीं किया जा सकता, यदि प्रशिक्षण केबाद श्रमिक दूसरे उद्यमियों के पास चले जाते हैं, जो उन्हें अधिक मजदूरी देने के लिये तत्पर है। इस प्रकार पथप्रदर्शक उद्यमियों के लिये प्रतिफल की निजी दर प्रतिफल की सामाजिक दर से नीची होती है। इस स्थिति में पथप्रदर्शक उद्यमियों को आर्थिक सहायता उचित होती है।

ठीक उसी प्रकार उद्यमियों को प्रारम्भ में उत्पादन की नई तकनीकों का ज्ञान प्राप्त करने में व्यय करना होता है। परन्तु एक बार ऐसे ज्ञान का सृजन होने पर उसे दूसरों से गुप्त नहीं रखा जा सकता है, जो उसके बाद में क्षेत्र में प्रवेश करते है। वे उसको प्राप्त करने में किसी प्रकार की राशि को व्यय किये बिना उसका उपयोग कर सकते हैं। इस कारण फिर से निजी उद्यमकर्त्ता अपने प्रयासों के फल का पूरा लाभ प्राप्त करने की स्थिति में नहीं होते हैं। अतः प्रतिफल की निजी दर प्रतिफल की सामाजिक दर से नीची होती है। इस कारण से ऐसी स्थिति में उत्पादक को आर्थिक सहायता देने का अधिकार दिया जाता है। जैसा कि पहले दर्शाया (15.2.7) गया है कि इन बाह्यय मितव्ययिताओं में घरेलू अर्थव्यवस्था में भी कुछ विकृतियों के उत्पन्न होने की प्रवृत्ति होती हैं। इसलिये सरकार के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह हस्तक्षेप करें।

इन सब की 17.4 में विस्तृत विवेचना की जायेगी।

17.4 बाजार अपूर्णताएँ / घरेलू विकृतियाँ

बाजार अपूर्णता / घरेलू विकृतियाँ के अध्ययन में मुख्य योगदान हेबरलर कॉरडेन, फिशलो और डेविड, हेगन, मीड़, जोहन्सन तथा भगवती और रामास्वामी से मिला है।

17.4.1 बाजार विकृतियों की प्रकृति

व्यापार सिद्धान्त में यह सिद्ध किया जा चुका है कि उस स्थिति में जहां बाजार विकृतियाँ पायी जाती है, वहां स्वतंत्र व्यापार की नीति एक 'अनुकुल नीति' नहीं होती है। यह विशेषकर विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के संदर्भ में सत्य है। ऐसी स्थिति में **घरेलू अर्थव्यवस्था** को प्रतियोगी स्वतंत्र व्यापार में होने वाले लाभ को प्राप्त करने से वंचित किया जाता है। इसलिये, घरेलू अर्थव्यवस्था में विद्यमान विकृतियों को सुधारने के लिये सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिये और तटकर लगाना चाहिये या व्यापार पर आर्थिक अनुदान देना चाहिये। जबकि शिशु उद्योग तर्क, संरक्षण अस्थाई प्रकृत्ति का होता है, वहां इस अवस्था में घरेलू विकृतियों जैसे कि बाह्य मितव्ययिताएँ, एकाधिकारात्मक कीमतें या साधन बाजार में असाम्य को नियंत्रित करने के लिये जो संरक्षण प्रस्तावित किया जाता है वह स्थाई प्रकृति का होता है। तटकर घरेलू विकृति को हटाने की एक विधि है।

17.4.2 बाजार विकृतियों के उदाहरण

अपूर्ण प्रतियोगिता बाजार विकृति का एक प्रमुख उदाहरण है। आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताओं की समान पहुंच न होने के रूप में पूर्ण प्रतियोगिता की अपूर्णता, प्रतियोगी परिस्थितियों को समान करने के लिये संरक्षण को आवश्यक ठहराती है। ठीक उसी प्रकार से, बाजार कीमतों की भिन्नता के अनुसार साधनों को अपने आप में आंवटित करनें की असफलता हो सकती है। इसका परिणाम साधनों का कुआंवटन होता है। उदाहरण के लिये विकासशील देशों में अर्थव्यवस्था के विभिन्न खण्ड़ों के बीच कभी - कभी श्रम की गतिशीलता बहुत ही कम पायी जाती है। श्रम की कृषि के साथ परम्परागत घनिष्ठता (लगाव) होती है और वह उद्योग और आधुनिक सेवा क्षेत्रों की ओर गतिशील नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में ऐसी हलचल को प्रोत्साहित करने के लिये औद्योगिक मजदूरियों में प्रर्याप्त मात्रा में वृद्धि करना आवश्यक होता है। यह निर्मित वस्तुओं के आयातों पर वह तटकर लगाकर किया जा सकता है। यह घरेलू उद्योगपतियों को उनकी वस्तुओं की ऊंची मजदूरी चुका सकेंगे। यह श्रम को उद्योगों की ओर गतिशील होने में प्रोत्साहित करेगा। इससे अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में साधनों का उचित आवंटन होने लगेगा।

कुछ तर्क तटकर के विरूद्ध है जो इसका उपयोग श्रम की गतिशीलता में अनम्यता को हटाने के लिये किया जाता है। यह

यह सुझाया जाता है कि अंतिम परिणाम तो श्रम को प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर उसे गतिशील होने के लिये प्रोत्सहित कर या उद्योगों स्वंय को ऊंची मजदूरियों की लागत के भुगतान में सहायता देते हुये प्राप्त किया जा सकता है। कभी - कभी घरेलू अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य नीति का उपयोग प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता है।

बाजार विकृति का एक रूप वह है जब घरेलू विनियोग का स्वरूप सुदृढ़ नहीं होता है। सरकार कुछ उद्योगों का तेजी से विकास को प्रोत्साहित करना चाहती है। तब पुनः एक विशेष दिशा में विनियोग बढ़ाने के लिये संरक्षण का तर्क दिया जाता है।

पूंजी बाजार अपूर्ण हो सकता है और इसलिये नये उद्योगों में विनियोग के वित्तीय प्रबन्ध की लागत बहुत ऊंची हो सकती है। सामाजिक और निजी समय अधिमानों, खतरें के निर्धारण और सूचनाओं की उपलब्धि के बीच भिन्नताएँ हो सकती हैं।

17.4.3 घरेलू विकृतियों की परिभाषा

अर्थव्यवस्था में अनेक विकृतियों या अपूर्णताएँ जो बाजार तंत्र को परेटो उत्तमावस्था (अनुकूलता) प्राप्त करने से रोकती हैं, को घरेलू विकृतियाँ कहा जाता है। ये विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती है।

(अ) विशिष्ट बाजार लक्षणों के कारण, या

(ब) उत्पन्न हो सकती है – प्रोत्साहित की गई नीति अर्थात् अपूर्णताएँ जो गलत आर्थिक नीतियों के परिणाम के कारण हैं।

इस प्रकार घरेलू विकृतियों के सिद्धांतों का लक्ष्य उन अपूर्णताओं या सरकार की नीतिगत चरों के प्रभावों को निरर्थक करना और अन्त में परेटो अनुकुलता की पूर्वावस्था प्राप्त करना होता है।

विकृतियों के अर्थ और जटिलताओं को सही ढ़ग से समझने के लिये, सर्वप्रथम 'आदर्श' या 'अनुकूल' स्थिति को जानना आवश्यक है। यह अनुकूल स्थिति से विचलन है जो विकृति के अर्थ को प्रकट करता है।

17.4.4 परेटो 'उत्तमावस्था' (अनुकूलता) का वर्णन

इसकी व्याख्या करने के लिये, हम कल्पना करते हैं कि एक देश जिसके पास श्रम (L) और पूंजी (K) दो उत्पादन के साधन हैं जिनका उपयोग X व Y दो वस्तुओं के उत्पादन में किया जाता है। यह भी कल्पना की जाती है कि उत्पादन बढ़ती हुई अवसर लागतों की स्थिति के अन्तर्गत होता है। यह भी परेटो उत्तमावस्था (अनुकूलता) शर्तों का वर्णन निम्न प्रकार है:

(i) Y के लिये X की प्रतिस्थापन की सामाजिक सीमान्त दर (MRSxy) रूपान्तरण की घरेलू सामाजिक सीमान्त दर ($MRTxy^d$) और रूपान्तरण के विदेशी सीमान्त दर ($MRTxy^f$), सभी एक दूसरे के समान होनी चाहिये। अन्य शब्दों में

$$MRSxy = MRTxy^d = MRTxy^f$$

(ii) पूंजी के लिये श्रम की प्रतिस्थापन की सामाजिक सीमान्त दर (MRS_{LK}^x) य (MRS_{LK}^x) x और y दोनों वस्तुओं के उत्पादन में वही रहती है अन्य शब्दों में,

$$MRS_{LK}^y = MRS_{LK}^y$$

ये दोनों शर्तें एक साथ स्पष्ट करती हैं कि उत्पादन देश के उत्पादन सम्भावना वक्र के स्वंय की सीमा पर (न तो इसके ऊपर व न इसके नीचे) हो रहा है और यह भी सीमा के उस बिन्दु पर जहां यह सर्वोच्च सम्भाव्य सामाजिक तटस्थता वक्र की स्पर्श रेखा है।

(iii) एक पूर्ण रूपेण प्रतियोगी अर्थव्यवस्था में, घरेलू वस्तु कीमत अनुपात (Pd), सीमान्त लागत अनुपात कीमत अनुपात (Pf), के बराबर होता है।

$$Pd = \frac{Mcx}{Mcy} = Pf$$

(iv) साधन कीमत भिन्नता की अनुपस्थिति में, X उद्योग में साधन कीमत अनुपात ($\frac{w}{L}$) Y उद्योग में साधन कीमत अनुपात ($\frac{w}{L}$)Y के बराबर (एक कीमत का नियम) होता है अर्थात् $\left(\frac{w}{L}\right) x = \left(\frac{w}{L}\right) y = \frac{w}{L}$

इस प्रकार घरेलू विकृतियों की अनुपस्थिति में, घरेलू कीमत अनुपात Pd की समानता MRSxy से की जाती है। $\frac{Mcx}{Mcy}$ की समानता $MRTxy^f$ से की जाती है। $\frac{w}{L}$ की समानता $MRS_{LK}^x = MRS_{LK}^y$ से की जाती है किसी भी प्रकार की घरेलू अपूर्णताओं की अनुपस्थिति में, एक पूर्णतया प्रतियोगी अर्थव्यवस्था परेटो अनुकूल अर्थव्यवस्था होती है।

17.4.5 अपूर्णता के प्रकार

परेटो द्वारा दी गई अनुकूल स्थितियों को समेझने के बाद, हम उससे प्रस्थानों (deviations) पर विचार करते हैं। ये प्रस्थान अपूर्णताओं के प्रकार और प्रकृति की दर्शाते हैं।

(1) $MRSxy = MRTxy^f = MRTxy^d$

यह उस समय घटित होता है जब या तो

a) X या Y या दोनों एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता या अल्पाधिकारात्मक प्रतियोगिता की परिस्थितियों के अन्तर्गत कीमतों को उत्पादन की सीमान्त लागत से अधिक करते हुए उत्पादित किये जाये।

b) X व Y या दोनों के उत्पादन में बाह्य मितव्ययिताएं/अमितव्ययिता जिससे निजी सीमान्त

लागतों का अनुपात $\left(\frac{Mcx}{Mcy}\right)$ $MRTxy^g$ के बराबर नहीं होता है।

(2) $MRSxy \neq MRTxy^f$ यह साधारणतया उस समय घटित होता है। जब उपभोग के क्षेत्र में बाह्य मितव्ययिता/अमितव्ययिता हो यदि $MRSxy > MRSxy^d = MRTxy^f$ तो इसका आशय है कि x वस्तु के उपभोग में बाह्य अमितव्ययिताएं विद्यमान है या y वस्तु के उपभोग में बाह्य अमितव्ययिताएं विद्यमान हैं या इन दोनों का कोई संयोग है। उत्तमावस्था (अनुकूलता) को पुनः प्राप्त करने के लिए MRSxy को $MRSxy^d$ और $MRSxy^f$ के समान होने के लिए पर्याप्त मात्रा में कम किया जाना चाहिए। यह X के सापेक्षिक कीमत में कमी (Y के सापेक्षिक कीमत में वृद्धि करके) करते हुए भी किया जा सकता है। किन्तु तटकर (प्रशुल्क) लगाते हुये Y वस्तु की सापेक्ष कीमत में वृद्धि के किसी भी प्रयास से उसके घरेलू उत्पादन में वृद्धि होगी। किन्तु X वस्तु के उत्पादन में कमी होगी। इस कारण उत्पादन में हानि होती है (क्योंकि तटकर के परिणामस्वरूप $MRSxy^d \neq MRTxy^f$ यद्यपि इससे उपभोक्ता को लाभ होता है जो MRSxy व MRTxy की समानता के परिणाम स्वरूप तटकर द्वारा प्राप्त होता है। यदि उपभोक्ता लाभ उत्पादन हानि की अपेक्षा अधिक है, तो इससे सामाजिक कल्याण में कमी होगी। ऐसी स्थिति में अनुकूलतम नीति वह है जिसमें या तो उस वस्तु को आर्थिक अनुदान (उस पर कर लगाना) देना जिसका उपभोग बाह्य मितव्ययिता (अमितव्ययिता) के अधीन हैं या दूसरी वस्तु पर उपभोग कर (आर्थिक अनुदान देना) लगाने की। इससे एक ही समय उत्पादन में हानि हुये बिना उपभोक्ता लाभ उत्पन्न हो सकता है।

3) $MRS^x_{lk} = MRS^y_{lk}$

इसका आशय साधन बाजार में विकृति से है जो साधन कीमत भिन्नताओं, साधन गतिहीनता या साधन कीमत अनम्यता के कारण उत्पन्न हुई है।

साधन कीमत भिन्नता विभिन्न उद्योगों/व्यवसायों में एक साधन को पुरस्कार के रूप में हो सकती है उदाहरण के लिये (संगठित क्षेत्र में) औद्योगिक मजदूरियों साधारणतया (असंगठित क्षेत्र) कृषि क्षेत्र की तुलना में अधिक होती है और कौशल, कार्य की प्रकृति इत्यादि में भिन्नता के कारण इन अन्तरों की समानता नही होती है। एक दूसरी स्थिति भी हो सकती है जहां सभी उद्योगों में साधन कीमतें समान होती हैं। किन्तु वहां साधन प्रतिफल (कीमत) सीमान्त उत्पादनता से कम हो सकता है।

विकृत साधन कीमत भिन्नताओं के पाये जाने के कारण में कुछ कारण जो प्रो. भगवती द्वारा सुची बद्ध किये गये हैं; वे निम्न हैं :—

(i) सूचनाओं का अभाव

(ii) आयु, जाति या लिंग पर आधारित भेद

(iii) सामूहिक सौदेबाजी के रूप में श्रमिक संघों का हस्तक्षेप

(iv) साधन करारोपण या अनुदान देने में भिन्नता

(v) साधन अधिनियम जैसे न्यूनतम मजदूरी कानून इत्यादि

(vi) अपूर्ण (दोषयुक्त) पूंजी बाजार

साधन कीमत भिन्नता दो प्रमुख त्रुटियों को जन्म देती है। प्रथम, वे X और Y उद्योगों के बीच पूंजी के लिये श्रम की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की समानता को रोकते है। अर्थात् $(MRS^x_{lk} \neq MRS^y_{lk})$ परिणामस्वरूप साधनों का कुआवटंन होता है। द्वितीय साधन कीमत भिन्नता वस्तु बाजार कीमत अनुपात और प्रतिस्थापन की घरेलू रूपान्तरण दर (अर्थात् $MRSxy = MRTxy^f \neq MRTxy^d$ के मध्य भिन्नता को जन्म देती हैं।

यद्यपि संरक्षण दिया भी जाता है, तो अब भी MRS_{lk}^{x} MRS_{lk}^{y} के असमान होगी। यह इसलिये है क्योंकि अर्थव्यवस्था कुल घरेलू उत्पादन के निम्न स्तर पर संचालन करना जारी रखती है। संरक्षण अर्थव्यवस्था को इसके इष्टतम उत्पादन सम्भावना वक्र पर उत्पादन करने में मदद नहीं करता है। इन राष्ट्रीय कल्याण का स्तर नीचे रहता है। इसके अतिरिक्त, संरक्षण से भी निष्कर्ष निकलेगा कि $MRSxy \# MRTxy^{d} = MRTxy^{f}$, के है।

पूर्णरूप से परेटो अनुकूलता पुनः प्राप्त करने के लिये और राष्ट्रीय कल्याण को अधिकतम करने के लिये, यह अधिक अच्छा होगा कि संबंधित में साधनों के प्रयोग पर उत्पादन कर लगाया जाय (या आर्थिक अनुदान दिया जाय यही सिर्फ $MRSxy = MRT\ xyd = MRTxyf$ में समानता ला सकता है। नीची कीमत वस्तु पर कर लगाना चाहिये (या ऊंची कीमत वस्तु को आर्थिक अनुदान स्वीकृत किया जाना चाहिये)। इस प्रकार प्रारम्भ में समस्या पर आक्रमण किया जायेगा – जो उत्पादन साधनों का अकार्यकुशल उपयोग है। कर/अनुदान नीति का उपयोग कर, दो साधनों के साधन कीमत अनुपातों को समान जा सकता है, अर्थात्

$\text{Wage x} = \text{Wage y}$ और $\text{Interest}_{x} = \text{Interest}_{y}$ को लागु करते हुये

$$\frac{\text{Wage x}}{\text{Interest x}} = \frac{\text{Wage y}}{\text{Interest y}}$$

इससे $MRS_{LK}X = MRS_{LK}Y$ होने लगेगा और अर्थव्यवस्था को सही उत्पादन सम्भावना सीमा पर कार्य करने में सहायता करेगा।

17.4.6 चित्र द्वारा स्पष्टीकरण (निरूपण)

घरेलू विकृति की स्थिति में एक तटकर/अनुदान के प्रभाव को संलग्न चित्र (17.2) में प्रस्तुत किया जा सकता है।

चित्र नं. 17.2

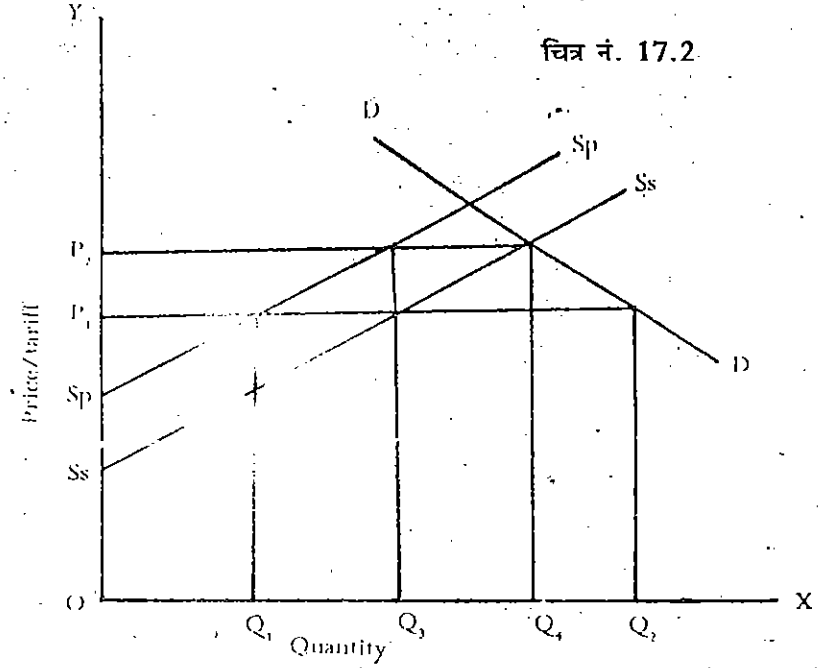

कल्पना कीजिए कि उत्पादन में बाह्य किफायतों के कारण, एक विशेष वस्तु के उत्पादन की निजी लागतों (जो Sp Sp द्वारा दर्शायी गई है) और उत्पादन की सामाजिक (जो Ss Ss के द्वारा दर्शायी गई) लागत के बीच में अन्तर होता है। स्वतंत्र व्यापार कीमत OP_1 पर घरेलू उत्पादन OQ_1 है। अब भी घरेलू उत्पादन वास्तविक (सामाजिक) लागत को प्रतिबिंम्बित करती, तो उत्पत्ति की मात्रा OQ_3 होगी। विकृति को निष्फल करने (हटाने के लिये) के लिये, उसके समान तटकर (प्रशुल्क) (P_2 P_1) आरम्भ किया जा सकता है। निजी उत्पादक उत्पत्ति को OQ_3

मात्रा तक बढ़ायेंगे और सामाजिक लागत और निजी लागतों के अन्तर बीच के अन्तर के प्रभाव को निरर्थक किया जा सकेगा।

उसी प्रभाव को विकृति के समान उत्पादन पर आर्थिक अनुदान देकर भी प्राप्त किया जा सकता है। यह श्रेष्ठ होगा क्योंकि इस स्थिति में तटकर के उपभोग प्रभाव से बचा जा सकता है। यदि तटकर का उपयोग किया जाता है। तो इससे उपभोग (कल्याण) में कमी होगी।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 1 घरेलू बाजार में 'उत्तमावस्था' (अनुकूलता) के लिये परेटो की शर्तों की परिभाषा दीजिये।

प्रश्न 2 बिकासशील अर्थव्यवस्था में बाजार विकृतियों की प्रकृति की व्याख्या कीजिये। उपर्युक्त उदाहरण दीजिये।

प्रश्न 3 चित्र की सहायता से बाजार अपूर्णताओं के अन्तर्गत उत्पादन पर तटकर/आर्थिक अनुदान के प्रभावों को प्रदर्शित कीजिये।

17.5 सारांश

इस इकाई में सरकारी हस्तक्षेप के लिये तीन प्रमुख तर्कों की समीक्षा की गई है। प्रथम शिशु उद्योग तर्क जो इन उद्योगों को संरक्षण देने की आवश्यकता पर आधारित है, जो एक देश में उसके विकास की सम्भावनाओं के कारण स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान में ये उद्योग विकसित नहीं किये जा सके हैं क्योंकि वे सस्ते विदेशी आयातों की प्रतियोगिता में टिक नहीं सकते हैं। जब तक वे परिपक्व नहीं हो जाये तब तक के लिये यदि उन्हें संरक्षण दिया जाये, तो वे विकसित हो सकते है और प्रतियोगी कीमतों पर वस्तुओं का उत्पादन कर सकते है। यद्यपि इन उद्योगों की पहचान करने में और उन्हें एक बार संरक्षण स्वीकृत करने के बाद उसे वापस लेने में कठिनाइयां है, फिर भी व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप के पक्ष में यह आर्थिक दृष्टि से प्रबल तर्कों में से एक है।

इस हस्तक्षेप के लिये दूसरा तर्क बाह्य किफायतों पर आधारित है। विनियोग और उत्पादन की उन दशाओं में जहां व्यक्तिगत लाभ सामाजिक, लाभ की अपेक्षा कम है, वहाँ निजी उधम कर्ता प्रवेश नहीं करते हैं। इसलिए सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ेगा और उत्पादन बढ़ाने के लिए तटकर/आर्थिक अनुदान का उपयोग करना होगा। तीसरी स्थिति विभिन्न प्रकार की बाजार विकृतियों से निरूपित है, जहां सरकार के लिये हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। विकृतियां साधनों के कुआवंटन, अकार्यकुशलता और कल्याण में कमी को जन्म देती परेटो अनुकूलता की शर्तों के लिये एक स्वतंत्र प्रतियोगी बाजार स्थिति की आवश्यक होती है। किन्तु कभी - कभी विशेषकर विकासशील देशों में यह स्थिति विद्यमान नहीं होती है। सरकार तटकर/आर्थिक अनुदान के द्वारा बाजार अपूर्णताओं को दूर करने का प्रयास करती हैं।

17.7 शब्दावली

1. **तुलनात्मक लाभ** – अन्य देशों की तुलना में एक देश की वस्तु या सेवा को अधिक सस्ता उत्पादित करने की क्षमता को तुलनात्मक लाभ कहते है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में, यह व्यक्त करता है कि एक देश को जिसे एक वस्तु या सेवा के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त है वह उसमें विशिष्टीकरण क्यों अपनाता है और उसे अन्य देशों को क्यों निर्यात करता है?
2. **बाह्य मितव्ययिताएँ** – उत्पादन में लागतों वे कमियों जो अन्य फर्मों उद्योगों के विस्तार के फलस्वरूप एक फर्म / उद्योग को प्राप्त होती हैं।

3. **साधन बाजार** – एक बाजार जिसमें एक साधन के लिये मांग और उसकी पूर्ति उसकी कीमत निर्धारित करने में क्रियाशील होती है। उदाहरण के लिये साधन बाजार, पूंजी बाजार इत्यादि।

4. **शिशु उद्योग** – एक अविकसित उद्योग जो वर्तमान प्रतियोगी कीमत पर वस्तु के उत्पादन करने की स्थिति में नहीं है और वास्तव में वह सस्ती विदेशी वस्तु की चुनौती का सामना करने में अयोग्य हैं। तथापि उसे शैशवास्था में संरक्षण प्रदान किया जायें तो उसमें उसके विकास सम्भावनाओं के होने से वह अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों पर उत्पादित कर सकता है और स्वतं त्ररूप से अपने पैरों पर खड़ा (आत्मनिर्भर) हो सकता है।

5. **आंतरिक मितव्ययिताएँ पैमाने की मितव्ययिताएँ** – लागत में वे कमियाँ जो, एक सयंत्र में उत्पादन के पैमाने का विस्तार करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। ये कुछ साधनों की अविभाज्यता या विशिष्टीकरण के लाभों का परिणाम होती है। बढ़ा हुआ श्रमविभाजन, साधनों का श्रेष्ठ उपयोग, व्यर्थ पदार्थो का इक्कठा उपयोग, श्रेष्ठ प्रबन्ध, बाजार लाभों और वित्तीय संस्थाओं की सुगम पहुंच इत्यादि उत्पादन लागतों कमी लाने के कुछ प्रमुख कारण है।

6. **उद्योगों का स्थानीयकरण** – एक उद्योग के कई संयत्रों का भौगोलिक स्थानीयकरण या विभिन्न उद्योगो में का एक दूसरे के पास-पास पाया जाना उद्योगों का स्थानीयकरण कहलाता है। यह सब उन सबको साधनों की सुगम प्राप्तियों और उत्पादन की उपस्थित मांग के रूप में बाह्य मितव्ययितांएं प्रदान करता है।

7. **प्रतिस्थापन की सीमान्त दर** - परिवर्तन की वह दर जिस पर उपयोग का समान स्तर प्रदान करते दो वस्तुएँ X व Y एक दूसरे से प्रतिस्थापित की जाती है, Y के लिये X की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRSxy) कहलाती है। (यह उपभोक्ता के तटस्थता वक्र के किसी बिन्दु के ढाल द्वारा मापी जाती है) इसी प्रकार परिवर्तन की वह दर जिस पर उत्पत्ति का समान स्तर प्रदान करते हुये दो साधन श्रम व पूंजी एक दूसरे से प्रतिस्थापित किये जाते है, पूंजी के लिये श्रम की प्रावधिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS_{LK}$) कहलाती है। (यह समोपत्ति वक्र के किसी ढाल द्वारा मापी जाती है)।

8. **रूपान्तरण की सीमान्त दर** – परिवर्तन की वह दर जिस पर उत्पत्ति का अधिकतम स्तर प्रदान करते हुये (उदाहरण के लिये) दो वस्तुओं की उत्पति को उनमें परस्पर परिवर्तित किया जा सकता है। (यह उत्पादन सम्भावना वक्र द्वारा मापी जाती है।

9. **परेटो 'उत्तमावस्था' (अनुकूलता)** – वस्तुओं के बीच सामाजिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर और वस्तुओं के बीच सीमान्त रूपान्तरण दर की समानता के द्वारा घरेलू उत्पादन और विदेशी व्यापार दोनों में कल्याण का अधिकतमीकरण परेटो 'उत्तमावस्था' कहलाती है, जहां पूर्ण प्रतियोगिता, निजी और समाजिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर और सीमान्त रूपान्तरण दर में भिन्नता के कारण इन शर्तों के पूरा होने की सुरक्षा प्रदान नहीं करती है, वहां सरकारी हस्तक्षेप की मांग की जाती है।

10. **सामाजिक तटस्थता वक्र** – सामाज का एक तटस्थता वक्र जो संतुष्टि का स्थिर स्तर दर्शाते हुये वस्तुओं के विभिन्न संयोग परिवर्तित करते हुए प्राप्त कर सकता है और जिसे X अक्ष व Y अक्ष पर दर्शाया जाता है।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चाकोलियाडस् मिल्टियाडस् : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत और नीति मक्ग्रो हिल बुक कंपनी, न्यूयार्क, 1978

किन्डल बर्गर चार्ल्स पी : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र रिचार्ड डी इरविन, इल्लिनोइस, 1969

बो सोडरस्टेन : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र हारपर और रॉ, न्यूयार्क, 1970

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

प्रश्न 1 शिशु उद्योग में तटकर की अल्पकालीन प्रकृति तर्क की प्रावैगिक प्रकृति दर्शाती है।

प्रश्न 2 ये दोनो परीक्षण जांच करने की आधारभूत शर्तें है कि तटकर लगाया जाय या नहीं। लागतों में कमी और कीमतों में कमी की भावीसम्भावनाएं मुख्य विचारणीय बिन्दु है।

प्रश्न 3 समय से पूर्व ठीक प्रकार से यह निर्णय करना कठिन होता है कि कौन-कौन से उद्योग 'मिल-बेस्टेबल-परीक्षण पूरा कर सकते हैं। एक बार प्रदान किया गया संरक्षण भी हटाना कठिन होता है।

प्रश्न 4 पैमाने की आंतरिक बचतें (बढ़ते हुये प्रतिफल) शिशु उद्योगों की प्रमुख शक्ति होती है। (जिस पर विश्वास किया जा सकता है।) वे ही सिर्फ अकेली लागतों और कीमतों में कमी लाने का विश्वास दिला सकती है।

बोध प्रश्न 2

प्रश्न 1 परेटो अनुकूलता का संबंध साधन व वस्तु बाजारों से है और यह पूर्ण प्रतियोगी बाजार स्थिति के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से क्रियाशील होती हैं।

प्रश्न 2 जब वस्तुओं की कीमतें सीमान्त लागत को प्रतिबिम्बित करने में असफल होती है, तब बाजार में विकृतियों का उत्पन्न होना कहा जाता है।

प्रश्न 3 विकृतियाँ/अपूर्णताएँ तटकर/आर्थिक अनुदान विधियों के द्वारा परिवर्तित की जा सकती है विशेषरूप से जब बाह्य मितव्ययिताएँ प्रमुख कारण होती है। चित्र 17.2 का अवलोकन करें।

इकाई 18
विकासशील देशों की व्यापारिक नीति

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 व्यापारिक नीति
  18.2.1 अर्थ
  18.2.2 उद्देश्य और उपाय
18.3 विदेशी सहायता
18.4 आयात नीति: आयात प्रतिबन्ध और प्रतिस्थापन
18.5 आयात प्रतिस्थापन
  18.5.1 लाभ
  18.5.2 हानियां
18.6 निर्यात नीति
  18.6.1 निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता
  18.6.2 निर्यात सम्वर्द्धन की सफलता की विधियां
18.7 आयात प्रतिस्थापन अथवा निर्यात सम्वर्द्धन
18.8 सारांश
18.9 शब्दावली
18.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.11 अभ्यासों के उत्तर
18.12 कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस इकाई में विकाशील देशों की व्यापारिक नीति के सम्बन्ध में चर्चा की जायेगी और चर्चा के पश्चात् आप :

* व्यापारिक नीति की परिभाषा कर सकेंगे;
* व्यापारिक नीति का उद्देश्य और उसे प्राप्त करने के उपाय बता सकेंगे;
* स्पष्ट कर सकेगें कि विदेशी सहायता क्यों हानिप्रद होती है;
* आयात नीति के घटकों की व्याख्या कर सकेंगे;
* आयात प्रतिस्थापन के लाभों और हानियों का वर्णन कर सकेंगे;
* निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता प्रतिपादित कर सकेंगे;
* आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात सम्वर्द्धन नीतियों पर अपना निर्णय दे सकेंगे;

18.1 प्रस्तावना

विकासशील देशों की समस्यायें विकसित देशों से भिन्न हैं। विकासशील देशों में विकसित देशों की व्यापारिक नीति प्रत्यारोपित नहीं की जा सकती है। यहाँ यह अध्ययन करेंगे कि विकासशील देशों की व्यापारिक नीति क्या होनी चाहिए जिससे कि वे अपनी व्यापारिक समस्याओं का समाधान कर सकें और आर्थिक विकास के लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकें।

विकासशील देशों के समक्ष भुगतान शेष के घाटे की समस्या प्रमुख है। इस घाटे की पूर्ति के लिए तीन विकल्प हैं—

विदेशी सहायता, आयात प्रतिस्थापन और निर्यात सम्वर्द्धन।

आप इन तीनों विकल्पों के लाभों और हानियों का अध्ययन करेंगे। आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात सम्वर्द्धन की तुलना करने के उपरान्त आप बता सकेंगे कि कौन सा उपाय श्रेष्ठ है।

18.2 व्यापारिक नीति

विकासशील देशों के समक्ष अनेक व्यापारिक समस्याए हैं। प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन, निर्यात व्यापार में उच्चावचन, प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में उच्चावचन और दीर्घकाल में ह्रासमान प्रवृत्ति, प्रतिकूल व्यापार शर्तें, विदेशी विनिमय की समस्या आदि से वे ग्रसित रहते है। अतः इन देशों को व्यापारिक नीति की संरचना इस प्रकार से करना होती है जिससे कि इन सभी महत्वपूर्ण समस्याओं का हल निकल सके और आर्थिक विकास की गति को भी तीव्र किया जा सके।

18.2.1 **व्यापारिक नीति की परिभाषा :** अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित नीति को व्यापारिक नीति कहा जाता है। इस प्रकार आयात-निर्यात की मात्रा, दिशा और स्वभाव, घरेलू उद्योगों का संरक्षण और उनका स्वभाव, विदेशी मुद्रा और सहायता, व्यापारिक समझौते व भुगतान संतुलन आदि समस्यायें इसके अन्तर्गत आती है। हैबरलर के अनुसार व्यापारिक नीति से अर्थ उन सभी उपायों से है जो किसी देश की वाह्य आर्थिक सम्बन्धों का नियमन करते हैं। ये उपाय ऐसे राज्य के द्वारा किये जाते हैं जिसमें वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात और आयात में सहायता करने अथवा बाधा डालने की शक्ति होती हैं।

व्यापारिक नीति में आयात और निर्यात के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित समस्याओं को भी शामिल किया जाता है।

इस प्रकार व्यापारिक नीति किसी देश की सामान्य आर्थिक नीति का ही अंग होती है और इस अर्थ में इसमें न केवल आयात व निर्यात नीति शामिल है बल्कि कर और सहायता, विनियोग, औद्योगिक और ऋण नीति भी शामिल है। यह नीति आर्थिक नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण है।

विकसित और विकासशील देशों की समस्याओं में भिन्नता है। इस कारण से दोनों ही प्रकार के देशों की व्यापारिक नीति में भी भिन्नता है। विकसित देशों की व्यापारिक नीति विकासशील देशों में प्रत्यारोपित नहीं की जा सकती है। विकासशील देशों की प्रमुख समस्या भुगतान शेष में संतुलन उत्पन्न करने के साथ-साथ आर्थिक विकास को गति देना है। इन समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए हम विकासशील देशों की व्यापारिक नीति की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं। व्यापार नीति आर्थिक नीति का वह अंग है जिसका सम्बन्ध आर्थिक सम्बन्धों के इस प्रकार नियमन से है जिसमें कि अन्तरर्राष्ट्रीय ही व्यापार से अधिक से अधिक लाभ मिल सके, देश का औद्योगिकरण हो सके, पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि हो सके और भुगतान शेष में साम्य की स्थिति प्राप्त की जा सके। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि व्यापारिक नीति निर्यात और आयात नीति तथा शिशु उद्योगों के संरक्षण से सम्बन्धित है और ये ही इसके प्रमुख विषय हैं।

18.2.2 **व्यापारिक नीति : उद्देश्य और उपाय :** परिभाषा से स्पष्ट है कि इस नीति का उद्देश्य भुगतान सन्तुलन की स्थिति में साम्य उत्पन्न करना और आर्थिक विकास की गति को तीव्र करना ही है। उद्देश्य को प्राप्त करने के सामान्यतया तीन उपाय है, विदेशी सहायता, आयातों पर नियन्त्रण के द्वारा आयात व्यय में कमी और निर्यातों को प्रोत्साहन देकर निर्यात आय में वृद्धि।

विकासशील देश के पास यदि विदेशी मुद्रा का विपुल भण्डार है तो भुगतान शेष के घाटे की पूर्ति और आर्थिक विकास को गति विदेशी मुद्रा व्यय करके कर सकता है और उसे किसी अन्य उपाय का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। यह उपाय तभी सफल सिद्ध होता है जबकि व्यापार संतुलन का घाटा कभी-कभी ही उत्पन्न होता है और घाटे की मात्रा भी कम ही होती है। अधिकांश विकासशील देशों में यह घाटा प्रति वर्ष उत्पन्न होता है और एक प्रकार से उनकी एक विशेषता ही बन गया है। प्रति वर्ष उत्पन्न होने वाले इस घाटे की पूर्ति विदेशी मुद्रा कोष से करना संभव नहीं है।

बोध प्रश्न 1

1. व्यापारिक नीति का क्या अर्थ है?

2. विकास शील देशों की व्यापारिक नीति का क्या उद्देश्य है? इस उद्देश्य को प्राप्त करने के उपाय है?

18.3 विदेशी सहायता

विकासशील देश विदेशी सहायता का प्रयोग भुगतान शेष के घाटे की पूर्ति तथा आर्थिक विकास के लिए करते हैं। निरन्तर उत्पन्न होने वाले घाटे को दूर करने के लिए विदेशी सहायता पर निर्भरता देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रम को ही केवल अनिश्चित नहीं बना देती अपितु उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता को भी संकट में डाल देती है। विदेशी सहायता के मुख्य दुष्परिणाम इस प्रकार हैं—

(1) **शर्तयुक्त सहायता** — विकसित देशों द्वारा जो विदेशी सहायता दी जाती है, वह शर्तयुक्त होती है। यह सहायता विशेष प्रकार की परियोजनाओं के लिए दी जाती हैं। इन परियोजनाओं के लिए सहायता देने वाले देश से ही आवश्यक यंत्र, प्रसाधन और सामग्री लेने की शर्त होती है। विकास की प्रक्रिया में जिन परियोजनाओं को प्राथमिकता दी जाती हैं, उनके अतिरिक्त जब दूसरी परियोजनाओं के लिए सहायता मिलती हैं तो वह अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होती। अधिकतर सहायता मिलने पर गैर प्राथमिक परियोजनाओं को स्वीकार कर लिया जाता है जिससे अर्थ-व्यवस्था में असन्तुलन उत्पन्न होता है और विकास की प्रक्रिया जिन अवस्थाओं से होकर गुजरना चाहिए नहीं गुजरती। फिर परियोजना सहायता के अन्तर्गत यन्त्र, प्रसाधन, सामग्री और तकनीक भी अन्तर्राष्ट्रीय पतिस्पर्धा मूल्यों से कहीं ऊँचें दिये जाते हैं जिससे परियोजनाओं की लागत बढ़ जाती हैं। सहायता प्राप्त करने वाले देश को यह स्वतन्त्रता नहीं रहती कि वह अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से प्रतिस्पर्धा मूल्य पर आवश्यक प्रसाधन खरीद सकें। इसके साथ सहायता से स्थापित उद्योग के उत्पादन पर निर्यात का प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। यह शर्त भी लगा दी जाती है कि परियोजना के लिए पुर्जे, औजार और अन्य सामग्री तथा तकनीक सहायता लेने वाले देश से ही लेने पड़ेगें। इस तरह से हम देखते हैं कि देश में उपलब्ध साधनों और तकनीक का उपयोग सहायता से स्थापित उद्योग में करना कठिन हैं। इसके साथ ही निर्वाह-सम्बन्धी आयात भी हमेशा करने पड़ते हैं।

(2) **नवीन तकनीकी ज्ञान और प्रसाधन नहीं उपलब्ध कराना** — विकसित देश विदेशी सहायता से उस तकनीकी का निर्यात करते हैं जो विकसित देशों में अनुपयोगी और अप्रचलित हो गयी हैं। इस तरह से विकसित और विकासशील देश में हमेशा ही तकनीकी स्तर में अन्तर बना रहता है।

(3) **आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता को खतरा** — विकासशील देश को विदेशी सहायता विकसित देशों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। इस तरह की निर्भरता विकासशील देशों की आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए बहुत खतरनाक है। विदेशी सहायता के साथ प्रायः राजनीतिक बन्धन लगे होते हैं जो कि विकासशील देश को किसी न किसी गुट के साथ सम्बन्धित होने के लिए विवश करते हैं।

(4) **विदेशी सहायता और उससे सम्बन्धित सेवा शुल्कों का भार** — विकासशील देशों के पास विदेशी विनिमय साधन बहुत सीमित होते हैं। वे विदेशी सहायता और उससे सम्बन्धित सेवा-शुल्कों के भुगतान का भार सहन नहीं कर सकते हैं। विदेशी सहायता का बढ़ता हुआ भार इन देशों को और अधिक सहायता के लिए विवश करता है। इस तरह बहुत अधिक विदेशी सहायता लेने वाले विकासशील देश विदेशी सहायता के दुष्चक्र में फंस जाते हैं।

(5) **आन्तरिक साधनों का अपर्याप्त विकास** — विदेशी सहायता प्राप्त होने से देश में ही उपलब्ध वित्तीय साधनों का पूरा विकास नहीं हो पाता है। भारत में नियाजन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में आन्तरिक बचतों की गति बहुत कम रही है जिसका कारण विदेशी सहायता का उपलब्ध होना रहा है।

(6) **अनिश्चितता** — विदेशी सहायता के सम्बन्ध में डर बना रहता है कि किसी भी समय बन्द की जा सकती है। विदेशी सहायता किसी भी देश के आर्थिक जीवन का एक स्थायी अंग नहीं बन सकती है। यह योजना प्रक्रिया में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न करती है क्योंकि इसकी उपलब्धि अन्य देशों की इच्छा पर निर्भर करती है। संकट काल में इस पर निर्भरता बड़ी खतरनाक होती है।

(7) **अप्रत्यक्ष साम्राज्यवाद** — विदेशी सहायता अधिकतर ऐसी परियोजनाओं के रूप में प्राप्त होती है जिसके अन्तर्गत विदेशी तकनीक, विदेशी प्रसाधन और विदेशी विशेषज्ञों की सहायता से विकासशील देश में उद्योग आदि स्थापित किया जाता है। इससे स्थानीय श्रम, भूमि और कच्चे माल का उपयोग और नियन्त्रण विदेशियों के हाथ में चला जाता है जिसका सहायता देने वाले देश के हित में अधिक और सहायता पाने वाले देश के हित में कम उपयोग किया जाता है। सहायता देने वाले देश के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं—एकाधिकार प्राप्त करना और बाजार पर नियन्त्रण करना।

(8) **मुद्रा का अवमूल्यन** — विदेशी सहायता पर हमेशा निर्भर रहने से मुद्रा प्रसार का दबाव बढ़ता जाता है जिससे आन्तरिक मूल्य स्तर अन्तराष्ट्रीय मूल्य स्तर से अधिक ऊँचा रहता है। इस दशा में सहायता देने वाले देश लेने वाले देश को मुद्रा अवमूल्यन के लिए दबाव डालते हैं। विकास के इस संक्रान्तिकाल में विकासशील देश को अपनी परियोजनाओं को पूरा करने के लिए विदेशी सहायता लेने की मजबूरी होती है और उन्हें अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ता है। मुद्रा के अवमूल्यन से पुराने ऋणों और ब्याज का स्थानीय मुद्रा में भार बढ़ जाता है।

9. **आन्तरिक विनियोगियों के लिए सीमित क्षेत्र** – विदेशी पूँजी प्राप्त करने वाले देश में विदेशी पूँजी सर्वाधिक लाभ प्रदान करने वाले क्षेत्रों में विनियोजित होने से घरेलू विनियोगकर्ताओं को आगे आने में बाधा पड़ती है। अल्पकाल में विदेशी पूँजी के विनियोग से इन देशों को इतना लाभ नहीं हो सकता जितना कि दीर्घकाल में इन्हीं क्षेत्रों में देशी पूँजी विनियोजन से होता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि भुगतान शेष में साम्य के लिए विदेशी सहायता एक उपयुक्त उपाय नहीं है। अतः हमें शेष दो उपाय (i) आयात व्यय में कमी और (ii) निर्यात आय में वृद्धि की ओर अपना ध्यान देना चाहिए। आयात व्यय में कमी आयात नीति और निर्यात आय में वृद्धि

निर्यात नीति के अंग हैं। आयात और निर्यात नीति दोनों ही किसी देश की व्यापारिक नीति के अंग हैं।

बोध प्रश्न 2.

1. शर्त युक्त विदेशी सहायता से क्या हानि है?

2. विदेशी सहायता अप्रत्यक्ष सम्राज्यवाद को किस प्रकार स्थापित करती हैं?

18.4 आयात नीति

आयात नीति के दो घटक हैं: आयात प्रतिबन्ध और आयात प्रतिस्थापन। आयात प्रतिबन्ध का उद्देश्य आयात व्यय को कम करना है। इन प्रतिबन्धों के माध्यम से अनावश्यक आयात विशेषकर विलासिता वस्तुओं के आयात अत्यधिक कम हो जाते हैं, विदेशी विनिमय कोष पर दबाव कम हो जाता है और औद्योगीकरण पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है। आयात प्रतिस्थापन का उद्देश्य यथा सम्भव विदेशों से आयातित वस्तुओं की प्रतिस्थापक वस्तुओं का स्वदेश में उत्पादन करना है और देश को आत्म-निर्भरता की ओर ले जाना है। आयात प्रतिबन्ध आर्थिक विकास का एक मुख्य साधन है। इससे बहुमूल्य विदेशी मुद्रा की बचत होती है और प्रर्दशन प्रभाव को भी ये कम करते हैं—प्रदर्शन प्रभाव बचतों को प्रभावित करते हैं। आयात प्रतिस्थापन नीति का आधार चिर-परिचित शिशु उद्योग तर्क है। विकासशील देश प्रशुल्क दीवार की आड़ में अपना औद्योगिक विकास करता है और उसके उद्योगों को विदेशी उद्योगों से प्रतियोगिता का भय नहीं रहता है। एक बार औद्योगीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ हो जाने से, औद्योगीकरण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, औद्योगीकरण स्वयंमेव होता है। अनेक विकासशील देशों के अध्ययन ये यह निष्कर्ष निकला है कि आयात प्रतिस्थापन प्रक्रिया पूर्व में आयात की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं के निर्माण से प्रारम्भ होती हैं तथा सफलता पर्वूक माध्यमिक वस्तुओं ओर मशीनों के निर्माण की ओर अग्रसर होती हैं।

18.5.1 **आयात प्रतिस्थापन से लाभ :** एक विकासशील अर्थव्यवस्था में आयात प्रतिस्थापन निम्न आधारों पर महत्वपूर्ण हैं—

(1) ऐतिहासिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विकासशील देशों के अहित में रहा है। दीर्घकाल में आत्मनिर्भरता के लिए आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण के लिए उचित हैं।

(2) विकसित देशों के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर एच.बी.चेनरी ने कहा है कि विकास के साथ केवल औद्योगिक उत्पादन में ही वृद्धि नहीं होती अपितु औद्योगिक उत्पादन की समग्र वृद्धि का एक विशाल भाग आयात प्रतिस्थापन पर आधारित उद्योगों में वृद्धि का परिणाम है।

(3) आयात प्रतिस्थापन उद्योगों के लिए बाजार तलाश करने की आवश्यकता नहीं है और न ही कोई जोखिम है क्योंकि आयात प्रतिबन्धित हो जाते हैं और नवीन उद्योगों के लिए पूर्व से ही स्थापित बाजार उपलब्ध हो जाता है।

(4) विकासशील देशों में औद्योगिक आयातों की माँग उनके निर्यातों की तुलना में तीव्रता से बढ़ती है, इसलिए वे निर्यातों के बदले में पर्याप्त औद्योगिक वस्तुएं आयात नहीं कर पाते हैं। आयात प्रतिस्थापित औद्योगिक उत्पादन उन्हें बढ़ती हुई औद्योगिक वस्तुओं की आंतरिक मांग को पूरा करने में सहायक है।

(5) आयात प्रतिस्थापन औद्योगिकरण आन्तरिक बचत और विनियोग की दर में वृद्धि करता है। विदेशी प्रतियोगिता से आयात प्रतिस्थापित उद्योगों की रक्षा करने के लिए आयातों पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। जिससे उत्पादक अपने उत्पादनों की कीमतों में वृद्धि कर देते हैं और उनके

लाभों में वृद्धि होती है। वे अपने लाभों का पुनर्विनियोजन करते हैं जिससे विकास की दर में वृद्धि होती है।

(6) आयात प्रतिस्थापन से रोजगार के अवसरों में भी वृद्धि होती है। देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार प्रदान करने के लिए, अतिरेक श्रम-शक्ति को रोजगार में लगाने के लिए तथा अर्द्ध-बेरोजगार व्यक्तियों को लाभदायक रोजगार देने के लिए आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगीकरण अनिवार्य है।

(7) हेरी जी. जॉन्सन के अनुसार विकासशील देशों के आर्थिक कल्याण की वृद्धि से भी आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगीकरण उचित है। इस प्रकार का औद्योगीकरण जब प्रत्यक्ष विदेशी विनियोगों द्वारा किया जाता है तो विकासशील देश आधुनिक तकनीकों का लाभ उठाते हैं जिस कारण से उनकी पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि होती है।

(8) विकासशील देशों को आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगीकरण करने के लिए प्रेरणा इस कारण से मिलती है कि इससे उन्हें भुगतान सन्तुलन की समस्या का समाधान प्राप्त हो जाता है। वे इस कूटनीति से विदेशी औद्योगिक वस्तुओं का प्रतिस्थापन देश में ही उत्पादित वस्तुओं से करते है और विदेशी विनिमय की बचत कर लेते हैं। आयातों पर वे उच्च प्रशुल्क लगा देते हैं जिससे राज्य की आय में भी वृद्धि होती हैं और राज्य इस बढ़ी हुई आय का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए करता है।

(9) आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगीकरण से विकासशील देशों की औद्योगिक संरचना का निर्माण होता है जो कि अधिक विकास की प्रथम आवश्यकता है। जलील अहमद का कथम है कि आयात प्रतिस्थापन से केवल मूल्यवान विदेशी मुद्रा की ही बचत नहीं होती अपितु आर्थिक व औद्योगिक विकास के कार्यक्रमों को प्रत्यक्ष योगदान भी प्राप्त होता है।

(10) प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के कारण विकासशील देशों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व अन्य देशों से सहायता लेने के लिए विवश होना पड़ता है। और विदेशी सहायता पर उनकी निर्भरता बढ़ती जाती है उनकी विदेशी सहायता पर अत्याधिक निर्भरता उनके विकास को अवरूद्ध करती है और उनकी सुरक्षा के लिए घातक होती है। आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण से उनकी विदेशी सहायता पर निर्भरता कम होती है।

संक्षेप में, आयात प्रतिस्थापन की कूटनीति अनिवार्य वस्तुओं और सेवाओं में आत्म-निर्भरता और आयातित वस्तुओं के उत्पादन द्वारा बहुमूल्य विदेशी मुद्रा की बचत के लिए वांछनीय और उचित है।

18.5.2 **आयात प्रतिस्थापन से हानियाँ** : अनेक विकासशील देशों में जैसे कि भारत, पाकिस्तान और अनेक लतानवी देशों में आयात प्रतिस्थापन की नीति सफल नहीं है। इस नीति के कारण इन देशों की अर्थ-व्यवस्था में कतिपय दोष उत्पन्न हुए है जिससे इनके औद्योगीकरण के प्रक्रिया महंगी हो गयी हैं। लतानवी अर्थशास्त्री सैरियागो मर्करियो का कहना है कि अनेक लतानवी देशों ने विदेशी विनिमय संकट से मुक्ति पाने के लिए आयात प्रतिस्थापन की कूटनीति को अनिवार्य रूप से अपनाया है, पर विकास की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए विकसित नहीं किया है। उन्होंने इसे आपात स्थिति से निपटने के लिए, घरेलू उद्योगों को अत्यधिक संरक्षण देकर, काम चलाऊ ढंग से क्रियान्वित किया है। नीति का उचित क्रियान्वयन न होने से इन देशों की आर्थिक संरचना विकृत हुई है और साथ ही इन देशों को निर्यात अवसरों की हानि भी हुई है। भारत के साथ भी यही बात सत्य है। आयात प्रतिस्थापन के विपक्ष में मुख्य तर्क इस प्रकार है।

1. विकासशील देशों में कच्चेमाल, मध्यवर्ती वस्तुओं और पूँजी उपकरणों का अभाव होता है, आयात प्रतिस्थापित उद्योगों के लिए इनका आयात करना पड़ता है जिससे विदेशी मुद्रा का

अप्रत्यक्ष व्यय प्रत्यक्ष बचतों की अपेक्षा अधिक हो जाता है। प्रतिस्थापित वस्तुओं का मूल्य भी आयातित वस्तुओं से अधिक रहता है जिससे देश के आर्थिक कल्याण में कमी होती है।

2. यह कहना सही नहीं है कि आयात प्रतिस्थापित औद्योगीकरण से बेकार श्रमिकों को रोजगार मिलता है। ग्रिफिन और एरोज का कहना है कि निर्माणकारी उद्योगों में रोजगार वृद्धि की तुलना उनके उत्पादन से करना व्यर्थ है। वास्तविकता तो यह है कि रोजगार में वृद्धि तब तक नहीं होती जब तक कि निर्माणकारी उद्योगों का उत्पादन 4% प्रति वर्ष की दर से नहीं बढ़ता है। और फिर औद्योगिक रोजगार जनसंख्या की तुलना में कम तेजी से बढ़ता है। चिली में रोजगार दर में वृद्धि की दर 1.1% थी जबकि उत्पादन वृद्धि की दर 5.6 प्रतिशत थी, इससे यह सिद्ध होता है कि आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगीकरण से बेकार श्रम के लिए रोजगार उत्पन्न नहीं किया जा सकता है।

3. उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन आयात प्रतिस्थापित उद्योगों द्वारा करने से आन्तरिक बचतों और विनियोग में वृद्धि के स्थान पर कमी होती है। आन्तरिक उपभोग के लिए उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को महत्व दिया जाता है जिससे उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ती है और इन वस्तुओं के निर्यात के लिए आधिक्य का निर्माण नहीं होता है। यह नीति आर्थिक और तकनीकी कुशलता पर कुप्रभाव डालती है जिसमें आय, लाभ और बचत कम होती है। जॉन पावर ने इसलिए कहा है कि आर्थिक विकास के लिए उपभोक्ता वस्तुओं के स्थान पर पूँजीगत वस्तुओं और निर्यात की वस्तुओं में विनियोग करना चाहिए।

इस नीति का प्रयोग आत्म-निर्भरता के लिए करने से विकासशील देश में साधनों का आवंटन सही ढंग से नहीं होता है और औद्यागिक उत्पादकता भी प्रभावित होती है। आत्म-निर्भरता के लिए ये देश अकुशल और निम्न प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों को अत्यधिक संरक्षण प्रदान कर देते हैं जिससे ऊँची कीमत पर आयातित कच्चे माल, मध्यवर्ती वस्तुओं और पूँजी उपकरणों का अपव्यय होता है। इस नीति से ऊँची उत्पादन लागतों के साथ अकुशल उद्योगों की स्थापना होती है। भारत में भी यही स्थिति है। बी.बी. देसाई ने कहा भी है कि आत्म-निर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारत में यह समझा जाता है कि जो भी उद्योग आयातों का प्रतिस्थापन करता है वह अर्थ-व्यस्था के लिए उत्तम है, फलस्वरूप भारी मात्रा में बहुमूल्य साधनों को निम्न प्राथमिकता प्राप्त उद्यागों में निवेशित कर दिया गया है। इस सन्दर्भ में जलील अहमद के मतानुसार यदि आयात प्रतिस्थापन कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों तक ही सीमित रखा जाता है तो मूल्यवान साधनों की बचत की जा सकती है क्योंकि ऐसा करने पर पूरे प्रयासों और दुलर्भ साधनों का अधिक कुशलता पूर्ण तरीकों से उपयोग संभव है। आयात प्रतिस्थापन की नीति के अन्तर्गत भारत में विलास की उपभोग वस्तुओं के आयात पर भारी शुल्क लगाकर रोक लगाई गई है जिससे भारतीय बाजार में इन वस्तुओं की लाभदायकता अपने आप ही बढ़ गई है और इसके आन्तरिक उत्पादन को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। भारी शुल्क और शक्तिशाली वर्ग के राजनैतिक प्रभाव के कारण भारत में अनेक ऐसे उपभोक्ता प्रतिस्थापित उद्योग स्थापित हुए है जिनकी अवसर लागत अत्यधिक हैं। इनमें से अधिकतर उद्योग एक छोटे से धनी वर्ग की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। इन उद्योगों से निर्मित वस्तुओं की मांग सीमित है इस लिए कुछ समय के उपरान्त इन उद्यागों में क्षमता के अल्प-उपयोग की समस्या उत्पन्न होती है और औसत उत्पादन लागत में वृद्धि होती है।

राल प्रेबिश ने आयात प्रतिस्थापन औद्योगीकरण के निम्न दोष बताये हैं—

1. विकासशील देशों को अति-संरक्षण के लिए विवश किया है जिससे विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हुई है।

2. वस्तुओं की गुणवत्ता सुधारने और उत्पादन लागतों को कम करने की प्रेरणा को शिथिल किया है।

3. संरक्षण को स्थायी बनाये रखने की प्रवृत्ति उत्पन्न की है।

4. अनार्थिक इकाईयों की स्थापना को प्रोत्साहित किया है, आधुनिक तकनीक को अंगीकार करने की वृत्ति को कमजोर किया है और उत्पादकता वृद्धि को मन्द किया है जिससे औद्योगिक संरचना प्रभावित हुई है।

5. ऊँची उत्पादन लागतों के कारण निर्यात प्रात्साहित करने में असफलता मिली है।

6. सामाजिक और आर्थिक असमानताओं में वृद्धि की है क्योंकि संरक्षण के कारण पूँजी प्रधान उद्योगों को प्रोत्साहन मिला है, जिनकी स्थापना बड़े व्यापरिक घरानों द्वारा ही अधिकतर की गई है।

संक्षेप में, आयात प्रतिस्थापन की नीति विकासशील देशों के आर्थिक विकास और भुगतान शेष की समस्या का हल नहीं है। यह विदेशी विनियम के संकट से मुक्त नहीं करती, इससे आत्म-निर्भरता का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार नहीं मिलता और निर्यातों में वृद्धि नहीं होती है।

बोध प्रश्न 3

1. आयात प्रतिस्थापन से मुख्य लाभ क्या हैं?

2. आयात प्रतिस्थापन के मुख्य दोष क्या हैं?

18.6 निर्यात नीति

विकासशील देश एक उचित निर्यात नीति के माध्यम से अपनी आर्थिक विकास और भुगतान शेष की समस्या का समाधान कर सकते हैं।

18.6.1 **निर्यात सम्वर्द्धन** : विकासशील देशों द्वारा किसी भी सीमा तक आयात नियन्त्रण अथवा आयात प्रतिस्थापन के लिए प्रयास किया जाये पर आर्थिक विकास और भुगतान शेष की समस्या का समाधान एक प्रभावं पूर्ण निर्यात सम्बर्द्धन की नीति से ही प्राप्त हो सकता है। भारत जैसे अनेक विकासशील देशों ने, नियोजन के प्रारम्भिक वर्षों में आयात प्रतिस्थापन की नीति को ही विशेष महत्व दिया था। उन्होंने यह देखा कि इस नीति से आयात व्यय में कमी की अपेक्षा वृद्धि होती है क्योंकि उन्हें उपभोग वस्तुओं के स्थान पर अधिक महगी पूँजीगत वस्तुएं आयात करनी पड़ती है और उपभोक्ता उद्योगों को चलाने के लिए निरन्तर आयात करने पड़ते है जो कि बढ़ने की प्रवृत्ति दर्शाते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष निजी विदेशी विनियोग औद्योगिक व विकास को गति प्रदान करते हैं, परन्तु इनसे प्राप्त होने वाले लाभों का प्रत्यावसन पूँजी प्राप्त करने वाले देशों को सामान्यता विदेशी मुद्रा में ही करना पड़ता है। जो कुछ विदेशी सहायता भी प्राप्त होती है उसे विदेशी मुद्रा में ब्याज सहित लौटाना पड़ता है। ये सभी परिस्थितियाँ यह इंगित करती हैं कि निर्यातों के द्वारा आय में वृद्धि करना आवश्यक है। जब तक निर्यात आय में निरन्तर वृद्धि नहीं होगी, विदेशी विनिमय के व्यय और आय के मध्य अन्तर में वृद्धि होती रहेगी और विदेशी विनिमय की समस्या और अधिक कठिन होती जायेगी। विकासशील देशों में इसी कारण अब यह नारा सुनाई देता है "निर्यात करो या मरो"।

निर्यात उद्योगों में कुछ इस प्रकार के घरेलू उत्पादन भी प्रयुक्त हो जाते हैं जो कि अन्यथा व्यर्थ ही पड़े रहते हैं। निर्यात उद्योगों में प्रयुक्त आयातित तकनीक और प्रशिक्षण का अर्थ-व्यवस्था पर एक अच्छा प्रभाव भी पड़ता है। निर्यातों से बढ़ी आय से कुछ समय के उपरान्त गुणक और

त्वरक प्रभाव से घरेलू वस्तुओं के लिए पहले से विस्तृत बाजार भी प्राप्त होता है। तकनीक और गुणवत्ता में सुधार तथा उत्पादन लागत में कमी से आर्थिक विकास की दर में भी वृद्धि होती हैं निर्यातों से आय में वृद्धि करना सरल नहीं है। अधिकांश विकासशील देश निर्यात आयों के लिए प्राथमिक वस्तुओं पर निर्भर करते हैं। जिनके निर्यातों में वृद्धि करना कठिन है क्योंकि इनकी विदेशी माँग बेलोचदार होती है और विकसित देशों ने इनके स्थान पर कृत्रिम वस्तुओं का विकास कर लिया है। विकसित देशों ने आयातों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं।

इन सब परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए विकासशील देशों को निर्मित वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए। इन वस्तुओं का बाजार निरन्तर विस्तृत हो रहा है और कुल निर्यातों में विकासशील देशों की भागीदारी का प्रतिशत बहुत कम है। एक उचित और प्रभावपूर्ण निर्यात नीति से इन्हें अपने निर्यातों में वृद्धि करनी चाहिए। मिर्डल ने इस सम्बध में कहा है कि विकासशील देशों को परम्परागत निर्यातों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए और न ही इस प्रकार के निर्यात उनके हित में है। उनका सुझाव है कि वे निर्यातों की संरचना और विश्व बाजार में संभावनाओं की ओर दृष्टि दौड़ाए और फिर इस बात का निश्चय करें किन निर्यातों को बढ़ाने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिए और किन निर्यातों को उन्हें कम करना अथवा त्याग देना चाहिए। उन्हें उच्च आय और कीमत लोच तथा बढ़ती हुई माँग वाली वस्तुएं स्वयं अपने लिए खोज लेना चाहिए और उन वस्तुओं से दूर रहना चाहिए जिनका कि भविष्य संदिग्ध हो।

18.6.2. **निर्यात सम्वर्द्धन के उपाय** : निर्यात सम्बर्द्धन के लिए उपाय इस प्रकार करना चाहिए—

1. कृषि, खनिज और औद्योगिक क्षेत्रों में एक निश्चित उत्पादन लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए।
2. निर्यात अतिरेक उत्पन्न करने के लिए आन्तरिक उपभोग को राजकोषीय अथवा अन्य उपायों से सीमित करना चाहिए।
3. आन्तरिक कीमत स्तर में स्थिरता रखना चाहिए।
4. निर्यातोन्मुख उद्योगों का आधुनिकीकरण करना चाहिए।
5. निर्यात उद्योगों के लिए कच्चे माल और मशीनों की पूर्ति सस्ती कीमतों पर करनी चाहिए।
6. निर्यातकों को ऋण, बीमा और परिवहन सुविधायें देनी चाहिए।
7. निर्यात वस्तुओं की गुणवत्ता की जाँच की जानी चाहिए।
8. निर्यातकों और विदेशों में आयात करने वाली इकाइयों की सूचना एकत्रित करनी चाहिए।
9. निर्यातकों के व्यापारिक हित का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक ऐसी संस्था जिसकी विश्व में शाखाएं हो स्थापित करनी चाहिए।
10. व्यापारिक और औद्योगिक मेलों का विदेशों में आयोजन करना चाहिए।
11. प्रमुख निर्यात वस्तुओं के लिए निर्यात प्रोत्साहन परिषदें स्थापित करनी चाहिए।
12. विकसित देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापार समझौते करना चाहिए।
13. विकासशील देशों को विदेशी व्यापार के क्षेत्र में सहयोग करना चाहिए। अधिकांश विकासशील देश लगभग एक जैसी वस्तुओं का निर्यात करते हैं जिससे उनकी आपसी प्रतियोगिता उनके लिए हानिकारक सिद्ध होती है। आपसी सहयोग होना चाहिए। इन

देशों के पास व्यापार वृद्धि का एक ही रास्ता है कि विश्व बाजार में इन्हें अपनी सौदेबाजी की शक्ति को बढ़ावा देना चाहिए।

14. निर्यातकों को निर्यात वृद्धि के लिए विशेष प्रेरणाएं देनी चाहिए।

बोध प्रश्न 4

1. निर्यात सम्वर्द्धन की नीति क्यों आवश्यक है?
2. परम्परागत वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि क्यों नहीं की जा सकती है?

18.7 आयात प्रतिस्थापन अथवा निर्यात प्रोत्साहन

प्रश्न हमारे समक्ष यह है कि विकासशील देश को कौन सी नीति का अनुसरण करना चाहिए आयात प्रतिस्थापन अथवा निर्यात सम्वर्द्धन दोनों ही नीतियों का उद्देश्य एक ही है विदेशी मुद्रा के संकट को दूर करना। आयात प्रतिस्थापन के दोष हम देख चुके हैं। यह नीति विदेशी मुद्रा की बचत नहीं करती अपितु उसके व्यय में और वृद्धि कर देती है। अकुशल इकाईयों की स्थापना करती है जिससे उत्पादन लागतें बढ़ती है और वस्तुएं भी घटिया किस्म की निर्मित होती है। यह नीति निर्यातों की वृद्धि में भी बाधाएं डालती हैं। इस प्रकार आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगीकरण के लिए विकासशील देश को अधिक कीमत चुकाना पड़ती हैं। अतः निर्यात सम्बर्द्धन की नीति ही उचित और आवश्यक है। पीताम्बर पन्त का मत है कि आयात प्रतिस्थापन एक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अस्त्र हैं, यदि यह अति संरक्षित, अकुशल और उच्च लागत उद्योगों की स्थापना के बिना किया जा सके। दूसरी ओर, एक अर्थ व्यवस्था जो कि निर्यात को महत्व देती है, वह कुशल उत्पादन के लिए अनुकूल स्थितियों का निर्माण करती हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में शामिल निर्यातों के निरन्तर सुधार और कीमत में कमी की अपेक्षा रहती है।

विकासशील देशों को हम मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं वे जो अधिक जनसंख्या की समस्या से पीडत नहीं है और जो अति जनसंख्या से पीड़ित हैं। पहले प्रकार के देशों को तो अपने परम्परागत निर्यातों को बनाये रखने के साथ-साथ उनमें वृद्धि करनी चाहिए। उन्हें अपने प्राथमिक उत्पादनों की गुणवत्ता में सुधार करना चाहिए और सुधार के लिए अधिक पूँजी तथा बेहतर तकनीक का उपयोग करना चाहिए। उन्हें केवल ऐसे आयातों को प्रतिस्थापित करना चाहिए जिनमें की पूँजी की तुलना में श्रम अधिक प्रयुक्त होता है। उन्हें आयात प्रतिस्थापन की गति धीमी रखनी चाहिए और विदेशी सहयोग से आयात प्रतिस्थापन करना चाहिए।

भारत जैसे अति जनसंख्या से ग्रस्त देशों को आन्तरिक बाजार और निर्यात के लिए निर्मित वस्तुओं के उत्पादन को महत्व देना चाहिए। यह इस लिए आवश्यक हैं क्योंकि इन देशों के परम्परागत निर्यात जैसे कि चाय, पटसन, सूती वस्त्र आदि में स्थिरता आ गयी हें या बहुत ही मन्द गति से बढ़ रहे हैं। चाय जैसी वस्तुओं की विदेशी माँग बेलोच हैं, इस कारण से इनका निर्यात बढ़ाना संभव नहीं है। पटसन जैसी वस्तुओं का विदेशी बाजार कृत्रिम उत्पादनों के कारण सिमट गया है। सूती वस्त्र का विदेशी बाजार कृत्रिम उत्पादनों के कारण सिमट गया है। सूती वस्त्र का विदेशी बाजार भी मानव निर्मित वस्त्रों के कारण सीमित हो गया है और इस बाजार में विकासशील देशों की भी आपस में कड़ी प्रतिस्पर्धा है। ऐसी स्थिति में इन देशों को टिकाऊ उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना चाहिए जिनकी कि विदेशों में माँग है। कार, स्कूटर, टी०वी०, ऐयर कन्डीशनर, टेपरिकार्डर, वीड़ियों कैसेट रिकार्डर, साफ्टवेयर और हार्डवेयर आदि ऐसी वस्तुएं हैं। जापान इसका अति उत्तम उदाहरण है। जापान ने अमेरिका, जर्मनी, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों के उत्पादकों से कठोर प्रतियोगिता करते हुए उनके बाजारों में अपना

अधिपत्य कर लिया है। यही स्थिति लगभग कोरिया और सिंगापुर की भी है। भारत सदृश्य विकासशील देशों के समक्ष सबसे बड़ी बाधा घटिया किस्म और ऊँची कीमतों की है। इस प्रकार अपरम्परागत वस्तुओं के बाजार विस्तृत करने के लिए इन देशों को निर्यात प्रोत्साहन की ही नीति को अपनाना चाहिए।

विकसित देशों ने इन अपरम्परागत वस्तुओं के आयात पर संरक्षणात्मक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं, विकासशील देशों को इन प्रतिबन्धों को पार करने का प्रयत्न करना चाहिए। आर. हैरड के अनुसार विकसित देशों की कोई भी नीतियाँ हो विकासशील देशों की इतनी प्रतियोगी कीमतों पर निर्मित निर्यात योग्य वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने का लक्ष्य रखना चाहिए कि इन देशों के संरक्षात्मक प्रतिबन्धों को भेद सके। उनका यह मत पैमाने की बचतों, मध्यवर्ती वस्तुओं और मशीन उद्योगों की एक साथ स्थापना की अपेक्षा करता है और आयात प्रतिस्थापित औद्योगीकरण को गम्भीरतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए निर्देश देता है। भारत जैसे विकासशील देशों को भुगतान शेष की समस्या के हल और आर्थिक विकास के लिए निर्यात प्रोत्साहन और आयात प्रतिस्थान, दोनों ही नीतियों को एक दूसरे के साथ गंभीरता से समन्वय कर देना चाहिए क्योंकि दोनों ही नीतियां परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक है।

18.8 सारांश

विकासशील देशों की व्यापारिक नीति विकसित देशों से भिन्न हैं और इसका उद्देश्य भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने के साथ-साथ आर्थिक विकास भी है। इन उद्देश्यों को प्राप्त एक करने के तीन उपाय हैं— विदेशी सहायता, आयात व्यय में कमी और निर्यात आय में वृद्धि। विदेशी सहायता पर सदैव की निर्भरता हानिकारक है। इस पर निर्भरता से आर्थिक विकास का कार्यक्रम ही केवल अनिश्चित नहीं बन जाता अपितु देश की आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता भी संकट में पड़ जाती हैं।

भुगतान सन्तुलन के साम्य और आर्थिक विकास के लिए आय व्यय में कमी के उद्देश्य से आयात प्रतिबन्धित किये जाते हैं तथा आयात प्रतिस्थापन द्वारा औद्योगीकरण की नीति अपनाई जाती हैं। आयातित वस्तुओं का उत्पादन देश में ही करने से देश आत्म-निर्भर बनता है, आन्तरिक माँग को पूरा करने में सफलता मिलती है, विनियोगों में वृद्धि होती है, रोजगार के अवसर बढ़ते हैं, पूँजी निर्माण की दर को गति मिलती हैं और औद्योगिक संरचना का निर्माण भी होता है। आयात प्रतिस्थापन पूर्णतया निरापद भी नहीं है। इसके कतिपय दोष भी हैं। इससे स्थापित उद्योगों में अप्रत्यक्ष व्यय प्रत्यक्ष बचतों की तुलना में अधिक होते हैं क्योंकि इन उद्योगों के लिए पूँजी उपकरण, कच्चा माल, मध्यवर्ती वस्तुओं आदि का आयात करना पड़ता है। रोजगार के अवसरों में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं होती है, बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार में लगाना कठिन बना रहता है। अकुशल इकाईयों को संरक्षण के कारण स्थापना होती है। जिनमें कि उत्पादन लागत कम करने, किस्म सुधारने, और नई तकनीक का प्रयोग करने की प्रेरणा का अभाव रहता है। इन इकाईयों में निरन्तर संरक्षण में रहने की ही प्रवृत्ति रहती है। निर्यात वृद्धि में यह नीति सहायक नहीं है और न ही यह नीति विदेशी विनियम की समस्या का हल प्रस्तुत करती है।

निर्यात संवर्द्धन की नीति आयात प्रतिस्थापन की नीति से श्रेष्ठ हैं। इस नीति के अर्न्तगत स्थापित इकाईयां कुशल होती हैं। विदेशी प्रतियोगिता के कारण ये निरन्तर उत्पादन लागत कम करने, किस्म सुधारने और नई तकनीक का उपयोग करने के लिए तत्पर रहती हैं।

आयात प्रतिस्थान एक प्रभावशाली अस्त्र अवश्य है। विकासशील देशों को उसका प्रयोग गभीरता से करना चाहिए। प्रारम्भ में उद्योगों को संरक्षण तो देना चाहिए पर अति संरक्षण नहीं

देना चाहिए जिससे कि वे कुशल उद्योगों के रूप में स्थापित हो सके और निर्यातों में वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हो सकें। वास्तविकता तो यह है कि आयात प्रतिस्थापन और निर्यात सम्बर्द्धन दोनों ही एक दूसरे की प्रतियोगी नीतियाँ नहीं हैं, एक नीति दूसरी नीति की पूरक हैं।

18.9 शब्दावली

राजकोषीय नीति जिसमें सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रम को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर वांछित प्रभाव डालने और आवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।

अर्द्ध-बेरोजगारी आंशिक बेरोजगारी की अवस्था जिसमें रोजगार से लगी श्रम-शक्ति का उपज में योगदान नहीं के बराबर होता है।

शिशु उद्योग तर्क देश में स्थापित नये उद्योगों को प्रोत्साहन देने का संरक्षण के पक्ष में सबसे सशक्त तर्क।

प्रदर्शनकारी प्रभाव उपभोग क्षेत्र में अपने से अधिक सम्पन्न व्यक्तियों को श्रेष्ठ मानकर उनकी उपभोग सम्बन्धी आदतों को अपना लेना।

बंधी सहायता जिसका प्रयोग या तो किसी विशिष्ट परियोजना में किया जा सकता है या फिर विशिष्ट देश से खरीददारी पर ही किया जा सकता है। **अबद्ध सहायता** वह सहायता जिसका वितरण किसी विशेष परियोजना की अपेक्षा विभिन्न मदों पर प्राप्त कर्त्ता के व्ययों के साथ बद्ध रहता है।

परियोजना सहायता जिसका वितरण पृथक योग्य क्रिया में निवेश से बद्ध रहता है।

18.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वी.सी. सिन्हा, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, मयूर पेपर बैक्स, नई दिल्ली

जी.सी. सिंघई, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा

एच.एस. अग्रवाल तथा सी.एस.बरला; अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा

नागर और शर्मा, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, गोयल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ

मिश्र और पुरी, भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाऊस, मुम्बई

एस.पी.सिंह आर्थिक विकास एवं नियोजन, एस चन्द्र एन्ड कम्पनी, नई दिल्ली

M.L. Jhingan, International Economics, Konark Publishers Pvt. Ltd., New Delhi

S.S.M. Desai, International Economics, Himalaya Publishing House Pvt. Ltd. Bombay

M.C.Vaish & Sudama Singh, International Economics, Oxford & IBH Publishing Co., New Delhi

A.N. Agarwal & Kundan Lal, Economics and & Development and Planning, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi

18.11 अभ्यासों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

1. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित नीति को व्यापारिक नीति कहा जाता है।

2. विकासशील देशों की व्यापारिक नीति का उद्देश्य भुगतान शेष की स्थिति में साम्य उत्पन्न करना तथा आर्थिक विकास हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के तीन उपाय हैं—विदेशी सहायता, आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात सम्वर्द्धन।

बोध प्रश्न 2.

1. शर्तयुक्त विदेशी सहायता किसी विशिष्ट परियोजना के लिए दी जाती है, जो कि प्राथमिकता के अनुसार न होने के कारण अर्थ-व्यवस्था में असन्तुलन उत्पन्न करती हैं। 2. विदेशी सहायता से स्थानीय श्रम, भूमि और कच्चे माल का उपयोग और नियन्त्रण विदेशियों के हाथ में चला जाता है। ये विदेशी बाजार पर एकाधिकार कर लेते हैं जिससे प्रत्यक्ष समाजवाद का उदय होता है।

बोध प्रश्न 3.

1. आयात प्रतिस्थापन से अनेक लाभ हैं—दीर्घकाल में देश आत्म-निर्भर बनता है, उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार तलाश नहीं करना पड़ता, आन्तरिक माँग को पूरा करने का सस्ता माध्यम है, रोजगार के अवसर बढ़ाता है, आर्थिक कल्याण में वृद्धि करता है, बचत और निनियोग को बढ़ाता है।

2. आयात प्रतिस्थान के अनेक दोष हैं—विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करता है। जिससे उत्पादन लागत कम करने, नई तकनीक का उपयोग करने और वस्तुओं की किस्म सुधारने की प्रेरणा का अभाव हो जाता है। संरक्षण को स्थायी रखने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, निर्यातों को प्रोत्साहित नहीं करता है तथा आर्थिक और सामाजिक समानता के उद्देश्य को प्राप्त करने में बाधक हैं।

बोध प्रश्न 4.

1. निर्यात सम्बर्द्धन कुशल इकाईयों की स्थापना करता है जिसमें उत्पादन लागत घटाने, नई तकनीक का प्रयोग करने, वस्तु की किस्म सुधारने की प्रेरणा पायी जाती है और ये ईकाईयाँ प्रतियोगिता में टिके रहने का प्रयत्न करती हैं। निर्यात सम्बर्द्धन इन्हीं सब कारणों से आवश्यक हैं।

2. परम्परागत वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि इनकी माँग बेलोचदार है और विकसित देशों में इनका स्थान कृत्रिम वस्तुएं लेती जा रहीं हैं।

18.12 कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विकासशील देशों की व्यापारिक नीति का परीक्षण कीजिए। आयात प्रतिस्थापन की सीमाओं की विवेचना भी कीजिए।

2. विकासशील देशों की व्यापारिक नीति के क्या उद्देश्य हैं? इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के क्या उपाय हैं? उनकी व्याख्या कीजिए।

3. निर्यात सम्बर्द्धन और आयात प्रतिस्थान में से आप किस नीति का समर्थन करते हैं? आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

इकाई 19

चुंगीसंघ का सिद्धान्त एवं आर्थिक एकीकरण (The Theory of Customs Union and Economic Integration)

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र, चुंगी संघ, साझा बाजार, आर्थिक समुदाय व आर्थिक एकीकरण

19.2.1 चुंगी संघ के स्थैतिक प्रभाव

19.2.2 चुंगी संघ के निर्माण से विशुद्ध हानि

19.3 प्रतियोगी व पूरक अर्थव्यवस्थाएं

19.4 सामान्य साम्य विश्लेषण

19.5 चुंगी संघ के गत्यात्मक प्रभाव

19.6 सारांश

19.7 शब्दावली

19.8 निबन्धात्मक प्रश्न

19.9 उपयोगी पुस्तकें

19.0 उद्देश्य :

इस अध्याय का उद्देश्य विद्यार्थियों को आर्थिक एकीकरण की अवधारणा से अवगत करवाना तथा चुंगी संघ का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना है।

चुंगी संघ के व्यापार सृजन तथा व्यापार दिशा परिवर्तन प्रभावों को स्पष्ट करते हुए हम चुंगी संघ के सामान्य-साम्य विश्लेषण की चर्चा करेंगे। साथ ही चुंगी संघ के निर्माण के सम्पूर्ण लाभों से अवगत करवाने हेतु हम चुंगी संघ के गत्यात्मक (dynamic) प्रभावों का भी विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

19.1 प्रस्तावना : (Introduction)

चुंगी संघ के सिद्धान्त का जन्म सन् 1950 में हुआ था। लेकिन इस सिद्धान्त में प्रो० वाइनर (Viner) ने अपनी पुस्तक 'The customs union issue' में जान डाली थी। तत्पश्चात् प्रो० मीड (Meade), लिप्सी (Lipsey), तथा वानेक (Vanek) ने चुंगीसंघ सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

19.2 स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र, चुंगी संघ, साझा बाजार, आर्थिक समुदाय व आर्थिक एकीकरण (Free Trade Area, Customs Union Common Market, Economic Union and Economic Integration)

चुंगी संघ के सिद्धान्त का अध्ययन करते समय पांच प्रकार के आर्थिक संगठनों के मध्य अन्तर स्पष्ट करना उचित होगा। ये संगठन हैं: स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र, चुंगी संघ, साझा बाजार, आर्थिक संघ एवं आर्थिक एकीकरण।

स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र व चुंगी संघ दोनों ही संगठनों में सदस्य राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार पर समस्त प्रतिबंध समाप्त कर दिये जाते हैं एवं आपस में स्वतंत्र व्यापार की नीति अपनाई जाती है, जबकि शेष विश्व के साथ व्यापार पर संघ के सदस्य राष्ट्र प्रतिबन्ध लागू रखते हैं।

चुंगी संघ व स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र में प्रमुख अन्तर यह है कि चुंगी संघ के सदस्यों को गैर-सदस्य राष्ट्रों से व्यापार में समान वस्तुओं पर समान प्रशुल्क दर लगाने पर सहमत होना आवश्यक होता है, जबकि स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र के सदस्य राष्ट्रों को गैर सदस्य राष्ट्रों से व्यापार में स्वयं की निजी प्रशुल्क दर लगाने की स्वतंत्रता होती है लेकिन स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र के सदस्य राष्ट्रों के मध्य भी चुंगी संघ की भांति आपसी व्यापार पर प्रतिबन्ध पूर्णतया समाप्त कर दिये जाते हैं। सन् 1960 में बना यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ (European Free Trade Association or EFTA) स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र का श्रेष्ठतम उदाहरण है। इफ्टा के सदस्य यू.के., आस्ट्रिया, डेनमार्क, नॉर्वे, पुर्तगाल, स्वीडन एवं स्वीट्जरलेंड हैं, जबकि फिनलेन्ड इसका सहायक सदस्य (Associate Member) है।

चुंगी संघ का सुप्रसिद्ध उदाहरण यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community or EEC) अथवा यूरोपीय साझा बाजार (European Common market or ECM) हैं जिसका निर्माण सन् 1985 में हुआ था। ई. ई. सी. के सदस्य राष्ट्र जर्मनी, फ्रांस, इटली बेल्जियम, नीदरलेन्डस एवं लक्समबर्ग हैं। चुंगी संघ का एक अन्य उदाहरण सन् 1834 में स्थापित बहुत से सार्वभौम जर्मन राज्यों का संगठन जाल्वराईन (Zollverein) था जिसका अर्थ चुंगी संघ ही होता है।

साझा बाजार में चुंगी संघ को एक कदम और आगे बढ़ा दिया जाता है तथा इसके अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं के साथ-साथ उत्पादन के कारकों जैसे श्रम, पूंजी आदि की भी स्वतंत्र गतिशीलता बनाये रखी जाती है। अतः स्पष्ट है कि साझा बाजार के सदस्य राष्ट्रों का भौगोलिक दृष्टिकोण से भी एकीकृत क्षेत्रीय समूह होना आवश्यक है। सन् 1970 में ई.ई.सी. लगभग साझा बाजार बन चुका था।

चौथे प्रकार के समूह 'आर्थिक संघ' के (Economic Union) सदस्य राष्ट्रों का आर्थिक दृष्टिकोण से एक इकाई हो जाना अन्तिम उद्देश्य होता है अर्थात् आर्थिक संघ के सदस्यों में समान बाह्य प्रशुल्क के अलावा औद्योगिक व अन्य राष्ट्रीय नीतियों के तालमेल (harmonization) का भी प्रावधान होता है। सन् 1960 में बेल्जियम, नीदरलेण्डस व लक्समवर्ग ने मिलकर 'बेनेलक्स (Benelux) का निर्माण किया था वह आर्थिक संघ का ही उदाहरण है।

आर्थिक सहयोग की उत्कृष्टतम अवस्था को 'आर्थिक एकीकरण' के नाम से जाना जाता है। आर्थिक एकीकरण में एक कदम और आगे बढ़कर सदस्य राष्ट्रों द्वारा एक जैसी मौद्रिक व राजकोषीय नीतियां अपनाई जाती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक एकीकरण का उदाहरण है।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त सभी प्रकार के समूह आर्थिक एकीकरण की ही विभिन्न श्रेणियां हैं।

प्रा० लिप्सी (Lepsey) ने चुंगी संघ को प्रभाषित करते हुए लिखा है कि चुंगी संघ सिद्धान्त "प्रशुल्क सिद्धान्त की वह शाखा है जिसमें भौगोलिक आधार पर विभेदात्मक व्यापार प्रतिबन्धों के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।"

जबकि मौद्रिक संघ (Monetary Union) की उत्कृष्टतम् अवस्था में 'एक' मुद्रा अपनाने के साथ-साथ सदस्य राष्ट्रों के मध्य उत्पादक कारकों (जैसे श्रम व पूँजी) की पूर्ण गतिशीलता भी पाई जाती है। हाल ही में 1 जनवरी, 1999 यूरोपीय आर्थिक व मौद्रिक संघ (EMU) के सदस्य राष्ट्रों ने 'यूरो' नामक 'एक' मुद्रा अपनाकर मौद्रिक संघ की उत्कृष्टतम् अवस्था में पहुंचने का गौरव प्राप्त कर लिया है।

19.2.1 चुंगी संघ के स्थैतिक प्रभाव : (Static effects of a custom union)

चुंगी संघ के स्थैतिक प्रभावों का आंशिक व सामान्य साम्य विश्लेषण के द्वारा दर्शाया जा सकता है।

चित्र 19.1 में आंशिक साम्य विश्लेषण की सहायता से चुंगी संघ के प्रभावों को स्पष्ट किया गया है। माना कि A स्वदेशी राष्ट्र, B संघ सहयोगी राष्ट्र तथा C शेष विश्व है। चित्र 19.1 में DD तथा SS क्रमशः A राष्ट्र के माँग व पूर्ति वक्र हैं। विदेशी राष्ट्र C की पूर्ति कीमत Pf है। Pf वक्र क्षैतिज (horizontal) खींचने का आशय यह है कि चुंगी संघ के निर्माण के उपरांत भी विदेशी कीमत यथास्थिर रहोगी। चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व प्रति इकाई आयात प्रशुल्क Pf-Pt है। Pt कीमत पर A राष्ट्र में X वस्तु की मांग O-X_1 है, जिसमें से O-X घरेलू पूर्ति तथा शेष X-X_1 मात्रा आयातित मात्रा है।

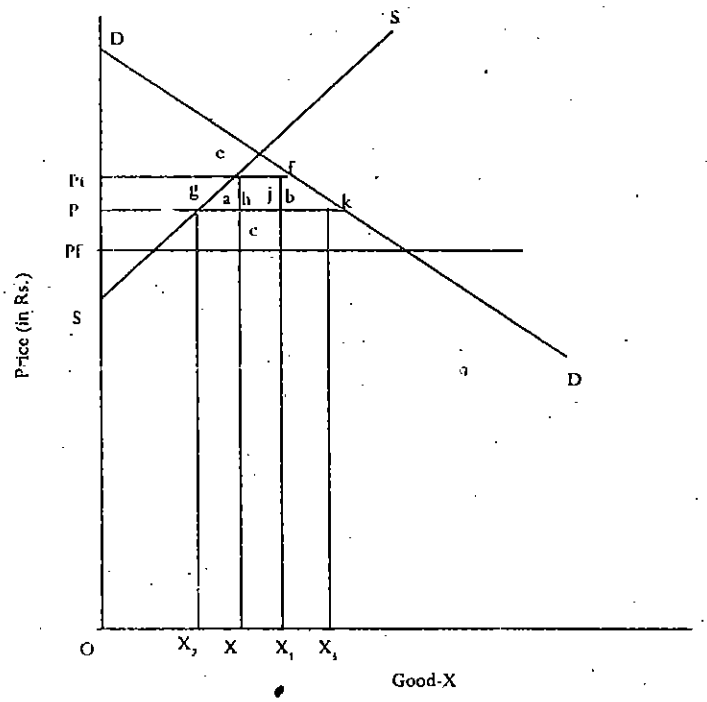

चित्र 19.1: चुंगी संघ के निर्माण के व्यापार सृजन व व्यापार दिशा-परिवर्तन प्रभाव

चित्र में O-P चुंगी संघ के सम्भावित सदस्य B राष्ट्र की पूर्ति कीमत है। अतः स्पष्ट है कि चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व B राष्ट्र के आयातों पर भी C राष्ट्र से आयातों के समान Pf-Pt प्रशुल्क लगा हुआ था अतः चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व B राष्ट्र से A राष्ट्र के आयात शून्य हैं।

अब मान लीजिए की A व B राष्ट्र मिलकर चुंगी संघ का निर्माण कर लेते हैं तथा आपसी व्यापार पर प्रशुल्क पूर्णतया समाप्त कर देते हैं एवं गैर-सदस्य राष्ट्र C के आयातों पर प्रशुल्क पूर्ववत् ही लगा रहता है तो इस चुंगी संघ के निर्माण के व्यापार व कल्याण के स्तर पर दो विपरीत प्रभाव पड़ेंगे।

प्रथम, यह कि चुंगी संघ के निर्माण से संघ सदस्य B राष्ट्र के आयातों पर प्रशुल्क समाप्त हो जाने से अब A राष्ट्र को X वस्तु O-P कीमत पर प्राप्त होगी जो कि चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व की O-Pt कीमत से कम है। अतः A राष्ट्र के आयात $X-X_1$ से बढ़कर X_2-X_3 हो जाते हैं तथा घरेलू पूर्ति O-X से घटकर $O-X_2$ हो जाती है। कीमत की इस कमी से A राष्ट्र का उपभोग का स्तर $O-X_1$ से बढ़कर $O-X_3$ हो जाता है। अतः चुंगी संघ के 'व्यापार सृजन प्रभाव' (Trade creation effect) को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैः प्रथम, घरेलू उत्पादन में कमी का प्रभाव तथा द्वितीय, घरेलू उपभोग में वृद्धि का प्रभाव।

व्यापार सृजन से A राष्ट्र लाभान्वित होगा क्योंकि यदि A राष्ट्र X_2-X मात्रा का उत्पादन स्वयं करता तो इस राष्ट्र की X_2-X मात्रा की लागत ex x_2g क्षेत्र के बराबर होती जबकि चुंगी संघ के सदस्य B राष्ट्र से X_2-X मात्रा के आयातों की लागत ghxx_2 है। A राष्ट्र में X_2-X की लागत तथा इस राष्ट्र की चुंगी संघ के सदस्य राष्ट्र B से X_2-X के आयात की लागत का अन्तर A राष्ट्र की विशुद्ध बचत है। यह बचत त्रिभुजाकार क्षेत्र egh द्वारा दर्शायी गयी है। इस बचत को चुंगी संघ के निर्माण के व्यापार सृजन प्रभाव की उपलब्धि कहा जा सकता है।

चित्र 19.1 में यह भी स्पष्ट है कि चुंगी संघ के निर्माण से A राष्ट्र के उपभोग में X_1-X_3 की वृद्धि से भी राष्ट्र के कल्याण का स्तर बढ़ा है। उपभोग में X_1-X_3 की अतिरिक्त वृद्धि से A राष्ट्र के उपभोक्ताओं को प्राप्त अतिरिक्त उपयोगिता fX_1X_3k क्षेत्र के बराबर है जबकि X_1-X_3 आयातों की लागत केवल kj X_1X_3 क्षेत्र के बराबर ही है, अतः jkf त्रिभुज के क्षेत्र के बराबर A राष्ट्र के कल्याण के स्तर में वृद्धि हुई है।

A राष्ट्र को चुंगी संघ निर्माण से व्यापार सृजन से प्राप्त लाभ निम्न बातों पर निर्भर करते हैं:-

1. चुंगी संघ के निर्माण से पूर्व A राष्ट्र के आयातों पर लगी प्रशुल्क Pf-Pt जितनी अधिक होगी उतना ही प्रशुल्क समाप्ति से A राष्ट्र अधिक लाभान्वित होगा।

2. A राष्ट्र के पूर्तिवक्र SS तथा मांग वक्र DD का ढाल जितना कम होगा अर्थात् ये वक्र जितने अधिक लोचदार होंगे उतनी ही चुंगी संघ के निर्माण से A राष्ट्र के कल्याण में अधिक वृद्धि होगी।

3. A राष्ट्र व संघ भागीदार B राष्ट्र की लागत में जितना अधिक अन्तर होगा उतना ही चुंगी संघ निर्माण से A राष्ट्र अधिक लाभान्वित होगा, तथा

4. B राष्ट्र व शेष विश्व अर्थात C राष्ट्र की कीमतों में जितना कम अन्तर होगा उतना ही A राष्ट्र चुंगी संघ के निर्माण से अधिक लाभान्वित होगा।

लेकिन चित्र 19.1 में चुंगी संघ के निर्माण के पश्चात् $X-X_1$ आयातों की मात्रा न्यूनतम लागत वाले विदेशी राष्ट्र C से आयात करने की बजाय ऊँची लागत वाले चुंगी संघ के सदस्य राष्ट्र B से आयात की जायेगी। इस व्यापार-दिशा-परिवर्तन (Trade diversion) से A राष्ट्र को C आयत के क्षेत्र के बराबर हानि होगी। (क्षेत्र $X-X_1$ आयातों की लागत में चुंगी संघ के निर्माण से होने वाली वृद्धि है। अतः स्पष्ट है कि चुंगी संघ के निर्माण से विश्व के सर्वाधिक कुशल सदस्य राष्ट्र से आयात करने की बजाय संघ के सर्वाधिक कुशल राष्ट्र से आयात किये जाते हैं तथा अधिक कुशल से कम कुशल राष्ट्र की ओर व्यापार-दिशा परिवर्तन होता है।

19.2.2 चुंगी संघ के निर्माण से विशुद्ध हानि (Net Welfare Loss)

व्यापार सृजन से प्राप्त लाभ व व्यापार-दिशा परिवर्तन से होने वाली हानि के अन्तर के बराबर होती है। चित्र 19.1 में चुंगी संघ के निर्माण का विशुद्ध स्थैतिक कल्याण प्रभाव a तथा b क्षेत्रों के योग में से c क्षेत्र घटाकर (अर्थात् a+b–c) प्राप्त किये गये क्षेत्र के बराबर है।

यदि उपर्युक्त विश्लेषण में अनन्त लोच वाले पूर्ति वक्रों की मान्यता त्याग दी जाये तो चुंगी संघ के कल्याण के स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव ज्ञात करना काफी जटिल कार्य होगा, लेकिन यह मूलभूत नियम, कि चुंगी संघ से विश्व को प्राप्त लाभों को तो व्यापार सृजन से तथा हानि को व्यापार-दिशा परिवर्तन से जोड़ा जाना चाहिए, यथावत् बना रहेगा।

19.3 प्रतियोगी व पूरक अर्थव्यवस्थाएं : (Competitive and Complementary Economies)

प्रो० वाइनर (Viner) ने अपने विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि यदि संघ सदस्य राष्ट्र पूरक वस्तुएँ उत्पादित करते हैं तो चुंगी संघ के निर्माण से कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव तथा यदि वे प्रतिस्थापन वस्तुएँ उत्पादित करते हैं तो अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रो० वाइनर के अनुसार यदि संघ के सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाएँ प्रतियोगी (Competitive) हैं तो व्यापार सृजन की सम्भावना तथा आपसी प्रतिस्पर्द्धा बनी रहती है। इसके विपरीत यदि सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाएं पूरक (Complimentary) हैं तो व्यापार-दिशा परिवर्तन की अधिक संभावनाएँ होती हैं।

सामान्यतया ऐसा प्रतीत होता है कि एक कृषि प्रधान राष्ट्र को उद्योग प्रधान राष्ट्र के साथ चुंगी संघ बनाना चाहिए लेकिन ऐसा सही नहीं है। वास्तव में कृषि प्रधान राष्ट्र को कृषि प्रधान राष्ट्रों के साथ तथा उद्योग प्रधान राष्ट्र को उद्योग प्रधान राष्ट्रों के साथ चुंगी संघ का निर्माण करना चाहिए। ऐसा करने से व्यापार सृजन भी अधिक होगा तथा साधनों का आबंटन भी अधिक कुशल सम्भव हो सकेगा।

19.4 सामान्य साम्य विश्लेषण : (The General Equilibrium Analysis)

चुंगी संघ के सामान्य साम्य विश्लेषण में प्रभावों को स्पष्ट करने हेतु हम प्रो. लिप्सी (Lipsey) द्वारा प्रदत्त चित्र 19.2 की सहायता लेंगे। प्रो. लिप्सी ने अपना विश्लेषण वाइनर के विश्लेषण के आधार पर यह दर्शाने हेतु प्रदान किया कि व्यापार-दिशा परिवर्तन से कल्याण के स्तर में निश्चय ही कमी होगी। वाइनर की भाँति प्रो. लिप्सी ने भी स्थिर उपभोग के ढाँचे की मान्यता मानी तथा अनन्त पूर्ति लोच की मान्यता द्वारा पैमाने के स्थिर प्रतिफल क्रियान्वित होते हुए माने।

यदि हम मान लें कि प्रत्येक वस्तु-कीमत अनुपात पर वस्तुओं का उपभोग दिये हुए स्थिर अनुपात में ही किया जाता है तथा उत्पादन लागतें स्थिर हैं तो व्यापार-दिशा परिवर्तन से कल्याण के स्तर में निश्चय की कमी होगी।

चित्र 19.2 में A राष्ट्र y वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करता है। अतः इस राष्ट्र का साम्य उत्पादन बिन्दु A तथा व्यापाररत A राष्ट्र का साम्य उपभोग बिन्दु e है अतः A-C रेखा वाली व्यापार की शर्तों पर A राष्ट्र y वस्तु के Ag निर्यातों के विनिमय में X वस्तु की ge मात्रा का विदेशी राष्ट्र C से आयात कर रहा है। मूल बिन्दु से खींची गई सरल रेखा OZ दोनों वस्तुओं का स्थिर अनुपात में उपभोग दर्शाती है।

अब यदि A व B राष्ट्र चुंगी संघ का निर्माण कर लेते हैं तो A राष्ट्र को ऊँची लागत वाले संघ के सदस्य B राष्ट्र से X वस्तु का आयात करना पड़ेगा। अतः चुँगी संघ के निर्माण के बाद आयात वस्तु X के सापेक्ष मूल्य में वृद्धि हो जाती है तथा नई व्यापार की शर्तों की रेखा A-B हो जाती है। नया साम्य उपभोग बिन्दु e से परिवर्तित होकर f हो जाता है।

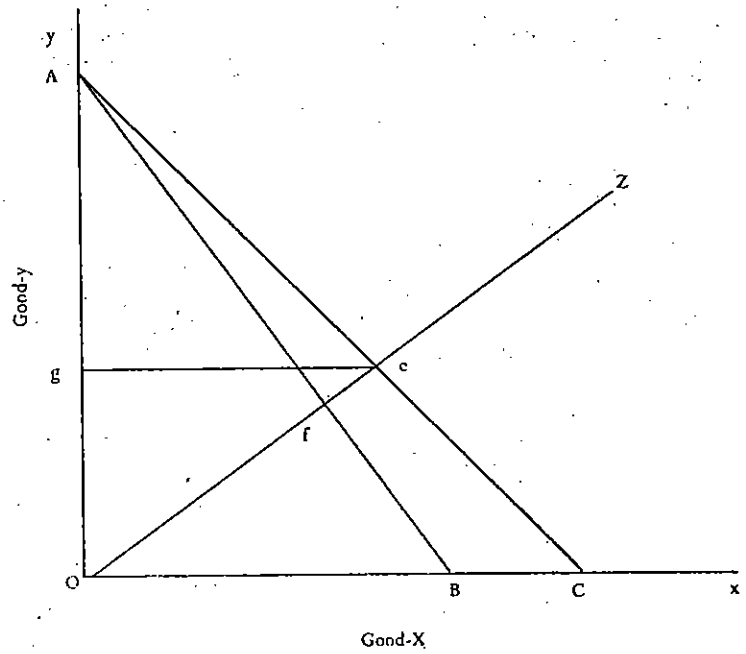

चित्र : 19.2: व्यापार-दिशा परिवर्तन का कल्याण के स्तर पर प्रभाव (उपभोग का ढ़ांचा अपरिवर्तित)

चित्र 19.2 में e की तुलना में f बिन्दु पर x तथा y दोनों ही वस्तुओं का उपभोग कम है अर्थात् चुंगी संघ के निर्माण से A राष्ट्र का कल्याण का स्तर गिर जाता है। अतः स्पष्ट है कि स्थिर अनुपातों में उपभोग की मान्यता के अन्तर्गत व्यापार-दिशा परिवर्तन से राष्ट्र का कल्याण का स्तर गिर जाता है।

लेकिन प्रो. लिप्सी का दावा है कि प्रो. वाइनर की स्थिर अनुपात में उपभोग की मान्यता बहुत ही विशिष्ट प्रकार की मान्यता है। चुंगी संघ के निर्माण से सापेक्ष मूल्य निश्चय ही परिवर्तित होगा, अतः सामान्यतया यह आशा की जानी चाहिए कि इसके परिणामस्वरूप वस्तु-प्रतिस्थापन होगा और इस प्रकार पूर्व विद्यमान व्यापार में परिवर्तन से सस्ती वस्तु के क्रय में वृद्धि तथा मंहगी वस्तु के क्रय में कमी होगी। परिणामस्वरूप सदस्य राष्ट्र B से A राष्ट्र के आयातों में वृद्धि होगी तथा राष्ट्र में उत्पादित वस्तुओं के उपभोग व गैर-सदस्य राष्ट्र C से आयातों में कमी होगी।

19.5 चुंगी संघ के गत्यात्मक प्रभाव (Dynamic effects of Customs union)

चुंगी संघ के गत्यात्मक (dynamic) प्रभावों में पैमाने की मितव्ययताएं (Economies of Scale), प्रतिस्पर्द्धा का उद्दीपन (Stimulus of competition), विनियोग का उद्दीपन (stimulus of investment), तथा तकनीकी परिवर्तनों का सम्भावित त्वरण (Acceleration) प्रमुख है।

चुंगी संघ के निर्माण से संघ सदस्यों के मध्य व्यापार में वृद्धि से औद्योगिक विशिष्टीकरण के माध्यम से पैमाने की मितव्यताएँ प्राप्त होगी जिससे प्रति इकाई लागत घटेगी।

विकासशील एवं छोटे राष्ट्रों के मध्य चुंगी संघ के निर्माण से पैमाने की मितव्ययताओं का प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि बड़े राष्ट्रों को तो ये मितव्ययताएँ एकीकरण से पूर्व ही प्राप्त हो रही होती हैं। इस अनुकूल व प्रतिकूल प्रभावों की तुलना करनी होगी। लेकिन इस तरह से तुलना द्वारा राष्ट्रों के आर्थिक विकास पर विशुद्ध प्रभाव ज्ञात करना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है।

गत्यात्मक प्रभावों में दूसरा प्रभाव बाजारों के विस्तार से प्रतिस्पर्द्धा में होने वाली वृद्धि का है। चुंगी संघ के निर्माण से व्यापार सृजन तथा व्यापार-दिशा परिवर्तन दोनों ही प्रभावों के कारण बाजार का आकार विस्तृत हो जाता है। चुंगी संघ के सदस्यों के मध्य व्यापार पर प्रशुल्क समाप्त कर देने से सदस्य राष्ट्रों में एकाधिकार व कार्टेलस् पर अन्य सदस्य राष्ट्रों की फर्मस् की प्रतिस्पर्द्धा का दबाव बना रहता है। इस प्रकार अकुशल फर्मस् पर भी दबाव बढ़ जाता है। सदस्य राष्ट्रों के उद्योगों के लिए विस्तृत बाजार के परिप्रेक्ष में जीवित रहने हेतु पुनर्गठित होना आवश्यक हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि चुंगी संघ का प्रतिस्पर्द्धा बढ़ाने का प्रभाव वास्तविक तो है लेकिन इस प्रभाव के लाभों की गणना करना सम्भव नहीं है।

चुंगी संघ का एक अन्य गत्यात्मक प्रभाव संघ के अन्तर्गत विनियोग में होने वाली वृद्धि है। संघ के अन्तर्गत विस्तृत बाजार अवसरों के सृजन से कीमतों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि से घरेलू तथा विदेशी विनियोग को बढ़ावा मिलेगा जिससे आर्थिक विकास की दर में वृद्धि होगी। यह विनियोग की अभिवृद्धि कुछ अंश तक विनियोग-दिशा परिवर्तन से दुरुस्त हो सकती है क्योंकि प्रशुल्क विभेद के कारण विनियोग दिशा विश्व की सर्वाधिक उपयुक्त अवस्थिति से एकीकृत क्षेत्र की ओर विवर्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त संघ सदस्य राष्ट्रों से व्यापार पर प्रशुल्क समाप्त होने से आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों में भी विनियोग घटना सम्भव है।

चुंगी संघ का एक और गत्यात्मक प्रभाव नव-प्रवर्तन (innovation) व तकनीकी परिवर्तन को प्रोत्साहित करने का भी है। चुंगी संघ के निर्माण से बाजार के आकार में वृद्धि के साथ-साथ फर्म के अनुकूलतम आकार में भी वृद्धि होगी तथा अनुसन्धान व विकास में अतिरिक्त संसाधन प्रयुक्त किये जाने लगेंगे। लेकिन इस प्रभाव के बारे में भी निश्चित निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसे आनुभविक प्रमाणों का अभाव है जिनसे यह दर्शाया जा सके कि छोटी फर्मस् की तुलना में बड़ी फर्मस् में तकनीकी नव-प्रवर्तन की दर अधिक होती है। अतः अधिकाधिक यह कहा जा सकता है कि नव-प्रवर्तन की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं तथा विस्तृत बाजार व कड़ी प्रतिस्पर्द्धा के कारण नव प्रवर्तन के लिए अनुकूल वातावरण बना रहता है।

अन्त में इस ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि चुंगी संघ के निर्माण से प्राप्त गत्यात्मक लाभ स्थैतिक लाभों की तुलना में काफी अधिक व महत्वपूर्ण होते हैं।

19.6 सारांश

विभिन्न राष्ट्रों द्वारा स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र, चुंगी संघ, साझा बाजार अथवा आर्थिक समुदाय के निर्माण को ही आर्थिक एकीकरण की विभिन्न श्रेणियों के रूप में जाना जाता है।

यूरोपीय आर्थिक व मौद्रिक संघ (EMU) ने 'यूरो' मुद्रा अपनाकर मौद्रिक संघ की उत्कृष्टतम अवस्था प्राप्त कर ली है।

चुंगी संघ के स्थैतिक प्रभावों में व्यापार सृजन प्रभाव को लाभ तथा व्यापार-दिशा परिवर्तन प्रभाव को हानि से जोड़ा जाता है। लेकिन चुंगी संघ के गत्यात्मक लाभ स्थैतिक लाभ से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इन लाभों में पैमाने की मितव्ययताओं, प्रतिस्पर्द्धा उद्दीपन, विनियोग उद्दीपन व तकनीकी परिवर्तनों के लाभ सम्मिलित किये जाते हैं।

19.7 शब्दावली

आर्थिक एकीकरण, चुंगीसंघ, आंशिक साम्य, सामान्य साम्य, पूरक व प्रतिस्पर्द्धा अर्थव्यवस्थाएँ।

19.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. यदि आर्थिक एकीकरण के सदस्य राष्ट्र आपसी प्रशुल्क समाप्त कर दें तथा गैर-सदस्य राष्ट्रों पर समान प्रशुल्क-दर लगा दें तो आप ऐसे एकीकरण को क्या नाम देंगे?
2. अधिकतम् लाभ अर्जित करने हेतु चुंगीसंघ के सदस्य राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाएँ प्रतिस्पर्द्धी होनी चाहिए अथवा पूरक?
3. व्यापार-दिशा परिवर्तन तथा व्यापार सृजन से क्या अभिप्राय है?
4. किन्हीं दो सफल चुंगी संघों के नाम बतलाइये?
5. चुंगी संघ के व्यापार सृजनात्मक होने हेतु किन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है?
6. चुंगी संघ की गत्यात्मक लब्धियों (Gains) का वर्णन कीजिए।
7. विकासशील राष्ट्रों के आपसी आर्थिक एकीकरण की सफलता में सम्भावित बाधक घटकों का उल्लेख कीजिए।

19.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Sodersten, BO: International Economics - (Mac millan Press Ltd.)
2. Kindleberger C.P. and Lindert, P.H. - International Economics - (Richard D. Irwin Inc.)
3. Chacholiades, M.- International Economics - (MC Graw - Hill International Editions)
4. Swami, K.D. - International Economics - (Hindi edition) - Scientific Publishers, New Pali Road, Jodhpur)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

MAEC-05

भुगतान संतुलन एवं विनिमय दरें 4

खण्ड परिचय

भुगतान संतुलन एवं विनिमय दरें

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के इस खण्ड में कुल 6 इकाइयाँ हैं।

इकाई संख्या 20 में भुगतान संतुलन एवं व्यापार संतुलन की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। भुगतान संतुलन में व्यापार की दृश्य एवं अदृश्य दोनों मदें सम्मिलित होती हैं जबकि व्यापार संतुलन में केवल दृश्य मदें सम्मिलित होती हैं। खातों की दोहरी इन्द्राज की नीति के कारण भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है। इस इकाई में भुगतान असंतुलन के कारणों की चर्चा भी संक्षेप में की गई है जिसे इकाई संख्या 21 में पुनः विस्तार से समझाया गया है। इकाई 21 मुख्य रूप से भुगतान संतुलन में असाम्यता के प्रकार एवं इसके लिए उत्तरदायी कारकों की चर्चा की गई है। इस इकाई में असाम्यता को दूर करने के उपायों को भी दो भागों में समझाया गया है। यह दो प्रकार हैं, (i) मौद्रिक उपाय, तथा (ii) गैर मौद्रिक उपाय। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी बताए गए हैं।

इकाई संख्या 22 में विदेशी विनिमय दर निर्धारण के सिद्धान्तों को संक्षेप में समझाया गया है। इन सिद्धान्तों की चर्चा विभिन्न मौद्रिक प्रणालियों में भिन्न-भिन्न की गई है। आज विश्व में कहीं भी धातु मुद्रा का चलन नहीं है अतः विनिमय दर का निर्धारण विभिन्न मुद्राओं की क्रयशक्ति के आधार पर होता है। विनिमय दर निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त भुगतान संतुलन सिद्धान्त है जो मांग एवं पूर्ति में साम्य के आधार पर विनिमय दर निर्धारण की व्याख्या करता है। इस इकाई में विदेशी विनिमय दर में असंतुलन की स्थिति में पुनः साम्य स्थापित करने वाली शक्तियों की चर्चा भी की गई है। इकाई 23 की विषय वस्तु भी इकाई 22 के ही समान विनिमय दरों से सम्बन्धित है। पिछले वर्षों में विभिन्न कालवधियों में अपनाई गई विनिमय दर प्रणालियों की चर्चा करने के बाद इसमें लचीली दरों के बारे में चर्चा की गई है। इकाई संख्या 24 विनिमय दरों में असंतुलन होने की स्थिति में संतुलन की स्थापना के क्रम में देश की मुद्रा का अवमूल्यन की चर्चा की गई है। अवमूल्यन की सफलता के लिए कुछ विशेष शर्तें हैं। इसमें आपको मार्शल-लर्नर की लोच विधि व आय अवशोषण विधि तथा मौद्रिक विधि के बारे में जानकारी दी गई है। तीनों नीतियों का उपयोग भिन्न-भिन्न अवसरों पर किया जाता है।

अन्तिम इकाई संख्या 25 में विदेशी सहायता एवं ऋण सेवा भार की चर्चा की गई है। व्यापारिक शर्तों से अधिक अनुकूल शर्तों पर उपलब्ध ऋण को ही विदेशी सहायता कहा जाता है। यह कई रूपों में उपलब्ध कराई जा सकती है। आज विश्व के अधिकांश देश ऋणग्रस्तता की समस्या से ग्रसित हैं। अतः ऋण सेवा भार को लेकर विकसित विकासशील देशों में निरन्तर हितों का टकराव देखने को मिलता है। कुछ देश ऋण जाल में फंस चुके हैं अतः विदेशी ऋण एवं सहायता के प्रयोग में सावधानी अपेक्षित है।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

श्रीमती अरुणा कौशिक (20)
व्याख्याता अर्थशास्त्र
जे. डी. बी. महाविद्यालय,
कोटा (राज.)

डॉ. आर. पी. शर्मा (21)
सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा (राज.)

श्री जी. एल. मालव (22-24)
व्याख्याता अर्थशास्त्र
राजकीय महाविद्यालय
कोटा (राज.)

डॉ. के. डी. स्वामी (25)
सह आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
जे. एन. वी. विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.)

अनुवाद

श्री के. आर. लोहार (9)
सिरोही

खण्ड-4

भुगतान संतुलन एवं विनिमय दरें

इकाई 20
भुगतान संतुलन, व्यापार संतुलन व भुगतान संतुलन खाता 7-21

इकाई 21
भुगतान संतुलन में असाम्यता 22-44

इकाई 22
विदेशी विनिमय दर निर्धारण के सिद्धान्त 45-54

इकाई 23
स्थिर एवं लचीली विनिमय दरें 55-60

इकाई 24
अवमूल्यन-लोच विधि, अवशोषण विधि एवं
मौद्रिक नीतियों का समन्वय 61-72

इकाई 25
विदेशी सहायता एवं ऋण सेवा भार 73-85

इकाई 20

भुगतान सन्तुलन, व्यापार संतुलन व भुगतान संतुलन खाता

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 भुगतान संतुलन की "अवधारणा"

20.3 भुगतान संतुलन खाता

20.3.1 चालू खाता

20.3.2 पूँजीगत खाता

20.3.3 अधिकारिक समायोजन खाता

20.4 भुगतान संतुलन एवं व्यापार संतुलन

20.5 क्या भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है?

20.6 भुगतान असंतुलन के कारण व प्रकार

20.7 समायोजन प्रक्रिया

20.7.1 मौद्रिक उपाय

20.7.2 गैर मौद्रिक उपाय

20.8 सारांश

20.9 शब्दावली

20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

20.11 निबन्धात्मक प्रश्न

20.0 उद्देश्य

भुगतान संतुलन की अवधारणा का अध्ययन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है।

(1) परिवर्तनशील विनिमय दर प्रणाली की स्थिरता की जांच विभिन्न देशों के बीच किये गये लेन-देनों के क्रमबद्ध अभिलेखों द्वारा आसानी से की जा सकती है।

(2) स्थिर विनिमय दर प्रणाली की स्थिरता एवं आवश्यकता की जांच भी भुगतान संतुलन खातों की सहायता से आसानी से की जा सकती है। इन खातों से हमें यह पता चलता है कि एक देश की मुद्रा किस सीमा तक विदेशियों के हाथों में संचित हो गई है?

(3) भुगतान संतुलन खातों के अध्ययन से हम आसानी से यह पता लगा सकते हैं कि कहीं ऋणी राष्ट्रों द्वारा ऋणों का पुनर्भुगतान और कठिन तो नहीं बनता जा रहा है? इन खातों के अध्ययन से हमें किसी राष्ट्र की ऋणग्रस्तता की स्थिति ब्याज व मूलधन का पुनर्भुगतान,

भविष्य में उसकी विदेशी मुद्रा अर्जित करने की क्षमता की विस्तृत जानकारी मिलती है।

(4) विकासशील अर्थ व्यवस्था के संदर्भ में भुगतान संतुलन यह भी स्पष्ट करता है कि वह आर्थिक विकास के लिये विदेशों से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता पर किस सीमा तक निर्भर है।

(5) विकसित देशों के संदर्भ में, जो वित्तीय दृष्टि से सुदृढ़ है, तथा जो विदेशों में विनियोजित पूंजी से भारी मात्रा में लाभांश व ब्याज आय प्राप्त करते हैं, भुगतान संतुलन यह बतला सकता है कि वहां के निवासी किस सीमा तक पूर्व निर्यात पर निर्भर है।

जेवन्स ने भुगतान संतुलन के महत्व की चर्चा करते समय लिखा है कि "एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिये भुगतान संतुलन का वही महत्व है जो कि एक रसायन शास्त्री के लिये तत्वों की 'आवधीक तालिका' (Periodic Table) का है।"

20.1 प्रस्तावना

विभिन्न आर्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सही एवं प्रभावी मौद्रिक, राजकोषीय तथा विनिमय दर नीति तय करने के लिये सम्बन्धित अधिकारियों को इस बात की गहरी समझ होना जरूरी है कि अन्तर्राष्ट्रीय समष्टि अर्थव्यवस्था किस प्रकार संचालित होती एवं कार्य करती है। यह जानकारी होना अति आवश्यक है कि विदेशी विनिमय बाजारों की कार्य-प्रणाली क्या है? तथा तत्कालीन आर्थिक समस्याओं के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध किस प्रकार परिवर्तित होते हैं।

किसी भी अर्थव्यवस्था का भुगतान संतुलन खाता हमें इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराता है। भुगतान संतुलन की अवधारणा हमारे समक्ष किसी अर्थ-व्यवस्था की आन्तरिक स्थिति की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत करती है जो हमें नीति निर्धारण में मदद करती है। भुगतान संतुलन किसी देश के, शेष विश्व के साथ सभी प्रकार के वास्तविक एवं वित्तीय हस्तांतरण की जानकारी प्रस्तुत करता है। अनेक महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णयों में इस प्रकार के सांख्यिकीय अभिलेखों की आवश्यकता होती है।

20.2 भुगतान संतुलन की अवधारणा

किसी देश का भुगतान संतुलन उसके द्वारा किसी अन्य देश के साथ एक वर्ष की समयावधि में किये गये समस्त लेन-देन का "स्थिति विवरण" (Balance Sheet) के रूप में एक सांख्यिकीय अभिलेख है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुसार "भुगतान संतुलन दी गई समयावधि में सम्बन्धित देशों के निवासियों के बीच समस्त आर्थिक लेन-देनों का क्रमबद्ध विवरण है।"

बो. सोडर्सटन के अनुसार "भुगतान संतुलन एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में लेनदारियों व देनदारियों को सूचीबद्ध करने का तरीका है।"

किंडलबर्गर के अनुसार "किसी देश का भुगतान संतुलन एक वर्ष की अवधि में एक देश के शेष विश्व के साथ किये गये समस्त आर्थिक लेन-देन का क्रमबद्ध विवरण है।"

सांख्यिकीय अर्थ में यह एक ओर विदेशियों से प्राप्तियों और दूसरी ओर विदेशियों को भुगतानों का मदों के अनुसार हिसाब किताब है। यह किसी भी देश के विदेशी व्यापार की स्थिति, ऋणी व ऋणदाता राष्ट्र के रूप में उनकी स्थिति में होने वाला परिवर्तन तथा देशों के

अधिकारिक सुरक्षा कोषों की स्थिति को दर्शाता है।

20.3 भुगतान संतुलन खाता

किसी भी देश का भुगतान संतुलन खाता बुक कीपिंग की "दोहरी प्रविष्ठि" (Double entry) पद्धति के आधार पर निर्मित किया जाता है। इसमें प्रत्येक प्रविष्ठि खाते में दोनों ओर अर्थात् प्राप्तियों व भुगतानों में दोनों तरफ दर्शाई जाती है। इसमें लेनदारियां अर्थात प्राप्तियां खाते के बांयी ओर दर्शाई जाती है जबकि देनदारियां अथवा भुगतान खाते के दाईं ओर दर्शाए जाते हैं।

जब किसी देश द्वारा, अन्य देश से कोई भी भुगतान किसी भी रूप में प्राप्त किया जाता है तो इसे प्राप्तियों (Credit) की ओर दर्शाया जाता है। जबकि उस देश द्वारा अन्य देशों को किया गया भुगतान देनदारियों की तरफ दर्शाया जाता है। किसी देश के भुगतान संतुलन खाते में प्राप्तियों एवं भुगतानों का अन्तर अतिरेक या घाटे की स्थिति को स्पष्ट करता है।

किसी देश के भुगतान संतुलन खाते में प्राप्तियों की ओर दर्शायी जाने वाली प्रमुख मदें हैं - वस्तुओं व सेवाओं का निर्यात, विदेशियों से उपहार आदि के रूप में प्राप्त एक तरफा प्राप्तियां (Unilateral receipts) विदेशी ऋण, विदेशियों द्वारा उस देश में किए गए विनियोग, स्वर्ण व अन्य आरक्षित कोषों की बिक्री से प्राप्त प्राप्तियां आदि। भुगतानों की ओर दर्शायी जाने वाली प्रमुख मदें हैं - वस्तुओं व सेवाओं का आयात, विदेशों को भेजे जाने वाले उपहार अथवा एक तरफा भुगतान, विदेशों को दिए गए ऋण, अन्य देशों में किए गए विनियोग व विदेशी सरकारों या संस्थाओं से स्वर्ण एवं अन्य सम्पत्तियों की खरीद।

यह प्राप्तियां व भुगतान एक देश के भुगतान संतुलन खाते में लम्बवत (Vertically) रूप में दर्शाये जाते हैं। जबकि क्षैतिज रूप (Horizontally) में भुगतान संतुलन खाता तीन श्रेणियों में विभक्त होता है। चालू खाता, पूंजीगत खाता तथा अधिकाधिक समायोजन खाता।

20.3.1 चालू खाता

चालू खाते में वस्तुओं व सेवाओं के आयात व निर्यात तथा एक तरफा लेन-देन शामिल होते हैं। सेवाओं के आयात-निर्यात में यात्रा, परिवहन, पर्यटन, जहाजरानी, बीमा, वायु-यातायात, बैंकिग, विदेशी विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय व भुगतान आदि शामिल होते हैं।

एक तरफा भुगतान व प्राप्तियों में विदेशी सरकारों व व्यक्तियों से प्राप्त होने वाले उपहार, विदेशी सहायता, पेन्शन, दान, निजी व्यक्तियों द्वारा भेजी गई राशि (remittances) आदि शामिल होते हैं।

20.3.2 पूंजीगत खाता

एक देश के पूंजीगत खाते में उसके सभी प्रकार के वित्तीय लेन-देन शामिल होते हैं जिसमें उस देश के सभी अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋण, निजी व सरकारी विनियोग शामिल होते हैं। दूसरे शब्दों में पूंजीगत खाता ऋणों व विनियोग के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह दर्शाता है। इससे किसी देश की अन्य देश के साथ लेनदारियों व देनदारियों में परिवर्तन का पता चलता है।

दीर्घकालीन लेन-दान में एक वर्ष से अधिक की अवधि के पूंजीगत लेन-देन शामिल है। इसमें विनिर्माण आदि में प्रत्यक्ष विनियोग, पत्राधान विनियोग जैसे - विदेशी शेयर, ऋण पत्रों की खरीद व अन्तर्राष्ट्रीय ऋण शामिल होते हैं।

इसके विपरीत अल्पकालीन पूंजीगत प्रवाहों में एक वर्ष से कम अवधि के वित्तीय व

पूंजीगत लेन-देन शामिल होते हैं।

20.3.3 अधिकारिक समायोजन खाता

अधिकारिक समायोजन खाता अथवा अधिकारिक सुरक्षित कोष वास्तव में पूंजीगत खाते का ही एक भाग है। परन्तु कुछ देशों जैसे USA, UK आदि में इसे अलग खाते के रूप में दर्शाया जाता है। इसमें सुरक्षित कोषों के परिवर्तन दर्शाए जाते हैं।

चालू एवं पूंजीगत खाते का योग आधारभूत संतुलन (Basic Balance) कहलाता है।

तालिका 20.1 में किसी देश 'A' का एक वर्ष विशेष के लिये काल्पनिक भुगतान संतुलन खाता दर्शाया गया है।

तालिका 20.1

'A' देश का वर्ष 2000 के लिये "भुगतान संतुलन खाता"

(करोड़ रु. में)

प्राप्तियां (लेनदारियां)		भुगतान (देनदारियां)	
चालू खाता			
1. वस्तुओं का निर्यात	100	1. वस्तुओं का आयात	150
2. सेवाओं का निर्यात	90	2. सेवाओं का आयात	120
3. एकतरफा प्राप्तियां	60	3. एकतरफा भुगतान	90
(अ) विदेशी सरकारी अनुदान	25	(अ) विदेशों का अनुदान	40
(ब) विदेशों से हस्तांतरण भुगतान	20	(ब) विदेशियों को हस्तांतरण भुगतान	20
(स) उपहार व निजी व्यक्तियों द्वारा भेजी गयी प्राप्तियां	15	(स) उपहार व निजी व्यक्तियों द्वारा भेजे जाने वाले भुगतान	40
पूंजीगत खाता			
1. विदेशों से ऋण	140	1. विदेशों को दिया गया ऋण	100
2. विदेशियों द्वारा प्रत्यक्ष विनियोग	60	2. विदेशों में किया गया प्रत्यक्ष विनियोग	50
3. विदेशों में प्रतिभूतियों की बिक्री	40	3. विदेशी प्रतिभूतियों की खरीद	50
अधिकारिक समायोजन खाता			
स्वर्ण का बिक्री IMF में SDR खाते में कमी व अन्य	70	स्वर्ण की खरीद SDR में वृद्धि व अन्य	
योग	560 करोड़ रु.		560 करोड़ रु.

तालिका 20.1 में किसी वर्ष विशेष के लिये 'A' देश का काल्पनिक भुगतान संतुलन, खाता, उदाहरणस्वरूप दर्शाया गया है। इस खाते में बायीं ओर 'A' देश की प्राप्तियां व दाहिनी ओर 'A' देश के भुगतान दर्शाए गए हैं।

चालू खाते में एक सबसे महत्वपूर्ण मद वस्तुओं का आयात-निर्यात है। जिसमें केवल दृश्य मदों को ही शामिल किया जाता है। किसी देश में वस्तुओं के आयात-निर्यात का अन्तर

ही व्यापार संतुलन (Balance of Trade) कहलाता है। यदि किसी देश में वस्तुओं के निर्यात का मूल्य आयातों के मूल्य से अधिक है तो व्यापार संतुलन अनुकूल होगा व इसके विपरीत स्थिति होने पर प्रतिकूल होगा।

तालिका 20.1 में 'A' देश के निर्यातों का मूल्य 100 करोड़ रु. व आयातों का मूल्य 150 करोड़ रु. दर्शाया गया है। अतः देश 'A' का व्यापार संतुलन प्रतिकूल है।

चालू खाते में मद (2) के अन्तर्गत 'A' देश के द्वारा की जाने वाली अदृश्य मदों अर्थात सेवाओं के आयात-निर्यात को दर्शाया गया है। सेवाओं के लेन-देन में पर्यटन, परिवहन, बैंकिंग, बीमा आदि के आयात-निर्यात दर्शाए जाते हैं। 'A' देश के भुगतान संतुलन खाते में सेवाओं के निर्यात का मूल्य 90 करोड़ रु. व सेवाओं के आयात का मूल्य 120 करोड़ रु. दर्शाया गया है। चूंकि सेवाओं का निर्यात मूल्य सेवाओं के आयात मूल्य से कम है अतः 'A' देश का सेवा संतुलन (Service balance) भी प्रतिकूल है। चालू खाते की मद (3) एक तरफा प्राप्तियों व भुगतानों को दर्शाती है। जिसमें उपहार, अनुदान, सरकारी सहायता, निजी व्यक्तियों द्वारा किये गये लेन-देन आदि शामिल होते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में 'A' देश को प्राप्त एकतरफा प्राप्तियों को मूल्य 60 करोड़ रु. है। जिसमें 25 करोड़ रु. 'A' देश को सरकारी अनुदान से प्राप्त हुए। 20 करोड़ रु. हस्तांतरण भुगतान व 15 करोड़ रु. उपहार व निजी व्यक्तियों द्वारा भेजी गई राशि (Remittances) के रूप में प्राप्त हुए।

एक तरफा भुगतानों का मूल्य 90 करोड़ रु. है जिसमें अनुदान 40 करोड़ रु. हस्तांतरण भुगतान 20 करोड़ रु. व निजी व्यक्तियों द्वारा विदेशों को भेजे गए उपहार, अनुदान का मूल्य 30 करोड़ रु. है।

चालू खाते की सभी मदों का योग करने पर 'A' देश की कुल प्राप्तियां 250 करोड़ रु. व भुगतान 360 करोड़ रु. है। अतः उदाहरण में दर्शाए गए खाते में 'A' देश के चालू खाते का संतुलन प्रतिकूल है।

चालू खाते के संतुलन को आधारभूत संतुलन (Basic balance) भी कहा जाता है।

पूंजीगत खाते में किसी देश के सभी प्रकार के अल्प व दीर्घकालीन वित्तीय लेन-देन शामिल होते हैं। यह लेन-देन दो प्रकार के होते हैं - निजी व सरकारी।

निजी लेन-देन में प्रत्यक्ष विनियोग, पत्राधान (Portfolio) विनियोग व अल्पकालीन वित्तीय लेन-देन शामिल होते हैं। सरकारी लेन-देन में सरकार व सरकारी एजेन्सियों द्वारा लिये व दिये जाने वाले ऋण शामिल हैं।

'A' देश में पूंजीगत खाते में मद (1) विदेशों से लिये व दिये जाने वाले ऋणों को दर्शाती है। इस उदाहरण में 'A' देश द्वारा विदेशों से 140 करोड़ रु. के ऋण लिये गये व 100 करोड़ के ऋण बाहरी देशों को दिये गये।

मद (2) प्रत्यक्ष विनियोग को दर्शाती है जिसके अन्तर्गत 'A' देश की लेनदारियों का मूल्य 60 करोड़ व देनदारियों का 50 करोड़ रु. है।

उपर्युक्त तालिका 20.1 में पूंजीगत खाते की मद (3) में प्रतिभूतियों की बिक्री व खरीद दर्शाए गए हैं जिनका मूल्य क्रमशः 40 व 50 करोड़ रु. है।

चालू खाते व पूंजीगत खाते में शामिल मदें स्वायत्त मदें कहलाती हैं। इन दोनों खातों की मदों का कुल योग स्वायत्त प्राप्तियां व स्वायत्त भुगतान कहलाता है। यदि किसी देश की स्वायत्त प्राप्तियों का मूल्य स्वायत्त भुगतानों की अपेक्षा अधिक हैं तो उस देश का भुगतान संतुलन

अनुकूल होगा तथा स्वायत्त प्राप्तियों का योग स्वायत्त भुगतानों के योग की अपेक्षा कम है तो भुगतान संतुलन प्रतिकूल होगा। तालिका 20.1 में देश 'A' के खाते में स्वायत्त प्राप्तियों का मूल्य 490 करोड़ रु. है तथा स्वायत्त भुगतानों का मूल्य 560 करोड़ रु. है। चूंकि स्वायत्त प्राप्तियों का मूल्य स्वायत्त भुगतानों की अपेक्षा कम है अतः 'A' देश का भुगतान संतुलन प्रतिकूल है। 'A' देश का 70 करोड़ रु. मूल्य का घाटा है।

इस स्थिति में खाते के दोनों ओर का मूल्य बराबर करने के लिये 'A' देश को अधिकारिक समायोजन करने पड़ेंगे जो अधिकारिक समायोजन खाते में दर्शाए गए हैं। विपरीत भुगतान संतुलन की स्थिति में एक देश अपने सुरक्षित कोषों से मुद्रा निकालकर, अपने स्वर्ण कोषों की बिक्री कर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) में अपने खातों में SDR के समायोजन द्वारा अपने घाटे की पूर्ति कर सकता है।

तालिका 20.1 में 'A' देश की प्राप्तियों का मूल्य भुगतानों की तुलना में 70 करोड़ रु. कम है। अतः 'A' देश को 70 करोड़ रु. मूल्य के भुगतानों की व्यवस्था SDR समायोजन, स्वर्ण की बिक्री व अन्य तरीकों से करनी होगी।

इसके विपरीत यदि किसी देश का भुगतान संतुलन अनुकूल हो तो उस देश में अन्य देश से मुद्रा का अन्तर्प्रवाह होता है। स्वर्ण की मात्रा व सुरक्षित कोषा में वृद्धि होती है तथा IMF में उसके खाते में SDR (विशेष आहरण अधिकार) में वृद्धि होती है।

20.4 भुगतान संतुलन एवं व्यापार संतुलन

एक देश के व्यापार संतुलन का संबंध केवल दृश्य मदों के आयात मूल्य व निर्यात मूल्य से होता है किन्तु भुगतान संतुलन इससे विस्तृत होता है क्योंकि इसके अन्तर्गत लेनदारियों एवं देनदारियों की समस्त मदें सम्मिलित होती हैं जिसके कारण एक देश को भुगतान प्राप्त होते हैं या शेष विश्व को भुगतान करने पड़ते हैं। संक्षेप में व्यापार संतुलन भुगतान संतुलन का एक हिस्सा मात्र है। परन्तु यह भुगतान संतुलन का सबसे बड़ा व महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। प्रतिकूल भुगतान संतुलन होने पर भी व्यापार संतुलन अनुकूल हो सकता है। इसके विपरीत अनुकूल भुगतान संतुलन होने पर व्यापार संतुलन प्रतिकूल भी हो सकता है। तालिका 20.1 में चालू खाते की प्रथम मद वस्तुओं का आयात व निर्यात का अन्तर ही व्यापार संतुलन को दर्शाता है। उपरोक्त, उदाहरण में 'A' देश के आयातों का मूल्य 150 करोड़ रु. व निर्यातों का मूल्य 100 करोड़ रु. है। अतः इस देश का व्यापार संतुलन प्रतिकूल है।

भुगतान संतुलन व व्यापार संतुलन में तीन प्रमुख अन्तर है :—

(1) व्यापार संतुलन के अन्तर्गत केवल आयातों व निर्यातों का अन्तर दर्शाया जाता है। जबकि भुगतान संतुलन में केवल आयात-निर्यात ही नहीं वरन् सेवाओं, पूंजी, स्वर्ण आदि का भी समावेश किया जाता है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि आयात-निर्यात दो प्रकार के होते हैं - दृश्य एवं अदृश्य। जहां व्यापार संतुलन में केवल दृश्य मदों का समावेश होता है। भुगतान संतुलन में दोनों ही मदों का समावेश होता है।

(2) दुहरे इन्द्राज खातों की प्रणाली से निर्मित किये जाने के कारण भुगतान संतुलन खाते के दोनों पक्षों को संतुलित रखा जाता है। यदि कभी लेनदारियों व देनदारियों में अन्तर होता है तो समायोजक लेनदेन के द्वारा खाते के दोनों पक्षों को समान किया जाता है परन्तु व्यापार संतुलन अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है। तालिका 20.1 में भुगतान संतुलन खाते की प्राप्तियां व भुगतान संतुलन पक्ष में है परन्तु व्यापार संतुलन में प्राप्तियां 100

करोड़ रु. व भुगतानों का मूल्य 150 करोड़ रु. है, जो असंतुलन में है।

(3) यदि किसी देश का व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो तो उस देश के लिये चिन्ता का विषय नहीं है परन्तु भुगतान संतुलन किसी देश की आर्थिक स्थिति का द्योतक है जिसके लम्बे समय तक विपक्ष में बने रहना देश के लिये चिन्तनीय है।

20.5 क्या भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है

भुगतान संतुलन खातों का निर्माण दुहरे इन्द्राज (double entry) प्रणाली से किये जाने के कारण खातों में भुगतान संतुलन सदैव संतुलन में दर्शाया जाता है। यदि चालू व पूंजीगत खाते की मदों में भुगतान व प्राप्तियों का योग बराबर नहीं होता तो इन दोनों में समायोजन के लिये जानबूझकर प्रयास किये जाते हैं। ऋण लेकर अथवा अपने सुरक्षित कोषों से धन निकालकर इस अन्तर को दूर किया जाता है।

भुगतान सतुलन खाते में चालू खाते व पूंजीगत खाते के मदों का योग स्वायत्त प्रवाह कहलाता है। लेनदारियों की तरफ यह स्वायत्त प्राप्तियों व देनदारियों की तरफ स्वायत्त भुगतान कहलाता है यदि किसी देश की स्वायत्त लेनदारियों, स्वायत्त देनदारियों की अपेक्षा कम होती है तो उसका भुगतान संतुलन प्रतिकूल या घाटे मे माना जाता है। यदि इसके विपरीत किसी देश की स्वायत्त लेनदारियों उसकी स्वायत्त देनदारियों से अधिक होती है तो उस देश का भुगतान संतुलन उसके अनुकूल अथवा पक्ष में माना जाता है।

स्थिर अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों व संतुलित आर्थिक विकास की दृष्टि से भुगतान संतुलन में असंतुलन चिंताजनक माना जाता है परन्तु अतिरेक की अपेक्षा भुगतान संतुलन में घाटा किसी भी देश के लिये अधिक चिन्ता का विषय है क्योंकि समायोजन का भार घाटे वाले देश पर अधिक पड़ता है। परन्तु जैसा कि हम जानते हैं एक देश की प्राप्तियां ही दूसरे देश का भुगतान होती है दोनों ही प्रकार के असंतुलनों को लम्बे समय तक बनाये रखना संभव नहीं है।

20.6 भुगतान असंतुलन के प्रकार व कारण

भुगतान संतुलन में असंतुलन अर्थशास्त्रियों के लिये हमेशा से चिन्ता का विषय रहा है। भुगतान असंतुलन अनेक प्रकार का होता है :—

(1) **अस्थायी :–** यदि किसी देश के भुगतान संतुलन में अकाल, बाढ़, युद्ध आदि जैसे अस्थायी परिस्थितियों के कारण असंतुलन उत्पन्न होता है तो उसे अस्थायी असंतुलन कहा जाता है। अनेक बार मौसम खराब हो जाने के कारण फसल खराब हो जाती है और खाद्य पदार्थों व कृषिगत पदार्थों के आयात बढ़ जाते हैं एवं निर्यात घट जाते हैं। सामान्यतया कृषि आधारित अर्थव्यवस्थाओं को ऐसे असतुलनों का सामना करना पड़ता है। कई बार युद्ध के कारण भी किसी देश के निर्यात अचानक बन्द हो जाते हैं तथा सुरक्षा सामग्री का आयात बढ़ जाने से भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाता है।

(2) **व्यापार चक्रीय असंतुलन :–** पूंजीगत अर्थ व्यवस्थाओं में व्यापार चक्रों के कारण राष्ट्रीय आय में उतार चढ़ाव होते रहते हैं। मंदी के समय आय व कीमतें घटने से सामान्यतया: आयात घटते हैं जबकि तेजी के समय बढ़ जाते हैं। चक्रीय असंतुलन दोनों देशों की मांग की लोचों में भिन्नता के कारण भी उत्पन्न होते हैं। यदि दो देशों की राष्ट्रीय आय में समान रूप से परिवर्तन होता है परन्तु एक देश विलासिता की वस्तुओं का आयातक है तथा दूसरा आवश्यकता की वस्तुओं जैसे नमक, गेहूं, दाल आदि का आयात

करता है तो मंदी की परिस्थितियों में पहले देश का आयात दूसरे की तुलना में कम होगा। परन्तु तेजी की स्थिति में पहले देश का आयात दूसरे से अधिक होगा।

(3) **संरचनात्मक असंतुलन :–** आयातों व निर्यातों की मांग व पूर्ति में संरचना संबंधी परिवर्तन हो जाने से भी कई बार विभिन्न देशों को भुगतान असंतुलन का सामना करना पड़ता है।

यदि भारत की चाय के प्रति आयातक राष्ट्रों में अरुचि हो जाए तो भारत के निर्यात घट जाएंगे। विश्व के अनेक प्राकृतिक रेशम निर्यातक देशों को कृत्रिम रेशम के प्रचलन के कारण इस प्रकार के असंतुलनों का सामना करना पड़ा।

संरचनात्मक असंतुलन अनेकबार साधन स्तर पर भी होता है। यदि श्रम गहन वस्तु का निर्यात करने वाले देश में श्रम संघों के दबाव के कारण मजदूरी बढ़ जाए तो इसका भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव होगा।

(4) **दीर्घकालीन असंतुलन :–** जब अर्थव्यवस्था विकास के एक चरण से दूसरे चरण में प्रवेश करती है। उस समय इस प्रकार के असंतुलनों का सामना करना पड़ता है। पूंजी निर्माण, औद्योगिक परिवर्तन, जनसंख्या वृद्धि, बाजारों का विस्तार, तकनीकी परिवर्तन, मुद्रा प्रसार आदि कारणों से दीर्घ कालीन असंतुलन उत्पन्न होते हैं।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया के दौरान एक देश को अधिक मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है। प्रारंभिक अवस्थाओं में आन्तरिक बचतें कम होती हैं। अतः विदेशों से ऋण लेना पड़ता है। अधिक मात्रा में वस्तुएं, सेवाएं व मशीनों का आयात करना पड़ता है। विकास हेतु प्रौद्योगिकी व तकनीकी जानकारी हासिल करनी पड़ती है। इसलिये उस देश के आयातों में वृद्धि हो जाती है व निर्यात उतने नहीं बढ़ पाते अतः भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाता है।

दीर्घकालीन असंतुलन जनसंख्या वृद्धि के कारण भी हो सकता है। अन्य बातों के यथावत रहते हुए जनसंख्या वृद्धि हो जाने से उपभोग मांग में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप देश के आयात-निर्यातों की तुलना में बढ़ जाते हैं।

कई बार दूसरे राष्ट्रों द्वारा नई या सस्ती तकनीक की खोज कर लिये जाने पर एक देश के निर्यात कम हो जाते हैं जब तक कि वह भी दूसरे राष्ट्र के समकक्ष या उससे बेहतर व सस्ती तकनीकी की खोज नहीं कर लेता।

(5) **पूंजी के आवागमन के कारण :–** कराधान, युद्ध या राजनीतिक अस्थिरता के कारण एक देश की पूंजी दूसरे देश में प्रवाहित होती रहती है जब किसी देश में पूंजी का अन्तर्गमन होता है तो उस देश का भुगतान संतुलन अनुकूल हो जाता है। इसके विपरीत जब देश से बाहर पूंजी जाने लगती है तो उस देश का भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जाता है।

20.7 समायोजन प्रक्रिया

जब किसी देश का भुगतान संतुलन असंतुलन में होता है। तो उसे संतुलित करना आवश्यक है। असंतुलन में समायोजन का तात्पर्य भुगतान संतुलन खाते के दोनों पक्षों को समान करना है। असंतुलन को ठीक करने के उपायों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जाता है (1) मौद्रिक उपाय एवं (2) गैर मौद्रिक उपाय।

20.7.1 मौद्रिक उपाय

भुगतान शेष के प्रतिकूल असंतुलन को निर्यातों में वृद्धि व आयातों में कमी करके ठीक किया जा सकता है। इसके लिये निम्न मौद्रिक उपायों का सहारा लिया जाता है।

1. **विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन :–** विनिमय दर में वृद्धि स्वायत्त भुगतानों में कमी व प्राप्तियों में वृद्धि करके भुगतान के घाटे को दूर करती है। विनिमय दर में कमी का प्रभाव ठीक इसके विपरीत होता है। विनिमय दर में कमी से संबंधित विनिमय ह्रास के नाम से जाना जाता है। विनिमय दरों में लचीलापन रखकर भुगतान असंतुलन को ठीक किया जा सकता है। इसके लिये विदेशी विनिमय बाजार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबंध नहीं होने चाहिये। इससे विदेशी विनिमय की दरों में विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति के अनुरूप परिवर्तन होंगे। इससे देश के आयात व निर्यात भी उसी के अनुसार परिवर्तित होंगे व असंतुलन दूर होगा।

   यदि किसी देश के आयातों में उसके निर्यातों की तुलना में अधिक वृद्धि हो जाती है तो उस देश में विदेशी विनिमय की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाएगी। ऐसे में परिवर्तनशील दरों की व्यवस्था होने पर विदेशी मुद्रा उस देश में मंहगी हो जाएगी तथा उस देश की मुद्रा का मूल्य (Value) कम हो जाएगा। ऐसा होने पर उस देश की निर्यातित वस्तुओं के मूल्य घट जाएंगे व आयातित वस्तुएं मंहगी हो जाएंगी। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश के आयात घटेंगे, व निर्यातों में वृद्धि होगी। यह प्रक्रिया भुगतान संतुलन के संतुलित होने तक चलती रहेगी।

   इसके विपरीत यदि पूंजी अथवा स्वर्ण के स्वायत्त आगमन के कारण विदेशी विनिमय की पूर्ति मांग से अधिक हो जाए तो देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा की तुलना में अधिक हो जाएगा। विदेशी विनिमय बाजार पूर्णतः स्वतंत्र होने की स्थिति में भी स्वर्ण या विदेशी विनिमय की पूर्ति में वृद्धि होने पर यह मुद्रा बाजार में आएंगी। इससे आयात बढ़ने लगेंगे व असंतुलन दूर होने तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी।

2. **मुद्रा संकुचन :–** भुगतान शेष के असंतुलन को ठीक करने के लिये देश में मुद्रा संकुचन का सुझाव दिया जाता है अर्थात् विभिन्न मुद्रा व साख नियंत्रण के उपायों द्वारा देश में मुद्रा की मात्रा को सीमित कर दिया जाय। मुद्रा की मात्रा में कमी होने का परिणाम यह होगा कि साधनों एवं अन्य कीमतों में कमी हो जाएगी तथा वस्तु की लागत घटने से बाजार में उसकी कीमतें गिर जाएंगी। ऐसा करने से उस देश की वस्तुएं विदेशों में सापेक्षिक रूप से सस्ती हो जाएंगी। मुद्रा संकुचन का यह प्रभाव भी होता है कि लोगों की आय कम हो जाती है। अतः उनके द्वारा की गई मांग भी कम हो जाती है। जिससे निर्यात के लिये अधिक अतिरेक का मात्रा बच जाती है। साथ ही आयात कम होने से उनकी सीमान्त आयात प्रवृत्ति भी सीमित हो जाती है जिससे आयात हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार निर्यातों में वृद्धि व आयातों में कमी से प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक किया जा सकता है।

3. **अवमूल्यन :–** प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिये अनेक देशों द्वारा अंतिम अस्त्र के रूप में अवमूल्यन का प्रयोग किया जाता है। अवमूल्यन की विधि में जानबूझकर सरकारी घोषणा द्वारा देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम कर दिया जाता है। अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले पहले से अधिक स्वदेशी मुद्रा की इकाईयां प्राप्त होने लगती हैं। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुएं अवमूल्यन

करने वाले देश में और महंगी हो जाती है तथा उस देश की वस्तुएं अन्य देशों में सस्ती हो जाती है। परिणामस्वरूप आयातों में कमी व निर्यातों में वृद्धि की आशा की जाती है परन्तु अवमूल्यन के बाद भुगतान शेष अनुकूल होगा अथवा नहीं यह आयातक व निर्यातक देशों में आयातों व निर्यातों की मांग व पूर्ति की लोचों पर निर्भर करता है।

मार्शल व लर्नर के अनुसार, "विदेशी विनिमय दर का अवमूल्यन देश के भुगतान संतुलन पर अनुकूल प्रभाव डालता है, जबकि विनिमय दर के अधिमूल्यन का भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव होगा यदि देश के निर्यातों व आयातों की मांग-लोच का योग इकाई से अधिक हो।

गणितीय रूप में इस शर्त को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

यदि $[\eta_x + \eta_m] > 1$

तो अवमूल्यन का भुगतान संतुलन पर अनुकूल व अधिमूल्यन का प्रतिकूल प्रभाव होगा। उपरोक्त सूत्र में η_x निर्यातों की व η_m आयातों की मांग लोचों का प्रतीक है।

एक देश के भुगतान शेष पर अवमूल्यन के प्रभाव को रेखाचित्रों की सहायता से भी दर्शाया जा सकता है परन्तु इसके लिये हमें यह निश्चित करना होगा कि हम अवमूल्यन के प्रभाव का अध्ययन स्थानीय मुद्रा के संदर्भ में कर रहे हैं अथवा विदेशी मुद्रा के संदर्भ में। अवमूल्यन का प्रभाव स्थानीय व विदेशी मुद्रा, दोनों पर ही होता है।

अवमूल्यन के कारण निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य में स्थानीय मुद्रा के रूप में वृद्धि हो जाती है, जबकि विदेशी मुद्रा के रूप में इनमें कमी हो जाती है।

रेखाचित्र 20.1 एवं 20.2 में स्थानीय मुद्रा के रूप में अवमूल्यन के प्रभाव को दर्शाया गया है।

सभी चित्रों में D_x व S_x निर्यात की मांग व पूर्ति के वक्र हैं। तथा D_m व S_m आयातों की मांग व पूर्ति के वक्र हैं।

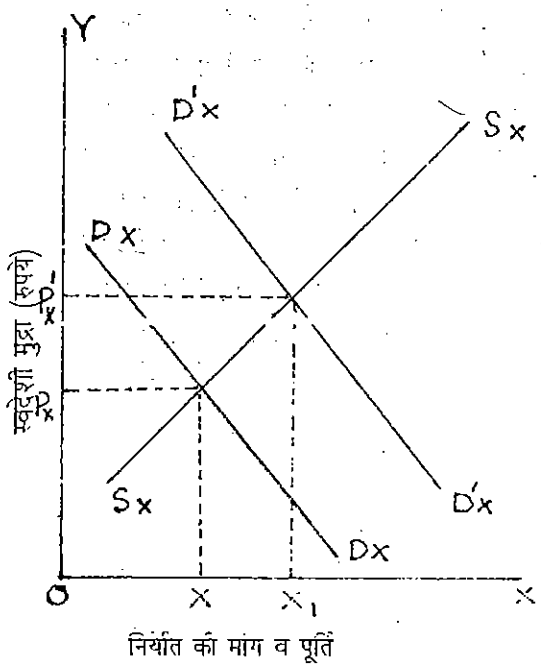

निर्यात की मांग व पूर्ति

रेखाचित्र 20.1 स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव

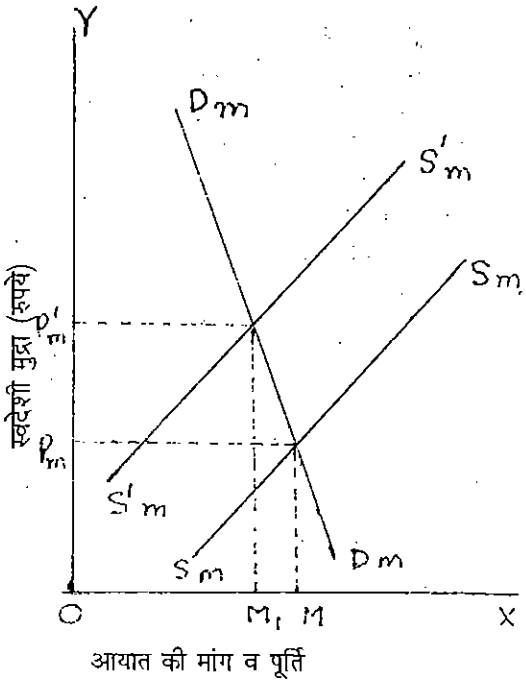

आयात की मांग व पूर्ति

रेखाचित्र 20.2 स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का आयात पर प्रभाव

रेखाचित्र 20.1 में दर्शाया गया है कि अवमूल्यन के कारण निर्यातकर्ताओं को स्थानीय मुद्रा (रुपया) के रूप में निर्यातित वस्तुओं का अधिक मूल्य प्राप्त होगा। हमारे निर्यातों की मांग बढ़ेगी अतः निर्यात योग्य वस्तुओं का मांग वक्र दांयीं ओर विवर्तित होकर D_x से D_x^1 हो जाएगा। इसके परिणामस्वरूप निर्यात OX से बढ़कर OX_1 हो जायेंगे। इस चित्र में निर्यात की मांग लोच इकाई से अधिक मानी गई है। ($\eta_{dn} > 1$) इसके परिणामस्वरूप निर्यातकर्ताओं को पहले की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त होगी अर्थात $OP_x \cdot OX_1 > OP_x \cdot OX$ इससे भुगतान संतुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

रेखाचित्र 20.2 में स्थानीय मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का आयातों पर प्रभाव दर्शाया गया है। अवमूल्यन के कारण स्थानीय व्यापारियों के लिये आयात का पूर्ति वक्र S_m से परिवर्तित होकर S_m^1 हो जाएगा और आयात की मात्रा OM से घटकर OM_1 हो जाएगी।

अवमूल्यन का आयातों की मांग वक्र पर प्रभाव नहीं होगा परन्तु पूर्ति वक्र के S_m से घटकर S_m^1 हो जाने के कारण कीमतें P_m से बढ़कर P_m^1 हो जाएगी। आयातों की मांग लोच इस वक्र में इकाई से कम ($\eta_{dm} < 1$) होने के कारण कीमत वृद्धि से आयातों में अधिक कटौती होगी और रुपयों के रूप में किया जाने वाला भुगतान कम हो जाएगा। गणितीय दृष्टि से $OP^1_m\ OM_1 < OP_m\ OM$ अतः अवमूल्यन से भुगतान शेष अनुकूल होगा।

विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन के प्रभाव को रेखाचित्र 20.3 व 20.4 में दर्शाया गया है।

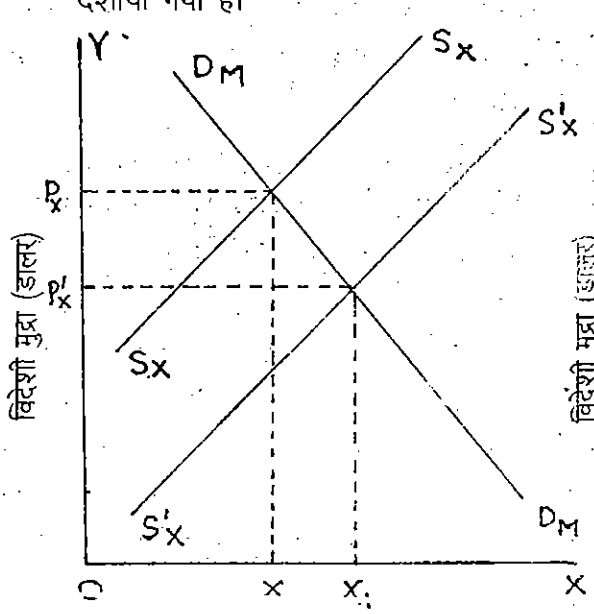

निर्यात की मांग व पूर्ति

रेखाचित्र 20.3 विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का निर्यात पर प्रभाव

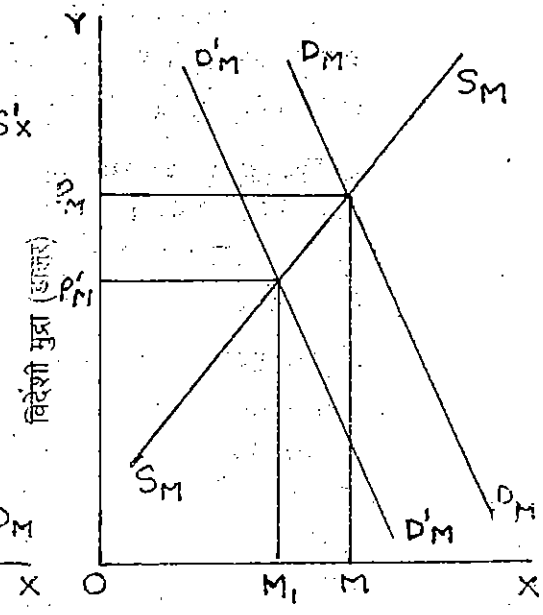

आयात की मांग व पूर्ति

रेखाचित्र 20.4 विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में अवमूल्यन का आयात पर प्रभाव

रेखाचित्र 20.3 में अवमूल्यन के कारण निर्यात का पूर्ति वक्र दांयीं ओर विवर्तित हो जाता है। इससे निर्यातों की मात्रा में वृद्धि होगी।

यदि $OP^1_x \cdot OX_1 > OP_x OX$ है तो अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव होगा।

रेखाचित्र 20.4 में विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में आयात पर अवमूल्यन का प्रभाव

दर्शाया गया है। अवमूल्यन के पश्चात् आयात का मांग वक्र बांयीं ओर विवर्तित हो जाता है अर्थात आयातों में कमी होती है।

यदि $OP^1_m \cdot OM_1 < OP_m \cdot OM$ हो तो अवमूल्यन से भुगतान शेष पर अनुकूल प्रभाव होगा।

4. **विनिमय नियंत्रण :–** विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत विदेशी मुद्रा के समस्त लेन-देन पर सरकार का नियंत्रण रहता है। प्रो. हैबरलर के अनुसार, "विनिमय नियंत्रण वह सरकारी नियमन है जो विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य नहीं करने देता।" जब किसी देश का भुगतान शेष लम्बे समय तक प्रतिकूल हो तो सरकार विदेशी विनिमय का समस्त लेन देन अपने हाथ में ले लेती है। केवल अधिकृत व्यापारियों का ही सीमित मात्रा में विदेशी मुद्रा के लेन-देन की अनुमति देती है। आयात की जाने वाली वस्तुओं पर भी नियंत्रण रखा जाता है। यह भुगतान शेष को ठीक करने की कठोर व प्रभावशाली विधि है। इसमें आयात को देश में उपलब्ध विदेशी विनिमय के अनुसार समायोजित कर लिया जाता है। इस विधि से भुगतान शेष तो अनुकूल होने लगता है पर इसके मूलभूत कारणों को दूर करने की दिशा में यह विधि ध्यान नहीं देती अतः जैसे ही सरकार नियंत्रण में ढील देती है फिर से भुगतान शेष प्रतिकूल होने लगता है।

20.7.2 गैर मौद्रिक उपाय

1. **प्रशुल्क :–** इस विधि के अन्तर्गत आयातों को नियंत्रित करने के लिये आयात की जाने वाली वस्तुओं पर ऊंची मात्रा में प्रशुल्क लगा दिया जाता है। इससे उनकी कीमतों में वृद्धि हो जाती है। इससे कीमत वृद्धि के कारण एक ओर आयातों की मांग की कमी होती है व घरेलू उद्योगों को संरक्षण मिलने से कई बार वे निर्यात बढ़ाने में सक्षम भी हो जाते हैं। इससे प्रतिकूल भुगतान संतुलन ठीक होता है।

2. **अभ्यंश (Import quota) :–** इस विधि के अन्तर्गत सरकार आयात की जाने वाली वस्तु की आयात की अधिकतम मात्रा निर्धारित कर देती है। अथवा इससे अधिक आयात करने पर आयातों पर बहुत ऊंची दर से प्रशुल्क लगाए जा सकते हैं। इससे आयातों में कमी होती है और भुगतान शेष ठीक होता है।

3. प्रतिकूल भुगतान शेष में सुधार के लिये विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिये कई कार्यक्रम चलाए जाते हैं। इन उपायों में निर्यात करों को हटाना, निर्यातक उद्योगों को लाइसेन्स से छूट। विशेष रियायतें, उत्पादन करों में छूट। आर्थिक सहायता, कच्चे माल के आयात पर करों की छूट आदि शामिल है। सरकार मेले, प्रदर्शनी आदि द्वारा भी विदेशी बाजारों में अपने माल को विदेशों में लोकप्रिय बनाने का प्रयास करती है।

20.8 सारांश

एक देश का भुगतान संतुलन उसके द्वारा किसी अन्य देश के साथ एक वर्ष की अवधि में किये गये समस्त लेन-देन का क्रमबद्ध सांख्यिकीय अभिलेख है।

भुगतान संतुलन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान एक देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति व लेन-देनों की जानकारी देना है जिससे हमें सुचारू मौद्रिक राजकोषीय व अन्य समष्टिगत आर्थिक नीतियां निर्धारित करने में मदद मिल सके।

भुगतान संतुलन की जानकारी हमें भुगतान संतुलन खाते से मिलती है जिसमें दांयीं ओर

भुगतान व बांयी ओर प्राप्तियां दर्शाई जाती है। दोहरी प्रविष्ठि प्रणाली से निर्मित होने के कारण भुगतान संतुलन के दोनों पक्ष हमेशा संतुलन में दर्शाए जाते हैं। भुगतान संतुलन खाते को तीन भागों, चालू खाता, पूंजीगत खाता व अधिकारिक समायोजक खाता में बांटा जाता है।

चालू खाते में वस्तुओं का आयात-निर्यात, सेवाओं का आयात-निर्यात व एक तरफा प्राप्तियां व भुगतान दर्शाए जाते हैं। पूंजीगत खाते में विदेशियों द्वारा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, अल्पकालीन व दीर्घकालीन विनियोग व अन्य पूंजीगत लेन-देन दर्शाए जाते हैं। इन दोनों खातों की मदों को स्वायत्त प्राप्तियां व भुगतान कहा जाता है। इनमें असंतुलन होने पर इन्हें अधिकारिक समायोजन खाते के लेन देनों द्वारा ठीक किया जाता है।

भुगतान संतुलन में हम एक देश के समस्त लेन देनों को शामिल करते हैं परन्तु व्यापार संतुलन का सम्बन्ध केवल दृश्य मदों के आयात-निर्यात से होता है।

खातों की दृष्टि से भुगतान संतुलन सदैव संतुलन में रहता है परन्तु स्वायत्त प्राप्तियों व भुगतान में अन्तर होने पर वास्तव में भुगतान संतुलन असंतुलित हो सकता है। इसके अनेक कारण हैं। यह असंतुलन कई प्रकार का होता है जिसे विभिन्न मौद्रिक व गैर मौद्रिक उपायों द्वारा ठीक किया जा सकता है।

20.9 शब्दावली

(1) **भुगतान संतुलन :-** एक देश का दूसरे देश के साथ एक वर्ष की अवधि में किये गये सभी आर्थिक लेन-देनों का क्रमबद्ध विवरण।

(2) **प्राप्तियां (Credit) :-** विदेशियों से विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाओं के बदले में प्राप्त किया जाने वाला भुगतान।

(3) **भुगतान (Debit) :-** विदेशियों को विभिन्न कार्यों के दौरान दिया जाने वाला भुगतान।

(4) **चालू खाता :-** भुगतान संतुलन खाते का वह भाग जिसमें वस्तुओं व सेवाओं का व्यापार व एक तरफा लेन-देन शामिल होते हैं।

(5) **सेवा खाता :-** चालू खाते की वह मद जिसमें, यात्रा, परिवहन, पर्यटन, विदेशों में विनियोग से प्राप्त आय शामिल है।

(6) **एकतरफा लेन-देन :-** विदेशी नागरिकों व सरकारों से लेन-देन वाले उपहार आदि।

(7) **पूंजीगत खाता :-** एक देश की अन्य देश में परिसम्पत्तियों में परिवर्तन दर्शाने वाली मदें दर्शाने वाला खाता।

(8) **अधिकारिक समायोजक खाता :-** एक देश के अधिकारिक सुरक्षित कोषों में वर्ष के दौरान परिवर्तन दर्शाने वाला खाता।

(9) **दोहरी प्रविष्ठि :-** खातों को तैयार करने की वह विधि जिसमें प्रत्येक प्रविष्ठि खातों में दो बार की जाती है। एक बार भुगतानों की तरफ। दूसरी बार प्राप्तियों की तरफ।

(10) **भुगतान संतुलन में घाटा :-** स्वायत्त प्राप्तियों का मूल्य यदि स्वायत्त भुगतानों से कम हो तो भुगतान संतुलन में घाटा होता है।

(11) **भुगतान संतुलन में अतिरेक :-** यदि स्वायत्त प्राप्तियों का मूल्य स्वायत्त भुगतानों से अधिक हो तो भुगतान संतुलन में अतिरेक होगा।

20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dominick Salvatore	— International Economis
Charles P. Kindleberger	— International Economics
BO. Sodersten	— International Economics
एम.सी. वैश्य	— अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र।
अग्रवाल व बरला	— अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र।
एम.एल. झिंगन	— अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र।

20.11 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) भुगतान संतुलन का क्या अर्थ है? "भुगतान शेष सदैव संतुलन में रहता है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए (संकेत)

संकेत — अपने उत्तर के प्रथम भाग में भुगतान संतुलन का अर्थ व परिभाषा बताऐं। संक्षेप में व्यापार सन्तुलन व भुगतान संतुलन का अर्थ भी बताइये।

उत्तर के द्वितीय भाग में भुगतान संतुलन खाते की जानकारी देते हुए लेनदारी व देनदारी पक्ष की मदों को समझाइये व बताइयें कि दोहरी प्रविष्ठि विधि के कारण इसके दोनों पक्षों को समान दर्शाया जाता है परन्तु चालू खाते व पूंजीगत खाते की प्राप्तियां यदि भुगतानों से कम है तो भुगतान संतुलन प्रतिकूल होगा व समायोजक खाते की मदों द्वारा समायोजन करके इसके दोनों पक्षों को बराबर किया जाता है।

(2) भुगतान शेष में असंतुलन के क्या कारण हैं? प्रतिकूल भुगतान संतुलन को किस प्रकार ठीक किया जा सकता है?

उत्तर संकेत — पहले भुगतान शेष में असंतुलन को स्पष्ट कीजिये। फिर इसके कारणों को स्पष्ट कीजिये फिर विस्तार से इसको ठीक करने के मौद्रिक व अमौद्रिक उपाय बताइये।

(3) अवमूल्यन द्वारा प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करना कहां तक संभव है? इस सन्दर्भ में मार्शल-लर्नर शर्त की व्याख्या कीजिये।

उत्तर संकेत — अवमूल्यन का अर्थ बताते हुए समझाए की स्वदेशी व विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में इसका आयातों व निर्यातों पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसमें रेखाचित्रों का समुचित प्रयोग करें। साथ ही बताइए कि मार्शल व लर्नर ने बताया कि आयातों व निर्यातों की मांग व पूर्ति का लोचा का अवमूल्यन के प्रभावों से क्या सम्बन्ध है।

(4) विकासशील देशों का भुगतान संतुलन विपक्ष में क्यों रहता है। उसमें सुधार के लिये आप क्या सुझाव देंगे?

उत्तर संकेत — विकासशील देशों की स्थिति की बहुत संक्षेप में जानकारी दीजिए। फिर इन देशों में भुगतान शेष विपक्ष में रहने के विभिन्न कारण जैसे :—

(1) इसके उत्पादन में प्राथमिक वस्तुओं की अधिकता है जो मौसमी उतार-चढ़ाव से प्रभावित रहती है तथा इनकी कीमतें तैयार माल की अपेक्षा कम बढ़ती हैं।

(2) विकास की प्रक्रिया में पूंजीगत साज़-सामान मशीन आदि का अधिक आयात।

(3) विदेशी ऋणों व ब्याज का भार।

(4) इनके उद्योग विश्व बाजार में प्रतिस्पर्द्धा में टिक नहीं पाते, इसके निर्यातों की मांग की नीची आय व कीमत लोच का होना आदि स्पष्ट कीजिए।

इसके सुधार के लिये

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार।

(2) स्थिर विनिमय दरें।

(3) पूंजी के पलायन पर रोक।

(4) इन देशों में विदेशी विनियोग में वृद्धि।

(5) जनसंख्या नियंत्रण।

(6) सुरक्षित भंडारों का निर्माण।

(7) बचत व विनियोग को प्रोत्साहन।

(8) निर्यातों में विविधता।

(9) नये बाजारों की खोज आदि सुझाव विस्तार से दीजिए।

(5) भुगतान संतुलन से आप क्या समझते हैं? व्यापार संतुलन व भुगतान संतुलन में अन्तर स्पष्ट करें।

(6) किसी देश के प्रतिकूल भुगतान संतुलन से आप क्या समझते हैं? इसे किस प्रकार ठीक किया जा सकता है?

(7) "भुगतान संतुलन सदैव संतुलित रहता है", यदि ऐसा है तो फिर हम किसी देश के भुगतान संतुलन में अतिरेक या घाटे की चर्चा क्यों करते हैं?

(8) निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए -

(1) भुगतान संतुलन खाता।

(2) व्यापार संतुलन व भुगतान संतुलन।

(3) मार्शल-लर्नर शर्त।

इकाई 21

भुगतान सन्तुलन में असाम्यता

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के प्रकार

- 21.2.1 चक्रीय असाम्यता
- 21.2.2 संरचनात्मक असाम्यता
- 21.2.3 दीर्घकालीन असाम्यता
- 21.2.4 अस्थायी असाम्यता
- 21.2.5 स्थायी (आधार भूत) असाम्यता

21.3 भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के कारण

- 21.3.1 व्यापार चक्रों का अन्तर्राष्ट्रीय प्रकार
- 21.3.2 मौद्रिक असन्तुलन
- 21.3.3 तकनीकी परिवर्तन
- 21.3.4 पूंजीगत हानियां
- 21.3.5 दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह में परिवर्तन
- 21.3.6 संस्थागत परिवर्तन
- 21.3.7 घटकस्तर पर संरचना सम्बन्धी विकृतियां
- 21.3.8 विभेदात्मक सरकारी नीति
- 21.3.9 व्यापार शर्तें
- 21.3.10 मुद्राप्रसार
- 21.3.11 देश का आर्थिक विकास

21.4 भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने के उपाय

- 21.4.1 मौद्रिक उपाय
- 21.4.2 गैर मौद्रिक उपाय
- 21.4.3 अन्य उपाय

21.5 भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने का मौद्रिक उपाय

- 21.5.1 अवमूल्यन नीति
- 21.5.2 प्रशुल्क नीति

21.5.3 पूंजी की गतिशीलता

21.5.4 विनिमय मूल्य ह्रास

21.5.5 विनिमय अवमूल्यन

21.5.6 मुद्रा संकुचन

21.5.7 ब्याज दर में परिवर्तन

21.6 भुगतान सन्तुलन की असाम्यता का दूर करने का गैर मौद्रिक उपाय

21.6.1 आयात प्रतिबंध

21.6.2 निर्यात संवर्द्धन

21.6.3 संरक्षण

21.6.4 विनिमय नियंत्रण

21.6.5 विदेशी पूंजी का विनियोग

21.6.6 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

21.7 भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने के अन्य उपाय

21.7.1 द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय समझौता

21.7.2 हस्तान्तरित समझौता

21.7.3 प्राथमिकता समझौता

21.7.4 राज्य व्यापार

21.8 शब्दावली

21.9 कुछ उपयोगी पुस्तके

21.10 निबन्धात्मक प्रश्न

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप —

- भुगतान सन्तुलन में असाम्यता को समझ सकेगें।
- भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के प्रकारों को समझ सकेगें।
- भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के कारणों को समझ सकेगें।
- भुगतान सन्तुलन में उत्पन्न असाम्यता को दूर करने के उपायों को समझ सकेगें।

21.1 प्रस्तावना

भुगतान सन्तुलन किसी दिए हुए समय में सम्पूर्ण विश्व के साथ उसके लेन देन का लेखा जोखा है। पी.टी. एल्सवर्थ (P-T-Ellsworth) के अनुसार – "भुगतान सन्तुलन एक देश के निवासियों और बाकी विश्व के मध्य किए गए समस्त लेन देनों का लिखित विवरण है। यह

किसी दिए हुए समय साधारणतया एक वर्ष के लिए होता है।''

आपने इकाई 20 में अध्ययन किया होगा कि भुगतान सन्तुलन सदैव सन्तुलित होता है। किसी देश के भुगतान सन्तुलन में भुगतान (Payments) एवं प्राप्तियां (Receipts) सदैव बराबर होते है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन की सांम्यावस्था को स्पष्ट करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया जाता है:—

(i) स्वायत भुगतान (Autonomous payments) और
(ii) अनुग्राही भुगतान (Accommodating payments)

'स्वायत भुगतान' से अभिप्राय चालू लेन देन के कारण भुगतान स्वतः होने से है। अनुग्राही भुगतान से अभिप्रायः जब स्वायत भुगतानों द्वारा भुगतान सन्तुलन के दोनों पक्षों (भुगतान एवं प्राप्तियों) का अन्तर पूरा नहीं होता है तो उसको पूरा करने के लिए किया जाने वाला भुगतान से है। स्वर्ण अथवा विदेशी विनिमय कोष का उपयोग अनुग्राही - भुगतानों के लिए किया जा सकता है। परन्तु यदि यह कोष अपर्याप्त हो तो विदेशी ऋणों का सहारा लिया जाता है। यदि ऋण लेना भी संभव नहीं हो तो ऐसे द्विपक्षीय व्यापार समझौता किए जा सकते हैं, जिनके द्वारा लेनदार देश से आवश्यक मूल्य के बराबर माल खरीद सकता है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन की साम्यावस्था वह स्थिति है जिसमें किसी देश के स्वायत भुगतानों द्वारा उसकी अन्तर्राष्ट्रीय प्राप्तियां एवं देनदारियां सन्तुलित हो जाती है और अनुग्राही भुगतानों का सहारा नहीं लेना पड़ता है। व्यावहारिक दृष्टि से यह अवगत होता है कि भुगतान सन्तुलन की निम्न स्थितियां होती है :—

(i) $B = R = P$ (प्रथम स्थिति)
(ii) $B = R > P$ (द्वितीय स्थिति)
(iii) $B = R < P$ (तृतीय स्थिति)

यहां B का अर्थ भुगतान सन्तुलन से हैं, R का अर्थ विदेशों से प्राप्त आय से हैं, P का अर्थ विदेशों को किया जाने वाला भुगतान से है।

यदि भुगतान सन्तुलन साम्यावस्था में है तो भुगतान सन्तुलन ''शून्य'' (अर्थात $B = 0$) होगा। यदि भुगतान सन्तुलन धनात्मक अथवा अनुकूल (Positive) है तो भुगतान सन्तुलन 'शुन्य से अधिक' (अर्थात $B > 0$) होगा। इसके विपरीत यदि भुगतान सन्तुलन ऋणात्मक अथवा प्रतिकूल (negative) है तो भुगतान सन्तुलन 'शून्य से कम' (अर्थात $B < 0$) होगा। अंतिम प्रकार की स्थिति को 'भुगतान सन्तुलन में असाम्यता' अथवा 'असन्तुलन' की संज्ञा दी जाती है।

21.2 भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के प्रकार (Kinds of disequilibruim in balance of payment)

भुगतान संतुलन में असाम्यता अनेक कारणों से उत्पन्न होती है। यह असाम्यता अनेक परस्पर सम्बधित तत्वों का परिणाम होती है जिन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। अर्थव्यवस्था में भुगतान सन्तुलन में 'असाम्यता' निम्न प्रकार की पायी जाती है :—

(1) चक्रीय असाम्यता
(2) संरचनात्मक असाम्यता
(3) दीर्घकालीन असाम्यता
(4) अस्थायी असाम्यता
(5) स्थायी अथवा आधार भूत असाम्यता

उपर्युक्त भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के प्रकारों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है :—

21.2.1 चक्रीय असाम्यता (cyclical disequilibrium)

व्यापार चक्रों के कारण भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है इसको ''चक्रीय असाम्यता'' कहा जाता है। यह ज्ञातव्य है कि किसी भी देश में आय एवं उत्पादन की वृद्धि एक सी नहीं रहती है। आय में उच्चावचन दिखायी पड़ते हैं। तेजीकाल में आय में वृद्धि तथा मंदीकाल में आय में कमी होती है जिससे आयात प्रभावित होते हैं। आयात पर होने वाले प्रभाव प्रवृति पर निर्भर करते हैं। निर्यात पर चक्रीय परिवर्तन का प्रभाव अधिक नहीं पड़ता क्योंकि निर्यात मुख्यतया विदेशी मांग पर निर्भर करते है। X देश में होने वाले व्यापार चक्र Y देश की व्यापारिक स्थिति को प्रभावित करते है। यह प्रभाव 'निर्यात' पर होता है। यदि X देश में तेजीकाल की स्थिति है तो X देश के आयात अर्थात Y देश के निर्यातों में वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि Y देश में मंदीकाल की स्थिति है तो Y देश के आयात अर्थात X देश के निर्यातों में कमी होती है। X देश के निर्यात में वृद्धि और कमी दूसरे देशों की — 'आयात प्रवृति' पर निर्भर करती है। चक्रीय असाम्यता अथवा असन्तुलन को रेखाचित्र 21.1 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

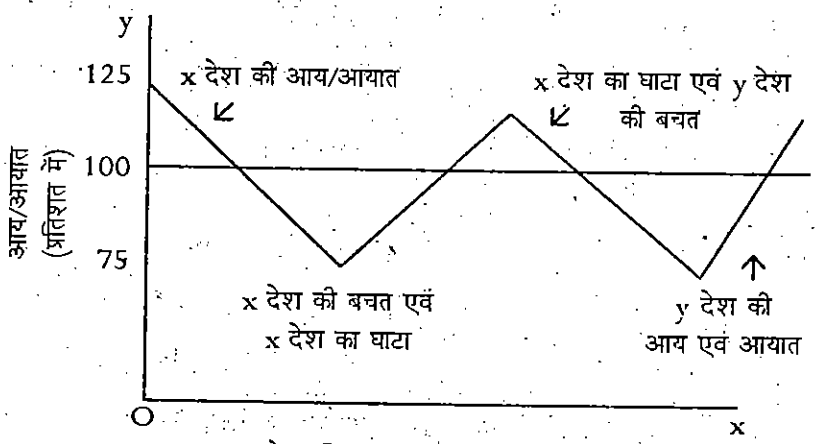

रेखा चित्र 21.1 अवधि (Period)

रेखा चित्र 21.1 में X देश की आय में होने वाले चक्रीय परिवर्तन प्रदर्शित किए हैं। यहाँ Y देश की आय को स्थिर माना है। तथा आय की स्थिरता के लिए Y देश में आयातित मांग की आय लोच भी स्थिर मान ली गयी है। चक्रीय असाम्यता को स्पष्ट करने के लिए यहां दो ही देश के लिए है। अतः X देश का आयात Y देश के निर्यात के बराबर होगा और Y देश का आयात X देश के निर्यात के बराबर होगें। मानलिजिए X देश के तेजीकाल की स्थिति पैदा हो जाती है तो X देश के आयातों में वृद्धि हो जायेगी अर्थात Y देश में निर्यात में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि X देश में मंदीकाल की स्थिति पैदा हो जाती है तो Y देश में आयात भी कम होगें। दूसरी ओर Y देश में आय का स्तर स्थिर होने के कारण Y देश में आयात (अथवा X देश के निर्यात) भी स्थिर बने रहेगें। इसका परिणाम यह होगा कि मंदीकाल में X देश में निर्यात आयात से अधिक होगें, जबकि तेजीकाल में आयात का अधिक्य (Excess) होगा। अतः X देश में मंदीकाल में अनुकूल भुगतान सन्तुलन और तेजीकाल में प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन होगा। उसके विपरीत Y देश में X देश की मंदीकाल के समय प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन और X देश में तेजीकाल के समय अनुकूल भुगतान सन्तुलन होगा। इस वर्णन को निम्न प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है :—

(i) X देश में मंदीकाल अर्थात्
$Xa > Ma = Mb > Xb$

(ii) X देश में तेजीकाल अर्थात
$Xa < Ma = Xb > Mb$

यहां Xa से अभिप्राय: X देश के निर्यात से है,
Ma से अभिप्राय: X देश के आयात से है,
Xb से अभिप्राय: Y देश के निर्यात से है,
Mb से अभिप्राय: Y देश के आयात से है।

दोनों देशों के आयातों की आयलोच को देखकर भुगतानों की 'चक्रीय असाम्यता' मालूम की जा सकती है। यदि अन्य बातें यथा स्थिर रहे तो भुगतान संतुलन पर निम्न प्रभाव होगें :—

(अ) आयातों की मांग की आय लोच X देश में Y देश की तुलना में अधिक है तेजी काल में X देश में भुगतान संतुलन प्रतिकूल हो जावेगा।

(ब) यदि आयातों की आय लोच Y देश में X देश की तुलना में अधिक है तो X देश के तेजीकाल में Y देश में भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल होने की संभवना होगी।

इसी प्रकार विभिन्न देशों में मांग की कीमत लोच में अन्तर होने से भी 'चक्रीय असाम्यता' जन्म लेती है। सामान्यतया तेजीकाल में कीमतें बढ़ती है और मंदीकाल में ये घटती हैं। यदि अन्य बातें यथा स्थिर रहे तो भुगतान सन्तुलन पर निम्न प्रभाव होगें :—

(अ) X देश में आयातों के लिए मांग की कीमत लोच Y देश की तुलना में अधिक है तो X देश में तेजीकाल होने पर X देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जावेगा।

(ब) X देश में आयातों के लिए मांग की कीमत लोच Y देश की तुलना में अधिक है तो X देश में मंदीकाल होने पर X देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जायेगा।

व्यवहार में यह संभव है कि X देश और Y देश में आय की प्रवृतियां समान रहे परन्तु इनमें आयातों की आयलोच में भिन्नता होने के कारण भुगतान सन्तुलन में 'असाम्यता की स्थिति' उत्पन्न हो सकती है। तुलनात्मक दृष्टि से आयातों की आयलोच जितनी अधिक होगी देश के आयातों में उतनी ही तीव्रता से परिवर्तन होगे ओर मंदीकाल में निर्यातो का अधिक्य अथवा तेजीकाल में आयातों का अधिक्य उतना ही अधिक होने की संभावना होगी।

21.2.2 संरचनात्मक असाम्यता (Structural disequilibrium)

किसी अर्थव्यवस्था में भुगतान सन्तुलन में असाम्यता निर्यात अथवा आयात की मांग अथवा पूर्ति में मूलभूत परिवर्तन अथवा साधनों की कीमतों के कारण उत्पन्न होती है तो इस प्रकार की असाम्यता को ''संरचनात्मक असाम्यता'' कहते है। यह निम्न दो प्रकार की होती है :—

(i) अल्पकालीन संरचनात्मक असाम्यता
(ii) दीर्घकालीन संरचनात्मक असाम्यता

अल्पकालीन संरचनात्मक असाम्यता की स्थिति निर्यात अथवा आयात की मांग अथवा पूर्ति में मूलभूत परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है। उदाहरण के तौर पर मान लिजिए X देश सूती वस्त्र का निर्यात करता है और विदेशों में उसकी मांग कम हो जाती है जिसके कारण X देश से सूती वस्त्र का निर्यात कम हो जावेगा। फलस्वरूप X देश में सूती वस्त्र उद्योग में कार्यरत साधनों का एक भाग उन वस्तुओं उत्पादन के लिए हस्तांतरित कर दिया जावेगा जिनकी विदेशों में मांग स्थिर है। ऐसा करने पर भी उन वस्तुओं का निर्यात नहीं बढ़े (जब सूती वस्त्र उद्योग का निर्यात कम हो गया हो और आयातों में भी कोई कमी नहीं हो पावे) तो X देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जावेगा। इस प्रकार की स्थिति के कारण उत्पन्न असाम्यता के अल्पकालीन संरचनात्मक असाम्यता की संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार की असाम्यता निम्नलिखित कारणों से भी उत्पन्न हो सकती है :—

(अ) वस्तु की पूर्ति में परिवर्तन (जैसे — कपास की फसल खराब हो जाना) अथवा;
(ब) औद्योगिक संघर्ष (जैसे — हड़ताल, तालाबंदी हो जाना) अथवा;
(स) देश में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण अथवा ;
(द) राष्ट्रीय आय में परिवर्तन अथवा;
(य) उपभोग प्रवृति में परिवर्तन।

दीर्घकालीन संरचनात्मक असाम्यता साधनों की कीमतों के कारण उत्पन्न होती है। यदि किसी देश में उत्पति के विभिन्न साधनों की कीमत उनकी उपलब्धता के अनुसार निर्धारित नहीं होती है जिससे अर्थव्यवस्था तथा भुगतान की स्थिति में संरचनात्मक असाम्यता उत्पन्न हो जावेगी। इस प्रकार की उत्पन्न असाम्यता को 'दीर्घकालीन संरचनात्मक असाम्यता' की संज्ञा दी जाती है। सी.पी. किंडलवर्गर (C. P. Kindleberger) ने इसको निम्न दो अर्थो में स्पष्ट किया है :—

(अ) विस्तृत अर्थ में यह वह स्थिति है जिसमें उत्पादन की संरचना और स्तर उससे भिन्न है जो साधनों की कीमत उनकी उपलब्धता के आधार पर निर्धारित होते है।

(ब) संकुचित अर्थ में यह वह स्थिति है जिसमें सरकार द्वारा किए गए उपायों (जैसे — बेकारी, गरीबी समस्या का निदान) के कारण तेजीकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे भुगतान सन्तुलन में असाम्यता को जन्म मिलता है।

21.2.3 दीर्घकालीन असाम्यता (Secular disequilibrium)

जब किसी देश का आर्थिक विकास एक अवस्था (stage) से दूसरी अवस्था की ओर अग्रसर होता है तो इससे अर्थव्यवस्था में दीर्घकालीन परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार की स्थिति के कारण उत्पन्न असाम्यता को 'दीर्घकालीन असाम्यता' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार की असाम्यता निम्नलिखित घटकों के कारण उत्पन्न होती है :—

(अ) पूंजी निर्माण,
(ब) जनसंख्या में वृद्धि,
(स) उत्पादन प्रणाली में सुधार,
(द) बाजार का विस्तार,
(य) व्यावसायिक संगठन में सुधार,
(र) संसाधनों में परिवर्तन; और
(ल) औद्योगिक परिवर्तन

21.2.4 अस्थायी असाम्यता (Temporary disequilibrium)

किसी अथव्यवस्था में अल्पकालीन कारणों जैसे — अकाल, बाढ़ अथवा युद्ध से असाम्यता की स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसी असाम्यता को 'अस्थायी असाम्यता' कहा जात है। अर्थव्यवस्था में अल्पकालिक स्थितियां सदैव विद्यमान नहीं रहती है। अतः ऐसी असाम्यता को 'अल्पकालीन असाम्यता' भी कहते है। इस प्रकार की स्थिति को निम्न लिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है :—

मान लिजिए X देश के किसी भाग में अकाल के कारण फसल नष्ट हो जाती है। वहां खाद्यान्न की कमी को पूरा करने के लिए बहुत अधिक आयात करना पड़ेगा परन्तु यदि X देश के निर्यात यथा स्थिर रहें तो X देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जावेगी। इसके विपरीत यदि X देश सूती वस्त्र को बहुत अधिक मात्रा में निर्यात करता है। वहां Y देश में

अल्पकालीक स्थिति उत्पन्न हो जाने से (जैसे– युद्ध आरंभ होगा) X देश का निर्यात रूक जाता है तो सूती वस्त्र मिलों में बिना बिका हुआ स्टॉक जमा हो जावेगा। युद्ध के उपरान्त यदि X देश सूती वस्त्र की निर्यात कीमतों में थोड़ी सी कमी कर दें तो निर्यात बहुत मात्रा में बढ़ जावेगा। यदि X देश में अन्य बातें समान रहे तो इसका भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जावेगा।

21.2.5 स्थायी (आधार भूत) असाम्यता (Fundamental disequilibnium)

जब किसी देश को भुगतान सन्तुलन में असाम्यता दीर्घकाल तक चलती रहती है और इस बात की भी कोई आशा नहीं हो कि असाम्यता के लिए उत्तरदायी घटकों में कोई मूलभूत परिवर्तन भविष्य में हो जावेगा तो ऐसी अवस्था को ''स्थायी असाम्यता'' कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर लागतों में वृद्धि के फलस्वरूप देश में वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाने के बाद उनमें कमी होने की साधारणतया कोई संभावना नहीं होती और उनके कारण देश के निर्यात व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव होता रहता है। इस प्रकार की स्थिति को सुधारने के लिए मुद्रा का अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन का सुझाव दिया जाता है। यदि वस्तुओं की मांग अत्यधिक लोचदार है तो अवमूल्यन नीति लाभप्रद होगी। इसके विपरीत यदि वस्तुओं की मांग बेलोचदार है तो अधिमूल्यन नीति लाभप्रद होगी।

21.3 भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के कारण (Causes of disequilibrium in balance of payment)

हमने इस इकाई के खण्ड 21.2 में भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के प्रकारों के बारे में अध्ययन किया। वैसे तो असाम्यता के प्रकारों से भी भुगतान सन्तुलन में असाम्यता के कारणों का आभास होता है, फिर भी इसके प्रमुख कारणों का वर्णन यहाँ विस्तार से किया गया है।

21.3.1 व्यापार चक्रों का अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार

भुगतान सन्तुलन में असाम्यता व्यापार चक्रों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार के कारण उत्पन्न होती है। किसी देश के आयातों अथवा निर्यातों में परिवर्तन उस देश की राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते हैं। विश्व के समस्त देश विदेशी व्यापार (Foreign trade) के द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं। अतः किसी देश की राष्ट्रीय आय में परिवर्तन होते हैं तो इस से दूसरे देशें की राष्ट्रीय आय मे भी परिवर्तन होंगे। इसके फलस्वरूप स्वतः ही भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए A देश की राष्ट्रीय आय में कमी होगी जिससे इसके आयातों में भी कमी हो जावेगी। इस प्रकार A देश के साथ व्यापार करने वाले देशों के निर्यातों में कमी हो जावेगी। विदेशी व्यापार गुणक के प्रभावों से इन दोनों देशों की राष्ट्रीय आयों पर मंदीकारी प्रभाव होंगे। इसके फलस्वरूप इन देशों के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जावेगी। दूसरे शब्दों में किसी देश की सीमांत आयात प्रवृति जितनी ही अधिक होगी अर्थात् जो देश विदेशी व्यापार जितना अधिक निर्भर होगा। उस देश में उतना ही अधिक विदेशी प्रतिक्रियाएं होगी। विदेशी प्रतिक्रियाओं का चित्रण रेखाचित्र 21.2 में प्रदर्शित है जो यह बताता है कि विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय किस प्रकार विदेशी व्यापार द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित है।

रेखा चित्र 21.2 में OX अक्ष पर राष्ट्रीय आय तथा OY अक्ष पर बचत, विनियोग, आयात और निर्यात मापा गया है। Id वक्र देश के विनियोग तथा Id' वक्र देश के विनियोग में परिवर्तन को बताता है। विनियोग और निर्यात के संयुक्त प्रभाव को Id + X वक्र द्वारा तथा विनियोग निर्यात के संयुक्त प्रभाव में परिवर्तन को Id' + X वक्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। देश में विनियोग में वृद्धि होने से Id वक्र बढकर Id' हो जाता है। इसके फलस्वरूप Id + X वक्र भी बढ़कर Id' + X हो जाता है जिससे राष्ट्रीय आय oYo से बढ़कर oY1 हो जाती

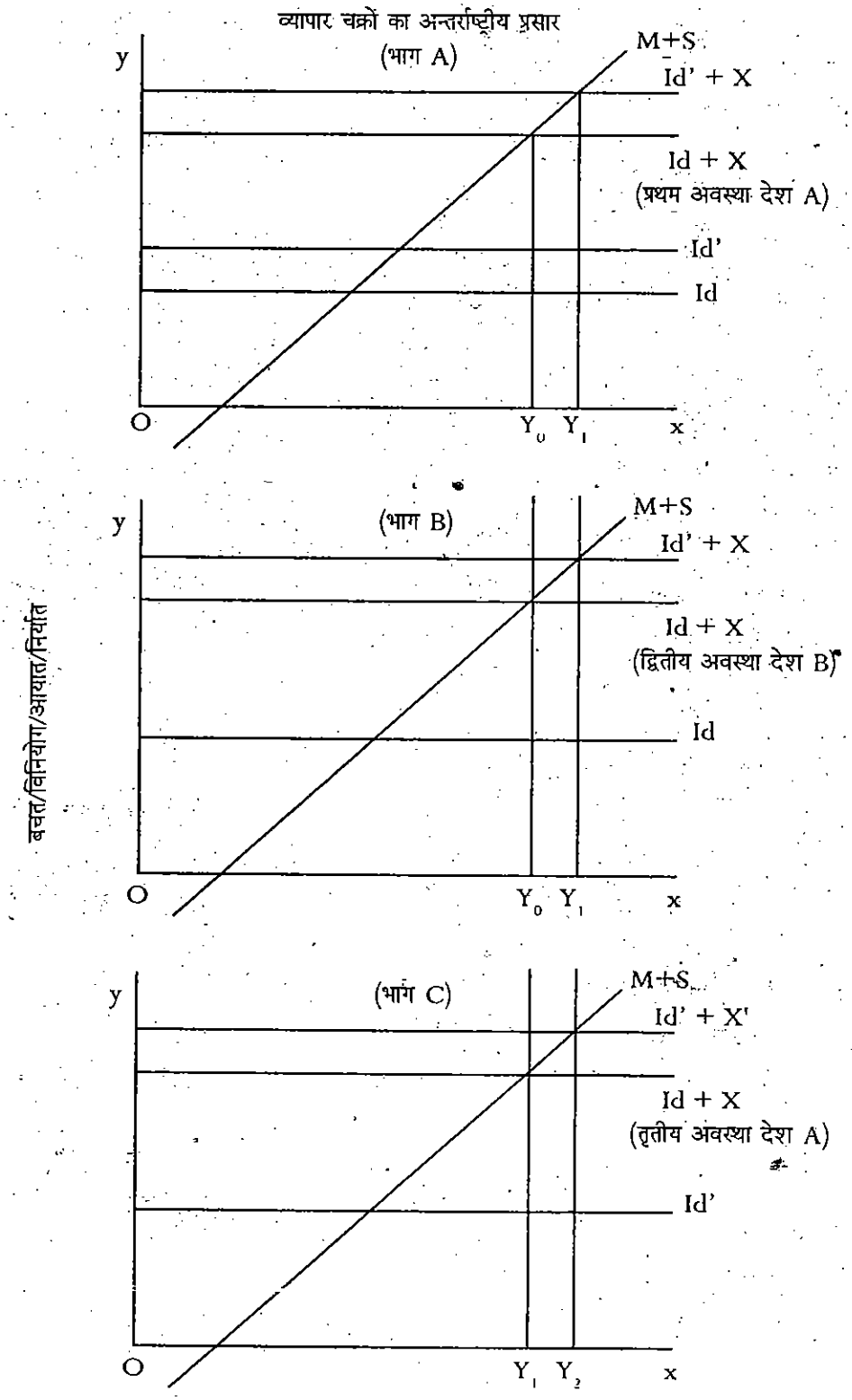

रेखा चित्र 21.2 राष्ट्रीय आय

है। इस प्रकार A देश की राष्ट्रीय आय में जैसे-जैसे वृद्धि होती है वैसे-वैसे आयातों के लिए मांग भी बढ़ जाती है। A देश के साथ व्यापार करने वाले B देश के लिए इसका अर्थ उनके निर्यातों में वृद्धि होना है। रेखाचित्र 21.2 में B देश के निर्यात वक्र Id से बढ़कर Id' + X हो जाता है जिसके फलस्वरूप B देश की राष्ट्रीय आय 0Y से बढ़कर 0Y1 हो जाती है।

B देश की राष्ट्रीय आय में जैसे-जैसे वृद्धि होती है वैसे-वैसे B देश की आयात मांग भी बढ़ जाती है। इसके परिणाम स्वरूप A देश में भी प्रतिक्रिया होती है तथा A देश के निर्यातों के लिए मांग में वृद्धि हो जाती है। इस स्थिति का चित्रण रेखचित्र 21.2 में A देश की तृतीय अवस्था में द्वारा किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि A देश को विनियोग निर्यात वक्र Id' + X से बढ़कर Id' + X' हो जाता है तथा राष्ट्रीय आय 0Y1 से और भीं बढ़कर 0Y2 हो जाती है। रेखाचित्र 21.2 से यह स्पष्ट होता है कि कैसे विभिन्न व्यापारी देशों की राष्ट्रीय आय में परिवर्तन दूसरे देशों की राष्ट्रीय आय में परिवर्तन लाते हैं और भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न करते हैं।

21.3.2 मौद्रिक असन्तुलन

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता का प्रमुख कारण मौद्रिक असन्तुलन है। इस प्रकार के असन्तुलन की स्थिति मौद्रिक कारणों से उत्पन्न होती है। मौद्रिक असन्तुलन की स्थिति स्फीति (Inflation) के कारण उत्पन्न होती है। स्फीति काल में अर्थव्वस्था पर निम्न प्रभाव दिखायी देते हैं :—

(अ) कीमत वृद्धि होने से आयातों की मांग बढ़ जाती है। उपभोक्ता स्वदेशी वस्तुओं के स्थान पर आयातित वस्तुओं का उपभोग करने लग जाते हैं।

(ब) कीमत वृद्धि होने से निर्यातों में भी कमी होना शुरू हो जाता है जिसके फलस्वरूप निर्यात वस्तुओं का स्टाक बढ़ने लगता है तथा इसका निर्यात करना भी कठिन हो जाता है। इस प्रकार स्फीति काल में मौद्रिक असन्तुलन उत्पन्न होजाने से देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि विश्व के अन्य देशों में भी स्फीति काल है तो X देश के भुगतान सन्तुलन पर निम्न प्रभाव हो सकते हैं :—

(अ) यदि X देश में स्फीतिकाल विद्यमान है और अन्य देशों में भी यही स्थिति है तो X देश का भुगतान सन्तुलन 'अनुकूल' हो सकता है परन्तु X देश में स्फीति अन्य देशों की स्फीति की तुलना में अधिक है तो X देश का भुगतान संतुलन 'प्रतिकूल' होगा।

(ब) यदि विश्व के अन्य देशों में अथवा शेष विश्व (rest of the world) में स्फीति X देश की तुलना में अधिक है तो X देश का भुगतान सन्तुलन 'अनुकूल' होगा।

किसी देश में मौद्रिक असन्तुलन की स्थिति विनिमय दर में असन्तुलन के कारण भी होती है। ऐसी स्थिति विशेष परिस्थिति में ही उत्पन्न होती है। मुद्रा का पुनर्मूल्यन आयातों को प्रोत्साहित तथा निर्यातों को हतोत्साहित करने के लिए किया जाता है। तो ऐसी स्थिति में X देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है।

21.3.3 तकनीकी परिवर्तन

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता तकनीकी परिवर्तनों से उत्पन्न होती है। यदि किसी देश में तकनीकी परिवर्तन होता है तो वहां के भुगतान सन्तुलन पर निम्न प्रभाव हो सकते हैं :—

(अ) जिन वस्तुओं के उत्पादन तकनीकी में परिवर्तन होता है उन्हें तुलनात्मक लाभ अधिक अथवा तुलनात्मक हानि कम अथवा समाप्त हो जाती है। पहली अवस्था में देश के निर्यात बढ़ते हैं तो दूसरी अवस्था में आयात कम होते हैं। इस प्रकार तकनीकी परिवर्तन से देश के भुगतान सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ते हैं।

(ब) देश में तकनीकी परिवर्तन होने के साथ साथ यदि अन्य देशों में भी इस प्रकार के

परिवर्तन होते हैं तो देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि ऐसी स्थिति में देश का तुलनात्मक लाभ कम अथवा समाप्त हो जाता है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन में असाम्यता तकनीकी परिवर्तनों के कारण होती है।

21.3.4 पुंजीगत हानियां

युद्ध अथवा प्राकृतिक विपदाओं अथवा अन्य कारणों से भारी पूंजीगत हानियां होती है जिसके कारण देश के भुगतान सन्तुलन में संरचनात्मक असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। पूंजीगत हानियों के कारण अर्थव्यवस्था में निम्न परिणाम दिखाई देंगें :—

(अ) देश में आकस्मिक कारणों से उपभोग वस्तुएं तथा कच्चा माल में कमी हो जाती है और बिगड़ी हुई अर्थव्यवस्था में सुधार लाने के लिए पूंजीगत वस्तुओं की आवश्यकता होती हैं। अतः आयात की मांग विशेषकर बढ़ जाती है।

(ब) ऐसी स्थिति में देश के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव होते हैं जिसके परिणाम स्वरूप आयातों की मात्रा निर्यातों की मात्रा की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाती है।

इस प्रकार पूंजीगत हानियां देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न करती है।

21.3.5 दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह में परिवर्तन

देश की दीर्घकालीन पूंजी की पूर्ति अथवा दिशा में परिवर्तन होने से भुगतान सन्तुलन में संरचनात्मक असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। पूंजीगत प्रवाह की गति अचानक रूकने के कारण देश की संरचना में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप भुगतान सन्तुलन पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव होते हैं।

21.3.6 संस्थागत परिवर्तन

भुगतान सन्तुलन में संरचनात्मक असाम्यता के कुछ और भी कारण है जो आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक रूप एवं संरचना के उन संस्थागत परिवर्तनों में निहित रहते है जिनमें कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का संचालन किया जाता है। इस प्रकार की असाम्यता के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जैसे — व्यापार करने वाले देश कृत्रिम व्यापार अथवा भुगतानों के अवरोध लागू कर देते हैं तो संस्थागत असाम्यता जन्म लेती है। जब एक देश अपने प्रशुल्क (Tariff) को बढ़ा देता है अथवा अम्यंश (Quota) प्रणाली लागू कर देता है अथवा आयात सम्बन्धी नियंत्रणों (Import restrictions) को कठोर कर देता है तो इसके फलस्परूप दूसरे देशों के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है।

21.3.7 घटकस्तर पर संरचना सम्बन्धी विकृतियां

किसी देश में घटक स्तर पर संरचना सम्बन्धी विकृतियां हो जाने से भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। उत्पति के X साधन की कीमत में वृद्धि हो जाने से Y साधन का प्रयोग बढ़ जाता है। इसके परिणाम स्वरूप भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के तौर पर — द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इटली में श्रम साधन की कीमत बढ़ गयी थी परन्तु पूंजी दर स्थिर रहने के कारण पूंजी प्रधान तकनीकी का प्रयोग बढ़ गया। इसके परिणाम स्वरूप एक ओर देश में पूंजी की कमी आ गयी तो दूसरी ओर श्रम साधन में बेकारी बढ़ गयी। इस प्रकार इटली के भुगतान सन्तुलन में गम्भीर असंतुलन उत्पन्न हो गया।

21.3.8 विभेदात्मक सरकारी नीति

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता सरकार द्वारा विभेदात्मक नीति का प्रयोग करने

से उत्पन्न होती है। उदाहरण के तौर पर X देश में आयातों की मांग बेलोचदार है और निर्यातित वस्तुओं की विदेशी मांग लोचदार है तो ऐसी स्थिति में X देश आयात कर अथवा निर्यात कर लगा देता है तो इसका X देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

21.3.9 व्यापार शर्तें

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जिस मूल्य पर वस्तुओं का आदान प्रदान होता है उसे 'व्यापार शर्तें' के नाम से जाना जाता है। व्यापार शर्तें देश के भुगतान सन्तुलन में असन्तुलन पैदा कर देती हैं। ये निम्नलिखित अवस्था में भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न करती हैं :—

(अ) प्रथम अवस्था यह है कि आयातित वस्तुओं की कीमत में गिरावट हो परन्तु निर्यातित वस्तुओं की कीमतों में गिरावट इससे अधिक हो,

(ब) द्वितीय अवस्था यह है कि आयातित वस्तुओं की कीमत स्थिर रहे परन्तु निर्यातित वस्तुओं की कीमत घटने लगें,

(स) तृतीय अवस्था यह है कि आयातित वस्तुओं की कीमत बढ़े परन्तु निर्यातित वस्तुओं की कीमत घटने लगे,

(द) अन्तिम अवस्था यह है कि आयातित वस्तुओं की कीमत बढ़ जावे परन्तु निर्यातित वस्तुओं की कीमत स्थिर रहे।

इस प्रकार किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता का कारण 'व्यापार शर्तें' हैं।

21.3.10 मुद्राप्रसार (Inflation)

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता स्फीति अथवा मुद्रा प्रसार के कारण उत्पन्न होती है। स्फीति काल में निर्यातित वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाती है फलस्वरूप पहले की अपेक्षा निर्यात कम हो जाते है। दूसरी ओर आयातित वस्तुओं की मांग में भी वृद्धि हो जाती है। ये सब बातें देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में इन सब बातों का देश के भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

21.3.11 देश का आर्थिक विकास (Economic Development)

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता का प्रमुख कारण आर्थिक विकास की प्रक्रिया है। मान लीजिए X देश आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरण में है। ऐसी अवस्था में वह देश कच्चे माल, नये नये यंत्र, पूंजी उपकरण, मशीनें और विकास से सम्बन्धित सेवाओं का आयात करता है और प्राथमिक उत्पादन का निर्यात करता है जिससे आयातित वस्तुओं की कीमत में वृद्धि और निर्यातित वस्तुओं की कीमत में गिरावट आ जाती है। ये सब बातें X देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न कर देती है।

21.4 भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने के उपाय (Measures to correct disequilibrium in Balance of payment)

इस इकाई के खण्ड 21.3 में भुगतान सन्तुलन में असाम्यता उत्पन्न होने के कारणों का अध्ययन किया। प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था के लिए भुगतान सन्तुलन में साम्यता का होना आवश्यक है। भुगतान सन्तुलन मे 'असाम्यता' देश की अर्थ व्यवस्था में असन्तुलन उत्पन्न कर देती है। अतः इस असन्तुलन अथवा असाम्यता को दूर करना बहुत ही आवश्यक है। भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को निम्न प्रमुख उपायों द्वारा दूर किया जा सकता है :—

(i) मौद्रिक उपाय
(ii) गैर मौद्रिक उपाय
(iii) अन्य उपाय।

उपर्युक्त उपायों की सविस्तार व्याख्या इस इकाई के खण्ड 21.5, 21.6, 21.7 में की गयी है।

21.5 मौद्रिक उपाय (Monetary measures) :

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता मौद्रिक कारणों से उत्पन्न होती है। भुगतान सन्तुलन के असन्तुलन को निम्न मौद्रिक उपायों द्वारा दूर किया जा सकता है :—

(अ) अवमूल्यन
(ब) प्रशुल्क
(स) पूंजी की गतिशीलता
(द) विनिमय मूल्य ह्रास
(य) विनिमय अवमूल्यन
(र) मुद्रा संकुचन
(ल) ब्याज दर में परिवर्तन

उपर्युक्त मौद्रिक उपयों की विस्तृत व्याख्या इस इकाई के खण्ड 21.5.1 से 21.5.7 तक में की गयी है।

21.5.1 अवमूल्यन नीति (Devaluation)

किसी देश के भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने का महत्वपूर्ण मौद्रिक उपाय 'अवमूल्यन' है। अवमूल्यन के कारण विदेशी बाजार में देशी वस्तुएं सस्ती हो जाती है। ऐसी दशा में क्रेता कम मुद्रा देकर अधिक वस्तुएं खरीदते हैं और निर्यातित वस्तुओं की मांग पहले की अपेक्षा बढ़ जाती है जिससे एक और निर्यात प्रोत्साहित होते हैं तो दूसरी ओर आयातित वस्तुओं की कीमत में वृद्धि हो जाने से इनकी मांग कम हो जाती है और आयात हतोत्साहित होते हैं। दूसरे शब्दों में अवमूल्यन के कारण देशी मुद्रा का मूल्य पहले की अपेक्षा कम हो जाता है जिससे निर्यात वस्तुएं सस्ती और आयात वस्तुएं महंगी हो जाती है। इसके फलस्वरूप निर्यातों में वृद्धि और आयातों में कमी हो जाती है। इस प्रकार भुगतान सन्तुलन में असाम्यता दूर हो जाती है। इसको रेखाचित्र 21.3 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

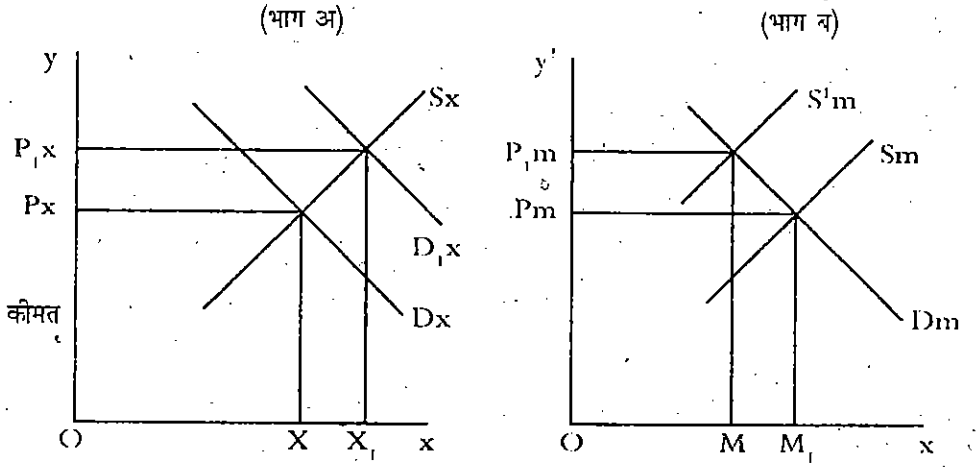

रेखा चित्र 21.3 राष्ट्रीय आय

रेखा चित्र 21.3 भाग अ में निर्यात तथा इसकें भाग ब में आयात मापी गयी है। यहां निर्यात पूर्ति वक्र Sx है जो कि स्थिर मान लिया है। रेखाचित्र 21.3 भाग अ में Dx वक्र निर्यात वस्तुओं का मांग वक्र है। तथा D_1x वक्र अवमूल्यन के कारण निर्यात वस्तुओं की मांग में हुई वृद्धि को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार अवमूल्यन के कारण निर्यात वस्तुएं सस्ती हो जाती है जिसके फलस्वरूप मांग वक्र Dx दायीं ओर खिसक कर D^1x हो जाता है। अवमूल्यन नीति अपनाने से निर्यात पर होने वाले प्रभाव तालिका 21.3 द्वारा दर्शाये गए हैं।

तालिका 21.1 निर्यात स्थिति

अवस्था	कीमत	निर्यात वस्तुओं की मात्रा
अवमूल्यन से पूर्व	OPx	OX
अवमूल्यन के बाद	OP_1x	OX_1

अवमूल्यन नीति अपनाने से पूर्व कीमत OPx है तथा अवमूल्यन के बाद यह कीमत OPx से बढ़कर OP_1X हो जाती है। रेखाचित्र 21.3 भाग ब में Dm वक्र आयात वस्तुओं का मांग वक्र है यहां Dm वक्र को स्थिर मान लिया है। रेखाचित्र 21.3 भाग ब में Sm वक्र आयात वस्तुओं का मांग वक्र है तथा अवमूल्यन के बाद Sm वक्र बांयी ओर खिसक कर S^1m हो जाता है। इस प्रकार अवमूल्यन के कारण आयात वस्तुएं मंहगी हो जाती है जिसके फलस्वरूप पूर्ति वक्र Sm बांयी ओर खिसक कर S^1m हो जाता है। अवमूल्यन नीति अपनाने से आयात पर होने वाले प्रभाव तालिका 21.3 द्वारा दर्शाये गए हैं।

तालिका 21.2 आयात स्थिति

अवस्था	कीमत	आयात वस्तुओं की मात्रा
अवमूल्यन से पूर्व	OPm	OM
अवमूल्यन के बाद	OP^1m	OM_1

इस प्रकार भुगतान सन्तुलन में उत्पन्न असाम्यता को अवमूल्यन नीति का प्रयोग करके दूर किया जाता है। अवमूल्यन नीति की सफलता के लिए किसी देश के आयात एवं निर्यात वस्तुओं की मांग लोचदार होना एक आवश्यक शर्त है। दूसरे शब्दों में इन वस्तुओं की मांग बेलोचदार नहीं हो अथवा मांग की लोच इकाई से कम है तो ऐसी अवस्था में अवमूल्यन विधि असफल होगी।

21.5.2 प्रशुल्क नीति (Tariff)

किसी देश के भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने का प्रशुल्क नीति एक महत्वपूर्ण उपाय है। यह विधि आयातित वस्तुओं की मात्रा को कम करती है तथा घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहित करती है। इसके परिणामस्वरूप भुगतान सन्तुलन की असाम्यता दूर हो जाती है। इस विधि के प्रभाव को रेखाचित्र 21.4 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र 21.4 में DD वक्र मांग वक्र तथा Sm वक्र पूर्ति वक्र है। प्रशुल्क विधि के प्रयोग से पूर्व कीमत OP है तथा OP कीमत पर वस्तु की मात्रा की मांग OM है। प्रशुल्क विधि के अपनानो के बाद अर्थात प्रशुल्क PR के बराबर लगाने के पश्चात् वस्तुओं की मांग मात्रा OM से घटकर OH रह जाती है तथा Sm पूर्ति वक्र खिसक कर Sm+T हो जाता है। ऐसी स्थिति में घरेलू पूर्ति कीमत OP से बढ़कर OR हो जावेगी परन्तु निर्यातित देश में पूर्ति कीमत OP से घटकर OL हो जावेगी तथा सरकार को LR क्षेत्र के बराबर राजस्व (revenue) मिलेगा।

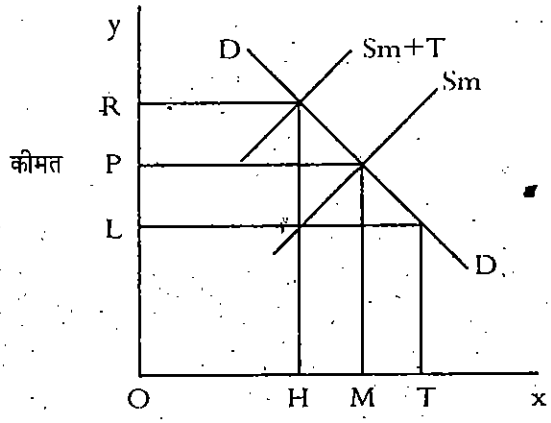

रेखा चित्र 21.4 आयात

यदि विदेशी विनिमय कीमत OL (घरेलू मुद्रा का अधिमूल्यन के कारण) रखते है तो आयात की मात्रा OM से बढ़कर OT हो जावेगी तथा अयातों की अधिक मांग के कारण घाटा MT के बराबर होगा। यदि सरकार इस पूर्ति की नीलामी करे तो आयातित देश OR की कीमत देने को तैयार हो जावेगा। ऐसी स्थिति में भुगतान सन्तुलन में सुधार होगा क्योंकि अयातित वस्तुओं की मात्रा OM से घटकर OH ही रह जावेगी।

इस प्रकार देश के भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को ठीक करने में प्रशुल्क विधि बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है।

21.5.3 पूंजी की गतिशीलता (capital movements)

किसी देश के भुगतान सन्तुलन में असाम्यता को दूर करने को महत्वपूर्ण उपाय 'पूंजी की गतिशीलता' है। लोचदार ब्याज दरों और पूर्ण पूंजी गतिशीलता की समायोजन प्रक्रिया का विश्लेषण इस प्रकार है :—

(अ) यदि पूंजी पूर्ण गतिशील है तो घरेलू ब्याज दर में थोड़ा सा परिवर्तन से पूंजी में बड़े प्रवाह होते है। जब घरेलू ब्याज दर और विश्व दर बराबर होती है तो इसे भुगतान सन्तुलन की साम्यावस्था कहा जाता है।

(ब) यदि घरेलू ब्याज दर विश्व दर से कम है तो पूंजी बहिर्प्रवाह अधिक होता है जिससे मुद्रा का मूल्य घट जाता है।

(स) यदि घरेलू ब्याज दर विश्व दर से अधिक है तो पूंजी का अन्तर्प्रवाह अधिक होता है जिससे मुद्रा का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। किसी देश के भुगतान सन्तुलन मे असाम्यता उत्पन्न होने पर यह पूंजी की गतियों के माध्यम से दूर की जाती है। इस विधि के निम्न दो प्रमुख उपकरण है :—

(अ) राजकोषीय नीति (Fiscal policy);
(ब) मौद्रिक नीति (Monetary policy)।

राजकोषीय नीति पूंजी के प्रवाहों को सीधा प्रभावित करती है। अतः इस उपकरण को भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने क लिए प्रयोग किया जाता है। राजकोषीय नीति के कार्यकरण को रेखाचित्र 21.5 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

रेखा चित्र 21.5 में Is वक्र राजकोषीय नीति तथा LM वक्र मौद्रिक नीति के कार्यकरण को व्यक्त करते है। BOP वक्र ब्याज दर और राष्ट्रीय आय स्तर के विभिन्न संयोगों को बताता है जहां भुगतान शेष में सन्तुलन स्थापित होता है। क्षैतिज अथवा समानान्तर OBP वक्र पूंजी

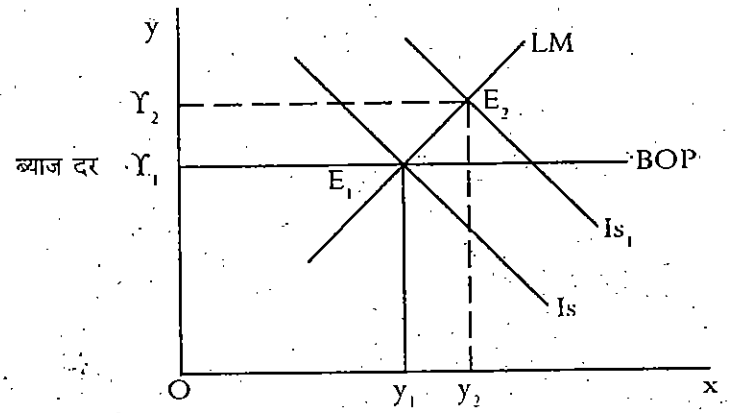

रेखा चित्र 21.5 आय स्तर

की पूर्ण गतिशीलता को बताता है। यहां OY_1 ब्याज दर पर भुगतान सन्तुलन की साम्यावस्था है। ब्याज दर में परिवर्तन से पंजी के प्रवाहों में परिवर्तन होता है। राजकोषीय नीति की प्रक्रिया से Is वक्र खिसक कर Is_1 वक्र हो जाता है। इस प्रकार सन्तुलन बिन्दु E_2 स्थापित हो जाता है। अब ब्याज दर OY_1 से बढकर OY_2 हो जाती है। यहां E_2 बिन्दु BOP वक्र से ऊपर है जो भुगतान सन्तुलन में अतिरेक को बताता है। इस अतिरेक से विनिमय दर के मूल्य में वृद्धि हो जाती है जो घरेलू उत्पादन की मांग को घटा देती है। मूल्य वृद्धि की यह प्रक्रिया घरेलू ब्याज दर विश्व दर से अधिक होने पर होती रहती है तथा पूंजी के अन्तर्प्रवाह जारी रहते है। इस प्रकार मूल्य वृद्धि से वस्तुओं की मांग कम हो जाती है और राजकोषीय नीति का विस्तारकारी प्रभाव समाप्त होने लगता है। यह क्रम जब तक चलता रहता है जब तक कि Is_1 वक्र खिसक कर Is नहीं हो जाता है और पुनः संतुलन बिन्दु E_2 से E_1 स्थापित नहीं हो जाता। यहां सन्तुलन बिन्दु E_1 पर मूल ब्याज दर OY_1 तथा मूल आयस्तर OY_1 है। यहां सन्तुलन बिन्दु E_1 पर भुगतान सन्तुलन 'साम्यावस्था' में है। अर्थव्यवस्था में मुल्य वृद्धि के कारण व्यापार सन्तुलन में घाटा होने से विदेशों में घरेलू वस्तुओं की कीमत बढ़ जाती है और आयातित वस्तुओं की कीमत कम हो जाती है और जो निर्यातों में कमी और आयातों में वृद्धि करती है। इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में असाम्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसको राजकोषीय नीति के पूंजी प्रवाहों के माध्यम से ठीक किया जाता है। यदि अर्थव्यवस्था में पूंजी की पूर्ण गतिशीलता है तो राजकोषीय नीति का आय स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पडता है।

देश की अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति पूंजी के प्रवाहों को सीधा प्रभावित करती है। अतः इस उपकरण का प्रयोग भुगतान सन्तुलन की असाम्यता को दूर करने के लिए किया जाता है। मौद्रिक नीति के कार्य करण को रेखा चित्र 21.6 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

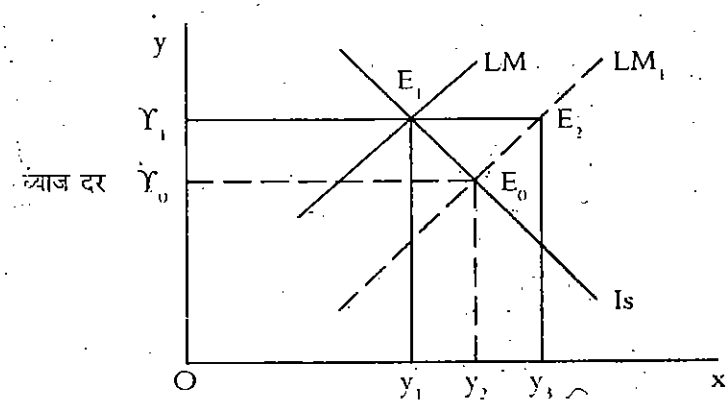

रेखा चित्र 21.6 आय स्तर

है। इस प्रकार की समस्यायें क्षेत्र विशेष की होती हैं और सूक्ष्म रूप से सदैव ही अलग होंगी तथा उनके लिए नियोजन भी स्थानीय या क्षेत्रीय सत्ता करेगी। इस दृष्टि से भी बहु-स्तरीय नियोजन विशेषकर क्षेत्रीय या ग्राम्य-स्तर नियोजन आवश्यक व उपयुक्त है।

8. केन्द्रीय स्तर पर संगठित होने वाले नियोजन आयोग के सदस्य एकदम अनुभवी तथा सिद्ध उत्पन्न नहीं हुए हैं। वे सभी कहीं न कहीं प्रारम्भिक अवस्था और स्थिति में नगर स्तरीय नियोजन या जिला स्तरीय नियोजन या मण्डल स्तरीय नियोजन या राज्य-स्तरीय नियोजन से सम्बद्ध अवश्य रहे होंगें या रहे हैं जिससे उनका वास्तविक स्थितियों से परिचय रहा होगा या रहा है। तभी वे व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय नियोजन व्यवस्था के लिये लाभकारी और उपयुक्त रहे हैं या रहे होंगे। इस सीढ़ी को पूरा करने तथा निर्माण करने के लिए भी विभिन्न स्तर पर नियोजन आवश्यक है जो व्यवस्था के अगले स्तर के लिए अनुभवी व सिद्ध नियोजन कर्त्ता उत्पन्न कर सकें।

9. प्रावैगिक जानकारी की दृष्टि से, यह उपयुक्त है कि जिस स्तर की समस्या हो उसी स्तर पर उसके नियोजन कर्त्ता भी कार्यरत हों। पंजाब की समस्या को सुलझाने के लिए केरल का मुख्यमन्त्री नहीं आयेगा और न ही उसका कोई स्थान अथवा औचित्य है। इसीलिए बहुस्तरीय नियोजन करके हर क्षेत्र की समस्या को उस क्षेत्र की क्षमता, जनशक्ति, साधन शक्ति के प्रयोग से फलीभूत किया जा सकता है हल निकाला जा सकता है या सुलझाया जा सकता है।

26.1 प्रस्तावना :-

मार्च 1950 में, देश में, नियोजन आयोग की स्थापना की गयी। इसके प्रारम्भ से ही, देश का प्रधानमन्त्री इसका अध्यक्ष रहता है। आयोग के दिन-प्रति-दिन का कार्य देखना उपाध्यक्ष का दायित्व है। दूसरे शब्दों में, आयोग का नित्य प्रति का कार्य देखने हेतु इसका एक उपाध्यक्ष होता है। स्मरण रहे, उपाध्यक्ष का पद और नियोजन मन्त्री का पद अलग-अलग होते हैं यह दो पद हैं एक नहीं। नियोजन आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद को एक सचिवालय प्रदान करता है और सुविधा देता है। यह सचिवालय राष्ट्रीय स्तर पर राज्य सरकारों को, नियोजन के राष्ट्रीय संगठन से, एक अंग के रूप में जोड़े रखता है।

नियोजन आयोग अनेक विभागों और उपविभागों की सहायता से कार्य करता है। इनमें से प्रत्येक विभाग अथवा उपविभाग का मुखिया एक वरिष्ठ अधिकारी होता है। यह अधिकारी भिन्न-भिन्न नामों जैसे सलाहकार, मुख्य सचिव अथवा संयुक्त सचिव, जैसे नामों से जाना जाता है। कुछ विभागों के अधिकारी मध्यम ग्रेड के अफसर होते हैं। इन्हें निदेशक कहा जाता है यह अपने वरिष्ठ अधिकारियों के सहयोग से कार्य करते हैं। आयोग के पूर्ण कालिक सदस्यों का यह दायित्व है कि वे विभागों तथा उपविभागों के नित्यप्रति कार्यों को देखें यद्यपि सम्पूर्ण आयोग एक पूरे अंग की तरह कार्य करता है और सभी महत्वपूर्ण नीतिगत मामलों पर संयुक्त रूप से सभी को सलाह देता है। विभिन्न विभाग, दो बड़े भागों में विभक्त होते हैं (1) सामान्य विभाग, जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के कुछ विशिष्ट पहलुओं से होता है। और (2) विषय विभाग (जो कई होते हैं) जिनका संबंध विकास के विशेष क्षेत्रों से होता है। इसके अतिरिक्त, नियोजन आयोग का दूरगामी भविष्य जनित नियोजन के लिए भी एक अलग विभाग है जिससे यह आशा और अपेक्षा की जाती है कि विभिन्न विभागों और उप विभागों द्वारा किये जा रहे दीर्घगामी विकास कार्यक्रम के लिए उन्हें समय-समय पर सामान्य उचित और सामयिक मार्ग दर्शन दे।

सामान्य विभाग इस प्रकार है:-

(1) आर्थिक विभाग

(2) भविष्यगामी सम्भावी नियोजन विभाग,

(3) श्रम और रोजगार विभाग,

(4) साँख्यिकी तथा सर्वेक्षण विभाग,

(5) कार्यक्रम और प्रशासन विभाग,

(यह विभाग, राज्यों द्वारा अपनायी गयी योजनाओं की निगरानी करता है तथा समन्वय स्थापित करता है और नियोजन आयोग द्वारा अधिक पिछड़े हुए क्षेत्रों व राज्यों में किए जा रहे कार्यों का भी समन्वय करता है।)

(6) साधन और वैज्ञानिक अन्वेषण विभाग

(7) सामाजिक-आर्थिक खोज (एस.ई.आर.) विभाग,

(8) योजना समन्वय उप विभाग,

(2) विषय विभाग हैं।

(1) कृषि विभाग,

(2) सिंचाई तथा चालक शक्ति विभाग,

(3) भूमि सुधार विभाग,

(4) उद्योग खनिज विभाग,

(5) ग्रामीण तथा लघु स्तरीय उद्योग विभाग,

(6) यातायात तथा संचारवाहन विभाग,

(7) ग्रामीण कार्य विभाग,

(8) शिक्षा विभाग,

(9) स्वास्थ्य विभाग,

(10) आवास विभाग,

(11) समाज कल्याण विभाग

(12) जन सहयोग विभाग,

(3) बहुस्तरीय नियोजन ढाँचा :—

अधिकार क्षेत्र, शक्ति, क्षमता, कार्य-क्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र, क्षेत्रीय आधार इत्यादि के संदर्भ में, देश में नियोजन व्यवस्था इस प्रकार है:—

(1) नियोजन आयोग : सम्पूर्ण देश की अर्थव्यवस्था के लिए नियोजन के लिए उत्तरदायी संस्था।

(2) राज्य नियोजन आयोग : देश के प्रत्येक राज्य तथा केन्द्र शासित क्षेत्र के लिए एक-एक

(3) मण्डलीय नियोजन समिति : प्रत्येक राज्य के प्रत्येक मण्डल में एक-एक।

(4) जिला या जनपद नियोजन समिति : प्रत्येक जिले के लिए एक।

(5) ग्राम पंचायत, ग्राम सभा अथवा जिला पंचायत।

(6) सामूदायिक विकास योजना एवं ग्राम्य प्रसार सेवा।

26.2 विश्व-अर्थ व्यवस्थाओं में पायी जाने वाली विभिन्न प्रकार की नियोजन व्यवस्थायें अथवा प्रणालियाँ :

26.2.1 साम्यवादी बनाम प्रजातान्त्रिक नियोजन :-

सोवियत रूस ने, जो नियोजन के क्षेत्र में अग्रणीय और अगुआ माना जाता है, एक सख्त, दृढ़, लोचविहीन, सर्वशक्तिवादी रूप की नियोजन व्यवस्था अपनायी जिसे ''साम्यवादी नियोजन'' कहते हैं। इस व्यवस्था को अपनाते हुए, सम्पूर्ण सोवियत संघ में, अर्थव्यवस्था के ''समाजिकरण करने के अथक व चहुँमुखी प्रयास किये गये और इस प्रक्रिया में, निजी साहस व उद्यम तथा स्वतंत्र बाज़ार संयंत्रों को सुनियोजित और क्रमिक रूप से कुचल दिया गया। सोवियत नियोजन कर्ता देश में, तीव्रगामी तथा चमत्कारिक गति से बड़े उद्योगों के विकास चाहते थे और इसी दिशा में प्राथमिक और प्रमुख रूचि रखते थे जिसके कारण, उपभोग-वस्तु उद्योगों की ओर अरूचि और उदासीनता उत्पन्न हो गयी। इसका परिणाम हुआ समस्त यू. एस. एस. आर. की जनता के लिए कष्ट व संकट तथा अभाव। नियोजन कर्ताओं की हर हालत में तथा हर कीमत पर योजना की सफलता के लिए अंधे और क्रूर प्रयास और उसकी दिन प्रति दिन की उपलब्धि में अतिव्यस्तता का परिणाम यह हुआ कि आम जनता में क्रूरता, विद्रोह, कठोरता, प्रतिक्रिया और विभागीकरण तथा वर्गीकरण को बढ़ावा मिला और चारों ओर आर्थिक सामाजिक असन्तोष पनपने लगा।

इस प्रकार के दृढ़ अलोचपूर्ण तथा कठोर प्रकार के ''साम्यवादी नियोजन'' के विपरीत प्रजातान्त्रिक नियोजन है जो दो प्रकार का होता है। एक हल्के-फुल्के प्रकार के प्रजातान्त्रिक नियोजन का प्रारम्भ, अमेरिका में, महान तीसे की मन्दी से निपटने व संघर्ष करने के लिए किया गया तथा ब्रिटेन में, द्वितीय महायुद्ध के बाद के काल में ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण हेतु किया गया। अमरीका और ब्रिटेन में नियोजन ने आर्थिक सम्बन्धों के एक प्रकार के जागरूक पुनर्व्यवस्थापन का रूप लिया। इसने ''स्व नियन्त्रणकारी स्वचालित व्यवस्था'' की अभिपूर्ति की जिसका आधार था प्रतिस्पर्द्धा और निजी उद्यम जो प्रतिस्पर्द्धा पर आद्यारित था। इस प्रकार का प्रजातान्त्रिक नियोजन, आम जनता की आर्थिक सामाजिक दशाओं को सुधारता है और साथ ही साथ किसी प्रकार की तंग व कंटकीय जटिलता अथवा जन असन्तोष को भी जन्म नहीं देता।

दूसरे प्रकार का प्रजातान्त्रिक नियोजन, पहले प्रकार के प्रजातान्त्रिक नियोजन की तुलना में ज्यादा संकेन्द्रित, ज्यादा समन्वित और ज्यादा गहन होता है। इस प्रकार का नियोजन, एक ओर तो दृढ़ लोचविहीन, दमनकारी व क्रूर साम्यवादी नियोजन तथा दूसरी ओर, कल्याण-प्रेरित, हल्के-फुल्के प्रकार के प्रजातान्त्रिक नियोजन, दोनों के बीच का मध्य मार्ग है और इसलिए उस अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था वाले देश की प्रजातान्त्रिक सरकार के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है जो सरकार के आर्थिक विकास को गतिमान करने के दायित्व को ओढ़ लेता है। नियोजन की इसकी तकनीक व प्रणाली को अपनाने का अर्थ होगा कि राज्य यह देखे और सुनिश्चित करले कि राष्ट्रीय आय के उस अंश में अनिवार्य रूप से वृद्धि हो रही है जो अंश उपभोग की ओर से तो खींच लिया जाता है तथा निवेश को समर्पित किया जाता है। अर्थात उपभोग के स्थान पर उत्पादक कार्यों के लिए निवेश बढ़ाया ज़ाता है। पर मुश्किल तो यह है कि प्रजातान्त्रिक देश की सरकार के लिए यह लगभग असम्भव सा हो जाता है कि वह तीव्र विकास को प्राथमिकता देने के चक्कर व अभियान में, उपभोग को निरपेक्ष न्यूनतम स्तर पर बनाये रखे। प्रजातांन्त्रिक नियोजन

के अन्तर्गत जनता का कल्याण तथा उसकी खुशहाली भी बहुत महत्व के होते हैं। इसलिए आवश्यक रूप से, ''विकास'' उद्देश्य तथा ''कल्याण'' उद्देश्य के बीच समझौता करना होता है। यही है वह तकनीक व व्यवस्था जो हमने भारत में अपनायी है।

भारत, मानव-स्वतन्त्रता और गौरव में अटूट विश्वास रखता है इसलिए उसकी विकास योजनायें, यद्यपि वे उच्चस्तरीय संकेन्द्रण और समन्वय का विषय व आधार हैं, मूलरूप से तथा आधारभूत ढ़ांचे में, कल्याण-जनित है। भारत की पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी व छठी योजनायें, सुनियोजित, सुसंगठित, समन्वित और केन्द्रित नियोजन के उत्तम और आदर्श उदाहरण है। जिनका उद्देश्य रहा है, एक पिछड़ी हुयी धीमी गति से चलने वाली शिथिल अर्द्धविकसित अर्थ-व्यवस्था के करोड़ों लोगों की जीवन-दशाओं और कल्याण सम्बन्धी आवश्यकता की आपूर्ति में वृद्धि करें। जिसके लिए साधनों का प्रभावपूर्ण प्रयोग व विदोहन किया जाय जो अन्त में स्थायी रूप से अर्थव्यवस्था में प्रावैगिक विकास और गतिमानता का मार्ग प्रशस्त करे। भारत में, उत्तरोत्तर वृद्धिमान आर्थिक विकास को प्राप्त करने के लिए, केन्द्रित और कल्याण-जनित नियोजन प्रणाली को इसलिए समर्थित तथा प्रोत्साहित नहीं किया गया कि यहाँ पर एक प्रजातान्त्रिक सरकार है बल्कि इसलिए भी अपनाया गया क्योंकि उस सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी या आधार शिला, जो सामाजिक व्यवस्था कि मूल रूप से, आर्थिक विकास की बैलगाड़ी व्यवस्था और हथकरघा अवस्था के अनुकूल चल रही थी, अब सोद्देश्य-पालित सक्रिय राज्य-क्रिया के सकारात्मक प्रभाव के कारण शनैः शनैः क्षीण खण्डित व धूमिल होती जा रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था में, स्वतंत्र-बाजार संयन्त्रों ने निरन्तर ही एक स्पष्ट भूमिका निभायी है। पंचवर्षीय योजनाओं से जो आर्थिक ढ़ांचा भारत के संदर्भ में उभर कर आया है वह है ''मिश्रित अर्थव्यवस्था'' जिसमें सार्वजनिक उपक्रम और उद्यम तथा निजी उपक्रम और उद्यम का अस्तित्व सम्भव है।

26.2.2 अधिकारात्मक नियोजन बनाम मार्ग निर्देशात्मक या दिशा निर्देशात्मक नियोजनः–

आज कल कुछ रिवाज सा बन गया ''अधिकारात्मक अथवा आदेशात्मक नियोजन या सर्वशक्ति मानता परक नियोजन, निर्देशन के अनुसार नियोजन, आदेश के अनुसार नियोजन इत्यादि और ''दिशा निर्देशात्मक नियोजन'' या ''मार्ग दर्शनात्मक नियोजन या रजामन्दी से तैयार किया गया नियोजन, प्रेरणाजनित नियोजन, नियन्त्रित नियोजन या मार्गदर्शित नियोजन इत्यादि के बीच के अन्तर को जाने, पहचाने, खोज करें तथा इन दोनों के बीच के अन्तर को स्थापित करें। निर्देशात्मक अथवा मार्गदर्शनात्मक नियोजन प्रणाली के अन्तर्गत जैसा कि हम फ्रांस में पाते हैं, नियोजन सत्ता या संस्था, मात्र एक समन्वयात्मक ऐजेन्सी है और यह, योजना-निर्माण हेतु, सम्बन्धित संस्था अथवा सत्ता को केवल मार्गदर्शन दिया जाता है। विस्तृत क्षेत्रीय लक्ष्यों का रूप रेखा अनेक छोटी-छोटी समितियाँ, जिनमें उन सभी वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं जो कि मिले हुए अथवा प्राप्त हुए अथवा लिए गए निर्णयों को कार्य व व्यवहार में परिणित करेंगे और इस तरह लक्ष्य, योजनाओं के लिए निर्मित तथा निर्धारित होते रहेंगे। कहीं पर किसी प्रकार का दबाव या धौंस नहीं है। इस प्रजातान्त्रिक नियोजन व्यवस्था के अन्तर्गत, नियोजन एक प्रकार की सहकारी, समयक समन्वित, समरूप, सहज व सरल प्रक्रिया है जो एक ओर तो नियोजन आयोग तथा दूसरी ओर, छोटी-छोटी उप समितियों के संयुक्त कार्यकरण, कार्यशैली और कार्य क्षमता तथा गति पर निर्भर करेगी।

लेकिन, आदेशात्मक नियोजन प्रणाली के अन्तर्गत, एक प्रकार का दमन, दबाव, अनिवार्यता का तत्व निहित रहता है। इस प्रकार की नियोजन प्रणाली की एक विशेषता और भी है और वह यह है कि इसके क्रियान्वयन के लिए एक प्रशासनिक तन्त्र या संयंत्र या व्यवस्था होती है जो निवेश तथा उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों को क्रियान्वित करवाने की विपुल शक्ति व सत्ता रखती है। जिस शक्ति के कारण, वह निर्णय क्रियान्वयन हेतु अन्तिम आर्थिक इकाइयों तक पहुंचते हैं

और उन्हें कार्य करना पड़ता है। भारत की पहली चार योजनाओं में इस प्रकार की मोटी-मोटी विशेषता दिखाई पड़ती है।

26.2.3 केन्द्रित बनाम विकेन्द्रित नियोजन:-

ऊपर हम देख चुके हैं कि अनिवार्य अथवा आदेशात्मक नियोजन व्यवस्था के अन्तर्गत, नियोजन की शक्ति व सत्ता एक ''केन्द्रीय नियोजन संस्था'' या ''बोर्ड'' में निहित व केन्द्रित रहती है। जो सत्ता न केवल योजना का प्रारूप ही तैयार करती है बल्कि साथ ही साथ उन लक्ष्यों को भी तैयार करती है और देश के सामने रखती है जो लक्ष्य अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में क्रियान्वित किये जाने हैं और उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के नियोजन में अनिवार्यता शत प्रतिशत होती है और यह अनिवार्यता उस केन्द्रीय सत्ता से प्रवाहित होती है जिस अनिवार्यता का प्रयोग उस केन्द्रित सत्ता द्वारा योजना के लक्ष्यों को प्राप्त करने व पूरा करने के लिए किया जाता है।

यह केन्द्रित नियोजन मॉडल जिसका पालन व प्रयोग सोवियत संघ में, किया गया है, भारत की पंचवर्षीय योजनाओं का भी आधार है। जिसने भारत पर लगभग 2½ वर्ष (1977 से 1979) तक राज्य किया था, भारत ने भी धीरे-धीरे विकेन्द्रित नियोजन मॉडल का प्रयोग किया था। जनता राज्य की अवधि में, निर्देशात्मक अथवा मार्गदर्शनात्मक नियोजन पर बहुत बल दिया गया था और हम सभी देशवासियों ने एक कीमत निर्देशित अर्थव्यवस्था का अनुभव किया था। और इस प्रकार की व्यवस्था की तुलना फ्रांस में पायी जाने वाली नियोजन व्यवस्था से की जा सकती है। एक कीमत-निर्देशित (नियन्त्रित) विकेन्द्रित नियोजन मॉडल में, पूरी समस्या, अनेक उप समस्याओं में विभक्त कर ली जाती है। इस व्यवस्था में, सर्वोपरि (शीर्षपर) होती है एक केन्द्रीय नियोजन सत्ता (सी.पी.ए.) अर्थात सेन्ट्रल प्लानिंग ओथोरिटी जो कि मुख्य समन्वयक का कार्य करती है। सबसे नीचे अनेक छोटे वर्ग, विभाग अथवा खण्ड होते हैं जो कतिपय कुछ गुणों के आधार पर अथवा विशेषताओं के आधार पर विभक्त किये जाते हैं (जैसे निवेश-वस्तु संवर्ग, उपभोग-वस्तु संवर्ग, इत्यादि) जो संवर्ग कि केन्द्रीय नियोजन सत्ता'' के द्वारा निर्धारित मार्ग बिन्दुओं और प्रदर्शन दिशाओं के अनुसार व आधार पर कार्य करते हैं और अपनी प्रतिउत्तरता प्रदर्शित करते हैं। यह सभी उप भाग व उप खण्ड व अंचल क्षेत्र केन्द्रीय सत्ता के प्रति उत्तरदायी हैं। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय सत्ता तथा उप वर्गों के बीच, एक और वर्ग होता है जिसे दोनों सिरों के बीच सूचना प्रसार या प्रवाह की नियमितता और सुचारू क्रियान्विति देखने का दायित्व सौंपा जाता है। यह एक प्रकार का बिचौलिया भाग है जिसमें स्वयं अनेक उप भाग या खण्ड होते हैं। इस सारी व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ सम्पर्क समितियाँ (लायजन कमेटीज) भी होती हैं जिनमें दल के प्रतिनिधि या कार्यकर्त्ता होते हैं और बिचौलिया संवर्ग के प्रतिनिधि (जिन प्रतिनिधियों में कृषि, उद्योग, व्यापार व व्यवसाय के प्रतिनिधि सम्मिलित है) होते हैं। यह सब मिलकर, विविध प्रकार की अधीन इकाइयों को जोड़ने एवं समन्वित करने का काम करते हैं। यहां यह ध्यान में रखना होगा कि एक विकेन्द्रित नियोजन विधियन, मूलरूप से, एक प्रकार का ''अधिकिकरण प्रकार का नियोजन मॉडल'' है। यहाँ ''अधिकिकरण'' दो स्तरों पर चलता है। एक ओर तो क्षेत्र, वैयक्तिक रूप से अधिकिकरण करते हैं और दूसरी और केन्द्रीय सत्ता, सम्पूर्ण समुदाय के अधिकतम सामाजिक कल्याण की उपलब्धि अथवा प्राप्ति का लक्ष्य निरन्तर अपने मस्तिष्क में रखती है। इस प्रक्रिया में, वह, सामाजिक उद्देश्य कार्यकरण के अधिकिकरण को स्वतः ही अपना लक्ष्य बना लेती है।

26.3 पिछड़े क्षेत्रों और अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिए नियोजन तकनीक

यह सर्वविदित हैं कि पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं में, ''चालू आय के असामान्य निम्न स्तर'' तथा ''हीन उत्पादकता'' के इन क्षेत्रों के लिए नियोजन तकनीक ऐसी हो जो आय और उत्पादकता

के स्तरों में निरन्तर, वृद्धिमान तथा प्रावैगिक वृद्धि का मार्ग प्रशस्त करें। जिससे एक ओर तो लोगों की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और दूसरी ओर भविष्य में प्रगति, विकास व समृद्धि का मार्ग गतिमान हो।

पिछड़ेपन की अवस्था, जैसा कि दिन-प्रतिदिन के आधार पर दृष्टिगत होती है, "प्रति व्यक्ति निम्न आय" वाले सन्तुलन के चारों ओर चरों variables के उच्चावचन या उतार चढ़ाव का प्रतिनिधित्व करती है। इन चरों के मूल्य, किसी आर्थिक अवस्था के संदर्भ में एक दूसरे के साथ, स्थैतिक और स्थिर रहते हैं। लेकिन यह निम्न आय सन्तुलन अवस्था जो कि अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था वाले देश को अर्द्ध स्थैतिक अवस्था में बनाए रखती है, एक ऐसे चुम्बक का कार्य करती है कि चरों के मूल्य उस अवस्था की ओर आकर्षित हो चलें तथा उसके इर्दगिर्द केन्द्रित, होने लग जायें। "आत्म-संयत आर्थिक विकास" अथवा "आत्म-स्फूर्ति-आर्थिक विकास" के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह परमावश्यक है कि विकास के लिए जो भी प्रारम्भिक उत्प्रेरक हों वह ऐसे हों कि उनका एक प्रभावी-न्यूनतम आकार अवश्य हो अर्द्ध-विकसित अर्थ व्यवस्थाओं में, दीर्घगामी आर्थिक विकास इसलिए प्रभावी तथा उपलब्ध नहीं हो पाता क्योंकि उत्प्रेरकों का आकार बहुत छोटा होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्थिक पिछड़ेपन से बचने के लिए, विकास की समस्या से सम्बद्ध उत्प्रेरक अथवा कार्यकारी प्रभावी घटक प्रचुर मात्रा में मजबूत अथवा सशक्त हों और नए निवेश का आकार व मात्रा, उस "प्रभावी" न्यूनतम आकार स्तर से ऊपर की मात्रा और स्तर वाला हो जिससे कि अब तक "स्थिर-आय-सृजक-ह्रासात्मक घटक, नये आय-वर्धक-घटकों की उत्प्रेरित प्रभावशाली कार्यकरण के सम्मुख फीके पड़ जायें, अर्थहीन हो जायें, अकारण हो जाए या तटस्थ हो जाये। और यह है वह स्थिति तथा कार्य जिसमें एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था वाले देश की सरकार, सशक्त और विस्तृत विकास योजना बनाने के माध्यम से, महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। यह व्यापक, विस्तृत तथा सशक्त योजनायें, विकास उत्प्रेरकों में उत्साहित वृद्धि करके, प्रभावशाली तरीके से नए निवेशों के आकार में वृद्धि करने का प्रयास कर सकती हैं, और विकास को गतिमान करने की दिशा में सफलता प्राप्त कर सकती है।

वह "अवधि अथवा काल जिसमें अर्थव्यवस्था में सुधार लाने, आय स्तर में सकारात्मक वृद्धि लाने तथा प्रभावी निवेश को बढ़ाने और मूल रूप से पिछड़ेपन तथा गरीबी का निवारण करने हेतु सशक्त योजनायें बनायी गयी हैं। जो योजनायें अपने कार्यकरण अथवा क्रियान्विति के माध्यम से अर्थव्यवस्था की "अर्द्ध-स्थैतिक दशा" को सुधारेगी, "गतिशील अवस्था" अथवा "आत्म-स्फूर्ति अवस्था का काल कहलाता है। विकास की प्रक्रिया प्रचुर मात्रा में, द्रुतगामी होनी चाहिए इस "आत्म-स्फूर्ति" अथवा "गतिमान अवस्था" काल में — यह तभी सम्भव है जब कि निवेश में प्रशंसनीय वृद्धि करने हेतु प्रचुर मात्रा में अतिरेक उत्पन्न होकर आयें या उभर कर आये — और तब यही अवस्था, अर्थव्यवस्था को आवश्यक गति व प्रवाह "प्रदान करेगी जो अन्ततोगत्वा (अन्त में) एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था को एक सामान्य, स्वपरक तथा स्थायी विकास दर तथा स्तर प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करेगी अर्थात इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की उसमें सामर्थ्य उत्पन्न करेगी। इस तरह, मध्यान्तर काल की अवधि का प्रश्न उभर कर सामने आता है। गत्यावरोधन अथवा स्थैतिकता जैसी प्रारम्भिक अवस्था से प्रारम्भ होकर, वह अवधि क्या होगी और कितनी होगी जो कि "गतिशील अवस्था" अन्तिम अवस्था अर्थात "आत्म स्फूर्ति अवस्था विकास" तक पहुंचने में लेगी। प्रो. रोस्टोव जिन्होंने ही आर्थिक साहित्य में "गतिशील-अवस्था" जैसी शब्दावली का प्रयोग किया है, इस अवधि की सीमा पन्द्रह और पच्चीस वर्षों के बीच की अवधि बताया है। इस पन्द्रह से पच्चीस वर्ष की अवधि को मानने की प्रक्रिया में उन्होंने उन अनेक देशों की विकास प्रक्रिया को ध्यान में रखा है जो देश की आर्थिक विकास की बहुत ऊँची अवस्था

और स्तर को बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। ''गतिशील-अवस्था'' की यह अवधि इसलिए, बहुत महत्वपूर्ण है और ''अर्द्धस्थैतिक अवस्था'' से ''गतिशील अवस्था'' में और अन्त में ''आत्म स्फूर्ति अवस्था'' में द्रुतगामी परिवर्तन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विकास नियोजन की एक बहुत प्रभावी तथा अच्छी तरह से समन्वित प्रक्रिया अपनानी होगी तथा अपनानी भी चाहिए।

अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं की प्रकृति कुछ इस प्रकार की होती है कि बहुत छोटी-छोटी मात्राओं में निवेश, एक वृद्धिमान तथा द्रुतगामी आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गतिशील करने की दिशा में न तो प्रभावी होता है और न ही फलदायक। द्रुतगामी आर्थिक विकास दर तो तब ही सम्भव है जबकि विद्युत निर्माण, यातायात और संचार वाहन के विकास और आधारभूत बड़े तथा भारी उद्योग के आधार निर्माण इत्यादि पर प्रचुर तथा समुचित मात्रा में निवेश किया जाये। इनमें निवेश करने पर ही अर्थव्यवस्था को अर्द्ध स्थिर, स्थैतिक अवस्था और अर्द्ध स्थैतिक वातावरण से ऊपर उठाया जा सकता है। इस प्रकार के और इन भागों में किये गये बड़े निवेशों को गतिमान करके ही ''स्थैतिक अवेस्था'' को ''आत्म स्फूर्ति अवस्था'' में परिवर्तित किये जाने वाले काल को कम किया जा सकता है। जो एक अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था की पहली माँग है। इसलिए नियोजन कर्ताओं का मूलभूत कार्य होगा ऐसी नियोजन तकनीक पर ध्यान केन्द्रित करना जो तकनीक भारी उद्योग, यातायात और विद्युत निर्माण जैसे क्षेत्रों में प्रशंसनीय विकास ला सके। क्योंकि इस प्रकार के निवेश तुरन्त लाभ उत्पन्न व सृजित नहीं करते इसलिए निजी उद्यमियों या साहसिकों के द्वारा मुश्किल से ही किये जाते हैं। विकास नियोजन का आधार कूटनीति का सम्बन्ध, सरकार द्वारा भारी उद्योग, यातायात सुविधाओं के विकास और विद्युत-निर्माण इत्यादि के तीव्र विकास स्तर व दर को प्राप्त करने से होना चाहिए।

आधार भूत भारी उद्योगों का विस्तार नए निवेश के समय पथ को प्रोत्साहित करेगा। वास्तव में, भारी उद्योग के विकास पर निश्चित तौर पर, योजनाओं को समेटने वाले काल-अन्तराल में कुल निवेश का तेजी से ऊपर चढ़ता हुआ मार्ग सृजित करेगा। यह तेजी से ऊपर चढ़ता हुआ निवेश मार्ग ही एक विकासशील अर्थव्यवस्था की मूल विशेषता और पहचान है और यह ''गतिशील-अवस्था'' के प्रारम्भ होने का प्रमाण भी बन सकती है। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि औद्योगिकरण के कार्यक्रम में, भारी उद्योग का विकास शीर्ष प्राथमिकता को प्राप्त होना चाहिए जिसके लिए निरन्तर नया निवेश होते रहना चाहिए।

यातायात, सिंचाई और बिजली विकास सुविधायें बाज़ार के कुल आकार का विस्तार करती है। और एक विस्तृत क्षेत्र में निवेश-विस्तार को प्रोत्साहित करती हैं जो कि आवश्यक संरचना निर्माण में सहायक होता है। इन सुविधाओं के विकास और विस्तार पर किया गया प्रचुर मात्रा का सार्वजनिक व्यय पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि करेगा जिससे जनता के कल्याण में वृद्धि होगी। जब तक इन सुविधाओं में आशानुकूल विकास नहीं होता तब तक वृद्धिमान आर्थिक विकास की पहल भी सम्भव नहीं और फल यह होगा कि ''अर्द्ध स्थैतिक अवस्था से'' प्रावैगिक गतिशील अवस्था'' में परिवर्तन आने में भी बहुत विलम्ब हो जायेगा और वह परिवर्तन पिछड़ जायेगा।

भारी उद्योग, परिवहन, सिंचाई और विद्युत सुविधाओं के विकास के क्षेत्र में, राज्य की भूमिका के महत्व को उस समय पूरी तरह समझा व आंका जा सकता है यदि हम आर्थिक विकास के मुख्य निर्धारकों का विश्लेषण करें। यदि सरल शब्दों में अभिव्यक्त करें तो आर्थिक विकास की दर (विकास नियोजन की प्रजातान्त्रिक प्रणाली में) निम्न बातों पर निर्भर करेगी (अ) आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने और जनता के कल्याण – सामाजिक तथा आर्थिक विकास में वृद्धि करने के लिए की गयी सार्वजनिक व्यय की राशि, (ब) पूंजी निर्माण की दर (या नए निवेश का अर्थव्यवस्था में प्रवाह) और (स) सार्वजनिक सहयोग, सार्वजनिक तथा जन उत्साह और सामाजिक ढ़ाँचे में परिवर्तन से मुख्य रूप से जुड़े हुए सामाजिक-राजनैतिक घटक। यदि हम आर्थिक विकास की

ऊंचा दर चाहते हैं तब उचित प्रकार की प्रयोजनाओं पर किय जान वाल सावर्जानक व्यय का राशि में वृद्धि करनी होगी और उसे बढ़ाना होगा, नए निवेश के प्रवाह में वृद्धि करनी होगी, सामाजिक ढ़ाँचे का उचित समायोजन करना होगा और जन-उत्साह के द्वार पूरी तरह खोलने होंगे।

इस तरह, सार्वजनिक व्यय में की गयी भारी वृद्धि, भारी उद्योग, परिवहन, विद्युत विकास इत्यादि में तथा बाजार विस्तार में प्रशंसनीय विकास सम्भव करेगी जिससे नया निवेश और पूंजी निर्माण निश्चित ही बढेंगे। इसी से विकास की दर भी बढेगी।

पर प्रजातान्त्रिक नियोजन कर्त्ताओं के लिए विकास की उच्चतम दर प्राप्त करना मात्र एकल लक्ष्य ही नहीं है। उन्हें तो, एक ओर, उपलब्ध साधनों को, प्रतिस्पर्द्धात्मक राज्य परियोजनाओं के बीच न्यायोचित आवन्टन करना होगा और साथ ही साथ जनता के कल्याण तथा खुशहाली पर भी ध्यान रखना होगा। यह तथ्य इस बात का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है कि क्यों, राज्य कोषों के एक भाग को एक कृषि जनित या कृषि प्रधान अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्था में, सामुदायिक विकास योजनाओं तथा ग्रामीण प्रसार सेवाओं की ओर मार्गान्तरित करना होता है। कोषों और साधनों का इस प्रकार का स्थानान्तरण तथा मार्गान्तिकरण, पूंजी निर्माण की उच्चतम या ऊँची दर प्राप्त करने के मार्ग में निश्चित ही एक अवरोधक सिद्ध होता है और होगा भी। यह इसलिए है क्योंकि भारी उद्योगों के विकास के लिए किया गया सार्वजनिक व्यय, पूंजीगत उपकरण के वृद्धिमान अथवा बड़े प्रभाव को जन्म देगा और उसे उत्तरोत्तर बढ़ायेगा। और इस तरह एक ज्यादा स्पष्ट तरीके से पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि करेगा बजाय उस सार्वजनिक व्यय के जो कि सामुदायिक विकास योजनाओं तथा ग्रामीण प्रसार सेवाओं पर व्यय किया गया है। लेकिन प्रजातान्त्रिक और कल्याण प्रेरित नियोजन व्यवस्था को, एक ओर तो अधिकतम आर्थिक विकास और दूसरी ओर, जनता के कल्याण और खुशहाली में अधिकतम वृद्धि, दोनों के बीच एक समझौता और समन्वय स्थापित करना पड़ेगा।

प्रजातान्त्रिक नियोजन में, जन सहयोग भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सामुदायिक विकास परियोजनाओं तथा दूसरे प्रकार की विस्तार सेवाओं पर, जिनके माध्यम से ग्रामीण जगत का उद्धार तथा उत्थान सम्भव होता है, उपयुक्त तथा वांच्छित जोर अवश्य दिया जाना चाहिए। इस प्रकार का ग्रामीण जनता के उद्धार व विकास के लिए किया गया कार्य, ग्रामीण जनता में एक नए विश्वास का संचार करेगा और साथ ही ग्रामीण जनता की कल्याण और विचार शक्ति को जागृत करेगा जोकि भारत जैसे अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था वाले कृषि प्रधान देश की विकास प्रक्रिया को सफल बनाने में बहुत सहायक सिद्ध होगा। वास्तविकता तो यह है कि जन-उत्साह तथा जन सहयोग, सामाजिक, राजनैतिक घटकों को प्रेरित करते हैं जो कि आर्थिक विकास की गति व दर को बढ़ाता है तथा विकास वातावरण को प्रखर तथा मुखर करता है।

पर स्मरण रहे कि कल्याण उद्देश्यों की ओर उदासीन रहते हुए या उदासीन रहकर, मात्र आर्थिक विकास को दुगूनी गति से तीव्र करने का प्रयास एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था के संदर्भ में न तो उपयुक्त है और न ही वांच्छि त। इस प्रकार की स्थिति की, एक प्रजातान्त्रिक कल्याण प्रेरित नियोजन व्यवस्था में गुजर नहीं है। इसलिए नियोजन के माध्यम से सामाजिक, राजनैतिक घटकों को भी प्रभावित करना है और उचित तथा उपरोक्त तरीके से प्रभावित करना है जिसके कारण, साधारण व आम जनता यह अनुभव करने लगे कि उन्हें भी नियोजन और विकास कार्यक्रम का लाभ मिला है और मिल रहा है। यह अनुभव तथा अनुभूति स्वपरक जन-सहयोग उत्पन्न करेगी और उपलब्ध करायेगी। एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था वाले कृषि प्रधान देश में सामुदायिक विकास परियोजनायें तथा ग्रामीण विस्तार सेवायें, ग्रामीण लोगों के हृदयों में नई आशायें व आकांक्षायें उत्प्रेरित व उत्पन्न करने का काम कर सकती हैं और करती हैं। इसलिए नियोजन तकनीक ऐसी

30.2 परिभाषा

ज़िला नियोजन Multi-Level Planning के ज़िला नियोजन के अनेक स्तर होते हैं तदनुसार नियोजन तन्त्र होता है परन्तु सभी स्तरों (Spatial levels) तथा क्षेत्रों के नियोजन में समन्वय व सहयोग होता है प्रतियोगिता नहीं (Territorial and sectoral planning criss-cross in integrated way) अंचल क्षेत्रीय नियोजन (regional planning) उस समय multi-level बहुस्तरीय बनता है जब उसमें समन्वय हो निम्न स्तरीय नियोजन के लक्ष्य राष्ट्रव्यापी नहीं होते अगर एक बहुत बड़ी सिंचाई-बाँध योजना होती है तो वह होगी तो किसी जिले में, रेलवे प्रणाली ज़िलों से निकलती हैं परन्तु वे जिला नियोजन के भाग नहीं होते। Multi-level नियोजन में स्वतन्त्रता होती है परन्तु अलगाव हीं राष्ट्र के अन्दर राष्ट्र नहीं बन सकते हैं क्यूँकि खड़ी (vertical) तथा आड़ी (horizontal) कडियाँ (linkages) होती हैं। परन्तु ज़िला स्तर पर autonomy व autarky (स्वायतता व पूर्ण आत्मनिर्भरता कि बाहर से व्यापार हो न हो) नहा होता।

> ज़िला नियोजन में ज़िले के संसाधनों तथा ज़िले की जनशक्ति के अनुकूलतम प्रयोग के प्रमुख उद्देश्य रहते हैं। जिला नियोजन में न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति तथा गरीबी निवारण की location specific नीतियाँ लागू करना होता है।
>
> "District planning is not single activity planning; it is multi-department and all activity planning. However, it will not be a bad idea if in certain districts at solves one problem completely in five years and makes that district cynosure of all eyes."

ज़िला नियोजन एक गतिविधि/कार्य सम्पादन का नियोजन नहीं है, यह मानते हैं वह बहु-विभागीय व बहुगतिविधियों का नियोजन है। तजुर्बे के आधार पर अगर कोई एक समस्या का पूर्ण निराकरण पाँच वर्षों में करता है कि सभी की नज़रें उस ज़िले की ओर उठें, तो यह कोई गलत विचार नहीं होगा कुछ अति साफ-सुथरे नियोजित गांव व कस्बे इसमें हो सकते हैं।

अपने आप ये छोटे कस्बे व छोटे शहर गांवों के लिए विकास के modal points बन जायेंगे। संसाधनों का प्रश्न बड़ा है केन्द्रीय व राज्यीय नियोजन का जो भाग ज़िले को मिल रहा है वह प्रयोग करने के बाद स्व-साधन तो मात्र एक कार्य के लिए जुटाये जा सकते हों, बशर्ते कि फल प्रत्यक्ष रूप से सामने हो। सभी विभागों तथा अस्थायी कार्यक्रमों का धन जनता-जनप्रतिनिधि व सर्वोच्च व्यक्तियों की स्वीकृति से ही यह सम्भव है यह चिन्तन अलग है परन्तु अगर सभी लोग एक सा सोचें तो समझों कोई नहीं सोच रहा है एक सा सोचने के लिए दूसरा व्यक्ति गैर जरुरी है कहीं तो विलग कार्य करें।

इसके स्तर हैं — ज़िला नियोजन कमेटी, ब्लॉक नियोजन कमेटी, ग्राम पंचायतें जो 20-30 गाँवों का प्रतिनिधित्व करें।

हितग्राही

1. कृषक
2. छोटे कृषक
3. सीमान्त कृषक
4. हुनरमंद
5. भूमिहीन श्रमिक
6. भूधारक श्रमिक
7. हरिजन
8. आदिवासी
9. पिछड़े वर्ग
10. सभी वर्गों के गरीब।

सेल	1. कृषि	2. हार्टिकलचर	3. मवेशीपालन
	4. छोटे उद्योग	5. कुटीर उद्योग	6. सिंचाई
	7. स्वास्थ्य	8. शिक्षा	9. न्यूनतम आवश्यकतायें
	10. प्रोजेक्ट		

फिसकल बेस साधन	सब कुछ दान व अनुदान पर नहीं चल सकता, स्वसाधन महत्वपूर्ण हैं वे सभी अतिरिक्त वास्तविक उत्पादन व उत्पादकता से आयेंगे विकेन्द्रीकरण की मांग व्यय में और आय की मांग केन्द्र से यह नहीं चलेगा। वह राजनीति जिसमें विकास का श्रेय स्वयं लें तथा परेशानी का जिम्मेदार केन्द्र को माने ठीक नहीं।
डेरा बेस तथा कार्यक्रम की समय सीमायें	आंकड़ों के आधार पर भौतिक व मौलिक लक्ष्यों को समयबद्ध रूप से प्राप्त करना होगा अभी ज़िला राजनीतिज्ञ 50 साल में मात्र पीने के पानी का इन्तज़ाम नहीं कर पायें।

30.3 ज़िला नियोजन व विकेन्द्रीकृत नियोजनः ज़रुरतें/कदम

विकेन्द्रीकृत नियोजन इसलिएं ज़रुरी होता है कि केन्द्रीय नियोजन में

(i) आंचलिक संसाधनों का ज्ञान नहीं होता

(ii) आंचलिक गरीबों का निवारण नहीं होता तथा

(iii) आंचलिक समस्याओं का निवारण नहीं होता तथा

(iv) आंचलिक लोगों का सहयोग बड़ी योजनाओं में संभव नहीं होता, तथा बड़ी योजनाओं के लाभ छोटे लोगों तक नहीं पहुंचते।

उपर्युक्त के लिए अतः

(i) संसाधन सूचि Resource Inventory बनानी चाहिए संसाधन तो हर ज़िले में होते हैं, खनिज का ही फर्क होता है कुछ जिलों में वन नहीं होते, परन्तु ज्यादातर में होते हैं। इन संसाधनों के भंडारों की पहले estimate या गणना करनी चाहिए फिर उनके अनुकूलतम दोहन की दर निकालनी चाहिए। इसके पश्चात इन्हें फिर से पैदा करने जैसे वनोपज के बारे में नियोजन होना चाहिए खनिज के बारे में तो यह नहीं हो सकता, परन्तु खनिज से पनपे wastelands बर्बाद भूमि को पुर्नस्थापित किया जाये। जर्मनी में इस तरह की भूमि में 1/3 भाग में पानी संचय कर झीलें व तालाब बनाते हैं; 1/3 में वृक्ष लगाते है तथा 1/3 भाग में मिट्टी डाल कर कृषि करते हैं। यह भाग बिखरे बिखरों में होते है, एक जगह नहीं, परन्तु अनुपात 1/3 : 1/3 : 1/3 का बनाने का प्रयत्न रहता है। संसाधन सूचि में कृषि योग्य भूमि का फसलवार आँकलन उपयुक्तता के लिए होता है।

इसी तरह से पानी का गिरना, उसके बहाव की मात्रा, उसके संचय की सम्भावना, उसके जमीन के अन्दर की मालायें आदि का भी आंकलन करते हैं।

> सभी संसाधनों की खोज जारी रहती है जिले वार, अंचल क्षेत्रवार जो संसाधन सूचियाँ बनायी जायें या जो बनती हैं उनसे मात्र जिला नियोजन नहीं होता राज्य व देश के नियोजन में इन्हीं के जोड़ का प्रयोग होता है।

मानव संसाधन बेलेन्स शीट

यह सूचि अभी बनती नहीं है पर बनाई जानी चाहिए, व्यक्तियों की योग्यता/हुनर के अनुसार उन कालमों के विरुद्ध उनके रोज़गार/व्यवसाय के स्तर तथा आय लिख सकते हैं इससे हम को mismatch पता चलता है अगर M.Sc. Chemistry बस चलाने का ड्राईवर है तो mismatch तो है

> सोवियत संघ में यह होता था। जिस हुनर के जितने व्यक्ति चाहिए वैसे ही पहले से तैयार करते थे ग़ैर ज़रुरी शिक्षा व ट्रेनिंग नहीं; तथा कोई व्यक्ति बेरोज़गार नहीं वहाँ पर वोडका की शराब खोरी ने उत्पादन घटाया और युद्ध का साम्यवाद फेल हो गया।

अत: सूचियाँ रूक्ष रूप में बनायी जा सकती हैं

ये लिंग-आयु के अनुसार बनती है इन्हें बाद में region, sectors, activities, functions तथा occupations के अनुसार जिला, वृहद अंचल क्षेत्र, राज्य व देश के लिए compile कर लेते हैं या जोड़ लेते हैं ये तालिकायें criss-cross करती है अन्ततः जोड़ बराबर होते हैं।

Prime-moving activities अग्रगामी गतिविधियों की पहचान

हर ज़िले में कतिपय अग्रगामी गतिविधियाँ पता लगाई जा सकती हैं कही गन्ना उगाना व शक्कर व गुड़ बनाना, कहीं जूट उगाना तथा तत्सम्बन्धी वस्तुएं बनाना, कहीं जड़ी-बूटियाँ उगाना, कहीं फल वृक्ष लगाना, कहीं रेशम उद्योग पनपाना, कहीं बहूमूल्य पत्थर निकालना व उन्हें तराशना आदि ... आवास सुधार habitat improvement के मॉडल ले सकते हैं हर ज़िले का एक बड़ा गाँव अगर पक्के मकानों का हो, जिसमें अन्दरुनी शौचालय सांकपिट या sewerage के हों, जहाँ पक्की गलियाँ व गाँव के सामने की सड़क बगैर गढे की हो, जहाँ मवेशी अलग बंधे जहाँ सिंचाई उन्नत हो जहाँ स्कूल तथा प्राइमरी हेल्थ सेन्टर के भवन हों आदि बनाया जा सकता है।

> ऐसे आदर्श गांव ग्रामीण स्वयं, सरकारी मदद से बना सकते हैं Denmark ने DANIDA प्रोजेक्ट में ऐसी कल्पना के गांव विकसित करने में मदद दी। चीन में ऐसा किया गया ये गांव सभी के लिए प्रेरणा व नकल के स्त्रोत हो सकते हैं इनके निर्माण में रोज़गार व आय सृजन भी होता है इन्हें आस पास में मिलने वाली सामग्री से ही बनाना चाहिए

Infrastructure development बिजली, पानी, संचार, बैंकिंग, यातायात, परिवहन, स्वास्थ्य व शिक्षा की सुविधायें तो स्वयं आती हैं। ज़रुरत इस बात की रहती है कि वे ज़िला योजनाओं के अनुरुप हों तथा इतनी हों कि लोगों को प्रेरणा मिले व सहूलियत हो कि वे उत्पादक निवेष बढ़ायें।

जिला नियोजन के लक्ष्य

देश के नियोजन की भांति नहीं हो सकते -

1 यह ज़िले को आत्मनिर्भर इस तरह बनाने का लक्ष्य नहीं रख सकता कि वह आत्मनिर्भर हो जाये परन्तु लक्ष्य यह हो सकता है कि ज़िला ज़रुरत का अनाज उगाये व बहुत कुछ आधिक्य के रुप में उगाये तभी तो उसे बेचकर गैर-अनाज की ज़रुरतों के लिए क्रय शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

2 District planning is very specific to decisious about locational of non-agricultural facilities. कृषि के अतिरिक्त उद्योगों व सेवाओं की स्थापना के सम्बन्ध में यह नियोजन अति महत्वपूर्ण है।

3 एक जिला आदर्श मानकर, उसकी बराबरी में आना एक लक्ष्य हो सकता है। शुरु में यह ज़िला आसपास का हो सकता है, बाद में आदर्श ज़िला राज्य का हो सकता है। अन्ततः देश का सर्वोत्तम हो सकता है। इस प्रकार के नियोजन से सभी जिले समान तो नहीं हो सकते परन्तु अन्तर कम हो सकते है फिर संसाधनों से स्थापित अन्तर तो रहेंगे ही।

4 जिले में कृषि आदान का उत्पन्न करना (सिंचाई सुविधायें बढ़ाना, कम्पोस्ट खाद बनाना, उन्नत बीज स्वयं उगाना बाड़ के लिए कांटेदार झाड़ियों का प्रयोग करना) एक प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए।

5 साख, उर्वरक, मशीनें, तकनीकि ज्ञान व बाज़ार सुविधायें विकसित करना इसके बाद का लक्ष्य होना चाहिए।

6 ज़िले में शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, परिवहन व संचार की क्या सेवायें राज्य स्तर से लेनी है इनके स्थान आंकना व लेना इसके बाद का लक्ष्य होना चाहिए।

7 जो कार्य जिला नियोजक ऊपर से सुविधायें व धन लेने में करते हैं वहीं उन्हें ब्लाक स्तर के तन्त्र को देना चाहिए। उन्हे तैयार करना चाहिए। गांवों→ब्लाक→जिला इन सभी में अगली-पिछली विकास कड़ियाँ सृजन करनी होंगी। ग्रामीण व शहरी नियोजन में समन्वय भी रखना होगा।

8 परियोजनायें जिले के संसाधनों, वातावरण के उपयुक्त व वित्तीय साधनों के अन्दर होनी चाहिए।

9 एक अच्छी रिहायशी बस्ती व सुविधाओं सहित ब्लाक स्तर के सभी कर्मचारियों को उपलब्ध रखने का लक्ष्य होना चाहिए।

10 निम्न जिला स्तरीय नियोजन कमेटी बनाये रखने का लक्ष्य होना चाहिए।

1. मंत्री/एम.एल.ए.
2. कलेक्टर
3. उपकलेक्टर
4. जिला कृषि अधिकारी
5. ज़िला स्वास्थ्य अधिकारी
6. कालेज प्रिंसीपल
7. अर्थशास्त्र प्रोफेसर
8. जिला वन अधिकारी
9. जिला मतस्य अधिकारी
10. ज़िला मंत्री (सिंचाई, सड़क, भवन)
11. ज़िला शिक्षा अधिकारी
12. जिला पशु अधिकारी
13. नगर निगम अधिकारी

14. जिला पंचायत के लोग
15. सहकारिता प्रतिनिधि व अधिकारी
16. ज़िला बिजली अधिकारी
17. जिला उद्योग अधिकारी
18. जिला लीड बैंक अधिकारी
19. निजी क्षेत्र के उद्योगपति
20. अन्य

30.4 Growth foci के अनुसार जिला नियोजन तथा उन्हें विकसित भी करना

जिले के गांवों व कस्बों तथा बड़े शहरों में एक पद श्रेणी-श्रृखंला होती है, जो छोटे व बड़े होने तथा केन्द्रीय व छोर के क्षेत्रों पर होने से सम्बन्धित है। इनके बीच आर्थिक व्यापार व उत्पादन की कड़ियाँ बढ़ानी होती है।

1 हर 5-6 से लेकर 10 गांवों के एक गांव को केन्द्रीय ग्राम के रूप में विकसित करना चाहिए जहाँ हर समय पहूँचा जा सके।

2 एक 5000 से ऊपर के गांव/कस्बे को Service Centre या सेवा केन्द्र के रूप में विकसित करें जो समान फासले से कम से कम सकल 20000 से 30000 की आबादी के चारों ओर के गांवों को सेवायें प्रदान करें।
यहाँ बाजार, भंडारण तथा repairs (चीजों को सुधारने) की सुविधायें हों। यहाँ पर बैंकिंग, स्कूल, दवाई-इलाज, पोस्ट आफिस की सुविधायें भी हों। {तहसील-ब्लाक-मुख्यालय}

3 **विकास केन्द्र :-**
यहाँ पर Processing units होनी चाहिए, जैसे गल्ला क्रय केन्द्र और दाल मिल, चावल मिल, गन्ना रस निकालने के केन्द्र, जिनिंग मिल आदि। यह जिला मुख्यालय कतिपय उद्योगों सहित अवश्य होना चाहिए, चाहे वह एक तेल मिल या कोई भी कृषि उत्पाद Processing unit हो। जिला मुख्यालय के बाजार व प्रशासन तो होंगें ही। Growth point को अन्दरूनी क्षेत्र का पोषण करना चाहिए, शोषण नहीं और यह बात तब भी रहनी चाहिए जबकि Growth point उन्नत होकर Growth Centre बन जायें। यहाँ से गांव वाले विचार तथा विकास की चाह भी लेकर जायें, मात्र वस्तु व सेवा ही नहीं हर क्रिया में Field-tested methodologies या अनुभव आधारित व्यूह रचनाये व रीतियाँ दुहराना/कुछ बदलकर (replicate or adapt न कि adopt) लागू करना चाहिए। कृषि विकास तथा भूमि पर आधारित गतिविधियों को चलाना महत्वपूर्ण है परन्तु विकास प्रक्रिया उससे आगे जाती है।

गरीबों का "सीमान्तीकरण" सतत होता रहता है, जिला नियोजन को इस प्रक्रिया को रोकना है। अब चुकिं बाजार प्रक्रिया का प्रभाव प्रबल है अतः बाजार में मांग व पूर्ति की स्थितियों से समन्वय करके कार्य करना चाहिए। यह बात फसल संरचना तथा कौशल की वस्तुओं के साथ विशिष्ट रूप से लागू होती है। Dantwala Committee ने लिखा था कि नियोजन के निवेशों से ग्रामीण विकास केन्द्र विकसित होने चाहिए। जिला नियोजन में साधनों का प्रयोग व उससे भी महत्वपूर्ण साधनों का विकास करना है। जिला नियोजन से नीचे नियोजन सम्भव नहीं यद्यपि ब्लाक एक महत्वपूर्ण अंग बनता है।

जिला स्तर का नियोजन द्वितीय योजना से ही नियोजन का अंग रहा है

परन्तु वह इस रूप से उभर कर नहीं आया कि जिला नियोजन ग्रामीण विकास को ऊपर ले जाये। ऊपर से संयोग से उतरने वाले लाभों ने जरूर कुछ जिलों की काया पलट की है।

पंचायत व जिला नियोजन

पंचायत राज भी द्वितीय योजना से साथ है भले ही उसका पूनर्जागरण आद्यतन नजर आये। भारत में adhoc कार्यक्रमों को जिलों व ब्लाकों में विशेष रूप से चलाया गया (देखिए अलग पाठ में 54 कार्यक्रम), भारत की छठी योजना में जिला योजना पर यह लिखा

> अभी जब प्लानिंग कमीशन राज्यों से जिला स्तर नियोजन के लिए कहता है तो राज्य हर कार्यक्रम को, बजट प्रावधानों को जिलेवार तोड़ देते हैं। योजना ऊपर से बनकर नीचे तोड़ कर बतलाते हैं, नीचे से बनाकर ऊपर नहीं जोड़ते। विभागीय कार्यक्रमों से ये जिले की योजनायें कोई जिला नियोजन नहीं। सभी कुछ टूटा-टूटा है, (It is a little more than a rather disgointed exercise in for mulating and implementing such schemes through a multiplicity of departments.)

The district plan should encompass the total activity in the district; plan and non-plan, a conventional distinction has no place in district planning and should vanish.

जिला नियोजन में जिले की योजना तथा योजनायें सभी विकास क्रियायें आनी चाहिए। अलग-अलग क्रियाओं में कोई भेद नहीं होना चाहिए। ऐसे समस्त भेदों को समाप्त करना चाहिए। हर जिले में कुछ तो जिला विशिष्ट होना चाहिए यह काफी नहीं; बहुत कुछ जिला विशिष्ट होना चाहिए।

30.5 जिला नियोजन : बड़ी व छोटी परियोजनायें तथा उनके लाभ-लागत अनुमान

> हम राष्ट्रीय व राज्यीय परियोजनाओं का यहाँ अध्ययन नहीं कर रहे हैं। ऐसी बड़ी योजना के प्रभाव देश व्यापी होते हैं। कोई बन्दरगाह, रेलवे लाइन, सिंचाई बांध, इस्पात का कारखाना किसी न किसी जिले में होता है परन्तु वह जिला नियोजन का भाग नहीं होता। हम जिला परियोजना उसे कहेंगे जो जिले से कच्चा माल व श्रमिक ले, जिसके उत्पाद जिले में उत्पादन दे व कुछ निर्यात से आय बढ़ायें।

परियोजना वह अच्छी जो कम लागत में ज्यादा लाभ दे। कम से कम समय में लाभ देना शुरू कर दे (gestation period short) तथा जो प्रदूषण आदि जैसे दुष्प्रभाव न छोड़े। सभी परियोजनओं में निम्न बातों को ध्यान में रखना होता है -

(अ) विकास का अर्थशास्त्र भावी लाभों को discount करता है। रू. 110 का 1 वर्ष बाद का लाभ वर्तमान में 10% ब्याज दर पर आज के रू. 100 के बराबर है। दो वर्ष का 121 रू. तीन का 133 रू. चार वर्ष का 146 रू. सभी आज के रू. 100 के बराबर

सम्पूर्ण C-B Analysis मय छाया मूल्यों के यहाँ नहीं लिखा है।

है। अर्थात भावी लाभ इन मामलों से ऊँचे हों।

(ब) आज का पर्यावरण अर्थशास्त्र वर्तमान को discount करता है, अर्थात आज अधिक विकास के लिए भविष्य के संसाधन न नष्ट हो जायें।

UNO ने सिफारिश की कि जनकल्याण योजनाओं के लाभों को वहाँ लगाकर न आंका जाये।

जिला नियोजन में नगरीय नियोजन का समावेश

बहुधा जिला नियोजन को कृषि नियोजन का ग्रामीण नियोजन समझा जाता है। जिला नियोजन में भी यह प्रयास किया जाना अनिवार्य है कि छोटे कस्बों की जिन्दगी कैसे उन्नत हो ताकि वे बड़े शहरों व गांवों के बीच conduit का या मध्यस्त का कार्य करें। अभी ये कीचड़ भरे व गन्दे है जिनका core मध्य तो सम्भला हुआ रहता है और Periphery या छोर के मोहल्ले गंदे रहते हैं। गरीबों के क्षेत्र आज भी जाति आधार पर है। सुअरों के बाड़े न होने से आज समस्त शहरों में इनका प्रकोप है। {देखिए नगर नियोजन पर पृथक पाठ-पेपर} नगर नियोजन प्लान तथा वास्तविक विकास अलग होते हैं। Social aspects are neglected in district or city/ town planning. जिला नियोजन में नगर नियोजन के सामाजिक पहलुओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। गरीबों को मकान सस्ता पर यातायात महंगा पड़ता है क्योंकि वे कार्य स्थल पर दूर से आते हैं। आज जनसंख्या भार इतना है कि अगर रेलवे किसी एक जगह अपनी पटरियों के वासियों को "गोद लेकर" रिहायश सुधारें तो सारे गरीब अन्य स्थानों पर और पहुंचेंगें। जिला नियोजन में कुछ Pilot Projects ऐसे होने चाहिए जो सफलता के द्रष्टान्त बने तथा जिन्हे अन्य नकल करें। EWS (economically weaker section) का जो IAY इन्द्रिरा आवास योजना कार्यक्रम बना है वह अगर एक जिले में सभी की समस्या हल कर दे तो अवश्य इसको लोग दुहरायेंगे। शासन की असफलतायें अब इस ओर इंगित करतीं हैं कि या तो शासकीय तन्त्र में आमूल परिवर्तन हो या N.G.Os. नान गवर्नमेंट आरगेनाइजेशन रिहायश नियोजन को कहीं अपनायें।

30.6 सारांश

- जिला परियोजना व स्कीमों को समस्या निवारक होना चाहिए।
- उनकी समस्त लागतें, अवसर लागत सहित, न्यूनतम होनी चाहिए।
- वस्तु उत्पादन की किस्म में कमी नहीं होनी चाहिए, प्रति यूनिट लागतें कम होनी चाहिए।
- वस्तुएँ बाजार मूल्य व मांग को सतुष्ट करे।
- स्कीम/परियोजना जिले में Waterharvesting, फल उगाना, कृषि उत्पादन, पशु उत्पादन आदि सभी की उत्पादकता बढ़ायें।
- जिनसे व्यापार न करने की सेवायें सृजित हों वे अधिकतम सामाजिक लाभ दें, व नकल की प्रेरणा दें।
- परियोजनायें हानि में न चलें; नगदी की आवक ज्यादा रहे तथा रोजगार व आय का सृजन गुणक रूप से हो।
- आर्थिक रूप से सक्षम, दीर्धकाल तक चल सकने वाली तथा, दीर्धकालिक लाभ देने वाली स्कीमें नियोजन में रहें।

- तकनीकी-आर्थिक feasibility रिपोर्ट बनाकर ही परियोजनायें शुरू हों।
- परियोजनायें उत्पादन बढ़ायें परन्तु पिछड़े वर्गों, आदिवासियों व हरिजनों की भागीदारी बढ़ाकर असमानताओं पर प्रहार करें, उन्हें कम करें।
- परियोजनाओं का monitoring तथा appraisal मूल्यांकन तथा सामाजिक "आहित" होना चाहिए।
- भ्रष्टाचार झिरने पूरी तरह बन्द करने का इन्तजाम होना चाहिए।
- आन्तरिक बचतों व पूंजी निर्माण तथा स्वस्फूर्त निवेश को बढ़ाने वाली परियोजनायें होनी चाहिए।

  खड़ी व आड़ी आर्थिक गतिविधियाँ बढ़नी चाहिए।
- गरीबी की रेखा के नीचे तथा महिलाओं व बच्चों के विशेष कार्यक्रम जिला नियोजन का Core होना चाहिए।

30.7 शब्दावली

नियोजन	:	कम से कम साधन लगाकर अधिकतम लाभ प्राप्त करना, एक समय
Planning		बद्ध कार्यक्रम के अन्तर्गत बाहुल्य घटक का सघन प्रयोग कर अन्ततः उत्पादन, उत्पादकता, रोजगार, आन्तरिक एवं बाह्य आय बढ़ाने का योजनाबद्ध कार्यक्रम।
बहुस्तरीय नियोजन	:	केन्द्र, राज्य, वृहद अंचल क्षेत्र व जिला स्तरीय समन्वित परन्तु कुछ
Multi-Level Planning		स्वास्थ्य नियोजन भी।
अंचलक्षेत्रीय नियोजन	:	यह एक बड़े या मध्यम क्षेत्र का नियोजन हो सकता है जो जरूरी
Regional Planning		नहीं कि प्रशासनिक सीमाओं को माने जैसे कोयल बेल्ट का, बड़ी सिंचाई योजना के कमान्ड क्षेत्र का, या वनों का नियोजन।
जिला नियोजन	:	मुख्य लक्ष्य : राज्यीय योजन से सभी जिलों की भागीदारी; दूसरा
District Planning		मुख्य जिलें के साधनों व जरूरतों को देख कर समस्या उन्मूलन तथा पिछड़ेपन को (backlog) पाटना या कम करना।
विकेन्द्रित नियोजन	:	लक्ष्य व साधन विकेन्द्रित स्तर पर हों, परन्तु regions are not
Decentralised Planning		nations within the nation, अतः पूर्ण स्वायत्तता नहीं।

30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1 भारत की पंचवर्षीय योजनायें

2 Sudip Mandal : District Planning.

3 O.S. Shrivastava : Economics of Growth, Development and Planning.

यहां पर सटोरियों का दूसरा पहलू यह भी हो सकता है कि भविष्य में डालर की कीमत में और वृद्धि हो सकती है अतः वे डालर को खरीदना चाहेगें जिससे डालर के मूल्य में और अधिक वृद्धि होगी। और सट्टेबाजी अस्थिरता को जन्म देगी। जैसा कि निम्न रेखाचित्र से स्पष्ट है।

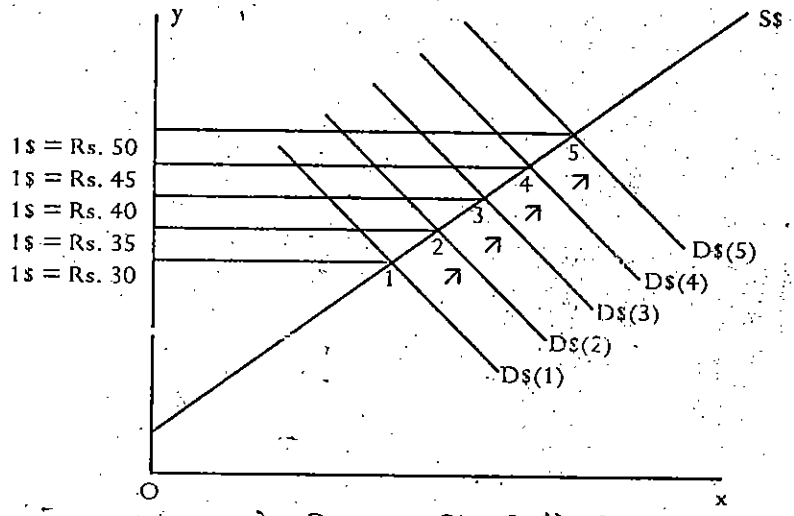

रेखा चित्र 22.5 अस्थिरकारी सौदेबाजी

विदेशी विनिमय दर बिन्दु 1 पर स्थिर है अब भुगतान सन्तुलन में घाटा होने पर मांग वक्र दायीं ओर खिसक कर ऊपर जाने से विनिमय दर में वृद्धि होगी, सटोरियों को आशंका है कि भविष्य में डालर के मूल्य में और अधिक वृद्धि होगी जिससे वे डालर खरीदना आरम्भ कर देते हैं फलस्वरूप विनिमय दर में और वृद्धि होती जाती है इस प्रकार सौदे बाजी अस्थिरता को जन्म देती है।

बोध प्रश्न 2

1. भुगतान संतुलन में अधिक्य का विनिमय दर पर क्या प्रभाव पड़ता है?
2. भुगतान संतुलन प्रतिकूल होने पर विनिमय दर पर क्या प्रभाव पड़ता है?
3. विदेशी विनिमय बाजार में सट्टेबाजी का विनिमय दर पर क्या प्रभाव पड़ता है?

22.7 सारांश

जिस दर पर एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तन किया जाता है उसे विनिमय दर कहा जाता है। विनिमय दर में विदेशी मुद्रा की मांग व पूर्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मांग व पूर्ति के अन्तर को कम करने के लिए सरकारें विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करती है। जब दोनों देशों में धातु मुद्रा का चलन था तो विनिमय दर का निर्धारण उनमें विद्यमान स्वर्ण अथवा रजत की मात्रा के अनुसार होता था। आज विश्व में कहीं भी धातु मुद्रा का चलन नहीं है। अब विनिमय दर का निर्धारण क्रयशक्ति समता अथवा भुगतान संतुलन की स्थिति के आधार पर होता है। यदि भुगतान संतुलन में सुधार के कारण डालर का मूल्य कम हो जाता है तो सट्टा मांग में वृद्धि होने से डालर का मूल्य स्थिर हो जाएगा। इसके विपरीत सट्टेबाजी से भविष्य में और मूल्य गिरने की आशंका पैदा होने पर विनिमय दर में अस्थिरता पैदा होगी। इसी प्रकार भुगतान संतुलन में घाटा होने पर विनिमय दर में वृद्धि होगी ओर सटोरिए डालर बेचना प्रारम्भ कर देगें। इससे पुनः स्थिरता आ जाएगी। यदि सटोरियों की धारणा भविष्य में मूल्य वृद्धि की हो तो वे ऊंचे मूल्यों पर भी डालर खदीदेगें इस से देश में अस्थिरता को जन्म मिलेगा।

22.8 शब्दावली

1. स्वर्णमान Gold standard.
2. रजतमान Silver standard
3. टकसाली समता दर Mintpar parity Rate
4. क्रयशक्ति समता Purchasing Power Parity
5. भुगतान संतुलन सिद्धान्त Balance of Payments Theory

22.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. P.T.Ellsworth, International Economics
2. C.P. Kindleberger, International Economics
3. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, सिन्हा वी.सी.

इकाई 23

स्थिर एवं लचीली विनिमय दरें

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 विदेशी विनिमय दर प्रणालियाँ एवं नीतियाँ

- 23.2.1 सन् 1870 - 1914 तक
- 23.2.2 सन् 1914 - 1944 तक
- 23.2.3 सन् 1944 - 1971 तक
- 23.2.4 सन् 1971 से वर्तमान समय तक

23.3 लचीली विनिमय दरें

23.4 नियंत्रित विनिमय दरें

23.5 प्रबन्धकीय लचीली दरें

- 23.5.1 समायोज्य मात्रा प्रणाली
- 23.5.2 घिसटती हुई प्रणाली
- 23.5.3 ब्रिटेन बुड्स प्रणाली

23.6 सारांश

23.7 शब्दावली

23.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

23.9 निबन्धात्मक प्रश्न

23.0 उद्देश्य

आप जान चुके हैं कि विनिमय दर का निर्धारण विदेशी विनिमय की मांग एवं पूर्ति द्वारा होता है। परन्तु क्या एक बार निर्धारित होने के बाद यह स्थिर रहती है अथवा इसमें परिवर्तन होता रहता है? इन्हीं आधारों पर विनिमय दर को स्थिर अथवा लचीला कहा जाता है। आजकल विश्व के अधिकांश देश लचीली विनिमय दर अपनाते है जिनमें प्रतिदिन परिवर्तन होता रहता है। इस इकाई में आपका परिचय इन्ही दोनों प्रकार की विनिमय दरों से कराया जाएगा।

23.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तन करने की दर स्थिर होने पर सरकार की जिम्मेदारी अत्यधिक बढ़ जाती है। इनमें उच्चावचन होने पर देश के केन्द्रीय बैंक को निर्धारित दरों पर मुद्रा बेचनी अथवा खरीदनी पड़ती है। आजकल स्वतंत्र व्यापार एवं उदारीकरण के पक्षधर अर्थशास्त्रियों का मानना है कि स्थिर विनिमय दर देश के विकास

के दीर्घकालिक हित में नहीं है इसलिए विनिमयदर को मांग एवं पूर्ति की शक्तियों के नियंत्रण में खुला छोड़ देना चाहिए। इससे देश के निवासियों की रूचि एवं मांग के अनुरूप वस्तुएं आयात होंगी एवं देश की क्षमता के अनुरूप वस्तुएं निर्यात होगी। इस इकाई में विनिमय दरों के चलन का ऐतिहासिक विवेचन एवं लचीली दरों के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की गई है।

23.2 विदेशी विनिमयदर प्रणालियाँ एवं नीतियाँ

पिछले 125 वर्षों में विश्व में विभिन्न विनिमय दरों का चलन व अनुभव रहा है जिसे इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

23.2.1 सन् 1870 - 1914 तक

इस अवधि में स्वर्ण मान प्रचलन में रहा और प्रणाली में घाटे को ठीक करने के लिए आंतरिक अस्फीति (मंदी) का एवं अधि-शेष को ठीक करने के लिए आंतरिक स्फीति (तेजी) को अपनाया गया इस प्रकार बाह्य असुन्तलन को ठीक करने के लिए आंतरिक स्थिति व बेरोजगारी का सहारा लिया गया इस अवधि में प्रायः विनिमय दर स्थिर रही और उत्पादन व साधनो की गतीशीलता पर कोई प्रतिबंध नहीं रहा था। यह स्थिति प्रथम विश्व युद्ध तक रही।

23.2.2 सन् 1914 - 1944 तक

प्रथम विश्व युद्ध के बाद एवं द्वितीय विश्व युद्ध तक इस स्थिति से तेजी से परिवर्तन हुआ। स्वर्णमान को त्याग दिया गया, स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने के प्रयासों में सफलता नही मिली इस अवधि में अधिकतर देशों में बाजार की स्थिति के अनुसार अपनी मुद्रा की विनिमय दरों में परिवर्तन जारी रखा पौण्ड स्टर्लिंग ने अन्तर्राष्ट्रीय साख खो दी।

23.2.3 सन् 1944 - 1971 तक

यह काल स्थिर विनिमय दर का रहा। 1944 में ब्रेटन बुड्स सम्मेलन के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का गठन हुआ एवं स्थिर विनिमय दर प्रणाली का जन्म हुआ। एक बार विनिमय दर किसी देश की स्थिर होने के बाद वह देश बिना मुद्रा कोष की स्वीकृति के नहीं बदल सकता था। जब तक कि मुद्रा कोष यह आश्वस्त नहीं हो जाये कि यह परिवर्तन भुगतान संतुलन में मूलभूत असंतुलन को ठीक करने हेतु आवश्यक हैं। ब्रेटन बुड्स प्रणाली 1971 में समाप्त हो गई।

23.2.4 सन् 1971 से वर्तमान समय तक

1971 में डालर संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई। दिसम्बर 1971 में एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप डालर का अवमूल्यन हुआ और यूरोपीय मुद्राओं व जापानी येन का अधिमूल्यन हुआ। इस समझौते को राष्ट्रपति निक्सन ने ''विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण समझौते'' की संज्ञा दी किन्तु यह 14 माह पश्चात ही समाप्त हो गया और डालर का पुनः अवमूल्यन हो गया और कई अन्य मुद्राओं का अधिमूल्यन हुआ। इस प्रकार 1971 से 1976 तक की अवधि में अनौचपारिक रूप से लचीली विनिमय दरें रहीं। 1971 से जमैका समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप अब औपचारिक लचीली विनिमय दरें कार्यशील हैं।

विनिमय दरों को मुख्य रूप से तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता हैं।

23.3 लचीली विनिमय दरें –

विदेशी विनिमय दर या रुपये के रूप में डालर की कीमत डालर की मांग व पूर्ति के द्वारा

निर्धारित होती हैं डालर की अतिरिक्त मांग से विदेशी विनिमय दर में वृद्धि होगी अर्थात डालर का अधिमूल्यन व रुपये की अवमूल्यन होगा एवं डालर की अतिरिक्त पूर्ति से विदेशी विनिमय दर में कमी होगी अर्थात डालर का अवमूल्यन व रुपये का अधिमूल्यन होगा। जब डालर की मॉग इसकी पूर्ति के ठीक समान होगी तब हम कह सकते हैं। कि विदेशी विनिमय बजार में संतुलन हैं इसे निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता हैं।

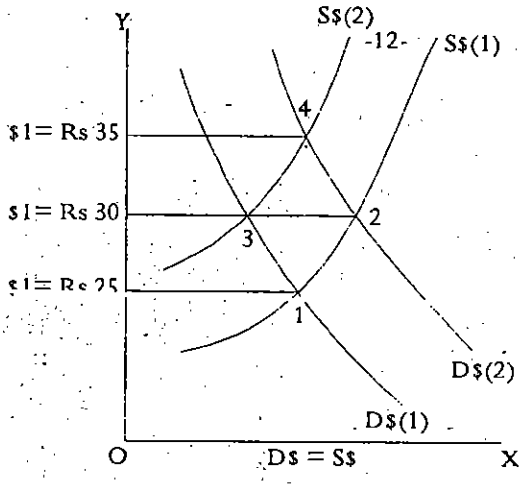

रेखाचित्र 23.1

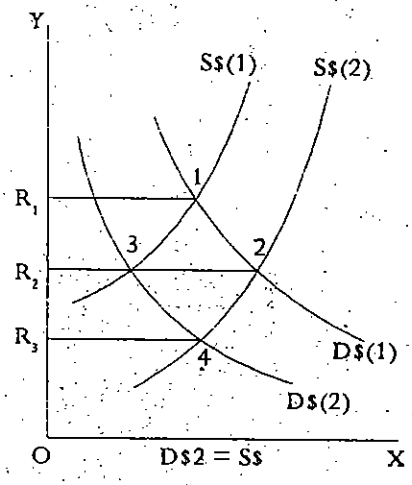

रेखाचित्र 23.2

मानाकि किन्हीं कारणों से डालर की मांग में वृद्धि होती हैं। डालर की मांग में वृद्धि कई कारणों से हो सकती हैं : कोई नया विकास कार्यक्रम अपनाया जाये जिससे पूंजीगत या उपभोक्ता वस्तुओं के आयात में वृद्धि हो, अनावृष्टि या अतिवृष्टि से फसल को नुकसान हो जिससे निर्यात न हो सकें बल्कि उस वर्ष में आयात करना पड़े, विदेशो में उस वस्तु की मांग मे कमी हो जाय जिससे डालर की मांग में वृद्धि हो सकती हैं या विदेशों से प्राप्त होने वाली आय में कमी हो सकती हैं। भुगतानसंतुलन में घाटा डालर के मांग वक्र दायीं ओर खिसकने से आया पूर्ति वक्र बायीं ओर खिसकने से या दोनों के कारण हो सकता हैं उपर्युक्त रेखाचित्र 23.1 में संतुलन 1 बिन्दु पर हैं अब यदि डालर के मांग वक्र में दायीं ओर विवर्तन होता हैं तो संतुलन बिन्दु 2 होगा और डालर का अधिमूल्यन व रुपये का अवमूल्यन होगा या डालर के पूर्ति वक्र में बायीं ओर विवर्तन होता हैं तब भी बिन्दु 3 पर यहीं स्थिति रहेगी या दोनों में परिवर्तन होता हैं तो संतुलन बिन्दु 4 होगा और डालर का अधिमूल्यन व रुपये का अवमूल्यन अधिक होगा।

अब हम अधिशेष की स्थिति की चर्चा करेंगे। रेखाचित्र 23.2 में मूल संतुलन 1 बिन्दु पर हैं अब डालर की मांग में कमी होने से मांग वक्र नीचे बायीं ओर विवर्तित होता हैं या पूर्ति वक्र दायीं ओर विवर्तित होता हैं या दोनों के संयुक्त रूप में अधिशेष की स्थिति उत्पन्न होती हैं तो डालर का अवमूल्यन होगा और रुपये का अधिमूल्यन होगा।

23.4 नियंत्रित विनिमय दरें –

इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार का नियंत्रण होता हैं और एक निश्चित विनिमय दर को बनाये रखने के लिए सरकार हस्तक्षेप करती हैं ताकि इस स्तर से अधिक व कम दर निर्धारित न हो। यदि डालर की मॉग व पूर्ति में परिवर्तन के द्वारा या सटौरियों के कारण इस दर में परिवर्तन होता हैं तो सरकार इसमें हस्तक्षेप करके इस दर को नियंत्रित करने का प्रयास करती हैं। इसे निम्नलिखित रेखाचित्रों द्वारा दर्शाया जा सकता हैं।

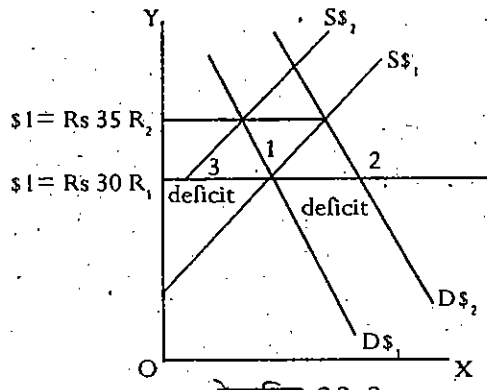

रेखाचित्र 23.3

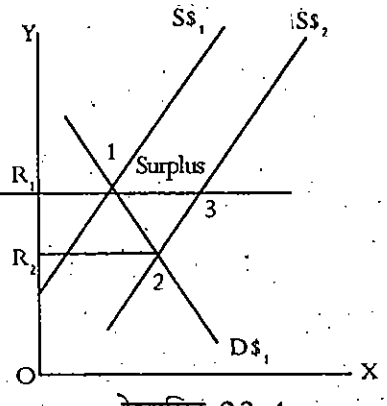

रेखाचित्र 23.4

उपर्युक्त रेखाचित्र 23.3 में 1 संतुलन बिन्दु हैं अब यदि डालर की मांग में वृद्धि हो या डालर की पूर्ति में कमी हो जाय तो विनिमय दर R_1 से बढ़कर R_2 हो जायेगी अब यदि सरकार को विनिमय दर R_1 पर स्थिर रखना हैं तो सरकार के पास तीन विकल्प हैं (1) प्रथम जो पूर्व में उसने भुगतान संतुलन में अधिशेष के द्वारा विदेशी विनिमय प्राप्त किया हैं उसे कम करें (2) द्वितीय अल्पकालीन विदेशी विनिमय ऋण ले (3) तृतीय स्वर्ण का निर्यात करें।

अब यदि रेखाचित्र 23.4 के अनुसार पूर्ति वक्र में दायीं ओर विवर्तन होता हैं तो विनिमय दर में कमी होगी अर्थात डालर का अवमूल्यन वह रूपये का अधिममूल्यन होगा अतः विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने के लिए सरकार डालर की खरीद करेगी ताकि विनिमय दर पूर्ववत बनी रहें।

23.5 प्रबन्धकीय लचीली दरें

इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की दरें आती हैं जो इस प्रकार हैं

23.5.1 समायोज्य मात्रा प्रणाली

(एडजस्टेबल पेग सिस्टम) इस प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी विनिमय की जहां तक संभव हो स्थिर दर बनाये प्रयास किया जाता हैं। जब तक विदेशी विनिमय कोष उपलब्ध हैं तब तक विनिमय दर स्थिर रखा जाता हैं एवं कोष समाप्त होने पर मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया जाता हैं और नई विनिमय दर निर्धारित की जाती हैं एवं नई विनिमय दर भी यदि पुनः विचलित होने लगे तो विनिमय कोष द्वारा उसे स्थिर बनाये रखने का प्रयास किया जाता हैं। इसके उपरान्त भी कोष समाप्त होने की स्थिति आ जाय तो पुनः अवमूल्यन का दिया जाता हैं जैसा कि रेखाचित्र 23.5 से स्पष्ट हैं।

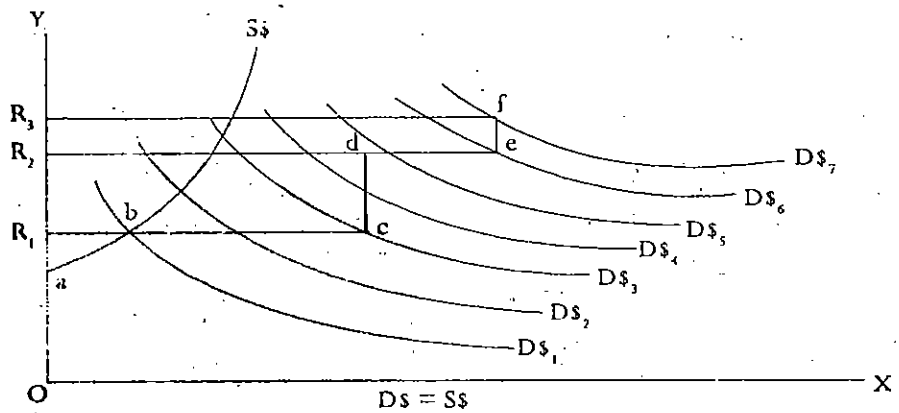

रेखाचित्र 23.5

डालर की विनिमय दर R_1 हैं एवं डालर की मांग में वृद्धि होने पर सरकार bc पूर्ति वक्र के रूप में विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयास करती है c बिन्दु विनिमय कोष समाप्त होने पर रुपये का अवमूल्यन कर दिया जाता हैं और नई दर R_2 निर्धारित कर दी जाती हैं इस दर पर de पूर्ति वक्र के साथ विनिमय दर स्थिर रखी जाती हैं और e बिन्दु पर कोष समाप्त होने पर पुनः रुपये का अवमूल्यन कर दिया जाता हैं इस प्रकार यह प्रक्रिया पूर्ति वक्र abcdef पूर्ति वक्र के रूप में चलती हैं।

23.5.2 घिसटती हुई प्रणाली (क्राउलिंग सिस्टम)

इस प्रणाली के अन्तर्गत तुरन्त अवमूल्यन नहीं किया जाता हैं और जहाँ तक हो सकें अवमूल्यन को टाला जाता हैं किन्तु इतना इंतजार नहीं किया जाता कि सम्पूर्ण विदेशी विनिमय कोष समाप्त हो जाये। इस प्रणाली में विनिमय दर में परिवर्तन कम से कम अवमूल्यन करके किया जाता हैं जैसे रेखाचित्र 23.6 में स्पस्ट हैं।

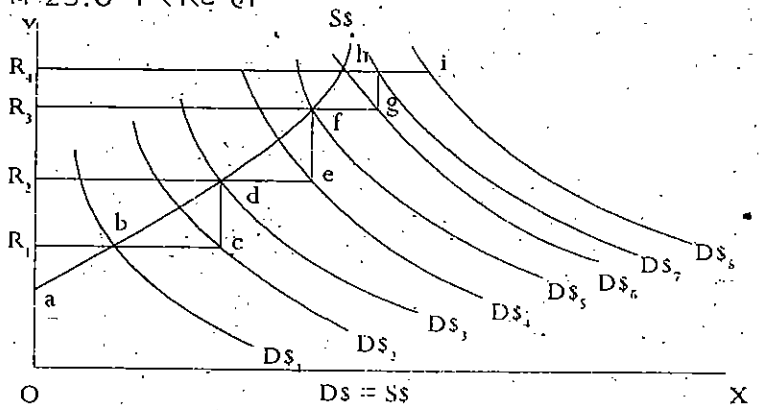

रेखाचित्र 23.6

उपर्युक्त रेखाचित्र 23.6 में मूल विनिमय दर R_1 हैं bc के मध्य सरकार डालर बेच कर विनिमय दर नियंत्रित दर नियंत्रित करती है cd के मध्य न्यूनतम अवमूल्यन करती हैं अब पुनः सरकार नई विनिमय दर R_2 पर स्थिर रखना चाहती हैं और नियंत्रण करने के लिए डालर का विक्रय करती हैं। ef के मध्य पुनः अवमूल्यन करना पडता हैं इस प्रकार abcdefghi के रूप में डालर का पूर्ति वक्र निर्धारित होता हैं।

23.5.3 ब्रिटेन बुड्स प्रणाली

1944 से 1971 तक ब्रेटन बुटन प्रणाली कार्यशील थी जिसके अन्तर्गत स्थिर विनिमय दर अपनाई गई थी किन्तु यह स्थिर पर सापेक्षिक रूप से थी न कि निरपेक्ष रूप से। 1870 से 1941 तक स्वर्णमान के अन्तर्गत भी निरपेक्ष रूप से स्थिर दरें नहीं रही थी। सापेक्ष रूप से विनिमय दर की ऊपरी व निचली सीमा निर्धारित कर दी जाती हैं जिसके मध्य ही विनिमय दर में परिवर्तन होता रहता हैं। यह रेखाचित्र 23.7 में स्पष्ट हैं।

रेखाचित्र 23.7

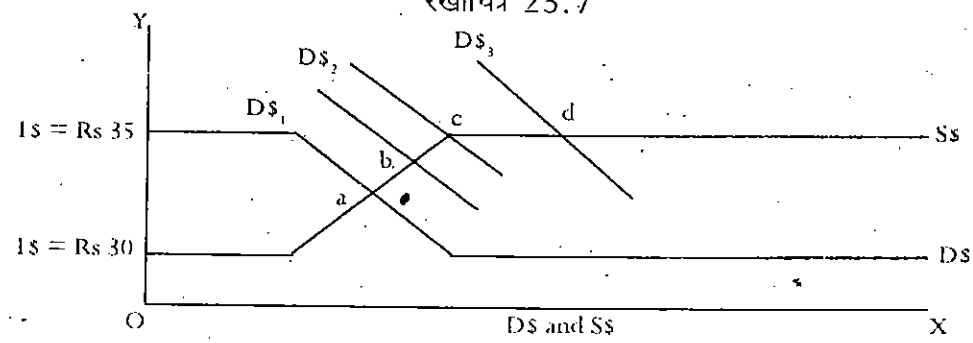

उपर्युक्त रेखाचित्र 23.7 में मूल विनिमय दर a बिन्दु पर हैं अब डालर की मांग में वृद्धि होने पर विनिमय दर b पर एवं c पर निर्धारित होती हैं सरकार c तक विनिमय दर में वृद्धि को मान्य करती है किन्तु मांग वक्र $D\$_3$ होने पर c से d के मध्य सरकार डालर की बिक्री करके विनिमय दर को ऊपरी सीमा से अधिक नहीं बढ़ने देती हैं। इस प्रकार ऊॅपरी सीमा व निचली सीमा के मध्य सरकार हस्तक्षेप नहीं करती और बाजार की मांग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा संतुलन बनाये रखने के लिए स्वतंत्र छोड़ देती हैं। इन सीमाओं से बाहर होने पर सरकार हस्तक्षेप करती हैं।

23.6 सारांश

स्वर्णमान के युग में आन्तरिक अपस्फीति एवं स्फीति को अपनाकर विनिमय दरों को टकसाली समता पर स्थिर रखा जाता था। विश्व युद्धों के समय मजबूरन कई देशों को स्वर्णमान का त्याग करना पड़ा एवं विनिमय दरों मे बाजार की स्थिति के अनुरूप परिवर्तन आया। 1944 में ब्रिटेन बुडस व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के गठन के साथ स्थिर विनिमय दरों का नया युग प्रारम्भ हुआ। 1971 के बाद डालर संकट के बाद लचीली विनिमय दरों का युग प्रारम्भ हुआ। लचीली विनिमय दरें मांग एवं पूर्ति के अनुसार तय होती है। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकीय लचीली दरें विभिन्न प्रकार की होती है जिनमें समायोज्य मात्रा प्रणाली घिसटती हुई प्रणाली एवं ब्रिटेन बुडस प्रणाली का यहां वर्णन किया गया है। यहां पर दी गई सामग्री पर्याप्त नहीं होगी विद्यार्थियों से अपेक्षा है कि वे विभिन्न सन्दर्भ ग्रथों का अध्ययन करे।

23.7 शब्दावली

1. स्थिर विनिमय दर Fixed Exchange Rate
2. लचीली विनिमय दर Flexible Exchange rate
3. घिसटती हुई प्रणाली Crowling System

23.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. एम. सी. वैश्य एवं सुदामा सिंह - अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
2. एडवर्ड शापिरो - मेकोइकानोमिक्स

23.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विनिमय दर क्या हैं? यह स्वर्णमान के अन्तर्गत कैसे निधारित होती है?
2. विनिमय की टकसाली समता दर से आप क्या समझते हैं यह कैसे निर्धारति होती हैं तथा इस दर में उच्चावचन की क्या सीमायें हैं?
3. विदेशी विनिमय के क्रय शक्ति समता सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. "निर्यात आयातों का भुगतान करते हैं।" विवेचना कीजिए।
5. नियंत्रित व लचीली विनिमय दर प्रणाली में से आप किसे लागू करना पसन्द करेगें व क्यों? विवेचना कीजिए।

इकाई 24

अवमूल्यन लोचविधि, अवशोषण विधि एवं मौद्रिक नीतियों का समन्वय

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 अवमूल्यन के उद्देश्य

24.3 अवमूल्यन के सफलता की शर्तें

24.4 अवमूल्यन के प्रभाव का विश्लेषण

24.4.1 अवमूल्यन - लोच विधि

24.4.2 अवमूल्यन - अवशोषण विधि

24.5 आन्तरिक एवं बाह्य संतुलन मौद्रिक व राजकोषीय नीतियों का समन्वय

24.6 सारांश

24.7 शब्दावली

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.9 निबन्धात्मक प्रश्न

24.0 उद्देश्य

अवमूल्यन का अर्थ किसी देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करने से होता है। इस इकाई के अन्तर्गत अवमूल्यन के प्रभाव का विशलेषण करने की लोच विधि एवं अवशोषण विधि का प्रयोग किया जायगा एवं मौद्रिक दृष्टिकोण तथा इसके द्वारा समन्वय स्थापित करने के प्रयासों की विवेचना की जायेगी। इस इकाई के अध्ययन बे बाद आप समझ सकेंगे कि :

- अवमूल्यन क्या है? व यह क्यों किया जाता है?
- मांग की लोच का निर्यात आयात पर क्या प्रभाव पड़ता है?

24.1 प्रस्तावना

जब कुछ कारणों के फलस्वरूप दूसरे देशों की मुद्रा की तुलना में एक देश की मुद्रा की विनिमय दर कम करके उसके विनिमय मूल्य को सस्ता कर दिया जाता है तो उस प्रक्रिया को ही अवमूल्यन कहते हैं। प्रतिकूल व्यापार संतुलन को ठीक करने हेतु एक उपाय अवमूल्यन भी हैं। अवमूल्यन का अर्थ है मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी करना। जैसे डालर का मूल्य रुपये के रूप में बढ़ा दिया जाये या रुपये का मूल्य डालर के रूप में कम कर दिया जाये तो इसे भारतीय रुपये का अवमूल्यन कहा जायेगा।

24.2 अवमूल्यन के उद्देश्य

1. **निर्यात को प्रोत्साहन देना** – अवमूल्यन के द्वारा देश की मुद्रा का मूल्य बाहरी मुद्रा की तुलना में कम हो जाता हैं जिससे विदेशियों को हमारी वस्तुएं सस्ती प्राप्त होने से निर्यात बढ़ते हैं।

2. **आयातों को हतोत्साहन** – अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी वस्तुएं महंगी हो जाती हैं जिससे उनकी कीमत देश में बढ़ने पर मांग में कमी हो जाती है। इससे आयात घटते हैं।

3. **अनुचित व्यापारिक तरीकों व विदेशी मुद्रा की काला बाजारी को रोकना** – अवमूल्यन के द्वारा मुद्रा का मूल्य इसकी साम्य विनिमय दर के बराबर रखा जाता हैं ताकि विदेशी मुद्रा की काला बाजारी कम हो।

4. **अन्य देशों द्वारा राशिपातन को रोकना** – यदि अन्य देश राशिपातन के द्वारा हमारे देश में कम मूल्य पर वस्तुएं बेचने का प्रयास करता हैं तो उसे अवमूल्यन के द्वारा हतोत्साहित किया जाता हैं।

5. **विदेशी निवेश कर्ताओं को पूंजी निवेश हेतु प्रोत्साहित करना** – अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी निवेशकर्ता को यहां विनियोग करने हेतु प्रेरणा मिलती हैं।

24.3 अवमूल्यन के सफलता की शर्तें

1. **आयातित वस्तुओं की मांग अत्यधिक लोचदार होनी चाहिए** – यदि अवमूल्यन के फलस्वरूप आयातित वस्तुओं की मांग में अनुपातिक कमी नहीं होती तो कुल आयात बिल बढ जायेगा। अतः आयातित वस्तुओं की मांग अधिक लोचदार ($em>1$) होनी चाहिए।

2. **अन्य देशों में निर्यातित वस्तुओं की मांग भी अत्यधिक लोचदार होनी चाहिए** – यदि अवमूल्यन के फलस्वरूप हमारे द्वारा निर्यातित वस्तुओं की मांग में अनुपातिक रूप से वृद्धि नहीं हुई तो कुल विदेशी आय में कमी हो जायेगी। अतः निर्यातित वस्तुओं की मांग अत्यधिक लोचदार ($ex>1$) होनी चाहिए।

3. **अवमूल्यन के साथ-साथ देश में आन्तरिक मूल्य अपरिवर्तित रहने चाहिए** – यदि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का निर्माण आयातित कच्चे माल द्वारा होता हैं तो देश में अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पादन लागत में वृद्धि से मूल्य वृद्धि हो जायेगी और निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पायेगी।

4. **निर्यातित वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति होनी चाहिए** – अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यातों में वृद्धि होने पर देश में पर्याप्त उत्पादन होना चाहिए।

5. **अन्य देश अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन न करें** – यदि अन्य देश कभी अवमूल्यन करते हैं तो इससे निर्यातों में अपेक्षित वृद्धि नहीं होगी।

6. **अयातित वस्तुओं का प्रतिस्थापन संभव होना चाहिए** – अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी वस्तुओं मंहगी होने के कारण उनकी मांग में कमी होगी किन्तु साथ ही उन वस्तुओं की प्रतिस्थापना वस्तुएं आवश्यक हैं अन्यथा आयातों में कमी नहीं हो पायेगी।

7. **अवमूल्यन मुद्रास्फीति काल में न किया जाये** – यदि मुद्रास्फीति काल में अवमूल्यन किया जायेगा तो लोगों में यह आशंका रहेगी कि कीमतों में अभी और वृद्धि होगी अतः संचय की प्रवृति बढ़ेगी।

8. देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार तथा पूंजी का पर्याप्त महत्व होना चाहिए – जिस देश में विदेशी व्यापार तथा पूंजी का महत्व होता है वहां अवमूल्यन का प्रभाव सकारात्मक होता है।

24.4 अवमूल्यन के प्रभाव का विश्लेषण

अवमूल्यन का आय कीमत व उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की विश्लेषण करने के लिए दो प्रकार की रीतियों (विधियों) का प्रयोग प्रचलित है।

24.4.1 अवमूल्यन - लोच विधि (मार्शल-लर्नर शर्त)

अवमूल्यन के द्वारा देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य घट जाता है जैसे एक डालर = 20 रुपये विनिमय दर होने पर रुपये का 25 प्रतिशत अवमूल्यन करने पर विनिमय दर 1 डालर = 25 रुपये हो जायेगी। जिससे प्रभाव यह होगा कि अमेरीकन यह सोचेगें कि भारतीय वस्तुएं सस्ती हो गई है। क्योंकि पहले 20 रुपये मूल्य की वस्तुओं के उन्हें एक डालर देना पडता था जबकि अब 25 रुपये मूल्य तक की वस्तुओं के लिए उन्हें केवल एक डालर का ही भुगतान करना पड रहा है इसी प्रकार भारतीयों के लिए अमेरीकी वस्तुएं महंगी होगी, क्योंकि पहले एक डालर की कीमत वाली वस्तुओं के उन्हें 20 रुपये का भुगतान करना पडता था अब उन्हें 25 रुपये का भुगतान करना पडेगा। इसका परिणाम होगा कि अमेरीका का भारत से आयात सस्ता होगा और भारत का अमेरीका से आयात महंगा जिससे भारत के निर्यातों में वृद्धि होगी और भारत के आयातों में कमी होगी।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या अवमूल्यन से भारत का व्यापार संतुलन अनुकूल होगा? यह दो तत्वों पर निर्भर करता हैं। (1) भारतीय वस्तुओं की अमेरीका में मांग की कीमत लोच (2) अमेरीका से आयतित वस्तुओं की भारत में मांग की कीमत लोच। सामान्य रूप में यदि भारतीय वस्तुओं की अमेरीका में कीमत लोच बेलोचदार है तो अवमूल्यन से भारत के निर्यात मूल्यों में वृद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार यदि भारत में आयातित वस्तुओं की कीमत लोच बेलोचदार है तब भी आयात मूल्यों में कमी नहीं होगी और भारत को आयातों का मूल्य अधिक चुकाना पडेगा जिससे भारत की स्थिति और अधिक प्रतिकूल हो सकती है।

अवमूल्यन की कार्यप्रणाली को इस प्रकार समझाया जा सकता है मानाकि एक डालर = 20 रुपये विदेशी विनिमय दर है अब रूपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप विनिमय दर 1 डालर = 25 रुपये हो जाती है तो इससे (1) निर्यात बढ़ेगें और निर्यातों से प्राप्त होने वाली आय में वृद्धि होगी एवं (2) आयात घटेगें एवं आयात व्यय में कमी होगी।

(1) अवमूल्यन से आयात महंगें होगे एक केलकुलेटर जिसकी कीमत 4 डालर है उसके भुगतान के लिए अब तक भारतीय को 80 रुपये देने पडते थे अब अवमूल्यन के पश्चात उसे उसी केलकुलेटर को 100 रुपये (एक डालर = 25) देने पड़ेगे। यद्यपि केलकुलेटर की कीमत डालर में अभी भी 4 डालर ही हैं। दूसरे शब्दों में अवमूल्यन के फलस्वरूप व पूर्व अमेरीका में मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल अवमूल्यन से भारत में आयातित वस्तुएं महंगी हो गई हैं। अतः यह विश्लेषण का प्रश्न है कि अवमूल्यन से भारतीय आयात एवं आयात व्यय पर क्या प्रभाव पड़ता हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करता है कि भारत में आयातित वस्तुओं की मांग की लोच क्या हैं? इस संबंध में तीन संभावनाएं हो सकती हैं। जिन्हें निम्नलिखित रेखाचित्रों द्वारा दर्शाया जा सकता हैं।

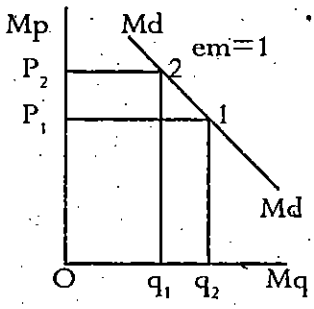

रेखाचित्र 24.1
इकाई के बराबर आयात मांग की लोच

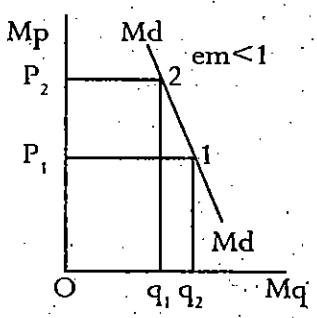

रेखाचित्र 24.2
इकाई से कम आयात मांग की लोच

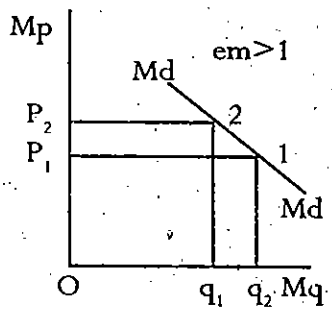

रेखाचित्र 24.3
इकाई से अधिक आयात मांग की लोच

उपर्युक्त रेखाचित्रों मे OX अक्ष पर आयात मात्रा व OY अक्ष पर आयातित वस्तु की कीमत दर्शायी गयी हैं अब अवमूल्यन के फलस्वरूप रेखाचित्र 24.1 में आयात व्यय में कोई कमी नहीं हुई हैं वरन् आयात व्यय समान हैं क्योंकि जिस अनुपात में अवमूल्यन से कीमत में वृद्धि हुई हैं उसी अनुपात में आयात मात्रा में कमी आई हैं। रेखाचित्र 24.2 में आयात व्यय में वृद्धि हुई हैं क्योंकि जिस अनुपात में मूल्य में वृद्धि हुई उसी अनुपात की तुलना में आयातों में कम कमी हुई हैं अतः शुद्ध रूप में आयात व्यय में वृद्धि हुई हैं।

रेखाचित्र 24.3 में आयात व्यय में कमी हुई हैं क्योंकि जिस अनुपात में मूल्य वृद्धि हुई उस अनुपात की तुलना में आयातों में अधिक कमी हुई हैं अतः शुद्ध रूप में आयात व्यय में कमी हुई हैं।

(2) अवमूल्यन से निर्यात सस्ते होगें, जैसे एक शर्ट जिसकी कीमत 100 रुपये हैं उसके भुगतान के लिए अमेरीकी को अब तक 5 डालर देने पडते थे। (1 डालर = 25 रुपये) अब अवमूल्यन के पश्चात उसे उसी शर्ट के केवल 4 डालर ही देने पडेगें। दूसरे शब्दों में अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत में कोई मूल्य वृद्धि नहीं हुई हैं। अमेरीकन के लिए भारतीय आयात अब सस्ते हो गये हैं। अतः अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि अवमूल्यन से भारतीय निर्यातों एवं निर्यातों से प्राप्त आय पर क्या प्रभाव पडता हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस पर निर्भर करता है कि भारतीय निर्यातित वस्तुओं की अमेरीका में मांग की लोच क्या हैं? इस संबंध में तीन संभावनाएं हो सकती हैं जिन्हें निम्नलिखित रेखाचित्रों द्वारा दर्शाया जा सकता हैं।

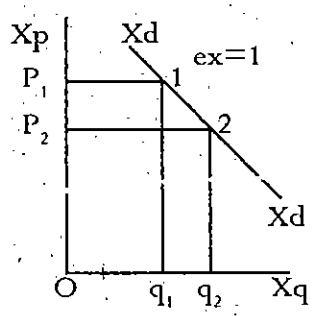

रेखाचित्र 24.4
इकाई के बराबर निर्यात मांग की लोच

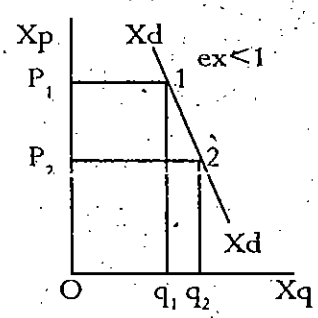

रेखाचित्र 24.5
इकाई से कम निर्यात मांग की लोच

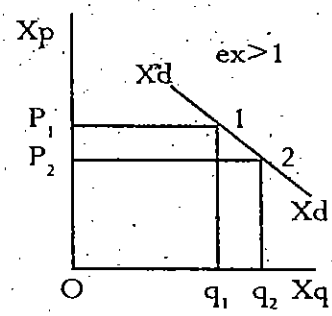

रेखाचित्र 24.6
इकाई से अधिक निर्यात मांग की लोच

उपर्युक्त रेखाचित्र 24.4 में OX अक्ष पर निर्यात मात्रा व OY अक्ष पर निर्यातित वस्तु की कीमत दर्शायी गई हैं अब अवमूल्यन के फलस्वरूप रेखाचित्र 24.4 में निर्यात आय में कमी की हैं उसी अनुपात में वस्तु की मात्रा में वृद्धि हुई हैं।

रेखाचित्र 24.5 में अवमूल्यन से निर्यात आय में कमी हुई है क्योंकि जिस अनुपात में कीमत में कमी आई हैं निर्यातों की मात्रा में उससे कम अनुपात में वृद्धि हुई है अतः शुद्ध रूप में निर्यात आय में कमी हुई है।

रेखाचित्र 24.6 में अवमूल्यन से निर्यात आय में वृद्धि हुई है क्यांकि जिस अनुपात में कीमत में कमी आई हैं निर्यातों की मात्रा उनसे अधिक अनुपात में वृद्धि हुई है अतः शुद्ध रूप में निर्यात आय में वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त विवरण से निष्कर्ष निकलता हैं कि अवमूल्यन से निर्यात मूल्य में कमी होती है एवं आयात मूल्य में वृद्धि होती हैं। अतः अवमूल्यन का उपयोग व्यापार संतुलन को ठीक करने हेतु आयात लोच व निर्यात पर ध्यान देना आवश्यक हैं। इन्हें मार्शल लर्नर शर्त भी कहते है। इसके प्रयोग की शर्त इस प्रकार हैं।

1. यदि निर्यात लोच आयात लोच की योग इकाई से अधिक हैं। [ex – em (>1)] तो अवमूल्यन से व्यापार संतुलन अनुकूल होगा।
2. यदि निर्यात लोच व आयात लोच का योग इकाई के बराबर हैं तो अवमूल्यन से व्यापार संतुलन अपरिवर्तित रहेगा।
3. यदि निर्यात लोच व आयात लोच का योग इकाई से कम हैं तो अवमूल्यन से व्यापार संतुलन प्रतिकूल हो जायेगा।

अवमूल्यन का मार्शल लर्नर की शर्तो के साथ आंकित मूल्य के रूप से इस प्रकार समझाया जा सकता हैं किन्तु अवमूल्यन का प्रभाव या तो रुपये के मूल्य में परिवर्तन में या डालर के मूल्य में परिवर्तन द्वारा समझाया जा सकता हैं। दोनों एक साथ नहीं समझाया जा सकता है।

तालिका 24.1 Ee = 1

Xe = ½ Me = ½ Ee = 1

10 प्रतिशत अवमूल्यन लोच = $\frac{\text{मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}} = \frac{5\%}{10\%} = \frac{1}{2}$

	मूल्य में (रु. में)	मात्रा में परिवर्तन	परिणाम
1.	–	5% वृद्धि	निर्यात आय में 5% वृद्धि
2.	10% वृद्धि	5% कमी	आयात कम में 5% वृद्धि

विदेशी आय में शुद्ध वृद्धि = 0 (तटस्थ)

उपर्युक्त तालिका 24.1 में आयात वस्तु की एवं निर्यात वस्तु की लोच प्रत्येक की ½ हैं जिससे दोनों की लोच का योग इकाई के बराबर हैं। मानाकि रुपये का 10 प्रतिशत अवमूल्यन किया जाता है। आयात लोच के लिए एम. ई. व निर्यात लोच के लिए एक्स ई एवं दोनों लोचों के योग के लिए Ee लिखा जाता हैं। प्रथम पंक्ति में रुपये का 10 प्रतिशत अवमुल्यन करने से निर्यात लोच 1/2 होने के फलस्वरूप निर्यात आय में 5 प्रतिशत की वृद्धि होती है। किन्तु निर्यात वस्तुकी कीमत रुपये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ हैं। द्वितीय पंक्ति में अवमूल्यन से आयात मूल्य में 10 प्रतिशत वृद्धि हुई हैं। किन्तु आयात लोच 1/2 होने के कारण आयात व्यय में 5% की वृद्धि हुई हैं। अतः अवमूल्यन से निर्यात आय में 5 प्रतिशत वृद्धि है एवं आयात व्यय में भी 5% प्रतिशत वृद्धि हुई हैं जिससे शुद्ध परिणाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ हैं। इस प्रकार दोनों लोचों का योग इकाई के बराबर हो तो व्यापार संतुलन अपरिवर्तित रहता

हैं एवं घाटे में कोई कमी नहीं आती है।

तालिका 24.2 Ee = ¾ (या इकाई से कम)

	Xe = ¼	Me = ½	Ee = ¾
	10 प्रतिशत अवमूल्यन	लोच = $\frac{\text{मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}} = \frac{2.5\%}{10\%} = \frac{1}{4}$	
	मूल्य में (रु. में) परिवर्तन	मात्रा में परिवर्तन	परिणाम
1.	—	2.5% वृद्धि	निर्यात आय में 2.5% वृद्धि
2.	10 प्रतिशत वृद्धि	5 प्रतिशत कमी	आयात व्यय में 5% वृद्धि
	विदेशी आय में शुद्ध वृद्धि = –2.5 (कमी)		

उपर्युक्त तालिका 24.2 में आयात वस्तुकी लोच ½ तथा निर्यात वस्तु की लोच ¼ है एव दोनों का योग ¾ अथात इकाई से कम है। अब मोना कि 10 अवमूल्यन किया जाता है। प्रथम पंक्ति में निर्यात मात्रा में 2.5 वृद्धि होती है। (10 अवमूल्यन का ¼) अतः निर्यात आय में 2.5% वृद्धि होगी। द्वितीय पंक्ति में 10% अवमूल्यन से 5% आयात मात्रा में कमी आती हैं। जिससे आयात व्यय में 5% वृद्धि होती है। (10% मूल्यवृद्धि – 5% आयात में कमी) इस प्रकार शुद्ध विदेशी आय में 2.5% कमी आती है। निष्कर्ष रूप मे दोनों लोचों का योग इकाई से कम होने पर अवमूल्यन से व्यापार संतुलन अधिक प्रतिकूल हो जायेगा।

तालिका 24.3 Ee = 2 (या इकाई से अधिक)

	Xe = 1	Me = 1	Ee = 2
	10 प्रतिशत अवमूल्यन	लोच = $\frac{\text{मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}} = \frac{10\%}{10\%} = 1$	
	मूल्य में (रु. में) परिवर्तन	मात्रा में परिवर्तन	परिणाम
1.	—	10% वृद्धि	निर्यात आय में 10% वृद्धि
2.	10 प्रतिशत वृद्धि	10% कमी	आयात कम में 0% वृद्धि
	विदेशी आय में शुद्ध वृद्धि = 10 (वृद्धि)		

निर्यात लोच व आयात लोच दोनों इकाई के बराबर होने पर दोनों की योग 2 होगा (अर्थात इकाई से अधिक) 10% अवमूल्यन होने पर निर्यात मात्रा में 10% वृद्धि होगी, जिससे निर्यात आय में 10% वृद्धि होगी एवं आयात मात्रा में 10% कमी होगी, अतः आयात व्यय अपरिवर्तित रहेगा। इस प्रकार दोनों लोचों का योग इकाई से अधिक होने पर शुद्ध विदेशी आय में वृद्धि होगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है, कि आयात व निर्यात लोचों की योग इकाई से अधिक होता है तो शुद्ध विदेशी आय में वृद्धि होगी।

24.4.2 अवमूल्यन - अवशोषण विधि

अवमूल्यन प्रत्यक्ष रूप से निर्यात मूल्यों में कमी करता है एवं आयात मूल्य मे वृद्धि करता है एवं आयात व निर्यात लोचों का योग इकाई से अधिक होने पर व्यापार संतुलन अनुकूल होगा। परम्परागत व्यष्टि दृष्टिकोण कीमत प्रभाव के रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है।

$$B = X - M$$

जहां B = व्यापार संतुलन

X = निर्यात मूल्य

M = राष्ट्रीय आय

A = अवशोषण या घरेलू व्यय

अवमूल्यन के द्वारा व्यापार संतुलन अनुकूल तब होगा जबकि आय में वृद्धि (Y) अवशोषण में वृद्धि (A) अधिक होगी।

राष्ट्रीय आय घरेलू व्यय एवं शुद्ध निर्यात के समान होगा।

$$Y = (C+I+G) + (X-M) \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(1)$$

$$200 = (120+80+20) + (60-80)$$

$(C+I+G)$ घरेलू व्यय है एवं $(X-M)$ शुद्ध विदशी व्यय है। $(X-M)$ ऋणात्मक मूल्य है जिसका अभिप्राय व्यापार संतुलन में घाटा है, उपर्युक्त समीकरण (1) को इस प्रकार लिखा जा सकता है।

$$Y = A+B \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(2)$$

$$200 = 220 + (-20)$$

उपर्युक्त समीकरण (2) में A अवशोषण को जो $(C+I+G)$ के बराबर है, दर्शाता है एवं B व्यापार संतुलन को दर्शाता है। राष्ट्रीय आय अवशोषण व व्यापार संतुलन के समान होती है। समीकरण (2) को पुनः इस प्रकार लिखा जा सकता है।

$$Y-A = B \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(3)$$

$$200-220 = -20$$

$$B = Y-A \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(4)$$

$$-20 = 200-220$$

समीकरण (4) दर्शाती है कि व्यापार संतुलन, राष्ट्रीय आय का अवशोषण से अधिक है। यदि व्यापार संतुलन ऋणात्मक है, जैसे कि उपर्युक्त है तो राष्ट्रीय आय अवशोषण से कम है एवं व्यापार संतुलन धनात्मक है तो राष्ट्रीय आय अवशोषण से अधिक है।

यहां पर व्यापार संतुलन की घाटा 20 है जब अवमूल्यन के द्वारा निर्यात में वृद्धि 20 के बराबर हो जाती है जिससे अवमवूल्यन के पश्चात निर्यात भी 60 से बढ़कर 80 हो जाते है। और इस प्रकार अवमूल्यन से व्यापार संतुलन संतुलित हो जाता है।

अवमूल्यन के समष्टि दृष्टिकोण से परिणाम इस प्रकार है।

अवमूल्यन $\uparrow X \uparrow Y$ ⟨ $\uparrow M$ (सीमांत आयात प्रवृति m पर निर्भर है)

$\uparrow C \uparrow I$ (सीमांत उपभोग प्रवृति एवं सीमान्त विनियोग प्रवृति b,i पर निर्भर है।)

निर्यात में 20 की वृद्धि होने से आय में वृद्धि होगी किन्तु यह निर्भर करेगा की गुणक का

(K) मूल्य कितना है। आय में वृद्धि के दो प्रभाव होगे आयात में वृद्धि होगी जो सीमांत आयात प्रवृति पर निर्भर करेगी एवं उपभोग व विनियोग में भी वृद्धि होगी, जो सीमांत उपभोग प्रवृति व सीमान्त विनियोग प्रवृति पर निर्भर करेगी।

एलेक्जेण्डर सीमांत उपभोग प्रवृति व सीमांत विनियोग प्रवृति का योग को सीमांत अवशोषण प्रवृति ($e = b+i$) कहते है।

यदि सीमांत अवशोषण प्रवृति e अधिक होगी तो अवमूल्यन के द्वारा व्यापार संतुलन को अनुकूल करना कठिन होगा।

एक सामान्य रूप में दी हुई सीमांत आयात प्रवृति (m) पर कहा जा सकता है कि

1. व्यापार संतुलन अनुकूल होगा यदि $e<1$
2. व्यापार संतुलन प्रतिकूल हागा यदि $e>1$
3. व्यापार संतुलन अपरिवर्तित रहेगा यदि $e=1$

उदाहरण $ie = b+i = 1$ (व्यापार संतुलन में कोई परिवर्तन नहीं)

माना कि सीमांत आयात प्रवृति (m) = 20%

सीमांत उपभोग प्रवृति (b) = 80%

सीमांत विनियोग प्रवृति (i) = 20%

$C = 120, I = 80, G = 20$

$X = 80, M = 80, Y = 200$

$B = Y - A$

$X - M = Y - (C+I+G)$

$60 - 80 = 200 - (120 + 80 + 20)$

$-20 = +200 - (220)$

$-20 = -20$

गुणक का मूल्य $K = \frac{1}{1-b-i+m} = \frac{1}{1-.8+.2+.2} = \frac{1}{.2} = 5$

$\Delta Y = \Delta X.K$

माना कि अवमूल्यन से निर्यात में 40 की वृद्धि होती है तो आय में वृद्धि होगी।

$\Delta C = 40 \times 5 = 200$

तथा अन्य मूल्य होगें।

$\Delta C = \Delta Y.b = 200 \times .8 = 160$

$\Delta I = \Delta Y.i = 200 \times .2 = 40$

$\Delta M = \Delta Y.m = 200 \times .2 = 40$

आरंभिक मूल्यों में उपर्युक्त वृद्धि को सम्मिलित करने पर $- \Delta X = 40$

$X-M = Y-(C+I+G)$

$00-20 = 400-(280+120+20) : -20 = -20$

इस प्रकार सीमांत अवशोषण प्रवृति इकाई के बराबर होने पर ($e = b+i = 1$) व्यापार संतुलन अपरिवर्तित रहेगा।

उदाहरण - II $e = b+i > 1$ (व्यापार संतुलन और प्रतिकूल हो जायेगा) माना कि अवमूल्यन से निर्यात की मात्रा में 40 के बराबर वृद्धि होती है और सीमांत आयात प्रवृति 20% सीमांत उपभोग प्रवृति 90% व सीमांत विनियोग प्रवृति 20% मानने पर सीमांत अवशोषण प्रवृति $e = b+i$ का मूल्य इकाई से अधिक होगा।

गुणक का मूल्य $K = \frac{1}{1-b-i+m} = \frac{1}{1-.9-.2+.2} = \frac{1}{.1} = 10$

निर्यात में 40 की वृद्धि होने पर आय 400 होगी $\Delta Y = \Delta X.K.$ $(400=40\times10)$ अवशोषण में वृद्धि आय में वृद्धि से अधिक होगी क्योंकि

$\Delta C = \Delta Y \times b = 400\times.9 = 360$

$\Delta I = \Delta Y \times e = 400\times.2 = 80$

$\Delta A = \Delta C+\Delta I = 360+80 = 440$

अवमूल्यन के फलस्वरूप अवशोषण में वृद्धि आय में वृद्धि की अपेक्षा अधिक होगी।

$\Delta X = 40$

$\Delta M = \Delta Y.m = 400\times.2 = 80$

$\Delta M-\Delta X = 80-40 = 40$

आयात निर्यातों की तुलना अधिक होने से व्यापार संतुलन अधिक प्रतिकूल होगा और व्यापार घाटा 20 से बढ़कर 60 हो जायेगा,

$(X+\Delta X)-(M+\Delta M) = (Y+\Delta Y)-[(C+\Delta C)+(I+\Delta I)+G)]$

$(60+40)-(80+80) = (200+400)-[(120+360+(80+80)+20]$

$(100-160) = 600-660$

$-60 = -60$

अतः सीमांत अवशोषण प्रवृति का मूल्य इकाई से अधिक होने पर व्यापार संतुलन अधिक प्रातकूल हो जायेगा।

उदाहरण - III $e = b+i < 1$ (व्यापार संतुलन अनुकूल हो जायेगा) – मानाकि अवमूल्यन से निर्यात में वृद्धि 40 के बराबर होती है और सीमांत आयात प्रवृति 20% सीमांत उपभोग प्रवृति 50% व सीमांत विनियोग प्रवृति 20% मानने पर सीमांत अवशोषण प्रवृति इकाई से कम होगी।

$e = b+i = .5+.2 = .7<1$

गुणक का मूल्य $K = \frac{1}{1-b-i+m} = \frac{1}{1-.5-.2+.2} = \frac{1}{.5} = 2$

निर्यात में वृद्धि 40 होने पर व गुणक 2 होने पर आय में वृद्धि 80 होगी जबकि अवशोषण में वृद्धि 56 होगी।

$\Delta C = \Delta Y.b = 80 \times .5 = 40$

$\Delta I = \Delta Y.i = 80 \times .2 = 16$

$\Delta A = \Delta C + \Delta I = 40+16 = 56$

आय में वृद्धि की तुलना में अवशोषण में वृद्धि कम होगी जिससे व्यापार घाटा (20) कम होकर अतिरेक 4 में बदल जायेगा।

$(X+\Delta X) - (M+\Delta M) = (Y+\Delta Y) - [(C+\Delta C) + (I+\Delta I) + G)]$

$(60+40) - (80+16) = (200+80) - [(120+40) + (80+16)+20)]$

$100-96 = 280 - (160+96+20)$

$4 = 280-276$

$4 = 4$

इस प्रकार सीमांत अवशोषण प्रवृति का मूल्य इकाई से कम होने पर व्यापार संतुलन अनुकूल हो जायेगा।

24.5 आन्तरिक एवं बाह्य संतुलन मौद्रिक व राजकोषीय नीतियों को समन्वय

किसी भी अर्थव्यवस्था की मुख्य समस्या आन्तरिक संतुलन व बाह्य संतुलन संयुक्त रूप से या अलग-अलग प्राप्त करना होता हैं। आन्तरिक संतुलन मुद्रास्फीति में कमी एवं बेरोजगारी समाप्त करना है एवं बाह्य संतुलन व्यापार संतुलन को संतुलित करना हैं। आंतरिक संतुलन को मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है एवं बाह्य संतुलन को अवमूल्यन द्वारा प्राप्त किया जा सकता हैं।

निम्नलिखित रेखाचित्र 24.7 द्वारा एक देश के सनदर्भ में नीतियों के चयन की समस्या का विवरण किया गया है।

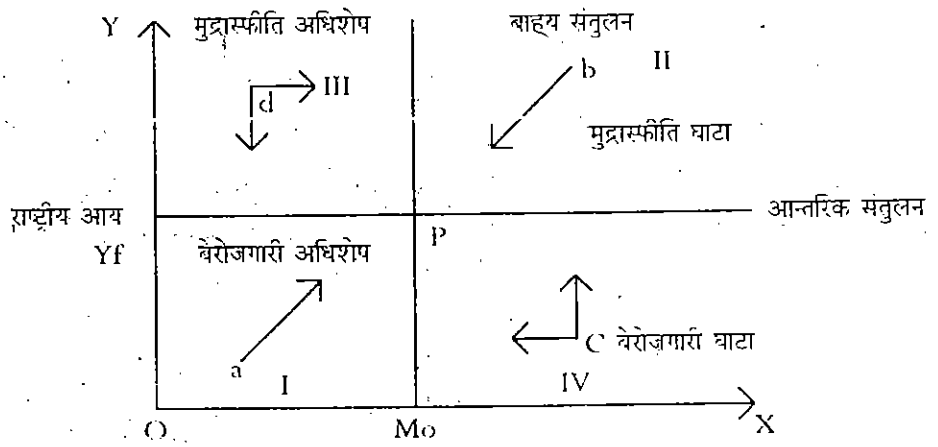

रेखाचित्र 24.7 आयात

OX अक्ष पर आयात मात्रा एवं OY अक्ष पर राष्ट्रीय आय को दर्शाया गया है Yf स्तर पर कीमतों में स्थिरता के साथ पूर्ण रोजगार है अर्थात आंतरिक संतुलन है M_o स्तर पर आयात का वह स्तर है जहां आयात व निर्यात समान है अर्थात बाह्य संतुलन है।

यदि राष्ट्रीय आय की स्तर आन्तरिक संतुलन स्तर से ऊपर है तो उसका अर्थ है पूर्ण रोजगार से अधिक का स्तर अर्थात मुद्रा स्फीति है एवं इस स्तर से कम होने का अर्थ बेरोजगारी या मंदी की स्थिति है। इसी प्रकार यदि आयात मात्रा M_o स्तर से अधिक है तो व्यापार घाटा है और यदि M_o स्तर के कम है तो व्यापार अधि शेष है।

आन्तरिक व बाह्य साम्य का बिन्दु P है जहां दोनों स्तर की रेखाऐं एक दूसरे को काटती हैं जिससे चार खण्ड प्राप्त होते है खण्ड प्रथम में बेरोजगारी एवं अधि शेष है अतः मौद्रिक नीति व राजकोषीय नीति के विस्तार द्वारा बेरोजगारी व व्यापार अधिशेष का समाप्त किया जा सकता हैं। क्योंकि आय में वृद्धि एवं ब्याज दरें में कमी के द्वारा आन्तरिक व बाह्य साम्य प्राप्त किया जा सकता हैं एवं अवमूल्यन का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होगी। खण्ड द्वितीय में मुद्रास्फीति एवं व्यापार घाटा है जिसकों मौद्रिक व राजकोषीय नीति के संकुचन द्वारा कम करके P संतुलन बिन्दु पर लाया जा सकता है। सरकारी व्यय में कमी एवं ऊंची ब्याज दर के द्वारा मुद्रास्फीति में कमी आयातों में कमी होगी। यहां पर भी अवमूल्यन का प्रयोग की आवश्यकता नहीं होगी।

खण्ड तृतीय में मुद्रास्फीति एवं व्यापार अधिशेष हैं यदि मौद्रिक व राजकोषीय नीति में संकुचन किया गया तो उससे मुद्रास्फीति में कमी किन्तु ब्याज दर में वृद्धि से चालू खाते एवं पूंजी खाते दोनों में अधिशेष होगा जो पुनः व्यापार अधिशेष को जन्म देगा अतः यहां पर अधिमूल्यन का प्रयोग भी साथ-साथ किया जायेगा ताकि बाह्य संतुलन भी प्राप्त हो और P संतुलन बिन्दु पर पहुंच जाये। चतुर्थ खण्ड में बेरोजगारी एवं व्यापार घाटा है अतः मौद्रिक व राजकोषीय नीति में विस्तार किया जायेगा जिससे बेरोजगारी दूर होगी किन्तु कम ब्याज दर के कारण व्यापार घाटा में और वृद्धि होगी अतः अवमूल्यन भी साथ-साथ करना होगा ताकि व्यापार घाटे में कमी होकर बाह्य संतुलन प्राप्त हो सके।

इस प्रकार खण्ड तृतीय एवं चतुर्थ में मौद्रिक नीति राजकोषीय नीति एवं अवमूल्यन या अधिमूल्यन का प्रयोग साथ-साथ किया जाता है। जिससे आन्तरिक व बाह्य साम्य एक साथ प्राप्त हो सके।

24.6 सारांश

भुगतान संतुलन को बनाए रखना विभिन्न देशों के लिए बड़ी समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए चार विकल्प हो सकते हैं — (i) भुगतान संतुलन के अधिक्य एवं घाटे की वित्तव्यवस्था करके अल्पकाल के लिए संतुलन की स्थापना (ii) विदेशी वस्तुओं के आयात एवं देश के निर्यातों में परिवर्तन द्वारा, (ii) विनिमय नियंत्रण द्वारा अथवा (iv) विनिमय दरों में परिवर्तन करके यदि संतुलन लगातार पक्ष में रहे तो मुद्रा का अधिमूल्यन करके एवं यदि संतुलन लगातार विपक्ष में रहता है तो मुद्रा का अवमूल्यन करके संतुलन स्थापित किया जा सकता हैं। अवमूल्यन दीर्घकाल तक भुगतान संतुलनों की प्रतिकूलता के परिणाम स्वरूप उठाया गया कदम होता है। इस इकाई में आपको अवमूल्यन के विभिन्न उद्देश्य बताए गए हैं। अवमूल्यन के अनुकूल प्रभाव तभी उपस्थित होते हैं जब कुछ शर्ते पूरी हो। जैसे निर्यातों एवं आयातों की मांग अत्यधिक लोचदार होनी चाहिए। अवमूल्यन की सफलता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वातावरण होना चाहिए। अवमूल्यन के कीमत पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन लोच के

दृष्टिकोण अथवा मार्शल-लर्नर शर्त के द्वारा किया जाता है। अवमूल्यन के आय प्रभावों का अध्ययन हम विदेश व्यापार गुणक के द्वारा कीन्स के मॉडल के आधार पर करते हैं। कीन्स के मॉडल के आधार पर आय प्रभाव को प्रोफेसर एस. एस. एलेक्जेण्डर ने आय अवशोषण विधि से समझाया है। जब पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है तो अवमूल्यन के अनुकूल प्रभाव तभी पड़ेंगे जब हमारे अवशोषण (कुल आन्तरिक खर्च) कम होंगे। उस समय मांग की लोचों की विधि कारगर नहीं होगी।

लोच अवशोषण की समन्वय को प्रोफेसर एस. सी. सियांग (S. C. Tsiang) ने नया रूप दिया है। व ब्याज की दर को उचित स्थान प्रदान करते हैं। यहां मौद्रिक घटको को सम्मिलित किया गया है। पूर्ण रोजगार की स्थिति में ऊँची ब्याज की दरें क्रियाशील होंगी। जब पूर्ण रोजगार हो एवं मूल्य स्तर में वृद्धि होती है तो ऊँची ब्याज की दरों वाली मौद्रिक नीति हो उपयुक्त होती है, स्थिर मुद्रापूर्ति की नीति अधिक उपयोगी नहीं होती। इस प्रकार प्रतिबन्धात्मक मौद्रिक नीति के दो लाभकारी प्रभाव होंगे (i) भुगतान संतुलन शनैः शनैः समायोजित होगा, (ii) मुद्रा प्रसार कम होगा। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नीतियां उपयोगी सिद्ध होती है।

24.7 शब्दावली

1. अधिमूल्यन Overvaluation
2. अवमूल्यन Devaluation
3. कीमत प्रभाव Price Effects
4. लोच दृष्टिकोण Elasticity Approach
5. आय प्रभाव Income Effects
6. आय अवशोषण Income Absorption
7. मौद्रिक नीति Monetary Policy

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Kindleberger International Economics
2. Ellsworth Leith International Economy

24.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए अवशोषण विधि पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
2. अवमूल्यन का लोच विधि एवं अवशोषण विधि द्वारा प्रभाव स्पष्ट किजिए।
3. अवमूल्यन को भुगतान संतुलन ठीक करने के उपाय के रूप में लोच विधि व अवशोषण विधि का मूल्यांकन कीजिए तथा समझाइये कि क्या अल्पविकसित देशों के लिए अवमूल्यन को भुगतान ठीक करने के लिए उपयोग किया जा सकता हैं।
4. अवमूल्यन की सफलता की आवश्यक शर्तें क्या है?
5. मार्शल-लर्नर शर्त एवं आय अवशोषण विधि में क्या अन्तर है? इनमें से कोन सी विधि कहां तक उपयुक्त है? समझाइए।

इकाई 25

विदेशी सहायता एवं ऋण सेवा भार

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 विदेशी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य

25.3 विदेशी सहायता की आवश्यकता की गणना

25.4 विदेशी सहायता से सम्बद्धित मुद्दे

25.5 विदेशी सहायता नीति में अकुशलताएं

25.6 विदेशी ऋण सेवा भार की समस्या

25.7 ऋण जाल में फंसे राष्ट्र के समक्ष विकल्प

25.8 भारतवर्ष की विदेशी ऋण समस्या

25.9 सारांश

25.10 शब्दावली

25.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.12 निबन्धात्मक प्रश्न

25.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य विद्यार्थियों को विदेशी सहायता की अवधारणा, इसके उद्देश्यों व आवश्यकता की गणना की विधि से अवगत करवाना है। साथ ही विदेशी सहायता से सम्बद्ध विचार वस्तु (Issues) की चर्चा करते हुए विदशी सहायता नीति की अकुशलताओं पर प्रकाश डाला जायेगा तथा अन्त में विदेशी ऋण-सेवा भार की समस्या का विश्लेषण प्रस्तुत किया जायेगा।

25.1 प्रस्तावना

विदेशी सहायता में कौन से ऋण शामिल किये जाने चाहिए? अथवा विदेशी सहायता क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर से अवगत होना उचित प्रतीत होता है।

प्रो. जगदीश भगवती (J.Bhagwati) व आर. एस. इकॉस (R.S. Eckaus) के अनुसार "संक्षिप्त उत्तर यह है कि विदेशी सहायता के अन्तर्गत अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को रिआयती शर्तो पर किये गये वास्तविक साधनों के स्पष्ट (explicit) हस्तांतरण सम्मिलित होते हैं। साधन हस्तांतरण में जबतक व्यापारिक रूप से (Commercially) उपलब्ध शर्तों से कुछ अंश तक अधिक अनुकूल शर्तें समावित (involved) नहीं हो तब तक इसमें उपहार तत्व सम्मिलित नहीं होता है।"

अतः स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों में निजी पूंजी के अन्तर्वाह के अनेक लाभ होते हुए भी हम इन्हे विदेशी सहायता की श्रेणी में नहीं रख सकते हैं।

सर रॉय हरॉड (Sir Roy Harrod) ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सहायता के अन्तर्गत हमें अनुदान व "नरम ऋण" (Soft loans)सम्मिलित करने चाहिए। जिन्होंने विश्व बैंक बॉण्ड्स में निवेश कर रखा है उन्हें उतना ही प्रतिफल मिलता है जितना उन्हें घरेलू सरकारी बॉण्ड्स में मिल रहा है। सहायता की धारणा (idea) यह है कि किसी न किसी ने त्याग किया है। लेकिन इस उदाहरण (विश्व बैंक के उदाहरण) में किसने त्याग किया है?"

अतः स्पष्ट है कि बैंक के ऋणों को हम सहायता की श्रेणी में नहीं रख सकते क्योंकि इन ऋणों में किसी का त्याग अन्तरनिहित नहीं है। विश्व बैंक अपने बॉण्ड्स पर उतना ही ब्याज चुकाती है जितना उन बॉण्ड्स पर विनियोगकर्ताओं की घरेलू सरकारें देती है। सहायता तो ऐसा दीर्घकालीन विनियोग है जिसमें त्याग निहित हो। जैसा कि अन्तर्ज्ञान से स्पष्ट है, ब्याज दर जितनी कम होगी तथा ऋण की अवधि जितनी अधिक होगी ऋणदाता के दृष्टिकोण से हस्तांतरण में उतना ही अधिक सहायता तत्व शामिल होगा । यदि घरेलू बाजार में प्रचालित शर्तों से कड़ी शर्तों पर ऋण प्रदान किया जाता है तो ऋणदाता की लागत के दृष्टिकोण से ऋण का सहायता मूल्य ऋणात्मक होता है।

25.2 विदेशी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य (Objectives Of Foreign Aid)

अमेरिका व रूस के मध्य विचार धाराओं के युद्ध में विदेशी सहायता प्रमुख हथियार रहा है। विश्व के सबसे बड़े सहायता प्रदान कर्ता राष्ट्र अमेरिका द्वारा बड़ी मात्रा में सहायता प्रदान करने के पीछे मात्र कल्याण की भावना ही नहीं अपितु अन्य उद्देश्य भी निहित रहे हैं। धनाड्य राष्ट्रों द्वारा प्रदत्त विदेशी सहायता के पीछे तीन प्रमुख उद्देश्य रहे हैं। :-

(1) व्यूह रचना से सम्बद्ध उद्देश्य (strategic objectives)

विकसित पूंजीवादी राष्ट्र अल्पविकसित राष्ट्रों को इसलिए ऋण एवं आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं कि वे राष्ट्र समाजवादी गुट में न चले जायें। दूसरी ओर समाजवादी राष्ट्र यह अनुभव करते हैं कि उनकी विचारधारा के प्रचार हेतु अल्पविकसित राष्ट्र ही उचित क्षेत्र हैं, अतः ये राष्ट्र भी विकासशील राष्ट्रों को सहायता प्रदान करते है।

अतः स्पष्ट है कि अन्य राष्ट्रों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने, वहां की सरकार को स्थायित्व प्रदान करने, किसी देश पर अप्रत्यक्ष प्रभाव बनाये रखने, वहां की सरकार को अपने प्रभाव में रखने आदि अनेक ऐसे उद्देश्य हैं जो विदेशी सहायता के पीछे निहित रहते हैं।

(2) आर्थिक उद्देश्य (Economic objectives)

विदेशी सहायता प्रदान करने से भले ही प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ न हो लेकिन इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि सहायता प्रदान करने का निर्णय अनेक आर्थिक उद्देश्यों से प्रभावित होता है।

विकसित राष्ट्रों मे अति-उत्पादन का भय बना रहता है अतः आर्थिक मंदी की स्थिति को टालने हेतु यह आवश्यक होता है कि देश में उत्पादन की मांग बनी रहे। आर्थिक सहायता प्रदान कर ऋणदाता राष्ट्र अपने माल के लिए बाजार का विस्तार करते हैं। उदाहरणार्थ, पी.एल. 480

के अन्तर्गत भारी मात्रा में गेहूं खपाकर अमेरिका ने विभिन्न राष्ट्रों में स्वयं के गेहूं बाजार का विस्तार किया था।

इसी प्रकार मन्दी काल में सरकार ऋण प्रदान कर ऋणी राष्ट्रों में बाजार स्थापित करने का प्रयास करती है। इसलिए तो कहा जात है कि विकसित राष्ट्र अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों को सहायता प्रदान कर अपनी ही अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाते हैं।

विदशी सहायता के पीछे यह भी उद्देश्य रहता है कि ऋणी राष्ट्र ऐसे निर्णय न ले जिनसे ऋणदाता राष्ट्र के आर्थिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो।

(3) मानव कल्याण का उद्देश्य: (Charitable objective)

अमेरिका अर्द्धविकसित राष्ट्रों को इस उद्देश्य से भी विदेशी सहायता प्रदान करता है कि राष्ट्र अपनी गरीबी भुखमरी व दरिद्रता की समस्याओं से निपट सके। युद्ध, प्राकृतिक विपदाओं आदि से पीड़ित देशों की सहायताकर्ता सरकारों का उद्देश्य सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्रों की विनियम दर में स्थायित्व बनाये रखना भी हो सकता है।

कई विकसित राष्ट्र इस भावना से प्रेरित होकर भी आर्थिक सहायता प्रदान करते है। कि उनका यह दायित्व है कि अर्द्ध विकसित राष्ट्रों को विकास हेतु उपयुक्त उपकरण अथवा साधन प्रदान करे।

जहां तक अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के लिए आर्थिक सहायता के महत्व का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि ये राष्ट्र निसंदेह ही आर्थिक सहायता से लाभान्वित होते हैं। लेकिन आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तीव्र करने हेतु विदेशी सहायता का सार्थक (effective) होना बहुत कुछ सहायता की प्रकृति व इससे जुड़ी शर्तों पर निर्भर करता है।

25.3 विदेशी सहायता की आवश्यकता की गणना (Computation of Aid Requirement)

विदेशी सहायता की आवश्यकता का अनुमान लगाने हेतु अर्द्ध विकसित राष्ट्रों की सकल राष्ट्रीय आय को किसी ऐतिहासिक वृद्धि की दर से प्रारम्भ करते हैं। तत्पश्चात् अग्रलिखित दो में से किसी एक विधि (अथवा दोनों के संयोग) को अपनाया जा सकता है।

प्रथम विधि के अनुसार विदेशी विनिमय की समस्या की ओर ध्यान न देकर लक्षित विकास की दर को प्राप्त करने हेतु वार्षिक विनियोग की आवश्यकता का अनुमान लगाकर विदेशी सहायता की आवश्यकता को आंका जाता है। विनियोग की अनुमानित आवश्यकता की प्रक्षिप्त (projected) घरेलू बचत से तुलना की जाती है। यदि प्रक्षिप्त बचत आवश्यक विनियोग से कम है तो इन दोनों का अन्तर-जिसे बचत अन्तराल (saving-gap) के नाम से जाना जाता है - को विदेशी सहायता का द्योतक मान लिया जाता है।

द्वितीय विधि विदेशी विनिमय की आवश्यकता का अनुमान लगाने पर आधारित है। यदि आयात प्रक्षेप (projection) निर्यात प्रक्षेपों से अधिक है तो इन दोनों का अन्तर विदेशी विनिमय का अन्तर होगा।

रॉजन्सटीन राडान (Rosenstein-Rodan) ने विदेशी सहायता की आवश्यकता की गणना हेतु निम्नांकित सूत्र प्रदान किया है:-

$$F = (Kr\text{-}b) \sum y + 5y_0 \left[b - \frac{s_0}{y_0} \right]$$

उपर्युक्त सूत्र में आर्थिक विकास हेतु 5 वर्ष की अवधि के लिए आवश्यक विदेशी सहायता की गणना की गई है। यहां y_0 अर्द्धविकसित राष्ट्र की सकल राष्ट्रीय आय है तथा इसकी वृद्धि की दर r है (r को राष्ट्र की अनुमानित ऋण ग्राह्यता क्षमता के आधार पर चुना जाता है), (s_0/y_0) प्रारम्भिक वर्ष में औसत बचत की दर तथा b बचत की सीमान्त दर एवं k पूंजी/उत्पादन अनुपात है।

उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट है कि विदेशी सहायता की आवश्यकता प्रारम्भिक सकल राष्ट्रीय आय बचत दर व पूंजी-उत्पादन अनुपात से सर्वाधिक प्रभावित होती है, बचत की सीमान्त दर से आवश्यक सहायता की मात्रा दीर्घकाल में अधिक प्रभावित होती है।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त सूत्र द्वारा सहायता आवश्यकता की गणना करने का अभिप्राय पूर्व वर्णित विधियों में से प्रथम विधि को प्रयुक्त करना है।

25.4 विदेशी सहायता से सम्बद्ध विचार वस्तु (Issues in Aid Policy)

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या आर्थिक विकास हेतु विदेशी सहायता आवश्यक व उपयोगी है? लेकिन इसके अलावा भी सहायता नीति से सम्बद्ध कई अन्य प्रश्न भी है जिन पर नीति विशेषज्ञों तथा सहायता प्रदान कर्ता एजेन्सीज ने समय-समय पर विचार किया है।

विदेशी सहायता से सम्बद्ध प्रमुख विचार वस्तु को हम निम्नांकित शीर्षकों में विभाजित करके स्पष्ट कर सकते है:-

(1) ऋण बनाम अनुदान (Loans versus grants)

विकास सहायता समिति (DAC) के अनुसार वित्तीय सहायता अग्रलिखित छः रूपों में प्रदान की जा सकती है:-

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को विकास के उद्देश्य से दिये गये योगदान

(ब) द्वि-पक्षीय अनुदान (Bilateral grants)

(स) ऋणदाता राष्ट्र की मुद्रा में चुकाये जाने वाले द्वि-पक्षीय ऋण

(द) ऋणी राष्ट्र की मुद्रा में चुकाये जाने वाले द्वि-पक्षीय ऋण

(ध) दृढ़ीकरण साख (consolidation credits)

(न) ऋण प्राप्तकर्ता राष्ट्र की मुद्रा में विक्रय करके साधनों का हस्तांतरण (पी.एल. 480 के कृषि पदार्थों के अधिशेष का योगदान)

यद्यपि उपर्युक्त वर्गीकरण कई उद्देश्यों के दृष्टिकोण से उपयोगी है परन्तु विदेशी सहायता के इन समस्त रूपों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, प्रथम अनुदान तथा द्वितीय ऋण। अनुदान व ऋण में से सहायता का कौन सा रूप उत्तम है यह सहायता के उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि निश्चित राशि के हस्तांतरण का उद्देश्य अधिकतम पूंजी का हस्तांतरण है तो ऐसा अनुदान अथवा ऋण दिया जाना चाहिए जिसमें उच्च अनुदान तुल्य (High grant equivalent) राशि समाविष्ट हो। इसके विपरीत यदि सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र का उद्देश्य वास्तविक हस्तांतरण को न्यूनतम करना है तो व्यावसायिक दरों पर व अल्प परिशोधन (short Amortisation) वाला ऋण प्रदान करना चाहिए।

विकासशील राष्ट्रों को अर्थिक सहायता अनुदान के रूप में दी जानी चाहिए अथवा ऋण के रूप में, इस सन्दर्भ में प्रो. किन्डलबर्गर (Kindleberger) का विचार है कि ऋण प्रदान

किया जाये अथवा अनुदान यह मात्र इस आधार पर तय नहीं किया जाना चाहिए कि सहायता को किस उपयोग में प्रयुक्त किया जाता है, उनके अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक कल्याण फलन के लिए यह आवश्यक है कि एक निश्चित स्तर से कम प्रतिव्यक्ति आय वाले राष्ट्रों को अनुदान दिया जाना चाहिए चाहे वे राष्ट्र इस सहायता को उपभोग में काम लें अथवा पूंजी निर्माण में तथा आय के इससे ऊपर स्तर वाले राष्ट्रों को ऋण दिया जाना चाहिए।"

अतः स्पष्ट है कि विकासशील राष्ट्रों को अनुदान ही अधिक दिया जाना चाहिए।

(2) बहुपक्षीय बनाम द्विपक्षीय सहायता (Multilateral versus Bilateral Aid)

बहुपक्षीय सहायता से राष्ट्र को अनेक देशों से सहायता प्राप्त होती है जबकि द्विपक्षीय सहायता में दो देशों के मध्य ऋण समझौते होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त सहायता प्रायः बहुपक्षीय होती हैं क्योंकि इसमें कई देशों का भागदान रहता है तथा राष्ट्र विशेष ऐसी सहायता पर किसी भी प्रकार की शर्तें नहीं लगा पाता है। इसके विपरीत द्विपक्षीय सहायता में ऋणदाता राष्ट्र का सहायता के उपयोग पर नियंत्रण रहता है तथा सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र को इस प्रलोभन का शिकार बना देती है कि वह सहायता को अत्यधिक अल्पकालीन राजनैतिक उद्देश्यों हेतु उपयोग करे तथा राजनैतिक दबाव डालने का प्रयास करे। प्रो. किन्डलबर्गर (kindlegerger) के अनुसार, "समय के साथ ऐसी सहायता सुस्थापित होती जाती है, इसे जारी रखने से राजनैतिक लाभ मिलने बन्द हो जाते हैं लेकिन इसे बन्द करना निश्चय ही शत्रुतापूर्ण (unfriendly) माना जाता है।" अतः बहुपक्षीय एजेन्सीज ऋणदाता को संरक्षण प्रदान करती है जिसके पीछे ऋणदाता अपने राजनैतिक उलझाव को कम कर सकता है तथा आवश्यक होने पर ऋण प्राप्तकर्ता राष्ट्रों से अपने दुःखद उलझाव को कम कर सकता है। लेकिन यदि ऋणदाता राष्ट्र ऋणी की 'कृतज्ञता' का भूखा है तो बहुपक्षीय सहायता से यह 'कृतज्ञता' तो कम ही अर्जित होगी।

टॉमस बलॉघ (Thomas Balogh) व रोजनस्टीन राडान (Rosenstein- Rodan) ने दर्शाया है कि प्रमुखतया द्विपक्षीय सहायता की अनिवार्यता व वांछनीयता की स्वीकृति अधिकाधिक हो रही है। अनुभव ने इस क्षेत्र में बहुपक्षीय संस्थाओं की अपर्याप्तता स्पष्ट करदी है तथा यह अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि बिना सहायता की मात्रा को दांव पर लगाये सहायता प्रवाहों को राष्ट्रीय नीति लाभों से पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में रोडान (Rodan) ने 'कनसारटियम तकनीकी' (consortium technique) के माध्यम से द्विपक्षीय प्रवाहों के 'बहुपक्षीयकरण' करने की वकालत की है।

लेकिन बहुपक्षीय एजेन्सीज द्वारा प्रदत्त सहायता में दो स्पष्ट कमियों बनी रहती है: प्रथम, इन एजेन्सीज ने व्यावसायिक लकीरों पर अति-विशिष्टीकरण कर लिया है, तथा द्वितीय, ये एजेन्सीज सभी जरूरतमन्द राष्ट्रों के सहायता प्रदान करने के चक्कर में रहती है अतः इन पर दावेदारों का निरन्तर दबाव बना रहता है।

(3) पी.एल. 480 के तहत प्रदत खाद्यान सहायता की कार्यकुशलता : (The Economic efficiency of Food aid under P.L.480)

विदेशी सहायता के सन्दर्भ में मुख्य प्रश्न अति-उत्पादन को खपाने से सम्बद्ध रहा है। इस अति-उत्पादन को खपाने से प्राप्त कर्ता राष्ट्र के कृषि विकास पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

प्रारम्भिक वर्षो में इस बात का पर्याप्त सबूत था कि पी.एल. 480 के अन्तर्गत सहायता का कार्यक्रम अंशतः इस उद्देश्य से प्रेरित था कि फार्म-समर्थन कीमत द्वारा सृजित अति उत्पादन

के भण्डारों को कैसे खपाया जाये। अतः यह चिन्ता तर्कसंगत ही थी कि ये कार्यक्रम निश्चय ही राशिपातन (dumping) की प्रकृति के थे जिनसे सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्रों के घरेलू विकास की दर घटती है। इसके अतिरिक्त यह भी चिन्ता का विषय था कि इस तरह के अति उत्पादन की उपलब्धि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में संगठनात्मक कार्य शक्ति (organisational energy) को क्षीण कर देगी। एक अन्य भय भी था कि खद्यान्न पूर्ति पर निर्भरता बढ़ने की स्थिति में यदि खाद्यान्न सहायता घट जाती है तो गम्भीर खाद्यान्न संकट उत्पन्न हो सकता है जैसा कि सन् 1965-66 में लगातार दो सूखों के कारण भारत में हुआ था।

बन्धनयुक्त एवं कार्यक्रम बनाम परियोजना सहायता (Tied aid and Programme versus Project Aid)

विदेशी सहायता प्रदान करते समय यदि कोई शर्त जुड़ी हुई है तो उसे बन्धन युक्त सहायता कहते हैं। स्रोत से बन्धित सहायता को प्रो. भगवती (Bhagwati) ने निम्न पांच प्रकारों में विभाजित किया है:-

(अ) औपचारिक प्रतिबन्ध : यदि औपचारिक व संविदात्मक रूप (contractually) में यह तय कर लिया जाता है कि सहायता प्राप्त कर्ता राष्ट्र सहायता राशि को नमोद्दिष्ट (designated) स्रोत से ही वस्तुओं व सेवाओं का आयात करने में उपयोग करेगा तो उसे औपचारिक बन्धनयुक्त सहायता कहते हैं।

(ब) अनौपचारिक प्रतिबन्ध : इसके अन्तर्गत दोनों पक्षों के मध्य अनौपचारिक समझौता रहता है कि सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र सहायता राशि को सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र में ही व्यय करेगा, लेकिन कोई औपचारिक समझौता नहीं किया जाता है।

(स) परोक्ष प्रतिबन्ध : परोक्ष प्रतिबन्ध दो तरीकों से लगाये जाते है : प्रथम तरीके के अनुसार सहायता प्रवाह को समस्त व्यापार व्यवस्था का अंग मान लिया जाता है। ऐसा प्रायः समाजवादी राष्ट्र करते हैं। एक वैकल्पिक तरीका, जिसे फ्रांस के प्राधिकरण प्रयुक्त करते है, यह है कि सहायता प्रवाह को उन प्रावधानों से जोड़ दिया जाता है जिनके अन्तर्गत सहायता राशि को फ्रांस की वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय किया जाता है, जब कि फ्रांस स्वयं 'पारस्परिकता' (reciprocity) के रूप में पुराने फ्रांस-अफ्रीका क्षेत्रों से अधिमानिक आधार पर क्रय करता है।

एक अन्य तरीके के अन्तर्गत केवल उन्हीं वस्तुओं व परियोजनाओं के लिए वित्त व्यवस्था की जाती है जिनके अन्तर्गत उल्लेखित मदों की पूर्ति में सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र का स्पष्ट लाभ विद्यमान हो।

(द) निर्यात व आयात साखः इसके अन्तर्गत आयातकर्ताओं अथवा निर्यातकर्ताओं को साख प्रदान की जाती है जो कि ऋणदाता राष्ट्र के निर्यातों से स्वतः ही जुड़ी रहती है।

(ध) वस्तुओं व तकनीकी सेवाओं के रूप में प्रत्यक्ष निहित सहायताः इसके अन्तर्गत सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र को सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र से वस्तुओं व सेवाओं के रूप में ही सहायता प्रदान की जाती है।

5. एक प्रतिशत सहायता का लक्ष्य (The 1 Percent aid target)

विदेशी सहायता कितनी दी जानी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर 'मांग पक्ष' व 'पूर्ति पक्ष' दोनों को ध्यान में रखकर प्रदान किया जा सकता है।

जहां तक पूर्ति पक्ष का प्रश्न है इसके अन्तर्गत हम सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्रों के मध्य सहायता वितरण पर विचार करते हैं। आंकड़ो व गणना विधि की भिन्नताओं के बावजूद इस

लक्ष्य पर आश्चर्यजनक सर्वसम्मति पायी गई है कि विकसित राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय आय का 1 प्रतिशत विकासशील राष्ट्रों को रिआयती ऋणें व अनुदान के रूप में प्रदान करें। सन् 1960 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने 60 के दशक को 'विकास दशक' घोषित करते हुए राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत सहायता को विकास सहायता का लक्ष्य स्वीकार किया था। सन् 1956 से 61 के वर्षों में यह लक्ष्य वास्तव में प्राप्त भी कर लिया गया था तथा इस अवधि में विदेशी सहायता विकसित राष्ट्रों की आय का 1.1 प्रतिशत थी।

सन् 1966 के बाद अमेरिका द्वारा प्रदत्त विदेशी सहायता में कमी के परिणाम स्वरूप इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पायी है।

25.5 विदेशी सहायता नीति में अकुशलताएं (Inefficiencies in Aid Policy)

उपर्युक्त बन्धनों अथवा शर्तों से विदशी सहायता में विभिन्न प्रकार की अकुशलतायें आ जाती हैं, जिनसे सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र के लिए सहायता राशि की सार्थकर्ता व उपायोगिता घट जाती है। बन्धनों के कारण सहायता के मूल्य व गुणवत्ता सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा घट जाती है अर्थात सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र को एक प्रकार की एकाधिकारी शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस एकाधिकारी शक्ति के माध्यम से सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्र, सहायता प्राप्तकर्ता राष्ट्र पर इच्छित वस्तुएं मनमाने मूल्य पर थोपता रहता है।

विकासशील राष्ट्रों को 'परियोजना' सहायता (Project aid) प्रदान करने के परिणाम स्वरूप उन्हें ऐसी परियोजनाओं के लिए ऋण दिया जा सकता है जो कि "प्रदर्शन" (display) अथवा 'स्मारकं' (Monument) के नमूने के रूप में तो महत्वपूर्ण हो लेकिन इन राष्ट्रों के आर्थिक विकास में उनका महत्व नगण्य हो।

प्रो. हेरी जॉनसन् (Harry Johnson) के अनुसार सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्रों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने से अकुशलता के इस स्रोत में कमी हो सकती है।

विदेशी सहायता में एक अन्य, प्रमुख कमी यह आजाती है कि विकासशील राष्ट्रों को सहायता से वित्तव्यवस्था की गई परियोजनाओं में प्रयुक्त किये जाने वाले उपकरणों का प्रतिस्पर्धी बाजार मूल्य से काफी ऊंचा मूल्य चुकाना पड़ सकता है।

अकुशलता का यह स्रोत भी सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्रों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि अथवा कार्यक्रम सहायता (Program aid) में वृद्धि से कम हो सकता है।

बन्धनयुक्त सहायता में एक अन्य अकुशलता यह है कि विश्व के सबसे बड़े साहूकार देश अमेरिका ने यह प्रथा चला रखी है कि सहायता का 50 प्रतिशत माल अमेरिका के जहाजों में ही ढोया जायेगा तथा अमेरिका के जहाजों में माल ढोने की लागत विश्व लागतों से बहुत ऊंची है।

प्रो. जगदीश भगवती का आरोप है कि विश्व के सबसे बड़े साहूकार देश अमेरिका ने सर्वाधिक मात्रा में बन्धनयुक्त सहायता प्रदान की है।

सहायता में उपर्युक्त अकुशलताओं की गम्भीरता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि विकासशील राष्ट्र सहायता प्रदानकर्ता राष्ट्रों की आपसी 'सहायता प्रतिस्पर्द्धा' का कितना लाभ उठा सकते हैं तथा बन्धनयुक्त सहायता के अन्तर्गत विकास उपकरणों की ऊंची कीमत चुकाने से किस सीमा तक बच सकते हैं।

25.6 विदेशी ऋण सेवा भार की समस्या (Problem of debt service burden)

विकासशील राष्ट्रों की अनेक आर्थिक समस्याओं में से अन्तरराष्ट्रीय ऋण-ग्रस्तता की समस्या सर्वाधिक विकराल रूप धारण कर चूकि है तथा यह समस्या ऋणी राष्ट्रों के सामाजिक व आर्थिक विकास में गम्भीर बाधा बन चुकी है।

सन् 1973 तक विदेशी ऋण भार की समस्या इतनी गम्भीर नहीं थी तथा उस समय विकासशील राष्ट्रों पर कुल 100 अरब डालर का ऋण था। जबकि वर्तमान में स्थिति इतनी गम्भीर है कि अनेक विकासशील राष्ट्रों को ऋण पर ब्याज चुकाने के लिए भी और उधार पर निर्भर रहना पड़ रहा है। सन् 1982 में विश्व का कुल ऋण लगभग 850 अरब डालर था जो कि 1988 में बढ़कर 1223 अरब (1.2 ट्रिलियन) डालर तक पहुंच चुका था। वस्तुओं व सेवाओं के प्रतिशत के रूप में विश्व ऋण सन् 1979 में 90.8 प्रतिशत था जो कि सन् 1988 में बढ़कर 160.7 प्रतिशत हो चुका था।

ऋण की निरपेक्ष राशि पर दृष्टि डालें तो विश्व का अधिकांश ऋण एशिया तथा लेटिन अमेरिका (पश्चिम हेमीस्फेअर) में केंद्रित था। लेकिन निर्यातों के प्रतिशत के रूप में लेटिन अमेरिका का ऋण भार एशिया की तुलना में काफी अधिक था। अफ्रीका में भी विदेशी ऋण निर्यातों के प्रतिशत के रूप में काफी बढ़ चुका था। सन् 1979 में एशिया का ऋण निर्यातों का 75.2 प्रतिशत था जा कि सन् 1988 में बढ़कर 95.8 प्रतिशत हो गया था जबकि लेटिन अमेरिका में यह प्रतिशत इसी अवधि में क्रमशः 197.7 व 342.2 था।

विश्व के सर्वाधिक ऋणी 15 राष्ट्रों का ऋण सन् 1979 से 1988 की अवधि में कुल ऋण का 38 से 45 प्रतिशत के बीच था। लेकिन इन राष्ट्रों के निर्यात के प्रतिशत के रूप में यह ऋण इसी अवधि में लगभग दुगना हो चुका था। सन् 1979 में इन राष्ट्रों का ऋण उनके निर्यातों का 182.2 प्रतिशत था जो कि सन् 1987 में बढ़कर 349.6 प्रतिशत हो गया था।

ऋण समस्या की गम्भीरता का एक और सूचक कुल ऋण का सकल घरेलू उत्पाद से अनुपात है। इन पन्द्रह राष्ट्रों के सन्दर्भ में यह अनुपात सन् 1979 में 30.2 प्रतिशत था जो कि सन् 1987 में बदलकर 50.8 प्रतिशत हो चुका था अर्थात् इस अवधि में इस अनुपात में लगभग 70 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

ऋण भार का एक अन्य सूचक ऋण सेवा (debt service) अर्थात ब्याज व परिशोधन (interest plus amortization) का वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात से अनुपात है। सन् 1979 में विकाशील राष्ट्रों का ऋणसेवा भुगतान उनके निर्यातों का 14.1 प्रतिशत था जो कि सन् 1988 में बढ़कर 20.0 प्रतिशत हो चुका था। लेकिन लेटिन अमेरिका में यह प्रतिशत लगभग 40 था जो कि अन्य क्षेत्रों की तुलना में काफी ऊँचा था। अफ्रीका में यह प्रतिशत सन् 1979 के 15.3 से बढ़कर सन् 1988 में 29.2 तक पहुंच कर लगभग दुगना हो गया था। इसके विपरीत एशिया के ऋण भार (अर्थात ऋण सेवा भार निर्यातों का प्रतिशत) में विशेष वृद्धि नहीं हुई थी यह प्रतिशत 9 से 13 की विस्तार सीमा में ही था।

जहां तक ऋणदाताओं का प्रश्न है विकासशील राष्ट्रों के ऋण में व्यापारिक बैंको के ऋण का अनुपात उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। सन् 1970 में इन राष्ट्रों के ऋण में बैंक ऋणों हिस्सा लगभग 25 प्रतिशत था जो कि 1982 में बढ़कर 40 प्रतिशत हो चुका था। सन् 1987 तक विकासशील राष्ट्रों के कुल ऋण में बैंक ऋणों का हिस्सा लगभग आधा हो चुका था। विशेषकर लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों की बैंक ऋणों पर बढ़ती निर्भरता ही ऋण जाल (dept trap)

समस्या का प्रमुख कारण है।

25.7 ऋण जाल में फंसे राष्ट्र के समक्ष विकल्प (The choices available to a country in the debt trap)

ऋण सेवा भार की समस्या के गम्भीर रूप धारण करने के पीछे तीन प्रमुख कारण रहे है:-

(1) सन् 1978 के बाद की अवधि में ब्याज दरों में भारी वृद्धि, (2) उन्नीस सौ अस्सी के दशक के प्रारम्भिक वर्षों की विश्वव्यापी मन्दी, तथा (3) डालर का भारी अधिमूल्यन।

ऋण सेवा भार की समस्या का उदय इसलिए होता है कि ऋणी राष्ट्रों से ऋण चुकाने की आशा की जाती है तथा आर्थिक सहायता में वृद्धि के साथ-साथ विकासशील राष्ट्रों पर ऋण एवं ब्याज का भार भी बढ़ता जाता हैं।

ऋण सेवा भार की समस्या से ग्रसित राष्ट्र के सामने सामान्यतया तीन विकल्प रहते है:-

(2) वह राष्ट्र अपने ऋणों पर पुनर्भुगतान बन्द करदे और इस प्रकार ऋण सेवा बकाया का संचय करता रहे।

लेकिन इस विकल्प की एक बड़ी कमी यह है कि ऐसा करने से ऋणी राष्ट्र का विश्वास उठ जाता हैं तथा ऐसे राष्ट्र को भविष्य मे नये ऋण प्राप्त कर्ताओं की सूची से भी निकाला जा सकता है, अतः राष्ट्र के लिए भविष्य में ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(3) ऋणी राष्ट्र के समक्ष दूसरा विकल्प यह है कि वह हर हालत में अपने ऋण सेवा भार को चुकाता रहे। लेकिन ऐसा करने से राष्ट्र को अपने विदेशी विनिमय व्यय के अन्य मदों में कटौती करनी पड़ सकती हैं।

सामान्यतया ऐसी कटौती राष्ट्र के आयातों को कम करके की जाती है। अतः यह विकल्प उन राष्ट्रों द्वारा अपनाया जाना कठिन है जिनके आयात अति आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित रह गये हैं। अतः यह विकल्प आर्थिक व सामाजिक दोनों ही आधारों पर व्यावहारिक नहीं है।

(4) तृतीय विकल्प के अनुसार ऋणी राष्ट्र अपने ऋण का पुनः सूचीकरण (debt rescheduling) करवाने का प्रयास कर सकता है अथवा पुनः वित्तव्यवस्था (refinancing) द्वारा बाकी ऋण में से नया मध्यावधि ऋण ले सकता है जिसका भुगतान ऋण के मुनाफे (proceeds) के भुगतान के साथ किया जा सकता है।

ध्यान रहे कि ऋण पुनः सूचीकरण में मूलधन के भुगतान का स्थगन (postponement) किया जाता है न कि ब्याज की राशि का। ऐसा करने से नये ऋणों से ऋणी राष्ट्र अपने ब्याज का भुगतान करता रहता है तथा चालू खाते के घाटों की भी कुछ सीमा तक वित्तव्यवस्था होती रहती है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि ऋणग्रस्तता की समस्या के व्यवहार्य (viable) हल हेतु अग्रलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है:

(1) समस्त सम्बद्ध पक्षों द्वारा ऋणों के समायोजन की लागत वहन करने में भागीदारी निभाना, तथा

(2) ऐसा वातावरण तैयार करना जिससे धन्नाढ्य राष्ट्रों से विकासशील राष्ट्रों को पूंजी का निरन्तर प्रवाह चालू रहे।

यदि उपर्युक्त विकल्पों से ऋण ग्रस्तता की समस्या हल नहीं होती है तो फिर ऋणदाता

राष्ट्र ही इस समस्या का समाधान कर सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि ऋणसेवा भार की समस्या का सृजन ऋण्दाता राष्ट्रों द्वारा ही किया गया है तथा वे इस समस्या हल भी सहज ही कर सकते हैं।

25.8 भारतवर्ष की विदेशी ऋण समस्या (India's External Debt Problem)

जहां तक भारतवर्ष की विदेशी ऋणग्रस्तता की समस्या का प्रश्न है स्थिति काफी गम्भीर कही जा सकती है। सन 1998 के अन्त में भारत पर कुल 92.72 अरब डालर का विदेशी ऋण था।

लेकिन भारत सरकार का दावा है कि राष्ट्र की विदेशी ऋणग्रस्तता की स्थिति सुधरी है। इस दावे का प्रमुख आधार हमारे कुल विदेशी ऋण में अल्पकालीन ऋण (जो प्रदान करने की तिथि से एक वर्ष की अवधि में चुकाना हो) का अनुपात घटा है। हमारे विदेशी ऋण में अल्पकालीन ऋण का प्रतिशत सन् 1997 में 7.2 था जा दिसम्बर 1998 में घटकर 3.8 रह गया था। इसी प्रकार चालू प्राप्तियों की प्रतिशत के रूप में ऋण सेवा भार सन् 1991-92 के 35.5 प्रतिशत के उच्चतम स्तर से घटकर सन 1998-99 के वित्तवर्ष के प्रथम नौ माह में 19.4 प्रतिशत रह गया था।

ऋणभार के एक अन्य सूचक ऋण का सकल घरेलू उत्पाद (GDP) से अनुपात है। भारत का यह अनुपात सन 1991-92 के उच्चतम 37.7 प्रतिशत से घटकर सन 1997-98 में 23.8 प्रतिशत रह गया था।

निम्न सारणी-25.1 में भारत की विदेशी ऋण ग्रस्तता के भार के प्रमुख सूचक दर्शाए गये हैं।

सारणी 25.1 भारत की विदेशी ऋणग्रस्तता के प्रमुख सूचक

वर्ष	ऋण/जी.डी.पी. अनुपात	ऋण/चालू खाते की प्राप्तियों का अनुपात	ऋण सेवा/ चालू खाते की प्राप्तियों का अनुपात	ब्याज भुगतान चालू खाते की प्राप्तियों का अनुपात
1990-91	28.0	328.9	35.3	15.5
1991-92	37.7	312.3	30.2	13.0
1992-93	36.6	223.4	27.5	12.5
1993-94	33.1	275.6	25.4	11.1
1994-95	30.0	235.8	25.9	10.0
1995-96	26.3	188.8	26.2	8.6
1996-97	23.8	169.2	22.9	8.0
1997-98	23.8	163.2	19.8	7.8
1998-99	23.0	_	19.4	7.8

Source: Ministry of Finance, India's External Debt - A Status Report, June 1999

लेकिन भारत के लिए प्रमुख चिन्ता का विषय कुल विदेशी ऋण में रिआयती ऋणों का घटता हुआ अनुपात है। यह प्रतिशत सन् 1994-95 में 45 था जो सन् 1998 के अन्त में घटकर 39.3 रह गया था। इसका अभिप्राय यह है कि मार्च 1994 के बाद भारत के विदेशी ऋण में गैर-रिआयती ऋण के अंश में वृद्धि हुई है। इस वृद्धि से भविष्य में ब्याज का भार बढ़ सकता है।

निम्न सारणी-25.2 में विश्व के 15 सर्वाधिक ऋण ग्रस्त राष्ट्रों की तुलनात्मक स्थिति दर्शाई गई है।

सारणी 25.2 सन् 1997 में 15 सर्वाधिक ऋणग्रस्त राष्ट्रों की तुलनात्मक स्थिति

क्रम सं.	कुल ऋणग्रस्तता के क्रम मे राष्ट्रो की सुची	कुल विदेशी ऋण (अरब डालर में)	ऋण/जी. एन.पी. (प्रतिशत)	अल्पकालीन ऋण/कुल ऋण (प्रतिशत)	ऋण्सेवा का वस्तुओं व सेवाओं के निर्यातों से प्रतिशत
1.	Brazil	193.7	24	19	57
2.	Maxico	149.7	38	19	32
3.	China	146.7	17	21	9
4.	Korea	143.4	33	38	9
5.	Indonesia	136.2	65	26	30
6.	Russian Federation	125.6	26	5	7
7.	Argentina	123.2	39	15	59
8.	India	94.4	25	5	20
9.	Thailand	93.4	63	37	15
10.	Turkey	91.2	47	25	18
11.	Malasia	47.2	51	32	8
12.	Philippines	45.4	53	26	9
13.	Poland	39.9	30	10	6
14.	Venezuela	35.5	42	12	31
15.	Columbia	31.8	35	18	27

Source : Global Development Finance, 1999, Country Tables, The World Bank

सारणी-25.2 पर दृष्टिपात से ज्ञात होता है कि ऋण/जी.एन.पी. अनुपात व अल्पकालीन ऋण। कुल ऋण के अनुपात के दृष्टिकोण से भारतवर्ष की स्थिति अन्य ऋणी राष्ट्रों से बेहतर है।

लेकिन कुल ऋण ग्रस्तता के दृष्टिकोण से भारतवर्ष की स्थिति चिन्ताजनक नहीं तो खराब अवश्य है। ऋण सेवा के वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात से अनुपात नजर डालने पर भी लगभग इसी तरह की स्थिति उभर कर सामने आती है।

25.9 सारांश

व्यापारिक शर्तों से अधिक अनुकूल शर्तों पर उपलब्ध ऋण को ही सहायता की श्रेणी में रखा जा सकता है। विदेशी सहायता व्यूहरचना, आर्थिक अथवा उपकार के उद्देश्यों से प्रदान की जाती है। सहायता की आवश्यकता की गणना प्रेक्षित बचत व विनियोग के अन्तर के आधार पर की जा सकती है।

विदेशी सहायता ऋण व अनुदान, बहुपक्षीय अथवा द्विपक्षिय, बन्धनयुक्त कार्यक्रम अथवा परियोजना सहायता का रूप ले सकती है। बन्धनयुक्त व द्वि-पक्षीय सहायता से सहायता नीति में अनेक अकुशलतायें आ जाती है।

विदेशी ऋण ग्रस्तता की समस्या ने सन् 1980 के दशक में गम्भीर रूप धारण कर लिया था विश्व का अधिकांश ऋण एशिया व लेटिन अमेरिका में केंद्रित है। सन् 1987 तक विकासशील राष्ट्रों के कुल ऋण का लगभग आधा बैंको से ली गयी ऊधार थी जो कि ऋण-जाल की समस्या का प्रमुख कारण है।

ऋण सेवा भार से ग्रस्त राष्ट्र के समक्ष तीन विकल्प होते है : वह राष्ट्र ऋण चुकाने से मना करदे अथवा वह कठिनाइयों का सामना करते हुए भी ऋण चुकाता रहे अथवा वह ऋण का पुनः सूचीकरण करवाने का प्रयास करे। ऋणग्रस्तता की समस्या के व्यवहार्य हल हेतु समस्त सम्बन्धित पक्षों द्वारा ऋणों कें समायोजना की लागत वहन करने में भागीदारी निभानी होगी।

सर्वाधिक ऋणी राष्ट्रों के सन्दर्भ में भारत की स्थिति का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि भारत की स्थिति चिन्ता जनक नहीं तो खराब अवश्य है।

25.10 शब्दावली

(1) विदेशी सहायता, (2) ऋण बनाम अनुदान (3) बन्धनयुक्त सहायता (4) परियोजना सहायता (5) बहुपक्षीय बनाम द्वि-पक्षीय सहायता (6) विदेशी ऋण सेवा भार (7) ऋण पुनः सूचीकरण

25.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Bhagwati, J.and Eckaus, R.S.- Foreign Aid Penguin Modern Economics Reading(1970)
2. Kindleberger, C.P- International Economics Richard D. Irwin(1973) Chapter- 26
3. ,Chacholidias, M- International Economics. Mcgraw Hill International Editions(1990) Chapter,16.
4. स्वामी, के.डी.- अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - (1989) साईन्टिफिक पब्लिशर्स, जोधपुर, अध्याय - 20

25.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. बहुपक्षीय तथा द्वि-पक्षीय सहायता में अन्तर स्पष्ट करते हुए बतलाईये कि इनमें से विदेशी सहायता का कौन सा रूप ऋणी राष्ट्र के हित में है?
2. बन्धन युक्त सहायता का अर्थ कमियां बतलाइये।

3. एक प्रतिशत सहायता का लक्ष्य क्या है?
4. ऋणग्रस्तता की गम्भीरता के प्रमुख सूचक बतलाइये।
5. ऋणग्रस्तता की समस्या के हल के प्रमुख सुझाव दीजिए।
6. भारत की ऋणग्रस्तता की समस्या को किस आधार पर गम्भीर नहीं माना जा रहा है।
7. विकासशील राष्ट्रों को प्रदत्त विदेशी सहायता से सम्बद्ध समस्याओं तथा सहायता की अपर्याप्तता का उल्लेख कीजिए।
8. विकासशील राष्ट्रों की ऋणग्रस्तता की गम्भीरता का वर्णन करते हुए इस समस्या के कारणों व इसके हल के लिए सुझावों का वर्णन कीजिए।

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

MAEC-05

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं एवं भारत 5

खण्ड परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं एवं भारत

अर्तराष्ट्रीय अर्थशास्त्र के इस पांचवें एवं अन्तिम खण्ड में कुल छः इकाइयां हैं।

इकाई 26 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लक्ष्य, कार्यों एवं सफलता का मूल्यांकन करती है। इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा विकासशील राष्ट्रों की सहायता के उद्देश्य से प्रारम्भ की गई विशिष्ट योजनाओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही इकाई 27 में विश्व बैंक एवं सम्बद्ध संस्थाओं की चर्चा की गई है। युद्धोत्तर विश्व समाज ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना जहां राष्ट्रों के अल्पकालिक भुगतान संतुलन की समस्याओं को दूर करने के लिए की वहीं युद्ध पीड़ित देशों में आर्थिक पुनर्निर्माण तथा विकास के लिए दीर्घकालिक ऋणों की आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से विश्व बैंक की स्थापना का निर्णय लिया। इस इकाई में विश्व बैंक की स्थापना के उद्देश्य, कार्यप्रणाली व इसकी सफलताओं का मूल्यांकन किया जाएगा।

इकाई संख्या 28 में यूरोपीय मुद्रा बाजार जो विश्वस्तर पर मुद्रा का थोक बाजार है की चर्चा की गई है। यह किसी देश की सरकार एवं मुद्रा कोष के नियंत्रणों से परे है। इस इकाई में मुद्रा बाजार की कार्यप्रणाली एवं विशेषताओं के साथ-साथ इसके उद्भव एवं विकास की चर्चा की गई है।

इकाई संख्या 29 में अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण की चर्चा की गई है। अल्पकालीन पूँजी अन्तरण में एक वर्ष से कम अवधि वाले प्रपत्र सम्मिलित होते हैं। इसमें व्यापारिक बैंक की जमाओं, हुण्डियों, ओवर ड्राफ्ट तथा खुली साख को सम्मिलित करते हैं। इसके विपरीत दीर्घकालिक पूँजी अन्तरण में एक वर्ष से अधिक की परिपक्वता अवधि वाले प्रपत्र सम्मिलित होते हैं। इनमें बाण्ड परिवर्तनीय ऋण-पत्र, स्टाक, बैंकों की सावधि-जमाएं सम्मिलित होती है। आजकल विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का विशेष महत्व हो गया है। इस इकाई में पूँजी अन्तरणों के विभिन्न प्रकार एवं इन्हें प्रभावित करने वाले तत्वों का विवेचन किया गया है।

इकाई 30 में भारत में विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा का वर्णन किया गया है। भारत के विदेशी व्यापार में आए महत्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तनों का दीर्घकालीक प्रभाव पड़ता है। इसके साथ इस खण्ड में इकाई 31 में विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार का संक्षिप्त आंकलन प्रस्तुत किया गया है।

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा

प्रो. ए. के. सिंह
गिरी इंस्टीट्यूट ऑफ डवलेपमेन्ट स्टडीज
लखनऊ

प्रो. एस. एस. आचार्य
निदेशक, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

प्रमोद वर्मा
इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंन्ट
अहमदाबाद

प्रो. डी. डी. नरूला
मानदवरिष्ठ अध्येता, विकास अध्ययन संस्थान
जयपुर

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (संयोजक)
विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. श्याम नाथ
फेलो, एन. आई. पी. एफ. पी.
नई दिल्ली

डॉ. रामेश्वर प्रसाद शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय

कोटा

प्रो. अमिताभ कुन्डू
सी. एस. आर. डी.
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

डॉ. जे. के. शर्मा
अर्थशास्त्र विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठों के लेखक

डॉ. एम. के. घड़ोलिया (26, 27)
कोटा खुला विश्वविद्यालय
कोटा (राज.)

श्री एम. सी. गुप्ता (30)
जयपुर

श्रीमती अरुणा कौशिक (28, 29)
व्याख्याता, जे. डी. बी. कन्या महाविद्यालय,
कोटा (राज.)

डॉ. जी. एस. शर्मा (31)
एस. आर. के. कालेज,
फिरोजाबाद

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खण्ड-5

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं एवं भारत

इकाई 26
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष 7-15

इकाई 27
विश्व बैंक एवं सम्बद्ध संस्थाएं 16-21

इकाई 28
यूरोपीय मुद्रा बाजार 22-29

इकाई 29
अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण 30-41

इकाई 30
भारत का विदेशी व्यापार 52-54

इकाई 31
विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत का विदेशी व्यापार 55-68

सम्पादक

डॉ. एम. के. घड़ोलिया

सहआचार्य एवं विभागाध्यक्ष

अर्थशास्त्र विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

पाठ्य सामग्री उत्पादन

निदेशक

पाठ्य सामग्री एवं वितरण

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस सामग्री के किसी भी अंश की कोटा विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री डी.पी. त्रिपाठी, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, दिसम्बर 2015

मुद्रक : नितिन प्रिन्टर्स, 1 पुराना कटरा, इलाहाबाद।

इकाई 26

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF)

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लक्ष्य

26.3 कोष के अभ्यंश

26.4 कोष के कार्य

26.5 कोष और समता मूल्य

26.6 कोष एवं विनिमय प्रतिबन्ध

26.7 कोष के कुछ अन्य विशिष्ठ प्रावधान

26.8 अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार

26.9 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सीमाएं

26.10 सारांश

26.11 शब्दावली

26.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.13 निबन्धात्मक प्रश्न

26.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्वबैंक की स्थापना युद्धोपरान्त देशों की विभिन्न आर्थिक एवं मौद्रिक समस्याओं के समाधान के लिए उठाए गए कदमों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कदम है। प्रस्तुत इकाई में आपका परिचय विश्व की सर्वाधिक चर्चित मौद्रिक संस्था अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कराया जाएगा एवं इसके बाद अगली इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक अथवा विश्वबैंक के क्रियाकलापों की जानकारी दी जाएगी। इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- जान सकेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) की स्थापना के क्या उद्देश्य थे?
- जान सकेंगे कि कोष की पूँजी राशि अभ्यशों का क्या योगदान है? कोष अपने साधनों का उपयोग किस प्रकार करता है?
- समझ सकेंगे कि विश्व के देशों की मौद्रिक व्यवस्था में कोष ने क्या भूमिका निभाई है?

26.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जुलाई 1944 में ब्रिटेन बुड्स नामक स्थान पर विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था एवं सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (IMF) तथा विश्व बैंक की स्थापना का निर्णय लिया। तदनुसार दिसम्बर सन् 1945 में (IMF) की स्थापना हुई कोष ने अपना कार्य 1 मार्च 1947 से शुरू किया। मुद्रा कोष की सदस्यता कोई भी देश प्राप्त कर सकता है शर्त यह है कि वह देश मुद्रा कोष के चार्टर की सभी धाराओं का पालन करने का वचन दे। आज विश्व के लगभग सभी देश IMF के सदस्य हैं।

26.2 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लक्ष्य

IMF चार्टर की धारा नं. 1 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य निम्नलिखित है:

1. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग में वृद्धि करना
2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार एवं संतुलित विकास के लिए प्रयास करना
3. सदस्य देशों के मध्य विनिमय दरों को स्थायित्व देना
4. विश्व व्यापार में बाधक विदेशी विनिमय प्रतिबन्धों को दूर करना एवं बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली विकसित करना
5. सदस्य देशों की अस्थायी भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के उपाय करना। कोष अपने साधनों से देशों को विदेशी मुद्रा उधार देता है।
6. सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति के कार्यों में सहयोग देना।

26. 3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अभ्यंश

अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध ढाँचा इस प्रकार है (1) प्रशासक मण्डल (Board of Governers), (2) प्रबन्ध मण्डल (Board of Executive Directors), (3) प्रबन्ध संचालक (Managing Director), एवं (4) अन्य कर्मचारी (Staff).

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पूँजी सदस्य देशों के अभ्यंशों के योग के बराबर होती है। प्रत्येक सदस्य देश के अभ्यंश का निर्धारण उसकी राष्ट्रीय आय, स्वर्ण, विदेशी विनिमय कोष तथा व्यापार शेष की स्थिति को ध्यान में रखकर किया जाता है। जिसमें बाद में सदस्य देश की मांग पर परिवर्तन भी किया जा सकता है इसके लिए कुल मतदान शक्ति का 85 प्रतिशत अभ्यंश वृद्धि के पक्ष में होना चाहिए।

तालिका 26.1
अभ्यंश निर्धारण का आधार

क्र.सं.	मद	प्रतिशत	देय अभ्यंश
1.	सदस्य राष्ट्र की राष्ट्रीय आय (1940 के आधार पर)	2	कुल राशि का 25% भाग स्वर्ण तथा
2.	सदस्य देश के कुल स्वर्ण व डालर कोष (1943 के आधार पर)	5	शेष 75% भाग स्वदेशी मुद्रा में (अब 25% SDR में देय)
3.	वार्षिक निर्यात आयात का (1934-38 के आधार पर)	10	

वास्तव में निर्धारित अभ्यंश उस प्रकार से की गई गणना की 90% राशि के बराबर थे और शेष 10% वृद्धि करने का अधिकार सदस्य देश को दिया गया। अपनी स्थापना के बाद 10 वर्षों तक कोष की पूँजी में कोई वृद्धि नहीं की गई। इसके बाद कोष के अभ्यंशों में कई बार परिवर्तन किया जा चुका है। अभ्यंशों के आधार पर राष्ट्र की मतदान शक्ति होती है।

26.4 कोष के कार्य

कोष का प्रमुख कार्य सदस्य देशों को विदेशी विनिमय संकट से उबारने का है इसके लिए सभी देश इससे ऋण प्राप्त कर सकते हैं। मुद्राकोष के प्रमुख कार्यों की सूची नीचे दी गई है। परीक्षा में कार्यों के पूछे जाने पर विद्यार्थी इन्हें विस्तार से लिखे। इसके लिए सन्दर्भ ग्रन्थों का अध्ययन करें।

1. ऋण प्रदान करना – अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्र भुगतान संतुलन में अल्पकालिक असाम्य को दूर करने के लिए अपने अभ्यंश के एक निश्चित अनुपात में ऋण ले सकता है। कोष स्वदेशी मुद्रा के बदले में ऋण लेने वाले देश को विदेशी मुद्रा प्रदान करता है। कोई भी राष्ट्र अपने अभ्यंश के 125 प्रतिशत तक विदेशी मुद्राएं खरीद सकता है परन्तु एक वर्ष में यह राशि उसके अभ्यंश के 25 प्रतिशत से अधिक न हो। कोष न यह प्रतिबन्ध भी लगा रखा है कि किसी भी समय कोष के पास किसी देश की मुद्रा का संग्रह उस देश के अभ्यंश के दुगने से अधिक नहीं होना चाहिए। चूँकि मुद्रा कोष के पास सदस्य देश के अभ्यंश का 75 प्रतिशत भाग तो पहले से ही होता है अतः सदस्य देश अधिक से अधिक अपने अभ्यंश का 125 प्रतिशत के बराबर ऋण ले सकता है। चूंकि यह व्यवस्था अल्पकाल के लिए है अतः ऋण की अधिकतम अवधि 5 वर्ष तय की गई है। पिछले कुछ वर्षों में IMF ने विकासशील देशों को कुछ अधिक सुविधाएं दी हैं।

इन राष्ट्रों के निर्यातों में ढ़ाँचागत एवं बुनियादी बाधाएं हैं। ये राष्ट्र मुख्यतः प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं एवं इन वस्तुओं की कीमतों में बहुत अधिक उतार चढ़ाव होते हैं और इस स्थिति का सामना करने के लिए उन्हें विशिष्ट सहायता की आवश्यकता हाती है। कोष इनकी जरूरतों को समझकर समय समय पर विशेष ऋण सुविधाएं उपलब्ध कराता हैं। इसके अतिरिक्त कोष निम्नलिखित प्रकार से ऋण उपलब्ध कराता है।

(i) संकटकालीन ऋण - किसी सदस्य राष्ट्र पर यदि कोई आकस्मिक संकट आ जाए तो मुद्राकोष उस देश को विशेष संकटकालीन ऋण उपलब्ध करवाता है।

(ii) मौसमी या सामयिक ऋण - यह ऋण भुगतान संतुलन में मौसमी उतार-चढ़ावों को दूर करने के लिए दिए जाते हैं।

(iii) स्थायित्व ऋण - ये ऋण सदस्य देशों की आर्थिक कठिनाइयों के समय विनिमय दरों में स्थायित्व के उद्देश्य से दिए जाते हैं।

(iv) सदस्य देश - कोष से स्वर्ण में प्रदत्त अपने अभ्यंश के बराबर कभी भी ऋण ले सकता है। ऋण की इस व्यवस्था को स्वर्ण ट्रांश (Gold Tranche) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त ऋण लेने की जो सुविधा रहती है वह साख ट्रांश (CreditTranche) के नाम से जानी जाती है।

(v) दुर्लभ मुद्रा - अगर कोष यह अनुभव करता है कि किसी देश की मुद्रा की बहुत अधिक देश ऋण के लिए मांग कर रहे हैं तो कोष उस देश की मुद्रा को स्वर्ण द्वारा क्रय करके अथवा सम्बन्धित देश से उधार लेकर ऋण चाहने वाले देशों को उपलब्ध कराता है। इसके बाद भी यदि उस मुद्रा की मांग बढ़ती जा रही है तो IMF उसे दुर्लभ मुद्रा घोषित कर देता है। ऐसी स्थिति में कोष सदस्य राष्ट्रों को दुर्लभ मुद्रा वाले देश के साथ व्यापार पर अस्थाई प्रतिबन्ध लगाने की अनुमति प्रदान करता है। कोष को दुर्लभ मुद्रा की राशनिंग करने का अधिकार भी प्राप्त हो जाता है।

(vi) मुद्राओं के पुनः क्रय की व्यवस्था - दुर्लभ मुद्रा के ठीक विपरीत यह भी सम्भव है कि मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जाए जिनकी मांग नहीं है। ऐसी स्थिति में सरलता बनाए रखने के उद्देश्य से मुद्रा कोष उन देशों को अपनी मुद्रा स्वर्ण अथवा SDR से पुनः खरीदने की सलाह दे सकता है।

(vii) विनिमय प्रतिबन्धों को समाप्त करना कोष का मुख्य कार्य है।

(2) **तकनीकी सहायता देना** - सदस्य देशों के भुगतान संतुलन सम्बन्धी संकट को हल करने प्रशुल्क नीति, मौद्रिक नीति एवं विनिमय नियंत्रणों सम्बन्धी मामलों पर सलाह देने के लिए विशेषज्ञों की सेवाएं उपलब्ध कराता है।

(3) **प्रशिक्षण कार्यक्रम** - कोष सदस्य देशों के अधिकारियों को विभिन्न क्रिया कलापों - मौद्रिक, राजकोषीय, सांख्यिकीय कार्यों वित्तीय प्रबन्ध, आर्थिक सुधार में प्रशिक्षण प्रदान करता है। इस कार्य के लिए कोष ने एक इन्स्टीस्यूट की स्थापना की है।

(4) **प्रकाशन एवं प्रचार** - अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपनी नीतियों के क्रियान्वयन एवं जानकारी के लिए कई पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित करता है।

(5) **अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों** से सम्पर्क कर विश्व अर्थव्यवस्था पर विभिन्न सम्मेलन व विचार विमर्श करता है।

(6) **विशेष सहायता योजनाएं प्रारम्भ करना** - अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष समय-समय पर सदस्य देशों की आवश्यकता के अनुरूप विभिन्न सहायता योजनाएं प्रारंभ करता है। इनमें क्षतिपूरक वित्तीय सुविधा, विस्तारित क्षतिपूरक वित्त सुविधा, बफर स्टाक सुविधा, पूरक वित्त पोषण सुविधा आदि प्रमुख हैं। कोष अपनी विभिन्न सहायता योजनाओं में गरीब देशों

का विशेष ध्यान रखता है। दिसम्बर 1981 को कोष ने एक विशेष आहरण अधिकार (SDR) योजना 1.25 बिलियन SDR से प्रारम्भ की जिसका उद्देश्य ऊँची तेल कीमतों से पीडित अल्प आय वाले देशों की सहायता करना था।

26.5 कोष एवं समता मूल्य :

कोष का प्रत्येक सदस्य अपने देश की मुद्रा का मूल्य या तो स्वर्ण या डालर में घोषित करता था। जुलाई 1971 से पूर्व तक अमेरिकन डालर की स्वर्ण में 35 डालर बराबर एक औन्स स्वर्ण की दर से परिवर्तनशीलता बनाए रखी गई। परन्तु कतिपय कारणों से डालर की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को समाप्त करना पड़ा। इसके बाद कोष ने सदस्य देशों को यह स्वतंत्रता प्रदान की कि वह प्रतिकूल भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए अपनी मुद्रा का वर्तमान दर के ऊपर अथवा नीचे 10 प्रतिशत के बराबर परिवर्तन करने के लिए कोष को सूचना देना पर्याप्त होगा। विनिमय दर में इससे अधिक का परिवर्तन कोष की पूर्वानुमति के बिना नहीं किया जा सकता। 20 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन के लिए सदस्यों के दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती थी। कोष भुगतान संतुलन में असाम्य को दूर करने के लिए विनिमय समता दर में परिवर्तन करने को मना नहीं करता है। आजकल लचीली विनिमय दर (Flexible Exchange Rate) तय होती है जिसमें विदेशी विनिमय की मांग एवं पूर्ति के अनुसार विनिमय दरें तय होती हैं। परन्तु लोचदार विनिमय दरों का यह अर्थ नहीं है कि विनिमय दरों में भारी उच्चावचन हो क्योंकि ऐसी स्थिति देश के विदेशी व्यापार में बाधक सिद्ध होती है।

26.6 कोष एवं विनिमय प्रतिबन्ध

जैसा कि कोष के चार्टर की धारा एक में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कोष का प्रमुख लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोष व्यापार के मार्ग में आने वाले समस्त अवरोधों को दूर करने का प्रयास करता है। विनिमय प्रतिबन्धों को समाप्त करना कोष के प्रमुख कार्यों में से एक है। मुद्रा कोष विविध विनिमय दरों एवं विभेदात्मक नीतियों के विरूद्ध भी कार्य करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक स्वतंत्र एवं बहुमुखी भुगतान प्रणाली की स्थापना हेतु कार्य करता है। सदस्य देश अपनी इच्छानुसार मनमाने प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता। अब विशेष रूप से विश्व व्यापार संगठन के द्वारा निर्धारित नीतियों का पालन करने के लिए सभी देश विवश हैं।

26.7 कोष के कुछ अन्य विशिष्ट प्रावधान

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विशिष्ट प्रावधानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेष आहरण अधिकार (SDR) है जिन्हें 28 जुलाई 1969 को प्रारम्भ किया गया। इन अधिकारों का प्रयोग तीन प्रकार से किया जाता है।

(i) कोष द्वारा निर्देशित अन्य राष्ट्रों से मुद्रा प्राप्त करने के लिए

(ii) कोष के बाहर भी सदस्य आपसी विचार विमर्श द्वारा विशेष आहरण अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। इन्हें Transaction by Agreement कहते है।

(iii) स्वयं कोष भी अपने सामान्य खाते में लेन देन हेतु इनका उपयोग करता है। इस क्रय विक्रय को Transaction with Central Account कहते हैं। मुद्राकोष ने इनका व्यापक उपयोग किया है।

बोध प्रश्न 1

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के लक्ष्य बताइए।

2. कोष का प्रमुख कार्य ऋण प्रदान करना है? क्या आप इसके कुछ अन्य कार्यों का उल्लेख कर सकते हैं?

3. कोष के विशिष्ट प्रावधानों का विवरण दीजिए।

26.8 अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए सन् 1972 में एक समिति बनाई गई जिसे 20 सदस्यीय समिति (Committee of Twenty) के नाम से जाना जाता है। अप्रेल 1976 में कोष ने अपनी धाराओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन स्वीकार किए। इनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

(i) सदस्य राष्ट्र स्वेच्छा से किसी भी विनिमय दर व्यवस्था को अपना सकेंगे। कोष इन पर निगरानी रखेगा एवं व्यवहार के नए मापदण्ड स्थापित करेगा।

(ii) नयी व्यवस्था में स्वर्ण की भूमिका कम होगी। कोष स्वयं के स्वर्णकोषों का विक्रय करेगा।

(iii) विशेष आहरण अधिकारों की विशेषताओं में परिवर्तन कर उनकी भूमिका में वृद्धि होगी।

(iv) कोष के नए अंश के रूप में परिषद् की स्थापना

(v) कोष के संगठनात्मक पहलू में सुधार

उपर्युक्त सुधारों में मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण की भूमिका कम करने, विशेष आहरण अधिकारों की भूमिका बढ़ाने तथा लचीली विनिमय दर व्यवस्था को स्वीकार करने वाले सुधार सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। कोष ने स्वर्ण की भूमिका कम करने के लिए स्वर्ण की अधिकृत कीमत समाप्त कर दी। स्वर्ण तथा SDR के आपसी सम्बन्ध को समाप्त कर दिया तथा राष्ट्रों की मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण में घोषित करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। कोष न तो स्वयं स्वर्ण में भुगतान करेगा न ही सदस्यों को करना होगा। कोष के कार्यों में स्वर्ण का स्थान एस.डी.आर. ने ले लिया हैं। कोष ने अपने स्वर्ण भण्डारों की बिक्री भी की है। जुलाई 1974 को परिवर्तनशील अथवा लचीली विनिमय दरों के प्रारम्भ को ध्यान में रखते हुए SDR का मूल्यांकन करने में डालर की केन्द्रीय भूमिका को समाप्त कर दिया गया और 16 राष्ट्रों की मुद्राओं के चलमाध्य को SDR के मूल्यांकन में काम में लिया जाने लगा। ये ऐसे राष्ट्रों की मुद्राएं हैं जिनका विश्व व्यापार में महत्वपूर्ण योगदान है। एक बार जब SDR तथा डालर की विनिमय दर तय हो जाती है तो बाद में अन्य देशों की मुद्रा व डालर में विनिमय दर के आधार पर विनिमय दरों का एवं SDR की गणना की जाती है। इस नयी व्यवस्था से डालर तथा SDR की दर में प्रतिदिन परिवर्तन होता है जबकि पुरानी व्यवस्था में यह दर स्थिर थी। इस प्रकार नयी एवं सुधरी हुई व्यवस्था में SDR प्रमुख रिजर्व परिसम्पत्ति के रूप में स्थापित हो चुका है।

बोध प्रश्न 2

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की धाराओं में क्या मुख्य परिवर्तन किए गए हैं।

2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनिमय प्रतिबन्धों को हटाने के लिए प्रयास किए हैं। क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

26.9 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलताएं एवं सीमाएं

आज अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना को पचास से अधिक वर्ष हो चुके हैं। किसी भी संस्था की सफलता अथवा विफलता को आंकने के लिए यह अवधि पर्याप्त होनी चाहिए। इस अवधि में कोष की सफलताओं का अध्ययन निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(i) सदस्य संख्या में वृद्धि – अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के समझौता पत्र पर 30 देशों के हस्ताक्षर थे जबकि आज इसकी सदस्य संख्या 183 है।

(ii) विनिमय दरों का निर्धारण - यद्यपि विनिमय समता दरों की व्यवस्था अब नहीं होती फिर भी कोष सदस्य देशों की विनिमय दरों पर निगरानी रखता है।

(iii) भुगतान संकट के समय सहायता - अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष सदस्य देशों के अल्पकालिक व दीर्घकालिक भुगतान संकट को दूर करने के लिए विभिन्न सहायता योजनाओं के अन्तर्गत सहायता उपलब्ध कराता है।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि - कोष व्यापार के मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं को दूर कर व्यापार आने वाली समस्त बाधाओं को दूर कर व्यापार में वृद्धि के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है।

(v) गरीब देशों को सस्ती दरों पर विशेष सहायता उपलब्ध कराना कोष का प्रमुख लक्ष्य है। कोष अपने संसाधनों का बड़ा हिस्सा विकासशील देशों को सहायता उपलब्ध कराने में व्यय करता है।

(vi) भुगतानों की द्विपक्षीय प्रणाली के स्थान पर कोष ने बहुपक्षीय प्रणाली के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(vii) विदेशी पूँजी के स्वतंत्र आवागमन को प्रोत्साहन कोष ढ़ांचागत आर्थिक सुधारों का महान पक्षधर रहा है। अपने आर्थिक सुधारों के कार्यक्रमों में कोष उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की नीतियों को बढ़ावा देता है एवं पूँजी के आवागमन के मार्ग में लगी समस्त बाधाओं को दूर करता है।

(viii) विकासशील देशों को तकनीकी सहायता - कोष के पास अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ख्याति प्राप्त विशेषज्ञों का दल है जिसे वह विकासशील देशों के अधिकारियों के पास भेजता है उन्हें मौद्रिक व प्रशुल्क नीतियों के बारे में राय देता है। कोष के केन्द्रीय बैंक सेवा विभाग व राजकोषीय विषय सम्बन्धी विभाग सम्बन्धित देशों को सलाह देते हैं।

(ix) प्रतिस्पर्द्धात्मक मुद्रा अवमूल्यन पर रोक - अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने सदस्य

देशों में अवमूल्यन करने की प्रतिस्पर्द्धा पर रोक लगाई है। कोष की अनुमति के बिना अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

यद्यपि कोष ने महत्वपूर्ण सफलताएं अर्जित की हैं परन्तु इसकी कुछ सीमाएं भी हैं इसकी प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं:

(i) कोष की रूढ़ीवादी भूमिका — प्रारम्भ से ही मुद्राकोष को यह भय था कि ऋण का योग पुनर्निर्माण में किया जाएगा। अतः इसने अपने ऋण प्रदान करने सम्बन्धी क्रियाओं में कड़ी शर्तें रखी। उसने यह नियम बनाया कि राष्ट्रों को ऋण का भुगतान अल्पावधि में ही करपा पड़ेगा इस वजह से मुद्राकोष के ऋण आकर्षक नहीं बन पाए। कोष केवल चालू भुगतानों के लिए ही विदेशी मुद्रा की व्यवस्था करता है। यह दीर्घकालिक आवश्यकताओं के लिए ऋण उपलब्ध नहीं करवाता।

(ii) कोष में भुगतान संतुलन में साम्य बनाए रखने के लिए अवमूल्यन आदि उपायों पर कम जोर दिया।

(iii) सदस्य देशों के कोटा अथवा अभ्यंश निर्धारण का आधार वैज्ञानिक नहीं रहा एवं इसमें परिवर्तन के प्रावधान जटिल हैं। अभ्यंश निर्धारण में स्वर्ण, डालर जमाएं एवं विदेशी व्यापार को महत्व दिया गया जो उचित नहीं है। इस प्रावधान के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष धनी राष्ट्रों की संस्था बन गई व सहायता के नाम पर निर्धन राष्ट्रों के ऋणों पर राजनीतिक शर्तें लाद दी गई।

(iv) अमेरिकी प्रभाव - कोष में अमेरिका का अभ्यंश अधिक होने के कारण उसके वोट की कीमत बहुत अधिक है। अमेरिका अपनी नीति के अनुरूप विदेशी सहायता एवं ऋणों पर प्रतिबन्ध लगाता रहता है। जैसे भारत में वाजपेयी सरकार द्वारा किए गए परमाणु परीक्षणों के बाद अमेरिका ने भारत को दी जाने वाली सहायता पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

(v) विनिमय दरों में सदस्य राष्ट्र अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करते रहे। उदाहरणार्थ जनवरी 1948 में मुद्रा कोष के विरोध के बावजूद हमने अपनी मुद्रा का 44% अवमूल्यन किया।

(vi) समस्त विश्व में डालर की कमी के बावजूद 1949 में डालर को दुर्लभ मुद्रा घोषित नहीं किया गया।

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का अभाव कोष की सबसे बड़ी कमी रही है।

(viii) विनिमय नियंत्रण को हटाने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अभी तक पूर्ण सफलता नहीं मिली है। इसके साथ ही विनिमय दरों में स्थिरता लाने के लक्ष्य में भी कोष को पूरी सफलता नहीं मिली।

26.10 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना दिसम्बर 1945 में हुई। भारत कोष का संस्थापक सदस्य है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग में वृद्धि करना एवं विनिमय दरों में स्थायित्व लाना है। इसके अतिरिक्त भुगतान असंतुलन को दूर करने

के लिए अल्पकालिक ऋण की व्यवस्था करना व गरीब देशों को विशेष आहरण अधिकारों के द्वारा विशेष मदद का प्रावधान है। इस इकाई में कोष की सफलताओं एवं असफलताओं का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

26.11 शब्दावली

1. विशेष आहरण अधिकार	Special Drawing Rights
2. अभ्यंश	Quota
3. आर्थिक सुधार	Economic Reforms
4. स्थायित्वकरण कार्यक्रम	Stabilization Programme
5. लचीली विनिमय दर	Flexible Exchange Rates

26.12 शब्दावली

1. M.C.Vaish and Sudama Singh, International Economics, 6th ed oxford and IBH Publishing Company Pvt. Ltd. New Delhi Ch.27.
2. वी. सी. सिन्हा, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।

26.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य एवं संगठन की व्याख्या कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों का विस्तार से वर्णन कीजिए। कोष गरीब देशों को विशेष सहायता देने के उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुआ है?
3. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में 1970 के बाद क्या विशेष परिवर्तन हुए हैं?

इकाई 27

विश्व बैंक तथा सम्बद्ध संस्थाएं

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 विश्व बैंक के उद्देश्य

27.3 विश्व बैंक की ऋण क्रियाएं

27.4 विश्व बैंक की सम्बद्ध संस्थाएं

27.5 विश्व बैंक द्वारा किए गए कार्यों की समीक्षा

27.6 सारांश

27.7 शब्दावली

27.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

27.9 निबन्धात्मक प्रश्न

27.0 उद्देश्य

इससे पूर्व इकाई संख्या 26 में आप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विषय में पढ़ चुके हैं। विश्व बैंक एवं सम्बद्ध संस्थाओं पर इस इकाई में आप जान सकेंगे कि युद्धोत्तर विश्व में आर्थिक पुनर्निर्माण एवं विकास की जरूरतों को पूरा करने के लिए इसकी स्थापना हुई। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि:

- विश्व बैंक की स्थापना के क्या उद्देश्य है?
- विश्वबैंक की सम्बद्ध संस्थाएं कौन-कौन सी है एवं उनके क्या कार्य हैं?
- विश्व बैंक के कार्य कौन से हैं एवं उनमें बैंक को कहाँ तक सफलता मिली है?

27.1 प्रस्तावना

विश्व बैंक की सदस्यता उन सभी देशों के लिए खुली है जो बैंक के नियमों को पूरा करते हैं एवं IMF के सदस्य हैं। विश्व बैंक का प्रबन्ध एक बोर्ड आफ गवर्नर्स, एक कार्यकारिणी समिति, एक अध्यक्ष, एक सलाहकार परिषद् एवं अन्य अधिकारियों द्वारा किया जाता है। विश्व बैंक की सम्बद्ध संस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ प्रमुख हैं। इसके अलावा आर्थिक विकास संस्था अधिकारियों को प्रशिक्षण देती है। इस इकाई में इन सम्बद्ध संस्थाओं का संक्षिप्त परिचय देने के अलावा विश्व

बैंक के उद्देश्य एवं क्रिया कलापों का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाएगा

27.2 विश्व बैंक के उद्देश्य

विश्व बैंक की स्थापना सन् 1944 में ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन में मुद्रा कोष के साथ-साथ की गई। विश्व बैंक के समझौते की धारा 1 के अनुसार इसके प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार है—

(i) युद्ध से ध्वस्त राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं का पुनर्निर्माण तथा विकास और अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के विकास के लिए उत्पादन कार्यों हेतु ऋण व तकनीकी सहायता प्रदान करना।

(ii) पूँजी विनियोग को प्रोत्साहन - वैयक्तिक व संस्थागत निवेश को उनके ऋण के भुगतान की गारन्टी प्रदान कर तथा उनके साथ विनियोग या ऋण में सम्मिलित होकर उन्हें पिछड़े देशों में उत्पादक कार्यों में विनियोग के लिए प्रोत्साहित करना एवं सदस्य राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह को प्रोत्साहित करना।

(iii) विश्व में संतुलित व्यापार के विकास में सहायता प्रदान करना और इस हेतु बैंक राष्ट्रों के विकास में सहायता पहुँचाकर उनके उत्पादन रोजगार व आय के स्तर में वृद्धि करना। इस दृष्टि से कोष व बैंक के उद्देश्य परस्पर पूरक हैं। जहां कोष का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों के अल्पकालिक असंतुलन को दूर करना है वहीं बैंक सदस्य देशों की अर्थव्यवस्था में स्थाई असन्तुलन को ठीक करने के लिए मदद देता है।

(iv) बैंक का उद्देश्य ऐसे कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करना है जिनसे युद्ध ग्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के स्थान पर शान्तिकालिक अर्थव्यवस्था की च स्थापना में मदद मिले।

27. 3 विश्व बैंक की ऋण क्रियाएं

विश्व बैंक की स्थापना के समय इसकी अधिकृत पूँजी 10 अरब अमेरिकी डालर थी जो 1 लाख डालर के 1 लाख अंशों में विभाजित थी। बैंक की पूँजी सदस्य देशों के तीन चौथाई बहुमत से बढ़ाई जा सकती है। बैंक के कार्यों के विस्तार को देखते हुए बैंक के साधन अपर्याप्त होने लगे। अतः सन् 1958 में दिल्ली में हुई बैंक की वार्षिक बैठक में विचार विमर्श के पश्चात 15 सितम्बर 1959 को बैंक की पूँजी में 8 अरब डालर की वृद्धि की गई। अधिकांश देशों ने अपने अंशदान में दुगनी वृद्धि कर दी। 30 जून 1985 को बैंक की अभिदत्त पूँजी 58.9 अरब डालर थी। प्रत्येक देश अपने अंशदान को दो भागों में बाँटता है— (i) सदस्य देशों को अपने अंशों का 20 प्रतिशत भाग बैंक द्वारा मांगने पर तुरन्त देना पड़ता हैं। इसमें 2 प्रतिशत स्वर्ण या अमेरिकन डालर में होता है एवं शेष 18 प्रतिशत सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है। (ii) शेष 80% उस समय देना पड़ता है जब बैंक को उसकी जरूरत पड़े। सदस्य देश यह अंश स्वर्ण, डालर अथवा बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में भुगतान कर सकता है।

बैंक अपने साधनों का उपयोग सदस्य देशों की सरकारों एवं निजी उद्योगों को ऋण प्रदान करने के लिए करता है। विश्व बैंक निजी संस्थाओं को ऋण उसी स्थिति मे देता है जब उस देश की सरकार उसके लिए ऋण प्रदान करे। प्रायः ऋण की अवधि 5 से 20 वर्ष के लिए होती है। अधिकांशतः ऋण 15 वर्ष की अवधि के लिए दिए गए

हैं। बैंक अन्तिम ऋण दाता के रूप में कार्य करता हैं बैंक 6½ प्रतिशत ब्याज के अतिरिक्त ऋणों पर 1 प्रतिशत कमीशन भी लेता है। इस कमीशन से प्राप्त आय से एक कोष का निर्माण किया गया है जिससे ऋणों के वापस भुगतान न हो पाने के कारण होने वाली हानि पूरी की जाती है।

विश्व बैंक स्वयं के कोषों से ऋण देने के अलावा किसी देश के व्यक्तिगत विनियोग कर्ताओं को उनके ऋण की राशि की वापसी की गारन्टी देकर ऋण दिलवाने का कार्य भी करता है। ऐसी गारन्टी देने से पूर्व बैंक को सम्बन्धित देशों की सरकारों से अनुमति लेना आवश्यक है। विश्वबैंक द्वारा इस प्रकार गारन्टी देकर उपलब्ध कराए गए ऋणों पर कमीशन लेने का अधिकार है। विश्व बैंक सामान्यतः निम्नलिखित शर्तों पर ही निजी ऋणों की गारन्टी देता है-

(i) ऋण देने सम्बन्धी शर्तें उचित हो एवं जिन परियोजनाओं के लिए ऋण माँगा जा रहा है वे भी उचित हों

(ii) ऋणी देश के पास ऋण चुकाने की क्षमता हो

(iii) ऋण के अन्य स्रोत क्षीण हो चुके हों और ऋण चाहने वाले देश को अन्य स्रोतों से उचित शर्तों पर ऋण नहीं मिल रहा हो।

(iv) बैंक की ऋण समिति ऋण देने की अनुशंसा करे

(v) ऋण चाहने वाले देश की सरकार ऋण अदायगी के सम्बन्ध में गारन्टी देने को तैयार हो।

विश्व बैंक सामान्यतः किसी विशेष उद्देश्य या प्रोजेक्ट के लिए ही ऋण देता है अतः ऋण देने के पश्चात् वह इस बात की जाँच करता है कि ऋण का उपयोग उन्हीं कार्यों के लिए किया जा रहा है अथवा नहीं जिनके लिए उसे ऋण स्वीकृत किया गया था। बैंक मूलतः उत्पादक परियोजनाओं के लिए ही ऋण देता है। ऋण के साथ उसके व्यय के सम्बन्ध में शर्तें नहीं जोड़ी जाती। सदस्य देश उसे स्वतंत्रतापूर्वक व्यय कर सकते हैं।

विश्व बैंक आधारभूत उद्योगों एवं औद्योगिक संरचना के विकास हेतु ऋण देता है। इनमें निजी उद्योग की रूचि कम होती है क्योंकि कार्य पूरा होने एवं उससे कमाई शुरू होने में बहुत देर हो जाती है अर्थात् सामान्यतया 10 से 15 वर्षों के बाद उस परियोजना से लाभ की उम्मीद की जा सकती है।

विश्व बैंक सामान्यतः सदस्य देश की सरकार या उसके केन्द्रीय बैंक से ही व्यवहार करता है। यह निजी संस्थाओं से सीधे व्यवहार नहीं रखता। विश्व बैंक द्वारा दी गई ऋण की राशि सीधे सम्बन्धित देश के केन्द्रीय बैंक में जमा करा दी जाती है जहाँ से ऋण प्राप्त करने वाली संस्था उस राशि को निकाल सकती है। जब बैंक किसी ऋण की गारन्टी करता है तो अपनी जोखिम के लिए सम्बन्धित देश से उचित क्षतिपूर्ति प्राप्त करता है। विश्व बैंक का रवैया गरीब देशों के प्रति विशेष सहानुभूति का रहा है। गरीबी उन्मूलन का मूलमंत्र लेकर विश्व बैंक दुनिया के गरीब राष्ट्रों को विभिन्न सामाजिक योजनाओं के लिए कम ब्याज दरों पर ऋण उपलब्ध कराता है।

बैंक सदस्य देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है। विश्व बैंक के पास आयोजना एवं विकास के लिए विशेषज्ञों का दल होता है जिन्हें वह विभिन्न देशों में अध्ययनों के लिए नियुक्त करता है।

बैंक विभिन्न विषय विशेषज्ञों को उनकी शोध परियोजनाओं पर वित्तीय अनुदान स्वीकृत कर ज्ञान की वृद्धि में योगदान देता है। इन शोध परिणामों को विश्वबैंक के जर्नलस् में प्रकाशित किया जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वबैंक स्टाफ पेपर्स के रूप में प्रकाशित किया जाता है।

27.4 विश्व बैंक की सम्बद्ध संस्थाएं –

सन् 1956 में बैंक ने गरीब देशों को अधिक आर्थिक सहायता दिलाने के उद्देश्य से वित्त निगम की स्थापना की। यह वित्त निगम निजी उद्योगों को ऋण देने के साथ-साथ उनकी अंश पूँजी खरीदकर सहायता पहुँचाता है। इसके अलावा 1960 में विश्व बैंक ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना की। ये दोनों संस्थाएं विश्व बैंक की सहयोगी संस्थाओं के रूप में कार्य करती हैं। इन संस्थाओं की आवश्यकता इसलिए अनुभव की जा रही थी कि विश्व बैंक अपनी धाराओं में काफी परिवर्तन किए बिना अपने ऋण की शर्तों को और अधिक उदार नहीं बना सकता था। विकासशील देश विद्यमान नियमों के अन्तर्गत अधिक ऋण प्राप्त नहीं कर सकते थे इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना आसान शर्तों पर विकासशील देशों को ऋण उपलब्ध करवाने के लिए की गई। इसकी ब्याज की दर अत्यन्त कम रखी गई एवं अवधि बहुत अधिक रखी गई। विकास संघ द्वारा प्रदत्त ऋणों की अवधि 50 वर्ष होती है और ऋण की पहली किश्त का भुगतान ऋण लेने के 10 वर्ष बाद होता है। वस्तुतः विकास संघ अपने ऋणों पर ब्याज न लेकर 3/4 प्रतिशत सेवा शुल्क लेता है। ऋणी देश ऋण का भुगतान अपनी मुद्रा में कर सकता है। इस प्रकार ऋणी देश को दुर्लभ विदेशी मुद्रा की व्यवस्था करने की चिन्ता नहीं रहती।

30 जून 1975 तक विकास संघ ने 64 राष्ट्रों को 526 ऋण स्वीकृत किए जिनकी कुल राशि 8434 मिलियन अमेरिकन डालर थी। ऋणों में कृषि उद्योग व परिवहन क्षेत्र प्रमुख हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से सहायता प्राप्त करने वालों में भारत का स्थान अग्रणी है। विश्व बैंक से जून 1986 तक भारत ने 84 ऋण लिए जिनकी राशि 7274 मिलियन डालर थी। भारतीय रेल को 500 मि. डालर प्राप्त हुए जो एक बहुत बड़ा ऋण है। भारत के सामने विदेशी विनिमय संकट के समय विश्व बैंक ने सहायता की। इसके अलावा भारत को समय समय पर तकनीकी सहायता भी उपलब्ध कराई गई। विश्व बैंक की सम्बद्ध संस्था आर्थिक विकास संस्थान (The Economic Development Institute) में भारत के अधिकारी नियमित रूप से प्रशिक्षण प्राप्त करते रहे हैं।

27.5 विश्व बैंक द्वारा किए गए कार्यों की समीक्षा

विश्व बैंक द्वारा विकासशील देशों में आधारभूत संरचना उपलब्ध करवाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। जून 1986 तक बैंक ने 2429 ऋण स्वीकृत किए जिनकी राशि 101 अरब डालर थी। इस ऋण का 22 प्रतिशत विद्युत शक्ति को 20 प्रतिशत यातायात व संचार को 36% उद्योगों के विकास विशेषकर इस्पात, कृषि व सिंचाई के लिए तथा 22 प्रतिशत कृषि विकास के लिए दिया गया है। परन्तु कुछ आलोचकों का कहना है कि बैंक के निर्णय पर कुछ देशों का प्रभाव अधिक रहता है। इसके अलावा विश्व बैंक की एक अन्य आलोचना ऊँची ब्याज की दर है।

बैंक के संसाधन विकासशील देशों की आवश्यकताओं की तुलना में बहुत कम है।

विश्व बैंक की ऋण नीतियाँ विकासशील देशों के पक्ष में नहीं हैं। ऋण लौटाने की क्षमता पर विश्व बैंक अत्यधिक बल देता है कुछ आलोचकों का मानना है कि ऋण का उत्पादक उपयोग देश की क्षमता में वृद्धि करता है जो ऋण के उपयोग के बाद बढ़ती है। ऋण देने से पूर्व क्षमता पर अधिक बल देने से कुछ देश ऋण का उपयोग नहीं कर पाते। विकाशील देशों की यह शिकायत अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) की स्थापना के बाद काफी हद तक कम हो गई है। इसके अतिरिक्त अर्द्ध-विकसित देशों के पास उचित संसाधन व ज्ञान की कमी होती है वे विश्व बैंक से सहायता प्राप्त करने योग्य परियोजनाएं तैयार नहीं कर सकते। यदि परियोजनाएं बन भी जाएं तो विश्व बैंक के ऋण देने के आधारों पर वह खरी नहीं उतरती। ऐसी परिस्थिति में ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

विश्व बैंक इस बात पर बल देता है कि ऋण जिस मुद्रा में लिया गया है उसी मुद्रा में चुकाया जाय। यह शर्त अव्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त बैंक अंश पूँजी के लिए ऋण प्रदान नहीं करता। कभी कभी यह आरोप भी लगाया जाता है कि बैंक ऋण स्वीकृत करने में अत्यधिक विलम्ब कर देता है।

27.6 सारांश

विश्व बैंक की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के इतिहास में महत्वपूर्ण घटना है। विश्व बैंक ने सच्चे सहायक के रूप में विकासशील देशों को आर्थिक व प्राविधिक सहायता देकर उनके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। परन्तु विश्व के अधिकांश गरीब देश आज भी निर्धनता की बेड़ियों में जकड़े हैं उनके लिए बहुत कुछ किया जाना अभी शेष है। अन्त में यह कथन कि संसार के अल्प विकसित देशों के लिए बैंक एक अभूतपूर्व सहारा है। इसका मूल्यांकन कुछ पत्थर के मकानों व सीमेन्ट की इमारतों से नहीं करना चाहिए। इसका लक्ष्य गहन है। इसका कार्य संसार की धन राशि में वृद्धि करके मानवता को प्रकाश व उष्मा प्रदान करना है और उसे थकान व उदासी से मुक्त करना है। बैंक का उद्देश्य इस प्रकार की विचारधारा और व्यवस्था का निर्माण करना है, जिससे प्रचुरता केवल स्वप्न अथवा कल्पना न रहकर एक साकार सत्य बन जाए।

27.7 शब्दावली

1. विश्व बैंक	World Bank or International Bank for Reconstruction and Development.
2. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम	International Finance Corporation (IFC)
3. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ	International Development Association (IDA)
4. प्रशासक मण्डल	Board of Governors
5. कार्यकारिणी समिति	Executive Council
सलाहकार परिषद्	Advisory Council

27.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वी. सी. सिन्हा, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली

27.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विश्व बैंक के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. विश्व बैंक की उपलब्धियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. विश्व बैंक एवं भारत के सम्बन्धों पर विस्तृत निबन्ध लिखिए।
4. विश्व बैंक एवं इसकी सम्बद्ध संस्थाएं अपने उद्देश्यों की पूर्ति में कहाँ तक सफल रही है? सविस्तार उत्तर दीजिए।

इकाई 28

यूरोपीय मुद्रा बाजार

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 यूरोपीय मुद्रा बाजार

28.3 यूरो डालर

28.4 यूरोपीय मुद्रा बाजार का उद्भव तथा विकास

28.5 यूरो मुद्रा बाजार की कार्य प्रणाली

28.6 यूरो मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषताएं

28.7 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त प्रणाली में भूमिका

28.8 यूरोपीय मुद्रा बाजार के विकास से उत्पन्न समस्याएं

28.9 सारांश

28.10 शब्दावली

28.11 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

17.12 निबन्धात्मक प्रश्न

28.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विश्व अर्थ व्यवस्थाओं की बढ़ती अन्तर निर्भरता से यूरोपीय मुद्रा बाजार का उद्भव एव विकास हुआ। इस इकाई में इस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाज़ार के उद्भव एवं विकास की चर्चा की जाएगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि :

- विश्व अर्थव्यवस्था का सुदृढ विकास यूरोपीय मुद्रा बाजार के सही प्रबन्ध के बिना कठिन होगा
- यूरोपीय मुद्रा बाजार की क्या विशेषताएं एवं समस्याएं हैं?

28.1 प्रस्तावना

यूरोपीय मुद्रा बाजार के उद्भव एवं विकास में डालर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। परन्तु गैर-डालर मुद्राएं भी तेजी से अपनी जगह बना रही हैं एवं इन मुद्राओं का हिस्सा 1969 में 17 प्रतिशत से बढ़कर 1978 में 33 प्रतिशत हो गया है। गैर डालर मुद्राएं मजबूत हुई हैं एवं इनकी मांग बढ़ी है। अतः सही अर्थों में यूरोपीय मुद्रा बाजार यूरोप के बाहर सरकारी नियंत्रणों से परे एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार के रूप में विकसित हुआ है। लन्दन एवं न्यूयार्क के अतिरिक्त बहमास, पनामा सिंगापुर, बैरूत इनके मुख्य केन्द्र हैं। इस इकाई में आपका परिचय मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषताओं कार्यप्रणाली एवं समस्याओं से कराया गया है।

28.2 यूरोपीय मुद्रा बाजार

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अधिकारिक स्तर पर पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह के स्थान पर निजी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजार के विकास की प्रवृत्ति बढ़ी है। वर्तमान में विश्वस्तर पर मुद्रा का थोक बाजार कार्यरत है जो किसी देश की सरकार व IMF के नियन्त्रण से परे है। इस बाजार को यूरोपीय मुद्रा बाजार के नाम से जाना जाता है। यूरोपीय मुद्रा बाजार एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग बाजार है। इसका स्थानीयकरण मुख्य रूप से लन्दन में है जो बाह्य देशों की मुद्राओं के लेन-देन में विशिष्टीकरण करता है। इस बाजार में मुख्य रूप से डालर का लेनदेन होता है, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन में प्रभुत्व है। डालर के अतिरिक्त इस बाजार में अन्य यूरोपीय मुद्राओं का भी लेन देन होता है। इस बाजार में विभिन्न देशों के व्यापारिक बैंक, मौद्रिक अधिकारी, व्यावसायिक फर्में, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों सरकारी एजेन्सीज़ तथा अर्द्धसरकारी संस्थाएं सम्मिलित हैं। चूंकि बाजार का एक बड़ा भाग यूरोप में स्थित है और लेन देन मुख्यतः डालर में होता है इसलिए इस बाजार को "यूरो डालर" बाजार कहते हैं। "यूरोपीय" शब्द का प्रयोग भ्रामक है क्योंकि इस मुद्रा बाजार के केन्द्र यूरोप के बाहर बहामास, सिंगापुर, पनामा आदि में भी स्थित हैं। विश्वसनीय समंकों के अभाव में इस बाजार के आकार के बारे में विश्वस्त तौर पर नहीं का जा सकता फिर भी यह अनुमान लगाया गया है, कि इस बाजार के विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रों पर 250 से 400 बिलियन डालर के बीच परिसम्पत्ति लगी हुई है। यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली में सबसे बड़ा बाजार है तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में प्रमुख भूमिका अदा करता है।

28.3 यूरो डालर

"किसी बैंक के विरूद्ध यूरोपीय मुद्रा का दावा वह दावा है जो उस देश की मुद्रा के अतिरिक्त जिस देश में वह बैंक स्थित है, किसी अन्य देश की मुद्रा में किया जाता है। "यूरोपीय मुद्राओं के कुल दावों में अधिकांशतः यूरोडालर सम्बन्धित दावे होते हैं, जिसमें USA से बाहर स्थित बैंकों से डालर का लेन देन शामिल होता है।" किन्डलबर्गर डोमीनीक साल्वाटोर के अनुसार," यूरोपीय मुद्रा से तात्पर्य उन सभी वाणिज्यिक बैंक जमाओं से है जो उस देश के बाहर के कसी देश की निर्गमित मुद्राएं हैं।"

उदाहरणार्थ किसी ब्रिटिश व्यापारिक बैंक में अमरीकी डालर के रूप में जमा मुद्रा यूरो डालर कहलाएगी। इसी प्रकार किसी फ्रैंच व्यापारिक बैंक अथवा किसी ब्रिटिश बैंक की फ्रैंच शाखा में जमा पाउण्ड स्टर्लिंग को यूरोस्टर्लिंग कहा जा सकता है। इटली के

किसी बैंक में जमा मार्क यूरोमार्क कहलाएगा। ये जमाएं सामान्यतया प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों, अन्तर्राष्ट्रीय निगमों तथा विभिन्न सरकारों द्वारा उधार ली अथवा दी जाती है। जिस बाजार में इन मुद्राओं का लेन-देन होता है उसे ही हम यूरोपीय मुद्रा बाजार कहते हैं।

28. 4 यूरोपीय मुद्रा बजार का उद्भव एवं विकास

यूरोपीय मुद्रा बाजार के आधुनिक स्वरूप का उद्भव 1950 के दशक के अन्त में हुआ इस समय अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जो आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों विद्यमान थीं उसके कारण यह प्रणाली अस्तित्व में आई जो यूरोपीय बैंक प्रणाली से भिन्न किन्तु उसकी पूरक थी। इस बाजार के विकास के महत्वपूर्ण कारण निम्न हैं:—

(1) साम्यवादी देश गोपनीयता सम्बन्धी कारणों से सामान्यतया अपनी डालर जमाएं अमरीका से बाहर अन्य देशों में रखना पसंद करते हैं। राजनीतिक कारणों से उन्हें यह भय रहता है कि अमरीका द्वारा उनके खातों के हस्तांतरण पर रोक ना लगा दी जाए। 1950 के बाद के दशक में रूस तथा पूर्वी यूरोपीय देशों ने अपने खाते बड़ी मात्रा में अमरीका से यूरोप के बैंकों को हस्तांतरित कर दिये थे। यह यरोपीय मुद्रा बाजार के विकास का एक बहुत महत्वपूर्ण कारण बना।

(2) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका दुनिया का सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। उसने आर्थिक तथा सैनिक सहायता के रूप में यूरोप के पुर्ननिर्माण पर बहुत अधिक धन खर्च किया। इसके परिणामस्वरूप यूरोप के बैंकों में बहुत अधिक मात्रा में डालर हस्तांतरित हुए।

(3) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अवधि में ब्रिटेन एक कर्जदार देश बन गया। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजार में स्टर्लिंग का महत्व घट गया तथा उसका स्थान डालर ने ले लिया। युद्ध के बाद ब्रिटेन ने ब्रिटिश विनिमय नियन्त्रण एक्ट के अन्तर्गत स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के बैंकों को स्टर्लिंग अनुदान पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया इससे डालर की तुलना में स्टर्लिंग का महत्व और भी घट गया।

(4) अमरीका फैडरल रिजर्व प्रणाली का नियम Q भी यूरोपीय मुद्रा बाजार के विकास का एक प्रमुख कारण था। नियम Q के अन्तर्गत अमरीका के बैंकों में सावधि जमाओं पर दी जाने वाली ब्याज दर की ऊपरी सीमा निर्धारित कर दी गई थी साथ ही इस नियम के अन्तर्गत 30 दिन तक की अवधि की ज़माओं पर कोई ब्याज नहीं दिया जाता था। इस कारण से अमरीकी बैंकों को यूरोप में अपनी शाखाऐं खोलने का प्रोत्साहन मिला जिससे कि वहां पर ब्याज की दर ऊँची रख कर डालर जमाएं आकर्षित की जा सकें। विशेष कर 1968 से 1979 के बीच ब्याज की अधिकतम दर बहुत नीची रखी गई। अतः अमरीकी नागरिकों तथा विदेशियों ने अपनी डालर बचतें विदेशी बैंकों विशेषकर यूरोप को हस्तांतरित कर दी क्योंकि यूरोप के बैंक अमरीकी बैंकों की अपेक्षा अधिक ब्याज प्रदान करते थे। इसके परिणामस्वरूप यूरोप के उधार लेने व देने वालों को भी न्यूयार्क की बजाय लन्दन व अन्य यूरोपीय बाजारों में डालर व्यापार के लिये प्रोत्साहन मिला।

(5) यूरोपीय मुद्रा बाजार के विकास का एक और महत्वपूर्ण कारण यह है कि विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय निगमों को उन देशों में अल्पकाल के लिये मुद्रा जमा कराना सुविधाजनक लगता है जिसकी मुद्रा में उन्हें भुगतान करना है। चूंकि डालर अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन में

काम ली जाने वाली सबसे महत्वपूर्ण मुद्रा है अतः यूरोपीय मुद्रा का आधे से अधिक भाग यूरोडालर के रूप में पाया जाता है।

(6) विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय निगम व कम्पनियां अपने स्वयं के देशों के साख से सम्बन्धित नियन्त्रणों से छुटकारा पाने के लिये भी यूरोपीय मुद्रा बाजार में लेन देन करना पसंद करती हैं।

(7) 1973 में पेट्रोल की कीमतों में वृद्धि के बाद पेट्रोल निर्यातक देशों ने भारी मात्रा में डालर अन्य देशों में जमा कराए इससे यूरोपीय मुद्रा बाजार का तीव्र गति से विकास हुआ।

(8) सामान्यतया यूरोपीय बैंक USA की तुलना में विदेशी मुद्रा जमाएँ स्वीकार करने में अधिक रूचि लेते हैं तथा वे इन जमाओं पर अमरीकी बैंकों की तुलना में अधिक ब्याज भी प्रदान करते हैं क्योंकि वे इन जमाओं को और भी अधिक ब्याज की दर पर वे फिर से उधार दे देते हैं।

सामान्यतया यूरोपीय बैंक अमरीका की तुलना में जमाओं पर अधिक ब्याज प्रदान करते हैं। उधार नीजी ब्याज की दर पर देते है। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं।

(i) यूरोपीय मुद्रा बाजार में कड़ी प्रतियोगिता

(ii) वैधानिक कोषानुपात तथा अन्य कानूनी बाधाओं की अनुपस्थिति के कारण यूरोपीय बाज़ार में आपरेशन लागत का कम होना।

(iii) बहुत बड़ी मात्रा में लेन देन के कारण इस बाजार में पैमाने की मितव्ययताएं प्राप्त होना।

(iv) विभिन्न प्रकार की मुद्राओं व देशों के साथ लेन देन के कारण जोखिम का कम हो जाना।

28.5 यूरोमुद्रा बाजार की कार्य प्रणाली

यूरोपीय मुद्रा बाजार बहुत व्यापाक एवं जटिल है। यह अल्पकालीन व मध्यकालीन कोषों को एक देश से दूसरे देश में हस्तांतरित करने का साधन है। जब कभी अमरीका के व्यापारिक बैंक अथवा निवासियों से, अन्य देश के व्यापारिक बैंक अथवा निवासियों के हस्तांतरण से तथा अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब किताब पूरा करने के लिए केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्षतः अथवा बैंक के माध्यम से जमाओं के रूप में यूरोपीय बैंकों में कोष आते हैं तो यूरोपीय मुद्रा बाजार में जमाओं तथा कोषों का विस्तार हो जाता है। इस प्रकार यूरोपीय मुद्रा बाजार में कोषों के जमा होने के दो प्रमुख स्रोत हैं।

(1) अमरीका के व्यापारिक बैंक व निवासियों से प्राप्त जमाएँ — यूरोपीय मुद्रा बाजार में अमरीका से आने वाले प्रवाहों के लिये अनेक कारण उत्तरदायी है जिनमें से प्रमुख है (i) यूरोपीय डालर ब्याज दरों की तुलना में अमरीकी ब्याज दरों का गिरना (ii) परिसम्पत्ति प्रसार की इच्छा बढ़ना (iii) विदेशी परिसम्पत्तियों पर प्रतिफल बढ़ना (iv) अमरीकी डालर के भाव बढने की आशा।

(2) अन्य देशों के व्यापारिक बैंक व निवासियों से प्राप्त जमाए — इस प्रकार के प्रवाहों का प्रमुख कारण यह है कि लोग घरेलू करेंसी परिसम्पत्तियों में से पोर्टफोलियो को अमरीकी डालर में बदलना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से केन्द्रीय बैंक यूरोपीय बाजार से प्राप्त अपने रिजर्व लाभों का बड़ा भाग पुनः जमा करा देते हैं।

यूरोपीय बाजारों के प्रति इस प्रकार का ढांचा दिया होने पर यूरोपीय मुद्रा बाजार की कार्य पद्धति को इस प्रकार समझाया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि रूस के द्वारा जापान की तेल का निर्यात किया जाता है तथा इसके बदले में रूस को अमरीका स्थित किसी बैंक में 100 मिलियन डालर का भुगतान प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया में यूरोडालर का सृजन नहीं हुआ। यह केवल एक साधारण प्रकार की विदेशी जमाएं हैं। परन्तु यदि रूस के अधिकारी अपने खातों की गोपनीयता बनाए रखने के लिये इन खातों की किसी स्विस बैंक में हस्तांतरित कर देते हैं तो ये 100 मिलियन की डालर जमाएं यूरोडालर कहलाएंगी।

ये नवनिर्मित यूरो डालर साख सृजन की प्रक्रिया के द्वारा विश्व में मुद्रा की कुल पूर्ति में वृद्धि कर देते हैं अर्थशास्त्रियों ने ने इसके व्यवहार के विश्लेषण के लिये साख गुणक विश्लेषण का उपयोग किया है। किंडलबर्गर के अनुसार इस बाजार में साख गुणक के आकार का अनुमान लगाना कठिन है। कुछ अर्थशास्त्रियों का दावा है कि इसका आकार 7 से 20 के बीच है जबकि अन्य कई अध्ययनों से पता चलता है कि यह इकाई से कुछ ही ऊपर है। यूरोपीय मुद्रा बाजार बहुत विशाल एवं अनियमित है। इसलिये यह साधारण बैंकिंग प्रणाली की भांति काम नहीं करता।

28.6 यूरो मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषताएं

इस बाजार की विशेष कार्यप्रणाली के कारण इसमें कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो इसे अन्य मुद्रा बाजारों से अलग करती हैं।

(1) यूरोपीय मुद्रा बाजार एक थोक बाजार है। इसमें प्रमुख उधार लेने वाली इकाइयाँ बड़ी कम्पनियाँ व सरकारें हैं यहां लेने दने का आकार बहुत बड़ा है इससे बैंकों के ओवरहैड (खर्चे) कम होते हैं तथा लागत कम आती है।

(2) यूरोपीय मुद्रा बैंक का एक बड़ा हिस्सा अन्तरबैंक बाजार है जो अल्पकालीन लेन-देन करता है। परिणामस्वरूप यूरोपीय बैंकों की लगभग तीन चौथाई देनदारियाँ व परिसम्पत्तियाँ अन्य बैंकों के विरूद्ध हैं।

(3) यूरोपीय मुद्रा बाजार में तीव्र प्रतियोगिता पायी जाती है तथा इस बाजार में नये प्रतियोगियों के प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस कारण से जमाओं व उधार के बीच ब्याज का मार्जिन सामान्यतया इस बाजार में नीचा पाया जाता है।

(4) यद्यपि यह बाजार कुछ बातों में राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों से मिलता जुलता है, परन्तु किसी केन्द्रीय मौद्रिक नियन्त्रण संस्था के नियंत्रण में नहीं होने के कारण यह अलग प्रकार से कार्य करता है।

28.7 अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली में भूमिका

यूरोपीय मुद्रा बाजार अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय प्रणाली में महत्वपूर्ण कार्य करता रहा है।

यह अल्प व मध्यकालीन कोषों का समस्त विश्व में हस्तान्तरण करता है एवं अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की गतिशीलता बढ़ाता है। 1973-74 के दौरान इस बाजार ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संकट से उबरने में प्रमुख भूमिका अदा की। इस बाजार के अभाव में तेल कोषों को जमाकर्ता राष्ट्रों से उधार लेने वाले देशों को हस्तान्तरित करना संभव नहीं था। 1977 में यूरो बॉंड के रूप में 19,335 मिलियन अमरीकी डालर निर्गमित किये गये। वर्तमान में इसका आकार लगभग 1 ट्रिलियन अमरीकी डालर आंका गया है। अमरीकी व पेट्रोल निर्यातक देश इस बाजार में प्रमुख जमाकर्ता देश है जबकि विकासशील देश व पूर्वी यूरोप के समाजवादी देश व USSR इस बाजार के प्रमुख उधार लेने वाले देशों में शामिल है।

इस बाजार का उदय अमरीकी बाजार के स्थानापन्न के रूप में हुआ था परन्तु अब यह अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है।

इस प्रकार पेट्रोल संकट से उबरने, अन्तर्राष्ट्रीय ऋण समस्या का समाधान करने, घरेलू व अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजारों का एकीकरण करने व प्रतियोगिता बढ़ाने में इस बाजार का प्रमुख योगदान है।

28.8 यूरोपीय मुद्रा बाजार के विकास से उत्पन्न समस्याएं

यद्यपि यूरोपीय मुद्रा बाजार ने अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह बढ़ाने व वित्त संकट दूर करने में प्रमुख भूमिका अदा ही है। परन्तु इसका बढ़ता आकार व तीव्र विकास एवं स्वतंत्र गतिविधियाँ कई देशों में समष्टिगत आर्थिक नीतियाँ लागू करने में बाधक बनती जा रही है। इसके तीव्र विकास से विभिन्न देशों को कई समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है।

(1) यूरोपीय मुद्रा बाजार ने विश्वव्यापी मुद्रा स्फीति का संकट खड़ा कर दिया है। यह बाजार राष्ट्रीय सरकारों द्वारा लागू की गई स्थिरीकरण नीतियों के प्रभावों को समाप्त कर देता है। बड़ी फर्में व निगम जो साख नियन्त्रण कानूनों के कारण घरेलू बाजारों से उधार नहीं ले सकते, यूरोपीय मुद्रा बाजार से उधार ले लेते हैं। इससे मुद्रा स्फीति की रोकथाम के सरकारी उपाय असफल हो जाते हैं। लचीली विनियम दर अपनाने वाले राष्ट्रों में यह समस्या स्थिर विनिमय दरों वाले राष्ट्रों की तुलना में कम गम्भीर है।

(2) इसी से मिलती जुलती दूसरी समस्या - यह है कि यूरोपीय मुद्रा कोषों के अल्पकालीन व बहुत बड़ी मात्रा में एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र पर प्रवाह से विदेशी विनिमय दरों एवं घरेलू ब्याज दरों में बहुत अधिक अस्थिरता रहती है। स्थिर विनियम दरों के होने पर ये "हॉट मुद्रा" प्रवाह ज्यादा समस्या उत्पन्न करते हैं।

(3) यूरोपीय मुद्रा बाजारों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन पर कोई नियन्त्रण नहीं है। इनमें से किसी बैंक के दिवालिया हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मन्दी फैल सकती है। घरेलू कारणों से उत्पन्न मन्दी को केन्द्रीय बैंक की नियमनात्मक नीतियों से नियंत्रित किया जा सकता है। पर यूरोपीय मुद्रा बाजार में ऐसा करना संभव नहीं है। यदि किसी देश की सरकार इन पर नियन्त्रण लगाने का प्रयास करती है तो ये उस देश से अन्य देश में अपना केन्द्र परिवर्तित कर लेते हैं। इन बाजारों पर नियन्त्रण बड़े पैमाने पर विभिन्न देशों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग से ही संभव है।

1981 से अमरीका में अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग सुविधाओं की अनुमति दे दी गई है।

अब अमरीकी बैंक विदेशी जमाएं स्वीकार करने तथा उन्हें अन्य देशों में पुनर्विनियोग करने को स्वतंत्र हैं। अब अमरीकी बैंकों में विदेशी जमाओं को फैडरल रिजर्व व बीमा सम्बन्धी कानूनों से छूट दे दी गई है। लगभग 200 अमरीकी बैंक इस बाजार में कार्यरत हैं जिसमें लगभग आधे न्यूयार्क में स्थित है व शेष शिकागो, मियामी, न्यू आर्लियन्स आदि स्थानों पर है। अब यूरो मुद्रा बाजार के लगभग 20% भाग पर अमरीका ने अधिकार कर लिया है।

28.9 सारांश

यूरोपीय मुद्रा बाजार का पिछले कुछ वर्षों में तेजी से विकास हुआ यह इस लक्ष्य से स्पष्ट है कि 1965-74 की अवधि में बैंकों की शुद्ध जमाएं 140 बिलियन डालर बढ़ी। यूरोपीय मुद्रा बाजार के आधुनिक स्वरूप का उद्भव 1950 के दशक के अन्त में हुआ। यूरोपीय मुद्रा बाजार में यद्यपि मुख्य कारोबार अमेरिकन डालर में होता है परन्तु अन्य यूरोपीय मुद्राएं जैसे डच मार्क, स्विस फ्रेन्क, आदि का हिस्सा भी बढ़ रहा है। इसके साथ ही यूरोपीय मुद्रा बाजार कारोबार का बड़ा हिस्सा यूरोप के बाहर के देशों में होता है जैसे बहमास, पनामा सिंगापुर आदि।

यूरोपीय मुद्रा बाजार की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं— (i) यूरोपीय मुद्रा बाजार एक थोक बाजार है यहाँ उधार लेने वाली इकाइयाँ, बड़ी हैं अतः लागत कम है, (ii) एक बड़ा हिस्सा अन्तर्बैंक बाजार है, (iii) इस बाजार में तीव्र प्रतियोगिता है, एवं (iv) यह बाजार किसी केन्द्रीय मौद्रिक नियंत्रण संस्था के नियंत्रण में नहीं है। इस बाजार की कुछ समस्याएं हैं, जैसे— (i) मुद्रा स्फीति संकट, (ii) अस्थिर ब्याज दरें, (iii) अनियंत्रित बाजार, एवं (iv) बड़ी मात्रा में कुछ विकासशील देशों ने इन बाजारों से ऋण प्राप्त किया है। यह ऋण कुछ उच्च आय वाले देशों में केन्द्रित है। इनसे कुछ देशों में मुद्रा संकट उत्पन्न हुए।

पिछले कुछ वर्षों से अधिकारिक पूँजी अन्तरणों की बजाय निजी अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के विकास की प्रवृति बढ़ी है। वर्तमान में विश्वस्तर पर मुद्रा का थोक बाजार कार्यरत है जो आई.एम.एफ. व किसी देश की सरकार के नियंत्रण से परे है। इस बाजार को यूरोपीय मुद्रा बाजार के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यूरोपीय मुद्रा बाजार के विकास के परिणाम स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तरलता एवं व्यापार में वृद्धि हुई है।

28.10 शब्दावली

यूरो मुद्रा	Euro Currency
यूरो डालर	Euro doller
अन्तर बैंक लेनदेन	Inter Bank Transactions

28.11 कुछ महत्वपूर्ण सन्दर्भ लेख एवं पुस्तकें

1. Eisuke Sakakibara, "The Eura Currency Market in Perspective", Finance and Development, Vol. 12, No. 3, September 1975.
2. Ishan Kapur, "The Supply of Euro currency Finance to Developing countries," Finance and Development Vol. 14, No. 3, September, 1977.

3. बरला एवं अग्रवाल, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
4. एम.एल. झिंगन, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
5. Dominick Salvatore, International Economics.
6. B.O. Sodersten, International Economics.

28.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. यूरोपीय मुद्रा बाजार क्या है? इसके आर्थिक परिणामों की व्याख्या कीजिए। क्या इस पर नियंत्रण स्थापित करना सम्भव है?
2. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त प्रणाली में यूरोपीय मुद्रा बाजार की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. यूरोपीय मुद्रा बाजार की कार्य पणाली समझाइए।

इकाई 29

अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य

29.1 प्रस्तावना

29.2 पूंजी अन्तरणों के प्रकार

29.2.1 अल्पकालीन पूँजी अन्तरण

29.2.2 दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण

29.3 अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी अन्तरणों के विभिन्न प्रकार

29.3.1 बद्ध ऋण

29.3.2 देशी तथा विदेशी निवेश

29.3.3 प्रत्यक्ष निवेश एवं पोर्टफोलियो निवेश

29.3.4 निजी तथा सरकारी पूँजी प्रवाह

29.4 अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी अन्तरणों को प्रभावित करने वाले तत्व

29.5 अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाहों के प्रभाव

29.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाहों में अन्तरण समस्या

29.6 सारांश

29.7 शब्दावली

29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

29.9 निबन्धात्मक प्रश्न

29.0 उद्देश्य

इस अध्ययन का उद्देश्य यह पता लगाना है कि विभिन्न देशों के आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाहों की क्या भूमिका है? विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक विकास के स्तर में असमानता पाई जाती है। विकसित देशों के पास साधनों का बाहुल्य है, जबकि विकासशील देशों में उनकी कमी है। पूँजी का अन्तरण अधिक्य वाले देशों से अतिरेक

साधनों को उनकी आवश्यकता वाले देशों में प्रवाहित कर विकासशील देशों के विकास में सहायता करता है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साधनों के अनुकूलतम आवंटन में सहायता करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाह अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या का भी समाधान करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को सरल बनाते हैं।

इस अध्ययन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरण के विभिन्न देशों पर पड़ने वाले आर्थिक प्रभावों की जाँच करना भी है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय निगम अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों में विशेष योगदान देते हैं। अतः उनके कार्यों के प्रभाव भी हम इस अध्ययन द्वारा जाँच सकते हैं।

29.1 प्रस्तावना

पिछले अध्यायों में आपने वस्तु व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया। इस अध्याय में हम पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरण के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करेंगे। विश्व में उत्पादन के विभिन्न साधनों, विशेषकर श्रम, पूँजी व तकनीकी का बड़े पैमाने पर एक देश से दूसरे देश में अन्तरण होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व उत्पादन साधनों का हस्तांतरण एक दूसरे के पूरक समझे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ एक पूँजी बाहुल्य वाला देश पूंजी गहन वस्तुएँ निर्यात करेगा अथवा वह सीधे ही पूँजीगत साधनों का निर्यात भी कर सकता है। इसी प्रकार जिस देश में श्रम की उपलब्धि तुलनात्मक रूप से कम है वह या तो श्रम गहन वस्तु का आयात करेगा अन्यथा वह श्रम साधनों को भी दूसरे देशों से आयात करके स्वयं के देश में श्रम गहन वस्तु का निर्माण कर सकता है। साधनों का एक देश से दूसरे देश में अन्तरण विभिन्न देशों के मध्य साधनों की कीमतों का समानीकरण करता है।

पिछले कुछ दशकों में पूंजी अन्तरण का महत्व काफी बढ़ा है तथा विभिन्न देशों के आर्थिक विकास में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। 19वीं शताब्दी में भी विकसित एवं औद्योगिक देशों में उपलब्ध बचत का अन्य देशों में निवेश किया जाता था।

29.2 पूँजी अन्तरण के प्रकार

पूँजी अन्तरण का अनेक आधारों पर वर्गीकरण किया जाता है। इसका सबसे सामान्य वर्गीकरण अवधि या काल के अनुसार किया जाता है। अवधि के आधार पर पूँजी अन्तरण को दो भागों में बांटा गया है। अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण। इसके अतिरिक्त पूँजी अन्तरण को प्रेरित व स्वायत्त, स्थिरता लाने वाले (stabilizing) व अस्थिरता उत्पन्न काने वाले (destabilizing), स्वायत्त व क्षतिपूरक (compensatory) आदि वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है।

29.2.1 पूँजी का अल्पकालीन अन्तरण

किसी भी पूंजी अन्तरण को अल्पकालीन उस सन्दर्भ में माना जाता है, जब कि यह एक वर्ष से कम परिपक्वता वाली अवधि के किसी प्रपत्र (instrument) में निहित हो।

अल्पकालीन पूंजी अन्तरण के अनेक स्वरूप हो सकते हैं, यदि एक देश के नागरिकों

के किसी अन्य देश के नागरिकों पर स्थित दावों (claim) में कोई परिवर्तन हो जाए अथवा विदेशी नागरिकों के उस देश पर स्थित दावों में कोई परिवर्तन हो जाए तो उसे अल्पकालीन पूंजी अन्तरण माना जाएगा। इस सन्दर्भ में एक देश के नागरिकों में हम उस देश की सरकार, केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक, अन्य मुद्रा बाजार में कार्यरत संस्थाओं में, दलालों, व्यापारियों व सट्टेबाजों को सम्मिलित करते हैं।

उपर्युक्त पूंजी अन्तरणों से सम्बद्ध प्रपत्रों (instruments) में हम व्यापारिक बैंकों के निक्षेपों (जमाओं), हुण्डियों (Bill of exchange), अधिविकर्ष (overdraft), तथा खुली साख को शामिल करते हैं।

यदि किसी देश में स्वर्णमान हो तो अल्पकालीन पूंजी अन्तरण का आशय विदेशी भुगतान को निपटाने के लिये दिये गये स्वर्ण से होगा। कभी-कभी किसी देश का केन्द्रीय बैंक अपने विदेशी विनिमय कोषों को स्वर्ण के रूप में परिवर्तित करना चाहता है तो ऐसी परिस्थिति में भी अल्पकालीन पूँजी अन्तरण स्वर्ण के रूप में होगा।

जब अल्पकालीन पूँजी केन्द्रीय बैंक पावनों (assets) के रूप में विद्यमान होती है तो इसके आधार पर उस देश की मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु इसके विपरीत यह केन्द्रीय बैंक के दायित्वों के रूप में हो तो यह आवश्यक नहीं कि मुद्रा की पूर्ति कम हो जाए।

अल्पकालीन पूँजी प्रवाहों के मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव

स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा का प्रवाह स्वर्ण के रूप में होता था व इसके अन्तर्प्रवाह से मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती थी व बाह्य प्रवाह से मुद्रा की पूर्ति घट जाती थी। किन्तु वर्तमान में विभिन्न देशों में स्वर्णमान विद्यमान नहीं है। वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजी के अल्पकालीन प्रवाहों के मुद्रा की पूर्ति पर निम्न प्रभाव होते हैं:

(1) प्राथमिक परिवर्तन :

जब किसी देश के निर्यात आयातों की तुलना में अधिक होते हैं तो उस देश के पास मुद्रा की मात्रा में निवल रूप में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत यदि किसी देश के आयात निर्यातों की तुलना में अधिक होते हैं तो उस देश में मुद्रा की मात्रा में कमी होगी। मुद्रा की मात्रा में ये परिवर्तन प्राथमिक परिवर्तन कहलाते हैं। इसकी सीमा (limits) का निर्धारण चालू खाते या व्यापार खाते के शेष द्वारा होता है।

(2) द्वितीयक परिवर्तन :

मुद्रा की पूर्ति में द्वितीयक परिवर्तन बैंकों के रिजर्व पर प्रभाव द्वारा होते हैं। जब किसी देश के निर्यात उस देश के आयातों की तुलना में अधिक होते हैं तो इनका भुगतान विदेशी मौद्रिक संस्थाओं द्वारा उस देश के केन्द्रीय बैंक को किया जाता है जिससे देशीय बैंकों की जमाओं में वृद्धि होती है। इसके आधार पर ये बैंक अधिक उधार दे सकते हैं, जिससे साख सृजन की प्रक्रिया द्वारा मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है इसे मुद्रा का द्वितीयक प्रसार कहा जाता है। इसके विपरीत यदि किसी देश के आयात उस देश के निर्यातों की तुलना में अधिक है तो देशीय बैंकों में रिजर्व कम हो जाएगा व उस देश की मुद्रा की पूर्ति में कमी होगी।

(3) तृतीयक परिवर्तन :

जब केन्द्रीय बैंक के रिजर्व में वृद्धि होती है तो वह व्यापारिक बैंकों के विनियम पत्रों की पुनर्कटौती खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा प्रतिभूतियों को खरीदने आदि कार्यों द्वारा मुद्रा की पूर्ति बढ़ा देता है। इस प्रकार से होने वाले मुद्रा प्रसार तृतीयक मुद्रा प्रसार कहा जाता है।

यदि अल्पकालीन पूँजी अन्तरण की पूर्ति केन्द्रीय बैंकें की अपेक्षा बाजार से की जाती है तो उसका विश्लेषण सर्वथा भिन्न होगा। यदि एक देश के सटोरिये दूसरे देश की मुद्रा के सस्ता होने पर उसे इस आशा से खरीद लेते हैं, कि भविष्य में इसकी कीमत में वृद्धि होगी और वे इसे बेचकर लाभ कमा सकेंगे। तो इस क्रिया के फलस्वरूप पूंजी का अल्पकालीन या मौसमी अन्तरण होगा। निर्यात का अधिक्य होने पर इसका निपटारा करने हेतु पूंजी का अल्पकालीन बहिर्गमन होगा। जिससे निर्यातकर्ता के निक्षेप बढ़ेंगे व सटोरियों के निक्षेप घटेंगे। कुल मिलाकर मुद्रा की पूर्ति यथावत रहेगी।

29.2.2 पूँजी का दीर्घकालीन अन्तरण :

दीर्घकालीन पूंजी अन्तरण एक वर्ष की परिपक्वता से अधिक अवधि के प्रपत्रों में निहित होते हैं। इन प्रपत्रों में बांड, परिवर्तनीय डिबेंचर, स्टॉक, बैंकों द्वारा सावधि कर्जे आदि सम्मिलित होते हैं। दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण नयी प्रतिभूतियों विशेषकर बांड प्रवाहित करके भी किये जाते हैं।

दीर्घकालीन पूंजी अन्तरण निजी तथा सरकारी दोनों प्रकार के बैंकों, अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं जैसे विश्व बैंक, यूरोपीय निवेश बैंक, एशियाई विकास बैंक आदि तथा सरकारों द्वारा स्थापित एजेंसियों के माध्यम से होते हैं।

सामान्यतया भुगतान संतुलन के घाटे अथवा आधिक्य को संतुलन में रखने के लिये विभिन्न देशों के मध्य दीर्घकालीन पूँजी प्रवाह होते हैं। इसके अतिरिक्त ये प्रवाह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में उधारदाता व उधार लेने वाले देशों और निवासियों की वित्तीय, औद्योगिक एवं विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। इस दृष्टिकोण से दीर्घकालीन पूंजी अन्तरण बहुत महत्वपूर्ण है।

दीर्घकालीन पूँजी का अन्तरण पूँजी निर्माण की प्रक्रिया द्वारा देशों में आय व रोजगार का स्तर बढ़ाता है। उधार लेने वाले देश द्वारा प्रयोग की गई कर्जे की राशि से जब कोई उद्योग स्थापित किया जाता है अथवा उत्पादकीय पूँजी का निर्माण होता है, तो उस देश में आय एवं रोजगार में वृद्धि होती है। दीर्घकालीन पूँजी अन्तरण से देश के साधन अनुपातों मे परिवर्तन होता है। पूंजी के अधिक मात्रा में आयात से पूंजी श्रम अनुपात परिवर्तित होता है। देश के संसाधनों अनुकूलतम आवंटन व पूर्ण क्षमता से उपयोग होता है। आजकल उधार देने वाले देशों की सरकारें, निजी व अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं जो दीर्घकालीन पूंजी उधार देती है वे यह सुनिश्चित करती हैं, कि उधार ली गई पूंजी का सही कार्यों में, उद्योगों में वह परियोजनाओं में प्रयोग हो। इसलिए पूंजी अन्तरण उन दिशाओं में प्रवाहित होते हैं जहाँ कल्याण अधिक हो। पूंजी अन्तरण से उधारदाता देश को भी लाभ होता है, क्योंकि उसे ब्याज लाभांश आदि की प्राप्ति होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों से विभिन्न देशों के बीच ब्याज दरें और लाभ समान होने

की प्रवृति हो जाती है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह में कोई बाधा नहीं है तो पूंजी का प्रवाह पूंजी आधिक्य वाले देश से पूंजी की कमी वाले देश को होगा क्योंकि वहां पूंजी पर अधिक ब्याज प्राप्त होगा। अन्ततः पूंजी निर्यातक देश में ब्याज दर बढ़ जाएगी। और पूंजी आयातक देश में कम हो जाएगी। परन्तु यदि पूँजी निर्यातक देशों को अपने कर्जों पर वापसी की अनिश्चितता का जोखिम उठाना पड़ता है और वे अपनी शर्तों पर अथवा बद्ध (Tied) सहायता व ऋण देते हैं तो ब्याज की दरों में समानता स्थापित होना जरूरी नहीं है।

29.3 अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी अन्तरणों के विभिन्न प्रकार

29.3.1 बद्ध ऋण (Tied Loans)

विकसित देश विकासशील देशों को जो दीर्घकालीन पूंजी उधार देते हैं वे स्रोत, परियोजना तथा वस्तुओं के साथ बद्ध होतीं हैं। अमेरिका द्वारा दिये जाने वाले उधार अमरीकी निर्यातों से जुड़े होते हैं जिसके अनुसार उनको अमरीकी पूंजी पदार्थों, वस्तुओं व सेवाओं पर ही व्यय किया जा सकता है। इसी प्रकार कई अन्य देश किसी विशेष परियोजना से जुड़े कर्जे देते हैं जिसके लिये सभी पूंजीगत पदार्थ तकनीकी सहायता आदि केवल उसी देश से लेनी पड़ती है। इस प्रकार के बँधें हुए ऋणः

(1) कल्याण अर्थशास्त्र के परेटो इष्टतम सिद्धान्त के विरूद्ध होते हैं जिसके अनुसार वस्तुओं को सबसे सस्ते स्थान से खरीदना चाहिये।

(2) विश्व बैंक के अनुमान के अनुसार बद्ध ऋणों के कारण जिन वस्तुओं को उधारदाता देशों से खरीदा जाता है, वे अपने वैकल्पिक स्रोतों से 30% अधिक मंहगी होती है।

(3) ऐसे ऋण विभेदात्मक होते हैं। क्योंकि ये ऋणदाता देशों में ही खर्च करने होते हैं।

(4) ये ऋण परियोजनाओं को उनकी लागतों के अनुसार दिये जाते हैं। अतः इनका उपयोग भुगतान संतुलन के घाटे को दूर करने के लिये नहीं किया जा सकता।

29.3.2 देशीय तथा विदेशी निवेशः

जब निर्यात अतिरेक के कारण किसी देश में पूंजी का आगमन होता है तो देशीय आय एवं रोजगार में गुणक प्रभाव के कारण वृद्धि होती है।

जब एक देश द्वारा किसी दूसरे देश में पूंजी का विनियोग किया जाता है तो विनियोग कर्ता राष्ट्र की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, क्योंकि लाभांश आदि के रूप में उसे दूसरे राष्ट्रों से आय प्राप्त होती है परन्तु उसके स्वयं के देश में वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन या उपलब्धि नहीं बढ़ने से सार्वभौमिक आय में वृद्धि नहीं होती।

इसके विपरीत जिस राष्ट्र में विनियोग किया गया है उसमें उत्पादन बढ़ता है व नागरिकों के लिये वस्तुओं व सेवाओं की उपलब्धि बढ़ती है, परन्तु राष्ट्रीय आय में वृद्धि अपेक्षाकृत कम होती है, क्योंकि उसे अपनी आय का एक हिस्सा विदेशियों को लाभांश के रूप में भेजना पड़ता है।

देशीय पूँजी निवेश व विदेशी पूँजी निवेश का साधन (श्रम पूंजी) अनुपात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता लेकिन स्वदेश में पूंजी विनियोग से श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। परन्तु विदेशों में पूंजी भेजने से पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि होती है।

कीन्स के अनुसार यद्यपि स्वदेश व विदेश दोनों में पूंजी निवेश की जोखिम एक समान ही है परन्तु यदि गणना गलत होने पर हानि हो तो स्वदेशी विनियोग से निर्मित भौतिक परिसम्पतियाँ स्वदेश में ही रहती हैं जबकि विदेशी विनियोग के समय में विदेशों में रह जाती हैं।

विदेशी निवेश पर निवेशकर्ता व ऋणी दोनों की सरकारों का अंकुश निवेशकर्ता पर रहता है। दोनों ही देशों द्वारा किये गये किसी भी नीतिगत परिवर्तन का प्रभाव निवेशकर्ता पर पड़ता है व उसे नियन्त्रकों के अन्तर्गत काम करना पडता है।

29.3.3 प्रत्यक्ष निवेश एवं पोर्टफोलियो निवेश -

विदेशी विनियोग मुख्य रूप से दो प्रकार के होते है!

पोर्टफोलियो विनियोग में हम शुद्ध रूप से वित्तीय परिसम्पत्तियों जैसें बांड, स्टॉक आदि को शामिल करते हैं। बांड खरीदकर एक विनियोगकर्ता अपनी पूँजी केवल उधार देता है और निश्चित अवधि में ब्याज के रूप में प्रतिफ़ल प्राप्त करता है तथा परिपक्वता की अवधि समाप्त होने पर अपना मूलधन भी। स्टॉक खरीद्र कर निवेश कर्ता विदेशी कम्पनी की पूँजी में हिस्सा लेते हैं। पोर्टफोलियो विनियोग सामान्यतया वित्तीय संस्थाओं, बैंकों व विनियोग कोषों के माध्यम से होते हैं।

प्रत्यक्ष विनियोग फैक्ट्रियों, पूंजीगत वस्तुओं, जमीन इन्वेन्टरी आदि पर किये जाने वाले वास्तविक विनियोग है। इनमें पूंजी के साथ प्रबन्ध भी शामिल होता है तथा विनियोग कर्ता का निवेशित पूँजी पर नियन्त्रण रहता है। प्रत्यक्ष विनियोग सामान्यतया किसी फर्म द्वारा सब्सीड्री कम्पनी खोलकर अथवा किसी फर्म के स्टॉक खरीदकर उस पर नियन्त्रण स्थापित करने के माध्यम से किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में प्रत्यक्ष विनियोग ज्यादातर बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा किये जाते हैं। प्रत्यक्ष विनियोग निजी पूंजी प्रवाहों का सबसे प्रमुख अंग है। पोर्टफोलियो विनियोग प्रथम विश्व युद्ध के बाद बहुत नगण्य हो गये थे। 1960 के बाद पुनः इनका महत्व स्थापित हुआ है।

29.3.4 निजी तथा सरकारी पूंजी प्रवाह :

दो देशों के मध्य होने वाले पूँजी अन्तरण या तो निजी व्यक्तियों व कम्पनियों के द्वारा होते हैं अथवा सरकारी स्तर पर। निजी प्रवाह मुख्यतया बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा किये जाने वाले प्रत्यक्ष विनियोगों का परिणाम होते हैं।

सरकारी पूँजी प्रवाह अधिकारिक स्तर पर होने वाले पूँजी प्रवाह हैं। सरकार की ओर से दिये जाने वाले ऋण दो प्रकार के होते हैं।

1. **स्थिरता कारक ऋण:** मुद्रा की देशी व विदेशी मूल्य में स्थिरता बनाये रखने के लिये जो ऋण लिये व दिये जाते हैं उन्हें स्थिरताकारक ऋण कहा जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन ने स्टर्लिंग की डालर में परिवर्तनशीलता बनाए रखने के लिए 375 करोड़ डालर के स्थिरताकारक ऋण लिये थे।

2. **विशिष्ट निर्यातों व आयातों के लिये ऋण की व्यवस्था:** कई बार विदेशों से ऋण इसलिये लिये जाते हैं क्योंकि उनकी लागत देश में विद्यमान ब्याज दर की अपेक्षा कम होती है।

कई बार प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिये सरकारी ऋण लिये जाते हैं।

आधुनिक समय में कई राष्ट्र जिनके निर्यातों की मांग लोचदार है, विदेशी ऋण लेकर उत्पादन में वृद्धि करते हैं तथा निर्यात बढ़ाकर उनका भुगतान कर देते हैं।

कई राष्ट्रों द्वारा पुराने ऋणों के ब्याज के पुनर्भुगतान हेतु भी ऋण लिये जाते हैं। यदि लिये गये ऋणों का उपयोग उत्पादक कार्यों में किया गया है तथा इससे प्राप्त आय से भविष्य में ऋण चुकाए जाने की आशा है तो ब्याज के पुनर्भुगतान हेतु ऋण लेना बुरा नहीं है, परन्तु यदि इसे उपभोग पर खर्च किया जा रहा है तो ऋण भार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाएगी।

29.4. अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी अन्तरणों को प्रभावित करने वाले तत्व:

1. **ब्याज दर:** अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरणों को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण तत्व विभिन्न देशों में विद्यमान ब्याज दरों में अन्तर है। जिस देश में ब्याज की दर नीची होती है वहाँ से पूँजी प्रवाहित होकर ऊँची ब्याज दर वाले देश में जाती है क्योंकि वहाँ पूंजी लगाने से अधिक प्रतिफल की प्राप्ति होती है।

2. **लाभ की सम्भावना:** कोई भी विदेशी दूसरे देश में पूंजी निवेश करते समय लाभ की संभावना को दृष्टिगोचर रखता है। जिस देश में लाभ की संभावना अधिक होगी। वहाँ पूंजी का अन्तर्प्रवाह होगा। विभिन्न परियोजनाओं में पूँजी निवेश करते समय एक उद्यमी उनके प्रत्याशित लाभ को दृष्टिगोचर रखता है। जिस परियोजना में लाभ अधिक होगा, विदेशी उद्यमी अन्य परियोजनाओं की अपेक्षा उसमें अधिक निवेश करेगा। जिससे उस परियोजना वाले देश में विदेशी पूंजी का अन्तर्प्रवाह होगा।

3. **सट्टा:** ब्याज दरों अथवा विदेशी विनियम दरों में प्रत्याशित परिवर्तनों से सम्बन्धित सट्टा भी अल्पकालीन पूँजी अन्तरणों को प्रभावित करता है। जब सटोरिये यह अनुभव करते हैं कि भविष्य में घरेलू ब्याज दर में वृद्धि होगी तो वे इसके परिणामस्वरूप बांड कीमतों में कमी की सम्भावना से लाभ उठाने के लिये अल्पकालीन विदेशी प्रतिभूतियों में निवेश करेंगे जिससे पूंजी का बाह्य प्रवाह होगा। इसके विपरीत भविष्य में घरेलू ब्याज की दर कम होने की सम्भावना होने पर विदेशी सटोरिये वर्तमान में कम कीमत पर प्रतिभूतियों में निवेश करेंगे जिससे देश में पूंजी का अन्तर्प्रवाह होगा। इसी प्रकार यदि देश की करेंसी के अवमूल्यन की भविष्य में संभावना हो तो देश के सटोरिये करेंसी को विदेशी प्रतिभूतियों में बदलने की कोशिश करेंगे जिससे पूंजी का बाह्य प्रवाह होगा। इसके विपरीत, विदेशी विनिमय दर में वृद्धि की सम्भावना होने पर देश में पूंजी का अन्तर्प्रवाह होगा।

4. **बैंक दर:** केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित बैंक दर भी अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरणों को प्रभावित करती है। यदि बैंक दर कम होगी तो पूंजी का बाह्य प्रभाह होगा। इसके विपरीत यदि बैंक दर ऊँची होगी तो पूँजी का देश में अन्तर्प्रवाह होगा।

5. **उत्पादन लागतें:** पूँजी संचालन अन्य देशों में उत्पादन लागतों पर भी निर्भर

करते हैं। जिस देश में श्रम, कच्चे माल, आदि सस्ते प्राप्त हो जाते हैं। निजी विदेशी पूंजी निवेश उन्हीं देश में अधिक होते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा कोरिया, सिंगापुर, हांगकांग आदि देशों में निवेश का कारण वहाँ लागतों का कम होना है।

6. **आर्थिक स्थितियां:** किसी देश की आर्थिक परिस्थितियों विशेषकर बाजार का आकार, आधारित संरचना अर्थात यातायात एवं संचार के साधन विद्युत तथा अन्य संसाधनों का पाया जाना, कुशल श्रम आदि देश में पूँजी के अन्तर्प्रवाह को प्रोत्साहित करते हैं।

7. **राजनैतिक स्थिरता:** राजनैतिक स्थिरता, जान और माल की सुरक्षा, अन्य देशों के साथ मैत्रिक सम्बन्ध देश में पूंजी के अन्तर्प्रवाह को बढ़ावा देते हैं।

8. **कर नीति-देश:** की कर नीति भी पूंजी के अन्तर्प्रवाह को प्रभावित करती है। दोहरा कराधान न होना, ऐसी कर नीति जो उद्यमियों पर अत्यधिक कर भार न डाले, नए उद्योगों को कुछ वर्षों के लिए कर से राहत तथा उद्योगों को संरक्षण देने हेतु ऊँची शुल्क व्यवस्था विदेशी पूँजी के अर्न्तप्रवाह को प्रोत्साहित करती है।

9. **सरकारी नीति:** विदेशी पूंजी से सम्बन्धित सरकारी नीति का भी पूंजी संचलनों पर प्रभाव पड़ता है। यदि सरकार विदेशी पूंजी पर लाभ लाभांश, रायल्टी ब्याज आदि को हस्तान्तरित करने पर सुविधा प्रदान करती है तो देश में पूंजी का अन्तर्प्रवाह होगा। इसी प्रकार उदार विदेशी विनिमय नियन्त्रण, विदेशी पूंजी को प्रोत्साहित करने वाली राजकोषीय, मौद्रिक तथा अन्य नीतियां पूंजी के अन्तर्प्रवाह में सहायक होती हैं।

29.5. अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाहों के प्रभाव:-

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाहों का निवेशकर्ता तथा पूंजी प्राप्तकर्ता दोनों राष्ट्रों पर प्रभाव पड़ता है। इनमें से कुछ प्रभावों को चित्र द्वारा चित्र संख्या 29.1 में यह दर्शाया गया

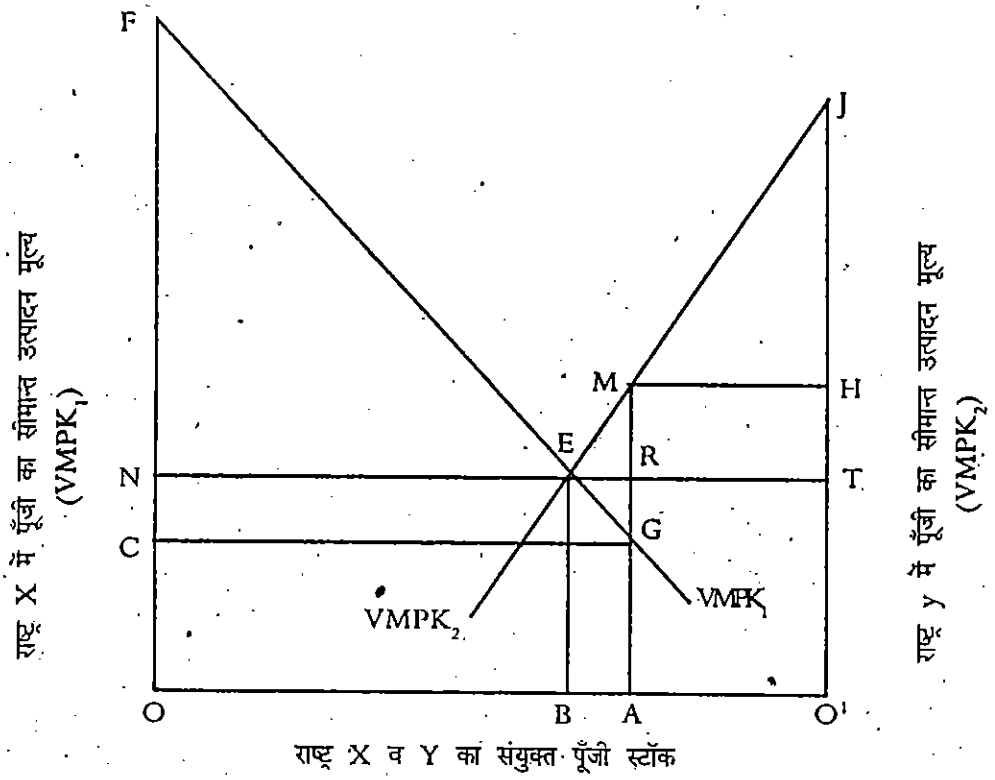

रेखा चित्र 29.1

हैं कि विश्व में दो राष्ट्र हैं X व Y जिनका सम्मिलित पूंजी स्टॉक 00' है। इसमें से OA पूंजी पर देश X का अधिकार है जबकि O'A पूंजी Y देश की है। $VMPK_1$ व $VMPK_2$ क्रमश X व Y राष्ट्रों के पूंजी के सीमान्त उत्पादन मूल्य (Value of Marginal Product of Capital) को बताने वाले वक्र हैं जो अलग-अलग विनियोग के स्तरों पर दोनों राष्ट्रों में पूंजी के सीमान्त उत्पादन मूल्य को दर्शाते हैं।

बन्द अर्थ-व्यवस्था की स्थिति में X देश अपना समस्त पूंजी स्टॉक घरेलू विनियोग में लगाता है और उसे OC मात्रा में VMPK प्राप्त होता है। प्रथम देश का कुल उत्पादन OFGA है जो वक्र के नीचे के कुल क्षेत्र (Area under Curve) द्वारा मापा जा सकता है। इसमें से OCGA भाग X देश के पूंजीपतियों को प्राप्त होता है व शेष CFG अन्य साधनों जैसे भूमि, श्रम आदि को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार Y देश अपना समस्त पूंजी स्टॉक O'A घरेलू विनियोग में लगाता है। उसे O'H आय प्राप्त होती है। उसका कुल उत्पादन (Area under Curve) O'JMA है जिसमें से O'HMA पूंजीपतियों को प्राप्त होता है शेष HJM अन्य साधनों को चला जाता है।

अब हम उस स्थिति का विश्लेषण करते हैं जिसमें दोनों देशों के मध्य पूंजी का स्वतंत्र प्रवाह संभव है। चूंकि राष्ट्र Y में पूंजी का प्रतिफल (O'H) राष्ट्र X में पूंजी के प्रतिफल (O'C) से अधिक है, इसलिये AB मात्रा में पूंजी का प्रवाह राष्ट्र X से राष्ट्र Y की ओर होगा। इससे दोनों देशों में पूंजी पर प्रतिफल की दर समान होकर BE=O'T हो जाएगी। अब राष्ट्र X में घरेलू उत्पादन OFEB है विदेशी विनियोग पर मिलने वाला प्रतिफल ABER जोड़ने पर राष्ट्र X में राष्ट्रीय आय OFERA हो जाएगी जो विदेशी विनियोग से पहले की तुलना में अब ERG मात्रा में अधिक है। स्वतंत्र पूंजी प्रवाहों के परिणाम-स्वरूप राष्ट्र X में पूंजी पर प्रतिफल ONRA बढ़ गया जब कि अन्य साधनों का प्रतिफल NFE मात्रा में घट गया।

राष्ट्र Y में राष्ट्र X से AB मात्रा में पूंजी का अन्तर्प्रवाह हुआ। इससे वहां पूंजी पर प्रतिफल की दर O'H से घटकर O'T हो गई। राष्ट्र Y का सकल घरेलू उत्पादन O'JMA से बढ़कर O'JEB हो गया। इस प्रकार उत्पादन में कुल ABEM मात्रा में वृद्धि हुई। इसमें से ABER राशि विदेशी विनियोगकर्ता को चली गई तथा शेष ERM राष्ट्र Y को विशुद्ध लाभ है। पूंजीपतियों के लिये पूंजी पर कुल प्रतिफल O'HMA से घटकर O'TRA हो गया। परन्तु अन्य साधनों का प्रतिफल HJM से बढ़कर TJE हो गया।

सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से यदि देखा जाए तो कुल उत्पादन OFGA+O'JMA से बढ़कर OFEB+O'JEB हो गया अथवा ERG+ERM=EGM मात्रा में उत्पादन में वृद्धि हुई। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह साधनों का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आवंटन अनुकूलतम करने में सहायक होते हैं तथा विश्व का कुल उत्पादन व आर्थिक कल्याण बढ़ाते हैं। $VMPK_1$ व $VMPK_2$ वक्र जितने अधिक ढलानयुक्त होंगे अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों के लाभ उतने ही अधिक होंगे।

पूर्ण रोजगार की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों के परिणामस्वरूप निवेश कर्ता राष्ट्र में साधनों के पुनर्आवंटन के कारण पूंजी के प्रतिफल बढ़ जाते हैं परन्तु श्रम के प्रतिफलों में कमी आती है इसीलिये अनेक राष्ट्रों में श्रमिक संगठन पूंजी के निर्यात का विरोध करते हैं।

पूंजी आयातकर्ता राष्ट्र को भी पूंजी अन्तर्प्रवाह से कुल मिलाकर लाभ होता है। परन्तु पुनर्आवंटन प्रभाव के कारण श्रम को अधिक लाभ प्राप्त होता है।

परन्तु पूर्ण रोजगार नहीं है तो पूंजी के बाह्य प्रवाह से निवेशकर्ता राष्ट्र में रोज़गार का स्तर घटता है, जबकि पूंजी प्राप्तकर्ता राष्ट्र में रोजगार स्तर बढ़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाह पूंजी निर्यातक व आयातक दोनों देशों के भुगतान संतुलन को भी प्रभावित करते हैं। किसी भी देश का भुगतान उसके अन्य राष्ट्रों के साथ समस्त लेनदारियों व देनदारियों का अन्तर होता है। अतः जिस वर्ष कोई राष्ट्र पूंजी का निर्यात करता है, उसका भुगतान संतुलन खाता पूंजी के बाह्य परिणाम स्वरूप घाटे में हो जाता है तथा पूंजी आयातक देश का भुगतान संतुलन खाता अनुकूल हो जाता है। 1960 के दशक में पूंजी का बाह्य अमरीका के प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन का प्रमुख कारण था।

पूंजी निर्यात के प्रारंभिक वर्षों में पूंजी निर्यातक देश में पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन व निर्यात बढ़ता है तथा निवेश के प्रतिफल के रूप में आय भी प्राप्त होती है। लेकिन इसके दीर्घकालीन प्रभावों के बारे में निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि पूंजी आयात व निवेश के परिणामस्वरूप आयातकर्ता राष्ट्र का आर्थिक विकास हो जाता है तो वह अपने आयात प्रतिस्थापन द्वारा पूंजी निर्यातकर्ता राष्ट्र के निर्यातों में कमी ला देगा।

कई बार दो राष्ट्रों के बीच कर की दरों में अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ यदि अमरीका में निगम कर 48 प्रतिशत है तथा स्विट्जरलैंड में 40 प्रतिशत तो बहुराष्ट्रीय निगम अमरीका की बजाय स्विट्जरलैंड में विनियोग को प्राथमिकता देंगे। इससे पूंजी निर्यातक देश में कुल कर आय घटेगी व पूंजी आयातक देश में बढ़ जाएगी।

विदेशी विनियोग दोनों देशों के मध्य उत्पादन तथा व्यापार को प्रभावित करते हैं इससे दोनों की व्यापार की शर्तें भी प्रभावित होंगी। पर इसका क्या प्रभाव होगा यह पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि अलग अलग देशों में अलग-अलग दशाओं के कारण प्रभाव भिन्न-भिन्न होंगे।

29.5.1 अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों में अन्तरण समस्या:-

अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी हस्तांतरण को तभी वास्तविक अर्थों में सफल माना जा सकता है जब पूंजी निर्यातक देश से पूंजी आयातक देश में वित्तीय पूंजी के साथ-साथ वास्तविक साधनों का भी हस्तांतरण हो। उदाहरणार्थ यदि किसी देश से 100 मिलियन डालर का दूसरे देश में विनियोग किया जाता है तो इसका फायदा तभी होगा जब निवेशकर्ता राष्ट्र को प्राप्त हों। वित्तीय पूंजी के हस्तान्तरण के साथ-साथ निवेशकर्ता राष्ट्र से आयातक राष्ट्र की ओर वास्तविक साधनों के हस्तांतरण को "अन्तरण समस्या" के नाम से जाना जाता है।

अन्तरण समस्या का एक और उदाहरण 1970 के समय पेट्रोल की कीमतों में वृद्धि के बाद सामने आया। अधिकांश तेल निर्यातक राष्ट्रों विशेषकर सउदी अरब, लीबिया, कुवैत आदि ने अपनी पेट्रोल आय को पेट्रोल आयातक राष्ट्रों से खरीद पर व्यय नहीं किया। ज्यादातर राष्ट्रों ने इस आय को USA में पोर्टफोलियों विनियोग पर व्यय किया। इससे पेट्रोल आयातक देशों की भुगतान क्षमता घटी। उन्होंने अपने आयात कम किये व इसके संयुक्त प्रभाव के कारण विश्व में अपस्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

अन्तरण समस्या का एक और पहलू यह भी है, कि अपने बड़ी मात्रा में विदेशी निवेश के कारण अमरीका एक घाटे वाला देश बन गया।

अभी तक हमने पूँजी के अल्पकालीन व दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय हस्तांतरण का अध्ययन किया यह अन्तरण सामान्यतया अधिकारिक स्तर पर होता है।

29.6 सारांश

इस अध्याय में हमने अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी प्रवाहों विभिन्न राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं व सेवाओं के साथ-साथ साधनों के भी हस्तान्तरण होते हैं, जो वस्तु व्यापार के स्थानापन्न भी हो सकते हैं।

पिछले कुछ दशकों से विभिन्न देशों के मध्य पूंजी हस्तांतरण का महत्व बहुत बढ़ गया है। इस अन्तरण ने विकासशील देशों के आर्थिक विकास में बहुत मदद पहुँचाई है। विकसित देशों के अतिरेक साधनों का भी इससे अनुकूलतम प्रयोग हुआ है तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साधनों के अनुकूलतम आवंटन में मदद मिली है। पूंजी का अन्तरण अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन हो सकता है। यदि यह अन्तरण एक वर्ष से कम परिपक्वता की अवधि के प्रपत्र में निहित हो तो अल्पकालीन अन्तरण कहलाता है। इन अन्तरणों का आयातक व निर्यातक देशों में मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है।

यदि ये पूंजी अन्तरण एक वर्ष से अधिक अवधि के लिये हो तो इन्हें हम दीर्घकालीन पूंजी अन्तरण कहते है। दीर्घकालीन पूंजी अन्तरण में हम पोर्टफोलियो विनियोग एवं प्रत्यक्ष निवेश को शामिल करते हैं। ये सरकारी अथवा निजी दोनों प्रकार से होते हैं। कभी कभी दीर्घकालीन अन्तरण बद्ध किस्म के होते हैं। दीर्घकालीन पूंजी अन्तरण में बहुराष्ट्रीय निगमों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

दो देशों के बीच ब्याज दर, कर की दर में अन्तर, सट्टा लाभ व उत्पादन लागतों में अन्तर आदि इन पूंजी अन्तरणों के प्रमुख कारण हैं।

ये पूंजी अन्तरण पूंजी निवेशकर्ता व प्राप्तकर्ता दोनों ही राष्ट्रों को आर्थिक रूप से प्रभावित करते हैं।

29.7 शब्दावली

1. **पोर्टफोलियो विनियोग :** विशुद्ध परिसम्पतियों जैसे स्टाक बाँड आदि की खरीद जो सामान्यतया बैंकों व विनियोग कोषों के माध्यम से की जाती है।

2. **प्रत्यक्ष निवेश :** फैक्ट्रियों, पूंजीगत वस्तुओं, भूमि, इन्वेन्टरी आदि पर किये जाने वाले वास्तविक विनियोग जिसमें पूंजी व प्रबन्ध दोनों सम्मिलित होते है तथा निवेशकर्ता का विनियोजित पूंजी पर नियन्त्रण रहता है। प्रत्यक्ष अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग सामान्यतया बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से किये जाते हैं।

3. **बहुराष्ट्रीय निगम :** ऐसी फर्में जिनका अनेक देशों में उत्पादन एवं वितरण पर नियन्त्रण होता है।

4. **अन्तरण समस्या :** अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरणों के अन्तर्गत वित्तीय साधनों के साथ-साथ वास्तविक साधनों के भी अन्तरण की समस्या।

5. **बद्ध ऋण :** (Tied Loans) : ऐसे ऋण जो किसी स्रोत परियोजना अथवा वस्तुओं के साथ बद्ध होते हैं।

29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. C.P. Kindleberger, International Economics
2. एम. एल झिगंन, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

29.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरणों से आप क्या समझते हैं? अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूंजी अन्तरण किसी देश की अर्थव्यवस्था को कैसे प्रभावित करते हैं?
2. अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरण को विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिये। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरणों के प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण कारण कौन-कौन से हैं?
3. अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरण के निवेशकर्ता व आयातक राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय, साधनों के प्रतिफल, भुगतान शेष आदि पर पड़ने वाले प्रभावों को समझाइये।
4. अल्पकालीन पूंजी अन्तरणों को मुद्रा की पूर्ति पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिये।
5. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
   1. प्रत्यक्ष व पोर्टफोलियो निवेश
   2. सशर्त (बद्ध) ऋण
   3. अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी अन्तरणों के प्रभाव
   4. हस्तान्तरण समस्या

इकाई 30

भारत का विदेशी व्यापार

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य

30.1 प्रस्तावना

30.2 भारत में विदेशी व्यापार की संरचना

30.2.1 आयात संरचना

30.2.2 भारतीय आयात संरचना सम्बन्धी तथ्य

30.2.3 निर्यातों की संरचना

30.2.4 भारत के कुछ प्रमुख निर्यातों सम्बन्धी तथ्य

30.3 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

30.3.1 विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र व भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति

30.3.2 भारत के निर्यातों की क्षेत्रीय दिशा के तथ्य

30.3.3 भारत के आयातों की क्षेत्रीय दिशा के तथ्य

30.4 सारांश

30.5 शब्दावली

30.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

30.7 निबन्धात्मक प्रश्न

30.0 उद्देश्य

किसी देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसके सहारे कोई देश अपने तथा दूसरे देशों के विशिष्ट संसाधनों एवं उनके समुचित उपयोग, बड़े पैमाने की उत्पादन-प्रणाली तथा तकनीकी जानकारी व प्रगति का भली प्रकार लाभ उठा सकता है। विदेशी व्यापार के ठीक प्रकार के नियमन व नियंत्रण से उत्पादन, रोजगार, आय, कीमत, औद्योगीकरण और इस प्रकार देश के आर्थिक विकास पर वांछित प्रभाव डाला जा सकता है।

1947 से पूर्व भारत ब्रिटिश शासन का एक उपनिवेश (Colony) था और उसके विदेशी व्यापार का ढांचा एक प्रकार का औपनिवेशिक ढांचा ही था। भारत औद्योगिक देशों, विशेषकर इंग्लैाड को खाद्य पदार्थों और कच्चे माल का निर्यात करता था और उनके निर्मित वस्तुओं का आयाता करता था।

परन्तु गत पांच दशाक की आर्थिक नियोजन की अवधि के दौरान भारत के विदेशी व्यापार की संरचना (Composition) एवं इसकी दिशा (Direction) में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। देश की पहली पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में अथवा वर्ष 1950-51 में जहाँ कुल आयात व निर्यात क्रमशः 608 व 606 करोड़ रु. के थे और व्यापार शेष (-) 2 करोड़ रु. से ऋणात्मक था, वहाँ 1986-97 में बढ़कर आयात व निर्यात क्रमशः 138919 व 118817 करोड़ रुपये मूल्य के हो गये तथा व्यापार शेष (-) 20102 करोड़ से ऋणात्मक

हो गया। विदेशी व्यापार का कुल मूल्य (आयात + निर्यात) 1950-51 में जहाँ 1214 करोड़ रु. था वह 1996-97 में बढ़कर 257736 करोड़ रु. हो गया।

दूसरी ओर, आयात निर्यात की परिवर्तन दर बड़ी अनियमित रही है, जैसे 1990-91 में निर्यातों की परिवर्तन दर 17.7 प्रतिशत थी, जो 1991-92 में 35.3 प्रतिशत हो गई, 1995-96 में यह 28.6 प्रतिशत थी परन्तु 196-97 में 11.7 प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार आयातों की परिवर्तन दर 1990-91 में 22.3 प्रतिशत थी जो 1991-92 में घटकर 10.8 हो गई। 1995-96 में यह बढ़कर 36.4 प्रतिशत हो गई परन्तु पुनः 1996-97 में घटकर 13.2 प्रतिशत हो गई। आयात व निर्यात की परिवर्तन दर की यह अनियमित स्थिति 1950-51 से इसी प्रकार चल रही है।

भारत के विदेशी व्यापार की इन्हीं प्रवृत्तियों का विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र - (i) आर्थिक सहयोग व विकास संगठन के देश (OECD), (ii) ओपेक देश (OPEC), (iii) पूर्वी यूरोप के देश, (iv) अन्य विकासशील देश, आदि के संदर्भ में अध्ययन ही प्रस्तुत पाठ का मुख्य उद्देश्य है।

इसके अतिरिक्त विश्व के उपर्युक्त क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की क्षेत्रीय दिशा (Regional Direction) का विस्तृत विवेचन तथा इससे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर भारत के विदेशी व्यापार की नीति के लिए भावी दिशा निर्देशों का निर्धारण भी इस पाठ का उद्देश्य है।

30.1 प्रस्तावना

किसी भी देश के विदेशी व्यापार के अध्ययन के प्रमुख पहलू सामान्यतया ये तीन होते हैं — (1) विदेशी व्यापार की संरचना (Composition), (2) विदेशी व्यापार की दिशा (Direction), तथा विदेशी व्यापार की नीति (Policy)। विदेशी व्यापार की नीति इस पाठ की परिधि में नहीं आती है अतः प्रथम दो पहलुओं की विवेचना ही इस पाठ में की जा रही है।

किसी देश के विदेशी व्यापार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू उसकी संरचना या बनावट है। संरचना से आशय आयात व निर्यात की मदें और इनमें होने वाले परिवर्तन से हैं। आयात और निर्यात की संरचना या ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों से देश के आन्तरिक उत्पादन के ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों की भी जानकारी होती है। प्रस्तुत इकाई में, भारत के विदेशी व्यापार की संरचना पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

विदेशी व्यापार का दूसरा प्रमुख पहलू उसकी दिशा से सम्बन्धित है। दिशा का तात्पर्य यह है कि एक देश किन देशों से माल आयात करता है और किन देशों को अपना माल निर्यात करता है। हम इस इकाई में भारत के आयात-निर्यात व्यापार का अध्ययन, विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के संदर्भ में कर रहे हैं, जिसके अन्तर्गत यह देखा गया कि समय-समय पर उसमें किस प्रकार के परितर्वन होते रहे हैं, और उन परिवर्तनों के लिए कौन से कारण उत्तरदायी रहे हैं।

विदेशी व्यापार की नीति के अन्तर्गत देश की आयात-नीति व निर्यात-नीति आती है। इन नीतियों के अनेक पहलू हैं जैसे निर्यात संवर्द्धन के तरीके, आयात-प्रतिस्थापन, भुगतान संतुलन नीति, प्रशुल्क पाठ की सीमाओं में नहीं आता है। इसलिए इस पाठ की विषय सामग्री में प्रथम दो पहलुओं — भारत के विदेशी व्यापार की संरचना व इसकी दिशा को ही सम्मिलित किया गया है।

30.2 भारत के विदेशी व्यापार की संरचना

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना को दो पृथक भागों में प्रस्तुत किया जा रहा है। पहला भाग है आयातों की संरचना का और दूसरा भाग है निर्यातों की संरचना का।

आयातों की संरचना के अन्तर्गत आयातित वस्तुओं को दो वर्गों में रखा गया है — (i)भारी

या अम्बारी आयात (Bulk Imports), एवं (ii) गैर-भारी या गैर अम्बारी आयात (Non-bulk Imports)।

भारी आयातों को दो भागों में विभक्त किया जाता है — (i) पैट्रोलियम, तेल एवं चिकनाई (Petroleum, oil and Lubricants-POL) और (ii) गैर-इलैक्ट्रिकल आयात जिसमें उपभोग वस्तुएं, उर्वरक और लौह तथा इस्पात सम्मिलित किये जाते हैं।

गैर-भारी या गैर-अम्बारी आयातों में पूँजीगत वस्तुएं (जिनमें इलैक्ट्रिकल एवं गैर इलैक्ट्रिकल मशीनरी शामिल है), हीरे और कीमती पत्थर और अन्य मदें भी सम्मिलित की जाती है।

निर्यात-संरचना में निर्यातों को पांच वर्गों में रखा गया है - (i) कृषिगत व सम्बन्धित वस्तुएं, (ii) अयस्क एवं खनिज, (iii) विनिर्मित वस्तुएं, (iv) खनिज तेल एवं स्नेहक, व (v) अन्य।

30.2.1 आयात-संरचना

भारत के आयातों को सारणी संख्या 30.1 में दिखाया गया है, जिसमें 1970-71 से 1996-97 की अवधि ली गई है। कोष्ठकों में भारी एवं गैर भारी आयातों का कुल में प्रतिशत दिखाया गया है, जिससे उनकी सापेक्ष स्थिति का बोध होता है। सारणी संख्या 30.1 के ही दूसरे भाग में आयातों की वार्षिक वृद्धि दरों को प्रतिशत में प्रस्तुत किया गया है, जो आयातों के बदलते हुए स्वरूप पर प्रकाश डालती है।

तालिका 30.1

भारतीय आयातों की संरचना

(अवधि 1970-71 से 1996-97)

					वार्षिक वृद्धि दर (प्रतिशत)		
	1970-71	1980-81	1990-91	1996-97	1970-71 to 1980-81	1980-81 to 1990-91	1990-91 to 1996-97
1. अम्बारी आयात	825 (50.5)	8,793 (69.6)	20,020 (46.4)	60,555 (43.6)	23.2 37.5	8.6 7.4	28.4 25.4
(ii) पैट्रोलियम तेल एवं स्नेहक	137	5,267	10,820	35,629	37.5	7.4	25.4
(iii) गैर पी.ओ.एल मदें	688	3,472	9,200	24,926	16.1	10.2	35.3
क. उपभोग वस्तुएं	326	901	1,389	5,281	5.0	11.5	74.4
ख. उर्वरक	100	818	1,770	3235	16.0	8.0	7.45
ग. लौह तथा इस्पात	147	852	2,110	6866	26.6	9.5	38.5
2. गैर-अम्बारी आयात	809 (49.5)	3,810 (30.4)	20,350 (47.1)	78,364 (56.4)	14.0	18.2	20.7
(i) पूंजी वस्तुएं	404	1,910	10,470	29,868	13.7	18.5	16.3
ख. इलैक्ट्रिक मशीनरी	70	260	1,702	1,115	14.0	20.7	-22.6
ग. गैर-इलै. मशीनरी	258	1,049	4,240	14,801	11.2	14.6	25.2
(ii) हीरे तथा कीमती पत्थर	25	417	3,740	10,384	31.2	24.5	7.8
(iii) अन्य	380	1,483	8,960	N.A.	12.2	19.7	N.A.
कुल	1,634	12,594	43,190	138,919	19.2	13.1	23.8

स्रोत - भारतीय आर्थिक सर्वेक्षण : 1997-98, S 82-84

30.2.2 भारतीय आयात-संरचना सम्बन्धी तथ्य

सारणी 30.1 के अनुसार भारतीय आयातों में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति है, जिसके लिए आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के कारण उत्तरदायी हैं।

1970-80 के दशक के दौरान, पैट्रोलियम निर्यात देशों के संगठन (Organisation of Petroleum Exporting Countries-OPEC) द्वारा पहली बार 1973-74 में और फिर दोबारा 1979-80 में कीमतों में तीव्र वृद्धि की गई। परिणामतः पैट्रोलिय पदार्थों के आयात में 1970-80 के दशक में तेज वृद्धि हुई परन्तु इसका प्रभाव 1980-90 के दशक में भी महसूस किया गया।

1980-90 के दशक के दौरान बहुत से तत्वों ने आयाात को बढ़ाने में संचयी प्रभाव डाला। इनमें उल्लेखनीय है - गत दशक के दौरान तेल की कीमतों में वृद्धि के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा का भारी उत्प्रवाह, 1987 के सूखे के कारण देश में खाद्यान्न का गंभीर रूप में अभाव, अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई वृद्धि दर के कारण मांग का दबाव और सरकार द्वारा अपनाई गई उदारीकरण (Liberalisation) की नीति।

1970-71 में कुल आयात 1,634 करोड़ रुपए थे, ये बढ़कर 1980-81 में 12,549 करोड़ रुपए हो गए। इस प्रकार इस दशक के दौरान आयात में 19.2 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई।

1980-90 के दशक के दौरान और विशेषकर 1984-85 के पश्चात् जब प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने उदारीकरण की नीति का अनुसरण किया, आयात एकदम तेजी से बढ़कर 1990-91 में 45,190 करोड़ रुपए के स्तर पर पहुँच गए। 1980-81 और 1990-91 के दौरान आयात की वृद्धि दर 13.1 प्रतिशत के उच्च स्तर पर बनी रही।

1990-91 और 1993-94 के दौरान आयात की वार्षिक औसत वृद्धि दर 19.1 प्रतिशत थी, जो 1996-97 में बढ़कर 23.8 प्रतिशत हो गई जो 1970-71 से 1996-97 की अवधि की सर्वाधिक वार्षिक वृद्धि दर है।

1993-94 से 1996-97 की अवधि मे आयातों की संरचना में कुछ अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन इस प्रकार हुए —

(1) 1990-91 से 1993-94 की तुलना में 1993-94 से 1996-97 की अवधि में POL आयातों की तुलना में गैर पी.ओ.एल आयातों में भारी वृद्धि हुई अर्थात् 5.7 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर बढ़कर 35.3 प्रतिशत हो गई।

(2) उर्वरक के आयातों में गिरावट आई। इनकी वार्षिक दर 13.8 प्रतिशत से घटकर केवल 7.45 प्रतिशत रह गई, परन्तु लौह तथा इस्पात की वार्षिक वृद्धि दर 3.4 प्रतिशत से बढ़कर 38.5 प्रतिशत हो गई।

(3) गैर-अम्बारी आयात की वार्षिक वृद्धि दर 23.5 प्रतिशत से घटकर 20.7 प्रतिशत रह गई, जबकि अम्बारी आयातों की वार्षिक वृद्धि दर 13.2 प्रतिशत से बढ़कर 28.4 प्रतिशत हो गई।

30.2.3 निर्यातों की संरचना

आयातों की भाँति निर्यातों की संरचना में भी, 1996-97 की आवधि में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। सारणी संख्या 30.2 में इस परिवर्तन को प्रदर्शित किया गया है, जिसमें

परम्परागत निर्यात व गैर परम्परागत निर्यात की कुछ प्रमुख मदों को ही सम्मिलित किया गया है।

तालिका 30.2

निर्यात की प्रमुख मदें

(करोड़ रु.)

मदें	अवधि			
	1970-71	1980-81	1990-91	1996-97
1. जूट विनिर्मित वस्तुएँ	190 (12-37)	330 (4-92)	298 (0-91)	552 (0-47)
2. वस्तुएँ	148 (9.64)	426 (6.35)	1070 (3.29)	1037 (0.87)
3. सूती कपड़े	145 (9.45)	933 (13.90)	6832 (20.99)	27793 (23.93)
4. चमड़ा व चमेड़े का सामान	80 (5.21)	390 (5.81)	2660 (8.17)	5609 (4.72)
5. तम्बाकू	33 (2.15)	91 (1.35)	263 (0.81)	757 (0.64)
6. चीनी	29 (1.89)	40 (0.64)	38 (0.12)	1078 (0.91)
7. खनिज लोहा	117 (7.62)	303 (4.51)	1049 (3.22)	1706 (1.43)
8. दस्तकारी	73 (4.25)	952 (14.18)	6167 (18.94)	20110 (1692)
9. इन्जीनियरिंग वस्तुएँ	198 (12.90)	827 (12.32)	3872 (11.89)	17931 (14.68)
10. रसायन व सहयोगी पदार्थ	29 (1.89)	225 (3.35)	2111 (6.48)	11463 (9.65)
कुल	1535	6711	32553	118817

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण 1997-98 S 86-88.

सारणी 30.2 में दिए हुए मदों के साथ कोष्ठकों में दिए गए कुल में मदों के प्रतिशत यह दर्शाते हैं कि 1970-71 से 1996-97 की अवधि में प्रत्येक मद के निर्यात की सापेक्ष स्थिति क्या रही है?

30.2.4 भारत में कुछ प्रमुख निर्यातों सम्बन्धी तथ्य

जूट विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात में तीव्र गिरावट आयी है। 1970-71 में, कुल निर्यातों में इस मद का प्रतिशत जो 12.37 था, वह 1980-81 में गिरकर 4.92 और 1996-97 में केवल 0.46 प्रतिशत ही रह गया, यद्यपि इस मद का निरपेक्ष निर्यात-मूल्य 1970-71 वर्ष के 190 करोड़ रुपए से बढ़कर 1996-97 में 552 करोड़ रुपए हो गया। चाय की भी यही स्थिति रही है। इसका निरपेक्ष निर्यात मूल्य यद्यपि 1970-71 के 148 करोड़ रु. से बढ़कर 1996-97 में 1037 करोड़ रु. हो गया; किन्तु कुल निर्यात मूल्य में प्रतिशत भाग इसका 1970-71 के 6.35 प्रतिशत से घटकर 1996-97 में केवल 0.87 प्रतिशत ही रह गया।

परन्तु दूसरी ओर सूती कपड़े, चमड़ा व चमड़े के समान के निर्यात मूल्य निरपेक्ष रूप से

व कुल में प्रतिशत के रूप में तीव्रता से बढ़े हैं, जो सारणी 30.2 में दिए हुए समंको से स्पष्ट है। ये परम्परागत निर्यात कहलाते हैं।

प्रमुख गैर-परम्परागत निर्यातों में वृद्धि कहीं अधिक तेजी से हुई है। खनिज लोहा, इन्जीनियरिंग वस्तुएँ, रसायन व सहयोगी पदार्थ आदि इसके उदाहरण हैं। खनिज लोहे का निर्यात मूल्य जो 1970-71 में 117 करोड़ रु. था वह 1996-97 में बढ़कर 1706 करोड़ रुपये हो गया। कुल निर्यात मूल्य में इसके प्रतिशत में गिरावट आई है। परन्तु इंजिनियरिंग वस्तुओं व रसायन व सहायक पदार्थों के निर्यात मूल्य निरपेक्ष रूप से और कुल में प्रतिशत दोनों रूप में बढ़े हैं। इस स्थिति को सारणी 30.2 से देखा जा सकता है।

निर्यातों के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि दस्तकारी के निर्यातों में वृद्धि विशेष रूप से हुई है। 1970-71 में जहाँ इस मद का कुल में प्रतिशत 4.75 था वह 1996-97 में बढ़कर 16.92 हो गया और निर्यात के निरपेक्ष मूल्य इस अवधि में 73 करोड़ रु. से बढ़कर 20110 करोड़ रु. हो गए।

कुछ मदों को छोड़कर, भारत के परम्परागत और गैर परम्परागत दोनों प्रकार के निर्यातों में वृद्धि हुई है।

निर्यातों का वर्गीकृत स्वरूप (Exports Classified) - भारत के प्रमुख निर्यातों की संरचना में हो रहे परिवर्तनों को निर्यातों के वर्गीकृत स्वरूप में और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। निर्यातों के ये वर्ग हैं - (i) कृषिगत व कृषि सहायक पदार्थ, (ii) खनिज (iii) विनिर्मित वस्तुएं (iv) खनिज ईधन व चिकनाई तथा (v) अन्य। इनको सारणी संख्या 30.3 में दिखाया गया है।

तलिका 30.3

मुख्य निर्यात वर्गीकृत रूप में

(करोड़ रुपए में)

वर्ग	1970-71	1980-81	1990-91	1996-97
1. कृषिगत व कृषि सहायक पदार्थ (Agriculture and allied Products)	487 (31.7)	2057 (30.6)	6317 19.2)	25040 (20.3)
2. खनिज(Ores & Minerals)	164 (10.7)	414 (6.2)	1497 (4.60	3185 (3.5)
3. विनिर्मित वस्तुएँ (Manufactured goods)	772 (50.3)	3747 (55.8)	23736 (72.91)	88528 (74.1)
4. खनिज ईधन व चिकनाई (Mineral fuels and Lubricants)	13 (0.80)	28 (0.40)	948 (2.91)	1832 (1.5)
5. अन्य (Others)	99 (6.5)	466 (6.9)	5 (0.17)	232
कुल	1535 (100)	6710 (100)	32553 (100)	118817 (100)

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 1997-98 पृ. 586-88

सारणी 30.3 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि कृषि तथा खनिज सम्पत्ति पर निर्भर पारम्परिक आयात 1970-71 में कुल के 42 प्रतिशत के बराबर थे किन्तु 1996-97 में इनका भाग कम होकर लगभग 20.3 प्रतिशत हो गया। इसके विरूद्ध निर्मित वस्तुओं का भाग जो 1970-71 में लगभग 50 प्रतिश था बढ़कर 1996-97 में लगभग 75 प्रतिशत हो गया। हमारे निर्यात के ढांचे में परिवर्तन का एक रुचिकर पहलू यह है कि खनिज ईधनों एवं स्नेहकों का भाग जो 1970-71 में लगभग 1 प्रतिशत था बढ़कर 1996-97 में 1.5 प्रतिशत हो गया। जाहिर है कि भारतीय निर्यात का ढांचा निर्मित वस्तुओं तथा खनिज ईधनों के पक्ष में परिवर्तित हो रहा है जिनका मिला-जुला भाग जो 1970-71 में लगभग 51 प्रतिशत था बढ़कर 1996-97 में लगभग 76.6 प्रतिशत हो गया।

30.3 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना अथवा आयाता व निर्यात की प्रमुख मदों और उनमें हुए परिवर्नों की जानकारी के पश्चात यह देखना उचित होगा कि विश्व के विभिन्न देशों अथवा विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति में, देश की योजना अवधि में, क्या परिवर्तन हुए हैं। भारत के विदेशी व्यापार की दिशा को विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के संदर्भ में देखा गया है।

30.3.1 विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र व भारत के विदेशी व्यापार की क्षेत्रीय स्थिति

जहाँ तक भारत का विश्व के विभिन्न देशों के साथ व्यापार का प्रश्न है, इसे विभिन्न देशों के निम्न समूहों अथवा क्षेत्रों के संदर्भ में समझा जा सकता है —

(अ) आर्थिक सहयोग व विकास संगठन के देश (OECD) - इसमें यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के देश जैसे फ्रांस, बेल्जियम, पूर्व फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, नीदरलैण्ड व यू. के. आते हैं, तथा उत्तरी अमेरिका के कनाडा व संयुक्त राज्य अमेरिका आते हैं, एवं एशिया व ओसनिया के आस्ट्रेलिया व जापान आते हैं।

(ब) ओपेक देश (OPEC) - इसमें ईरान, इराक, कुवैत, सऊदी अरब आदि तेल निर्यातक देश आते हैं।

(स) पूर्वी यूरोप के देश - इसमें पहले का जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक, रोमानिया, सोवियत संघ आदि आते हैं।

(द) अन्य विकासशील देशो में अफ्रीका, एशिया, लेटिन अमेरिका व कैरेबियन देश आते हैं।

(इ) शेष अन्य देश।

विश्व के विभिन्न देशों के इन सूहों के साथ भारत के विदेशी व्यापार के समंक, सारणी संख्या चार (निर्यात) व सारणी संख्या पाँच (आयात) 1970-71 व 1996-97 की अवधि के लिए दिए गए हैं। समंको के आगे कोष्ठकों में कुल का प्रतिशत दिखाया गया है।

तलिका संख्या 30.4

भारत के निर्यात व्यापार की क्षेत्रीय दिशा

(करोड़ रुपए)

	1980-81		1990-91		1996-97	
1. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन	3,126	(46.6)	17428	(53.5)	65487	(55.7)
(क) यूरोपीय आर्थिक समुदाय	1,447	(21.6)	8951	(27.5)	29352	(25.0)
(i) फ्रांस	147	(2.2)	766	(2.4)	2525	(2.2)
(ii) बेल्जियम	144	(2.2)	1259	(3.9)	3825	(3.3)
(iii) जर्मनी	385	(5.7)	2549	(7.8)	6627	(5.6)
(iv) यू.के.	395	(5.9)	2128	(6.5)	7208	(6.1)
(ख) उत्तरी अमेरिका	806	(12.0)	5077	(15.6)	24470	(20.08)
(i) कनाडा	62	(0.9)	281	(0.9)	1235	(1.1)
(ii) यू.एस.ए.	744	(11.1)	4797	(14.7)	23234	(19.8)
(ग) एशिया एवं ओशनिया	708	(10.5)	3401	(10.4)	8654	(7.4)
(i) आस्ट्रेलिया	92	(1.4)	321	(1.0)	1356	(1.2)
(ii) जापान	598	(8.9)	3039	(9.3)	7068	(6.0)
2. पैट्रोलियम निर्यातक देश	745	(11.1)	1831	(5.6)	11356	(9.7)
(i) ईरान	123	(1.8)	141	(0.4)	689	(0.6)
(ii) कुवैत	97	(1.4)	74	(0.2)	546	(0.5)
(iii) सऊदी अरब	165	(2.5)	419	(1.3)	2002	(1.7)
(iv) यू.ए.ई.	152	(2.3)		N.A.		N.A.
3. पूर्वीय यूरोप	1,486	(22.1)	5819	(17.9)	3366	(2.9)
यू.एस.एस.आर.	1,226	(18.3)	5255	(16.1)	2766	(2.4)
4. विकासशील देश	1,266	(18.9)	5465	(16.8)	31648	(26.9)
(i) एशिया	880	(13.1)	4665	(13.4)	26641	(22.7)
(ii) सार्क देश	236	(3.5)		N.A.		N.A.
(iii) अफ्रीका	345	(5.1)	668	(5.2)	3438	(2.9)
5. अन्य	65	(0.9)	2010	(6.2)	5959	(4.8)
कुल (1 से 5)	6,711	(100)	32553	(100)	117525	(100)

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 1997-98 S 90-91

30.3.2 भारत के निर्यातों की क्षेत्रीय दिशा के तथ्य

वर्ष 1980-81 से वर्ष 1996-97 की अवधि में भारत के निर्यातों की क्षेत्रीय दिशा से सम्बन्धित प्रमुख तथ्य इस प्रकार है —

(i) आर्थिक सहयोग व विकास संगठन के देशों (OECD) का भारत के निर्यातों में सर्वाधिक अंश है। वर्ष 1980-81 में इन देशों का भारत के निर्यातों में प्रतिशत (46.6) था जो 1990-91 में बढ़कर 53.5 प्रतिशत एवं 1996-97 में 55.7 प्रतिशत हो गया। एक उल्लेखनीय तथ्य इस क्षेत्र के सम्बन्ध में यह है कि इस समूह के देशों में उत्तरी अमेरिका क्षेत्र के प्रतिशत अंश में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह प्रतिशत अंश 1980-81 में 12 प्रतिशत था जो 1990-91 में बढ़कर 15.6 प्रतिशत हो गया, और इसके बाद निरन्तर बढ़ता हुआ 1996-97 में 20.8 प्रतिशत हो गया। इसका परिणाम सम्भवतः 1990-91 के पश्चात् लागू आर्थिक उदारीकरण हो सकता है।

इस समूह में, सर्वाधिक गिरावट जापान व यू.के. के अंश में आई है। जापान का प्रतिशत भाग जो 1980-81 में बढ़कर 8.9 प्रतिशत था वह 1996-97 में घटकर 6.0 प्रतिशत रह गया। यू.के. का प्रतिशत भाग भारतीय निर्यातों में वर्ष 1980-81 में 5.9 प्रतिशत था जो 1990-91 में 6.5 प्रतिशत व 1996-97 में 6.1 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार यू.के. क साथ, भारत के निर्यातों में गतिहीनता परिलक्षित होती है।

(ii) ओपेक देश के साथ भारत के निर्यात व्यापार में काफी वृद्धि हुई है। निरपेक्ष रूप में 1980-81 में इन देशों के साथ भारत का निर्यात व्यापार जो केवल 745 करोड़ था वह 1990-91 में बढ़कर 1831 एवं 1996-97 में 11365 करोड़ रुपए का हो गया। प्रतिशत अंश के रूप में, 1990-91 में जो अंश 5.6 प्रतिशत था वह 1996-97 में बढ़कर 9.7 प्रतिशत हो गया। इस समूह में, सउदी अरब के साथ निर्यात-व्यापार में सर्वाधिक वृद्धि हुई है।

(iii) पूर्वी यूरोप के देशों के साथ निर्यात व्यापार वर्ष 1980-81 में 1486 करोड़ रुपए से बढ़कर 1990-91 में 5819 करोड़ रुपए हो गया किंतु पुनः घटकर 1996-97 में 3366 करोड़ रुपए रह गया।

इस समूह के देशों के साथ निर्यात व्यापार के घटने की यह प्रवृत्ति इन देशों के प्रतिशत अनुपात में बहुत अधिक तीव्र रही है। वर्ष 1980-81 में इन देशों के साथ निर्यात व्यापार का जो प्रतिशत 22.1 था वह 1996-97 में घटकर केवल 2.9 प्रतिशत रह गया। इस समूह के देशों में प्रमुख देश सोवियत रूस है। इस देश का विघटन निर्यात की इस गिरावट की प्रवृत्ति के लिए मूलतः उत्तरदायी है।

(iv) विकासशील देशों के साथ भारत के निर्यात व्यापार में निरपेक्ष व प्रतिशत दोनों रूपों में काफी वृद्धि हुई है। वर्ष 1980-81 में इन देशों के साथ निर्यात व्यापार 1266 करोड़ रु. मूल्य का था, जो 1990-91 में बढ़कर 5465 करोड़ रुपए और 1996-97 में और अधिक बढ़कर 31648 करोड़ रु. हो गया। इस वृद्धि को आशातीत वृद्धि कहा जा सकता है। प्रतिशत के रूप में वर्ष 1980-81 के 19.2 प्रतिशत के स्थान पर वर्ष 1996-97 में यह प्रतिशत बढ़कर 26.9 हो गया। इसका कारण विकासशील देशों में परस्पर बढ़ता हुआ आर्थिक व व्यापारिक सहयोग हो सकता है, और भारत के अफ्रीका व एशिया के देशों के साथ बढ़ते हुए व्यापारिक व राजनैतिक सम्बन्ध भी इसके लिए उत्तरदायी हो सकते हैं।

(v) विश्व के अन्य देशों के साथ भारत का निर्यात व्यापार, वर्ष 1980-81 में 68 करोड़ रु. मूल्य का हुआ जो 1990-91 में बढ़कर 2010 करोड़ रु. और 1996-97 में 5959 करोड़ रु. के स्तर पर पहुँच गया। इन अवधियों में कुल निर्यातों में इस समूह के देशों का प्रतिशत क्रमशः 1, 6.2 व 4.8 रहा।

30.3.3 भारत के आयातों की क्षेत्रीय दिशा के तथ्य

तलिका 30.5

भारत के आयात व्यापार की क्षेत्रीय दिशा

(करोड़ रुपए)

	1980-81		1990-91		1996-97	
1. आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन	5,747	(45.8)	23310	(54.0)	67385	(49.2)
(क) यूरोपीय आर्थिक समुदाय	2,639	(21.0)	12680	(29.4)	34983	(25.6)
(i) फ्रांस	280	(2.2)	2718	(6.3)	8614	(6.3)
(ii) बेल्जियम	296	(2.4)	1304	(3.0)	2694	(2.0)
(iii) जर्मनी	694	(5.5)	3473	(8.0)	9811	(7.2)
(iv) यू.के.	731	(5.8)	2894	(6.7)	74.2	(5.4)
(ख) उत्तरी अमेरिका	1,851	(14.8)	5804	(13.4)	13080	(9.6)
(i) कनाडा	332	(2.6)	559	(1.3)	1102	(0.8)
(ii) यू.एस.ए.	1,519	(12.1)	5245	(12.1)	11977	(8.8)
(ग) एशिया एवं ओशनिया	932	(7.4)	4826	(11.2)	12042	(9.1)
(i) आस्ट्रेलिया	170	(1.4)	1464	(3.4)	4361	(3.2)
(ii) जापान	749	(6.0)	3245	(7.5)	7785	(5.7)
2. पैट्रोलियम निर्यातक देश	3490	(27.8)	7041	(16.3)	36188	(26.4)
(i) ईरान	1,339	(10.7)	1018	(2.4)	3090	(2.3)
(ii) कुवैत	338	(2.7)	363	(0.8)	8474	(6.2)
(iii) सऊदी अरब	540	(4.3)	2899	(6.7)	9931	(7.3)
(iv) यू.ए.ई.	350	(2.8)	.	N.A.		N.A.
3. पूर्वीय यूरोप	1,296	(10.3)	3377	(7.8)	3257	(2.4)
यू.एस.एस.आर.	1,014	(8.1)	2548	(5.9)	2230	(1.6)
4. विकासशील देश	1,971	(15.7)	7965	(18.4)	23175	(16.9)
(i) एशिया	1,428	(11.4)	6033	(14.0)	18119	(13.2)
(ii) सार्क देश	140	(1.1)		N.A.		N.A.
(iii) अफ्रीका	204	(1.6)	959	(2.2)	3272	(2.4)
5. अन्य	45	(0.4)	1505	(3.5)	6840	(5.0)
कुल (1 से 5)	12,549	(100)	19658	(100)	136844	(100)

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण 1997-98 S 91

सारणी 30.5 के अनुसार भारत के प्रमुख आयातों की क्षेत्रीय दिशा के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार है —

(i) आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (OECD) के देशों के साथ भारत को आयात व्यापार का निरपेक्ष रूप से, काफी विस्तार हुआ है, जैसे 1990-91 में भारत के इन देशों से आयात केवल 5747 करोड़ रु. मूल्य के थे, जो 1990-91 में बढ़कर 23310 करोड़ रु. और 1996-97 में 67385 करोड़ रु. हो गए। परन्तु इन देशों का कुल आयातों में जो प्रतिशत 1980-81 में 45.7 प्रतिशत था वह यद्यपि 1990-91 में बढ़कर 54 प्रतिशत हो गया था, लेकिन पुनः घटकर 1996-97 में 49.2 प्रतिशत ही रह गया।

इस समूह के देशों में फ्रांस, बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, नीदरलैण्ड, यू.के. आदि यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों का 1980-81 में कुल आयातों में जो प्रतिशत 21.0 था वह 1990-91 में बढ़कर 29.4 प्रतिशत पर पहुँच गया परन्तु पुनः घटकर 1996-97 में 25.6 प्रतिशत रह गया। इस समूह के देशों में जापान के आयातों के कुल प्रतिशत में 1980-81 के 6.0 प्रतिशत की तुलना में 1996-97 में इस अवधि में 0.3 प्रतिशत की मामूली गिरावट हुई है अर्थात् इस वर्ष यह प्रतिशत 5.7 प्रतिशत रहा परन्तु इसी अवधि में इस समुदाय के दूसरे देश आस्ट्रेलिया का प्रतिशत 1.6 प्रतिशत से बढ़कर ठीक दुगना (3.2) प्रतिशत हो गया।

(ii) ओपेक देशों से भारत के आयातों में विश्व के अन्य आर्थिक क्षेत्रों की तुलना में निरपेक्ष व प्रतिशत दोनों ही रूपों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। वर्ष 1980-81 में इन देशों से आयात जहाँ मात्र 52 करोड़ रु. का था, वहाँ बढ़कर 1990-91 में यह 7041 करोड़ रु. और 1996-97 में 36188 करोड़ रु. हो गया। कुल आयातों में इन देशों का इस अविध में प्रतिशत 4.6 प्रतिशत से बढ़कर 26.4 प्रतिशत हो गया। इसका कारण मुख्यतः पैट्रोल व पैट्रोलियम पदार्थों की बढ़ती हुई मांग है।

(iii) पूर्वी यूरोप के देशों से आयात बढ़े हैं। 1980-81 में इन देशों से भारत ने 38 करोड़ रु. मूल्य के आयात किए जो 1996-97 में बढ़कर 3257 करोड़ रुपए मूल्य के हो गए, पर कुल आयातों में इन देशों का प्रतिशत इस अवधि में 3.4 से घटकर 2.4 प्रतिशत रह गया, इन देशों के साथ निर्यात व्यापार के प्रतिशत अंश में भी गिरावट रही। आयात व निर्यात दोनों के प्रतिशत अंश में गिरावट का मुख्य कारण रूस का विघटन है।

(iv) अन्य विकासशील देशों के साथ निर्यात-व्यापार की भाँति आयात-व्यापार में भी काफी वृद्धि हुई है। 1980-81 में कुल आयातों में इनका प्रतिशत जो 11.8 था वह 1996-97 में बढ़कर 16.9 हो गया। जैसा कि बताया जा चुका है, निर्यात व आयात व्यापार का इन देशों के साथ विस्तार का मुख्य कारण भारत के अन्य विकासशील देशों के साथ बढ़ते हुए मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं।

30.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में भारत के विदेशी व्यापार की संरचना व दिशा के क्षेत्रीय पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। विदेशी व्यापार की संरचना के अन्तर्गत आयात और निर्यात व्यापार की संरचना को अलग-अलग प्रस्तुत करते हुए, इनसे उभरे तथ्यों की समीक्षा की गई है।

विदेशी व्यापार की संरचना सम्बन्धी तथ्यों से स्पष्ट है कि व्यापार का जो औपनिवेशिक स्वरूप 1951 तक चला आ रहा था, उसमें आमूल-चूल परिवर्तन आया है। अब भारत प्रमुखतः कच्चे माल तथा खाद्य-वस्तुओं का निर्यातक और विनिर्मित माल का आयातक मात्र नहीं रह गया है। स्थिति बहुत कुछ बदल गई है। यही नहीं विनिर्मित माल का आयात बहुत घट गया है, बल्कि हम इसका काफी बड़ी मात्रा में निर्यात करने लगे हैं। इसके अतिरिक्त आयात और निर्यात के परिवर्तन भारत में हो रही औद्योगिक प्रगति को दर्शाते हैं, और ये परिवर्तन यह भी इंगित करते हैं कि

पूँजीगत माल औद्योगिक कच्चे माल का आयात का, भारत अपने विकास कार्यों में उपयोग कर रहा है।

विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं —

(i) अब ब्रिटेन भारत का मुख्य आयातक अथवा निर्यातक नहीं रह गया है और इसलिए अब भारत की इस पर आश्रित रहने की स्थिति और व्यापार का औपनिवेशिक रूप जाता रहा है।

(ii) भारत के व्यापार की दिशा में परिवर्तन आया है। विशेष रूप से अब अमरीका, जर्मनी, जापान आदि जैसे विकसित देशों का भारत के लिए काफी महत्व हो गया है।

(iii) भारत के व्यापार में समाजवादी देशों का एक गुट के रूप में उदय हुआ लेकिन रूस में उथल-पुथल के कारण 1990-91 से इनका प्रतिशत भाग काफी गिर गया है।

(iv) इधर कुछ समय से विकासशील देशों के साथ व्यापार काफी तेजी से बढ़ा है और इसके लिए सम्भावनाएं भी काफी अधिक हैं।

परन्तु दक्षिण-पूर्व ऐशिया के पड़ोसी देशों, मध्यपूर्व, पूर्वी अफ्रीका तथा कुछ अन्य देशों के साथ हमारे व्यापार-सम्बन्ध अभी कमजोर तथा बहुत कुछ उपेक्षित हैं। इस दिशा में अथवा इस क्षेत्र में व्यापार-वृद्धि की बहुत संभावनाएँ हैं। भारत को इन संभावनाओं का लाभ उठाना चाहिए।

30.5 शब्दावली

1. आयात संरचना (Composition of Imports)
2. निर्यात संरचना (Composition of Exports)
3. विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of Foreign Trade)
4. आर्थिक सहयोग व विकास संगठन के देश (OECD)
5. तेल निर्यातक देशों का संगठन (OPEC)
6. यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश (EEC)

30.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. रुद्र दत्त, के.पी.एम. सुन्दरम - भारतीय अर्थव्यवस्था अध्याय 38
2. ए.एन. अग्रवाल - भारतीय अर्थव्यवस्था अध्याय 39
3. आर्थिक सर्वेक्षण - 1997-98
4. भारतीय रिजर्व बैंक बुलेटिन
5. रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया, मुद्रा एवं वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट

30.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के निर्यात व्यापार की संरचना व दिशा की प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए।
2. भारत के आयात व्यापार की संरचना व दिशा का मूल्यांकन कीजिए।

3. ओपेक देशों के साथ भारत के आयात व निर्यात व्यापार में 1970 के दशक से अब तक क्या परिवर्तन आये हैं? इनकी समीक्षा कीजिए।

4. विश्व के अन्य विकासशील देशों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —

(i) भारत के आयाात व निर्यात की प्रमुख मदें।

(ii) भारत के परम्परागत व गैर परम्परागत निर्यात।

(iii) विश्व के प्रमुख आर्थिक समुदाय या क्षेत्र।

(iv) आयात की भारी मदें (अम्बारी) और गैर भारी मदें (गैर-अम्बारी मदें)

(v) व्यापार का बढ़ता घाटा।

इकाई 31

विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत का विदेशी व्यापार

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य

31.1 प्रस्तावना

31.2 विश्व व्यापार के महत्वपूर्ण आर्थिक क्षेत्र

31.3 भारतीय विदेशी व्यापार के विश्व में प्रमुख आर्थिक क्षेत्र

31.3.1 व्यापार की नवीनतम प्रवृत्तियाँ

31.4 विश्व के प्रमुख क्षेत्रों के साथ भारतीय व्यापार की संरचना

31.4.1 क्षेत्रानुसार निर्यात की संरचना

31.4.2 क्षेत्रानुसार आयात की संरचना

31.5 सारांश

31.6 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

31.7 निबन्धात्मक प्रश्न

31.0 उद्देश्य

भारत जैसे विकासशील देशों की प्रमुख समस्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इनकी गिरती भागीदारी है। इसका मुख्य कारण विकसित देशों द्वारा पारस्परिक व्यापार को बढ़ावा देना है। दूसरी ओर विकासशील देश अपने निर्यातों को बढ़ावा देने के लिए आपस में प्रतियोगिता करते हैं जिनसे इन्हें हानि होती है। इसे क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग से हल किया जा सकता है। वास्तव में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग एक व्यापक शब्द हैं जिसके अन्दर ऐसे समस्त उपाय सम्मिलित होते हैं जिनसे उस क्षेत्र विशेष के सभी देशों का आर्थिक विकास होता है। इन देशों में उदार व्यापार, क्षेत्रीय मुद्रा का प्रयोग, उत्पादन के क्षेत्र में सहयोग होता है। क्षेत्रीय व्यापार तथा भुगतान व्यवस्था मुख्य रूप से पश्चिमी यूरोप में ही लाभप्रद सिद्ध हुई है। क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के परिणाम स्वरूप यूरोपीय देशों में विभिन्न संगठन बन गए हैं। इस इकाई में ऐसे विभिन्न क्षेत्रीय संगठनों के साथ भारत के विदेशी व्यापार पर संक्षेप में चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- जान जाएंगें कि विश्व में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के विभिन्न रूप कौन से हैं?
- इन विभिन्न क्षेत्रीय संगठनों के साथ भारत के विदेशी व्यापार में क्या परिवर्तन हो रहे हैं?
- भारत के व्यापार की संरचना में विभिन्न क्षेत्रों को कौन सी वस्तुएं निर्यात की जाती है व कौन सी वस्तुएं आयात होती है?

31.1 प्रस्तावना

यदि विश्व के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करना हो तो विश्व स्तर पर आर्थिक सहयोग होना

चाहिए, परन्तु यह एक आदर्श स्थिति है। इसके अभाव में विश्व के कुछ देश जिनके सामान्य हित मिलते जुलते हो और जिनकी आर्थिक अवस्था लगभग एक जैसी हो मिलकर क्षेत्रीय सहयोग का युग प्रारम्भ कर आर्थिक विकास को गति दे सकते हैं। भौगोलिक निकटता सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक कारणों से ऐसे क्षेत्रीय संगठन विकासशील देशों की विकसित देशों पर निर्भरता कम कर सकते हैं। इससे इन देशों के बीच प्राथमिकता के आधार पर व्यापार प्रारम्भ होगा व्यापार पर लगे प्रतिबन्ध शिथिल होंगे, व्यापार पर लगे प्रतिबंध कम होंगे जिससे इन देशों में व्यापार बढ़ेगा।

व्यापारिक उदारीकरण सम्बन्धी उपायों के अतिरिक्त क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग में सम्बन्धित राष्ट्रों में विनियोग, उत्पादन एवं रोजगार का विस्तार होगा। इस प्रकार के समन्वय के साथ पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए सदस्य राष्ट्रों के मध्य आपसी क्षेत्रीय सहयोग के समझौते आवश्यक हैं जिसके अन्तर्गत वे एक दूसरे के पदार्थ स्वतंत्रतापूर्वक खरीद सके। इससे व्यापार में आने वाली वस्तुओं की उत्पादन लागत में कमी आएगी। इसके साथ ही इन देशों में तकनीकी सहयोग भी होना चाहिए। सहयोगी राष्ट्र के बीच सहयोग का उदाहरण लेटिन अमेरिकन स्वतंत्र व्यापार संघ (LAFTA) है। इसकी स्थापना 1961 में हुई। 1967 में पूर्वी अफ्रीकी समुदाय (EAC) बना। एशिया में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के रूप में इकेफे, एशियाई विकास बैंक प्रमुख है। विकसित देशों के प्रमुख संगठन में आर्थिक सहयोग व विकास संगठन के देश है। इसके अतिरिक्त तेल निर्यातक देशों का संगठन (OPEC) प्रमुख है। एक देश का विदेशी व्यापार उसके आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करता है तीव्र आर्थिक विकास से देश के आयात निर्यात बढ़ते है। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आय में विदेशी व्यापार का भाग बढ़ जाता है। निर्यातों की वृद्धि के फलस्वरूप बाजारों का विस्तार होता है। और देश के घरेलू संसाधनों का लाभदायक उपयोग होने लगता है। अतः आर्थिक विकास की गति तीव्र होती है। इसी प्रकार बढ़ते हुए आयातों से देश में पूँजीगत वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि होती है जिससे विकास को गति मिलती है।

नियोजन काल से पूर्व भारत का विदेशी व्यापार इसकी अर्थव्यवस्था का छोटा सा भाग था। नियोजन काल में विदेशी व्यापार के विस्तार के लिए अनेक योजनाएं बनाई गई। आयात व निर्यात के स्पष्ट उद्देश्य व लक्ष्य निर्धारित किए गए, जिनकी प्राप्ति के लिए कार्यक्रम व नीतियां निर्धारित की गयी। किन्तु नियोजित आर्थिक विकास के प्रारम्भ से ही विदेशी व्यापार में आयातों का प्रभुत्व बना हुआ है। निर्यातों की वृद्धि आयातों से सदैव पिछड़ती रही है। परिणाम स्वरूप हमारे विदेशी व्यापार में घाटा बना रहा है।

वर्तमान में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिदृश्य में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। आज विश्व व्यापार के क्षेत्र में विभिन्न देशों ने अनेक प्रकार के आर्थिक एकीकरण अपनाते हुए आर्थिक क्षेत्र (Economic Regions) बना लिए हैं। अतः वर्तमान विश्व व्यापार विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों और एक क्षेत्र के अर्न्तगत विभिन्न देशों के अर्न्तगत एक वास्तविकता बन गया है। यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) ने 1992 में पूर्णतः एकीकृत आन्तरिक साझा बाजार की रचना कर डाली है। संयुक्त राज्य अमेरिका व कनाडा ने संयुक्त रूप से 1987 में स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र (F.T.A) बना लिया जिसमें मैक्सिको को भी सम्मिलित करने का विचार विनिमय चल रहा है। ऐशिया में 'ऐशियान' क्षेत्रीय संगठन प्रमुख है जिसका विस्तार किया जा रहा है। इसी प्रकार 'दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ' (दक्षेश) आदि आर्थिक क्षेत्रों का उदय विश्व व्यापार में बहुपक्षीय व्यापार के सुस्थापित विचार व धारणा के लिए एक चुनौती बन गया है। अतः विश्व में बनाये गये आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारतीय विदेशी व्यापार की प्रवृतियों और वर्तमान स्थित का विशलेषण महत्वपूर्ण है।

31.2 विश्व व्यापार के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र

विश्व के अधिकांश देशों ने अपने व्यापार विकास, आर्थिक समृद्धि की निरन्तर प्रगति दर को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से विभिन्न मात्राओं में आर्थिक एकीकरण [Economi cint egration] अपनाते हुए विभिन्न मात्राओं में आर्थिक क्षेत्र स्थापित किये

(1) **आर्थिक संघ (Economic Union)** यह कुछ देशों के समूह के मध्य पूर्ण एकीकरण का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे क्षेत्र में न केवल वस्तुओं व सेवाओं का बल्कि साधनों का संयुक्त रूप से अवागमन होता है। जैसे- यूरोपीय साझा बाजार (E.C.M.) तथा इससे प्रेरित 1975 में बनाया गया 'एशियान' क्षेत्र, जिसके सदस्य मलेशिया, सिंगापुर, इण्डोनेशिया व फिलीपीन्स आदि देश है।

(2) **सीमा संघ (Custom Union)** इस प्रकार के आर्थिक क्षेत्र में एकीकरण केवल सदस्य देशों के मध्य सीमा शुल्क बाधाओं के उन्मूलन और गैर सदस्य देशों के साथ समान सीमा शुल्क अपनाने तक सीमित रहता है जैसे प्रस्तावित मध्य अमेरिकी साझा बाजार

(3) **स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area)** इस प्रकार के आर्थिक क्षेत्र में सदस्य देश परस्पर व्यापार की तटकर बाधाओं का उन्मूलन कर देते हैं। किन्तु गैर सदस्य देशों के साथ राष्ट्रीय तटकर नीति अपनाने के लिए स्वतंत्र होते हैं। जैसे यूरोपीय स्वतंत्र संघ (E.F.T.A) 1959 इसका प्रमुख उदाहरण है।

(4) **आंशिक एकीकरण या मुक्त क्षेत्र** स्वचालन उद्योग (Automobile) के क्षेत्र में अमेरिका व कनाडा के मध्य स्वतंत्र व्यापार समझौता (F.T.A.) इसका प्रमुख उदाहरण है।

(5) **द्विपक्षीय व्यापार समझौता क्षेत्र** - ये समझौते दो या कुछ देशों के मध्य परस्पर व्यापार वृद्धि हेतु किये गये समझौते हैं। जैसे भारत व रूस के मध्य रुपये-भुगतान समझौता।

(6) **दक्षिण ऐशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (SAARC)** दक्षेस की स्थापना भारत, बंगला देश, श्रीलंका, मालदीव, भूटान, नेपाल एवं पाकिस्तान सात देशों ने 1985 में सदस्य देशों के मध्य व्यापार, आर्थिक व सांस्कृतिक सहयोग के उद्देश्य से की है।

31.3 भारतीय विदेशी व्यापार के विश्व में प्रमुख आर्थिक क्षेत्र -

स्वतंत्रता के पश्चात भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा, संरचना व दिशा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। व्यापार की मात्रा में जहाँ आयात व निर्यात दोनों में ही कई गुना वृद्धि हुई। वहाँ आयात व निर्यात के ढाँचे में भी व्यापक परिवर्तन हुआ है। आयात में अनेक वस्तुओं विशेषतः पूँजीगत सामान की वृद्धि हुई है। तो निर्यात के ढाँचे में अनेक परम्परागत वस्तुएं जैसे इन्जीनियरिंग वस्तुएं आभूषण, हस्तकला की वस्तुएं व तैयार कपड़ों का निर्यात हमारे कुल निर्यात व्यापार में निरन्तर अपना भाग बढ़ाते जा रहे हैं। इसी प्रकार आयात व निर्यात व्यापार की दिशा में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। आज पूरा विश्व भारत का बाजार बन गया है। विश्व के अधिकांश देश हमारे ग्राहक बन गए हैं। तथा विश्व के अनेक नीवन देशों या क्षेत्रों से हमारे आयात होने लगे है हमारे विदेशी व्यापार की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह उभरी है कि सभी देशों व क्षेत्रों से हमारे निर्यात व आयात निरन्तर परिवर्तनशील रहे हैं। जिसका प्रमुख कारण क्षेत्रीय बाजारों का प्रार्दुभाव है अतः भारत के विदेशी व्यापार की दृष्टि से प्रमुख आर्थिक क्षेत्र जिसके साथ हमारा विदेशी व्यापार सम्पन्न होता है इस प्रकार है —

(1) **आर्थिक सहयोग एवं विकासार्थ संगठन (OECD)** – इस संगठन में मुख्यतः तीन क्षेत्रों के देश शामिल हैं —

(क) यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश — इसके पाँच देश शामिल होते हैं - बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, नीदरलैंड, तथा इंग्लैण्ड।

(ख) उत्तरी अमेरिका के देश — इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा शामिल है।

(ग) ऐशिया और भूमध्य सागर के देश — इस समूह में आस्ट्रेलिया एवं जापान शामिल हैं।

(2) **तेल निर्यातक देश (OPEC)** - इनमें मुख्यतः ईरान, कुवैत और सऊदी अरब व ईराक शामिल है, जिनके साथ भारत का प्रमुख रूप से व्यापार है।

(3) **पूर्वी यूरोप के देश** - इनमें रूमानियां व पूर्वी जर्मनी थे किन्तु वर्तमान में जर्मनी का एकीकरण हो जाने के बाद पूर्वी जर्मनी का अस्तित्व समाप्त हो गया है।

(4) **विकासशील देश (Developing Countries)** - इनमें मुख्यतः एशिया व अफ्रीका महाद्वीप के देश तथा लेटिन अमेरिका व कैरेबियन विकास शील देशों का समावेश किया जाता है। किन्तु तेल निर्यातक देश पृथक कर दिए जाते हैं।

तालिका 31.1

विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार

नियोजन काल में विशेषतः चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के विदेशी व्यापार की दिशा में भारी परिवर्तन हुआ है जिसका एक समग्र निम्न तालिका से स्पष्ट है।

क्र.सं.	आर्थिक क्षेत्र	वर्ष	आयात करोड़ रु.	निर्यात करोड रु.	व्यापार शेष (क.) रु.	कुल आयात में % भाग	कुल निर्यात में % भाग
1.	ओ.ई.सी.डी.	1970-71	1042	769	-273	63.8	50.1
		1986-87	12965	7004	-5961	64.2	56.2
		1990-91	23310	17428	-5882	-54.0	53.5
2.	यूरोपीय अर्थिक	1970-71	320	282	-38	19.6	18.4
	समुदाय	1986-87	6542	2736	-3806	32.4	22.0
		1990-91	12680	8951	-3729	29.4	27.5
3.	बेल्जियम	1970-71	12	20	+9	0.7	1.3
		1986-87	1090	343	-747	5.4	2.8
		1990-91	2718	1259	-1459	6.3	3.9
4.	फ्रांस	1970-71	21	18	-3	1.3	1.2
		1986-87	670	271	-398	3.2	2,2
		1990-91	1304	766	-1459	3.0	2.4
5.	प. जर्मनी	1970-71	108	32	-76	6.6	2.1
		1986-87	1938	733	-1205	9.6	5.9
		1990-91	3473	2549	-924	8.0	7.8
6.	इग्लैण्ड	1970-71	127	170	+44	7.8	11.0
		1986-87	1623	700	-923.	8.0	5.6
		1990-91	2894	2128	-766	6.7	6.5
7.	उत्तरी अमेरिकी देश	1970-71	117	28	-89	7.2	1.8
	(कनाडा)	1986-87	380	137	-243	1.9	1.1
		1990-91	559	281	-278	1.3	0.9

क्र.सं.	आर्थिक क्षेत्र	वर्ष	आयात करोड़ रु.	निर्यात करोड रु.	व्यापार शेष (क.) रु.	कुल आयात में % भाग	कुल निर्यात में % भाग
8.	संयुक्त राज्य अमेरिका	1970-71	543	207	-246	27.7	13.5
		1986-87	1961	2332	+371	9.7	18.7
		1990-91	5245	4797	-448	12.1	14.7
9.	ऐशिया व भूमध्य सागरीय देश आस्ट्रेलिया	1970-71	37	24	-12	2.2	1.6
		1986-87	431	146	-285	2.1	1.2
		1990-91	1664	321	-1143	3.4	1.0
10.	जापान	1970-71	83	203	+120	5.1	13.3
		1986-87	2559	1334	-1225	12.7	10.7
		1990-91	3245	3039	-206	7.5	9.3
11.	तेल निर्यातक देश (ईरान, ईराक, कुवैत सऊदी अरब)	1970-71	125	99	-27	7.7	6.4
		1986-87	1950	774	-1176	9.7	6.2
		1990-91	7041	1831	-5210	16.3	5.6
12.	पूर्वी यूरोपीय देश	1970-71	220	323	+103	13.5	21.0
		1986.87	1552	2389	837	7.7	19.2
		1990-91	3337	5819	2442	7.8	17.9
13.	सोवियत रूस	1970-71	106	210	104	6.5	13.5
		1986-87	1015	1867	852	5.0	15.0
		1990-91	2548	5255	2707	5.9	16.1
14.	विकासशील देश* (एशिया, अफ्रीका, लैटिन, अतेरिका)	1970-71	239	305	+66	14.6	13.8
		1986-87	3733	1871	-1869	16.5	15.0
		1990-91	7985	5465	-2500	18.4	16.8
15.	ऐशिया	1970-71	54	166	+42	3.3	10.8
		1986-87	2460	1563	-848	12.2	12.6
		1990-91	6033	4665	-1368	14.0	14.3

Source : Statistical outline of India 1985-86 to 1993-94 TATA Services Ltd.

* तेल निर्यातक देशों को पृथक रखते हुए एशिया, अफ्रीका, लेटिन अतेरिका के देश शामिल हैं।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत के विदेशी व्यापार में सर्वाधिक भागीदारी आर्थिक सहयोग एवं विकासशील संगठन (OECD) वाले देशों की है। इस क्षेत्र को हमारे कुल निर्यातों का 53.5 प्रतिशत भाग तथा कुल आयातों का 54 प्रतिशत भाग 1990-91 में था किन्तु इन देशों के साथ व्यापार घाटा निर्यातों से आयातों की अधिकता ही रही है। इन देशों में आस्ट्रेलिया के साथ अधिक व्यापार घाटा रहा है। इन देशों की मात्रा की दृष्टि से हमारे विदेशी व्यापार में दूसरा स्थान यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के देशों का है। इस क्षेत्र को हमारे कुल आयात व निर्यात का प्रतिशत भाग 1991 में क्रमशः 19.6 व 18.4 था। 1970-71 से 1990-91 के मध्य तेल निर्यातक देशों (OPEC) का भाग हमारे नियति व्यापार में घटा जबकि आयात व्यापार में इनका प्रतिशत भाग तेजी से बढ़ गया। इसका मुख्य कारण खाड़ी के देशों द्वारा तेल कीमतों में वृद्धि और खाड़ी युद्ध का प्रभाव था। यही कारण है कि इन देशों से व्यापार घाटा 1971 में 27 करोड़ से बढ़कर 1991 में 5200 करोड़ रु. का हो गया।

उत्तरी अमेरिका क्षेत्र में केवल संयुक्त राज्य व कनाडा आते हैं और इसमें परस्पर विदेशी

व्यापार संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ विशेषतः उल्लेखनीय है। 1986-87 में हमारे विदेशी व्यापार में अमेरिका के साथ अतिरेक था। 1990-91 में पुनः व्यापार घाटा हुआ तथापि यह एक ऐसा अकेला देश है। जिसके साथ हमारे आयात व निर्यात दोनों का ही प्रतिशत भाग सर्वाधिक बना हुआ है। 1990-91 में संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ हमारे आयात व निर्यात का प्रतिशत भाग क्रमशः 12.1 तथा 14.7 था। यह भाग जैसा कि आगामी तालिका से स्पष्ट है। 1995-96 में क्रमशः 11.1 तथा 18.5 प्रतिशत हो गया। किन्तु पूर्वी यूरोपीय क्षेत्र में सोवियत रूस के साथ हमारे विदेशी व्यापार सदैव अतिरेक पूर्ण रहा है जिसका मुख्य कारण रुपए भुगतान समझौते है। विकासशील देशों में (तेल निर्यातिक देशों को पृथक रखकर) ऐशियाई देशों के साथ हमारा विदेशी व्यापार उल्लेखनीय है। दक्षेस (SAARC)) देशों के साथ हमारा व्यापार शनैः-शनैः बढ़ रहा है और अतिरेक पूर्ण है।

31.3.1 व्यापार की नवीनतम् प्रवृत्तियां

विश्व के प्रमुख क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की नवीनतम प्रवृत्ति की दो प्रमुख विशेषतायें उभरी हैं —

(क) विकसित देशों के साथ हमारे आयात व निर्यात का प्रतिशत भाग घटा है। विकासशील देशों के साथ आयात व निर्यात के प्रतिशत भाग में वृद्धि हुई है।

(ख) ऐशियाई देशों में कुछ चुने हुए पूर्वी ऐशियाई देशों में हमारा विदेशी व्यापार निरन्तरता से बढ़ रहा है। ये दोनों नवीनतम प्रर्वतियाँ विदेशी व्यापार में कुछ चुने हुए क्षेत्रों के साथ आयात व निर्यात के प्रतिशत भाग से स्पष्ट है। जो कि निम्न तालिका में प्रदर्शित है —

तालिका 31.2

भारत के विदेशी व्यापार की नवीनतम प्रवृतियां

(प्रतिशत भाग)

क्र.स.	क्षेत्र/देश	निर्यात		आयात	
		1991-92	1995-96	1991-92	1995-96
1.	वेल्जियम	6.4	6.5	5.4	5.1
2.	जर्मनी	6.6	6.5	7.6	8.6
3.	अन्य यूरोपीय आर्थिक समुदाय देश	13.6	13.9	11.8	12.2
4.	संयुक्त राज्य अमेरिका	19.1	18.5	10.0	11.1
5.	जापान	7.7	6.7	7.3	7.6
6.	रूस	3.1	3.4	1.3	2.5
7.	अन्य पूर्वी यूरोप के देश	0.5	0.6	0.6	0.8
8.	तेल निर्यातक देश (OPEC)	9.2	8.9	21.1	20.6
9.	अन्य विकास सील देश	23.2	25.0	19.9	18.7
10.	अन्य देश	9.8	10.2	14.6	12.7
	योग	100	100	100	100

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण : 1995-96 भारत सरकार

उपयुक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1994-95 में विकासशील देशों के साथ हमारा निर्यात व्यापार 23.2% से बढ़कर 1995-96 में 25% हो गया जबकि अमेरिका, जापान के साथ निर्यात व्यापार का प्रतिशत भाग घटा है। इसके विपरीत अल्पविकसित देशों के साथ आयातों का प्रतिशत बढ़ा है यह 1994-95 में 19.9 प्रतिशत से घटकर 1995-96 में 18.7 प्रतिशत रह गया। जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका व जर्मनी से होने वाले आयातों का प्रतिशत भाग इसी अवधि में क्रमशः 10.1 से 11.1 तथा 7.6 से 8.6 प्रतिशत हो गया।

तालिका 31.3

पूर्वी ऐशियाई देशों के साथ विदेशी व्यापार

प्रतिशत भाग

क्र.स.	देश	निर्यात		आयात	
		1991-92	1995-96	1991-92	1995-96
1.	इण्डोनेशिया	0.8	1.6	0.3	1.2
2.	मलेशिया	1.1	1.2	2.0	2.6
3.	हाँगकाँग	3.4	6.0	0.6	1.0
4.	दक्षिण कोरिया	1.4	1.3	1.7	2.1
5.	सिंगापुर	2.2	2.6	3.6	3.2
6.	थाई देश	1.1	1.5	0.3	0.5
7.	चीन	1.0	1.0	1.5	1.0
	योग	11.1	15.0	9.9	11.7

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण : 1995-96 भारत सरकार

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पूर्वी ऐशिया के चुने हुए देशों के साथ हमारे निर्यात व आयात दोनों में ही आठवीं योजना अवधि में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इन देशों के साथ हमारे कुल निर्यात का प्रतिशत भाग 1991-92 में 11 से बढ़कर 1995-96 में 15 प्रतिशत हो गया जबकि कुल आयात का प्रतिशत भाग 9.9 से बढ़कर 11.7 हो गया इसका मुख्य कारण मार्च 1992 में घोषित की गयी (1992-97) की आयात व निर्यात नीति है। निर्यातों को प्रोत्साहित करते हुऐ आवश्यक उत्पादक साधनों के आयातों को अधिक सुविधाजनक बनाया गया है। इस प्रकार भारतीय अर्थ व्यवस्था का भूमण्डलीकरण (globalisation) की ओर उन्मुख रही है।

31.4 विश्व के प्रमुख क्षेत्रों के साथ भारत के व्यापार की संरचना

भारत के आयात व निर्यात दोनों के ढाँचें में नियोजन काल में भारी परिवर्तन हुआ है। आयात व निर्यात दोनों ही व्यापारों में अनेक नवीन वस्तु में शामिल हो गयी है। इस प्रकार भारत के विदेशी व्यापार विविधीकरण की दिशा में तीव्र गति से अग्रसर हुआ है। यहाँ परं क्षेत्रानुसार आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुओं का उल्लेख वांछनीय है।

31.4.1 क्षेत्रानुसार निर्यात की संरचना

नियोजन काल के प्रारंभ में विशेषतः चतुर्थ योजना के अन्त तक भारत के निर्यात व्यापार का ढाँचा परम्परागत रहा जिसमें कृषि वस्तुएं कच्चा माल और उपभोक्ता वस्तुओं की प्रधानता थी किन्तु वर्तमान में हमारे निर्यातों में अनेक नवीन वस्तुएं शामिल हो गयी हैं। विश्व के प्रमुख क्षेत्रों में निर्यात की मदें इस प्रकार है —

IAEC-05027A

(1) **चाय-** यह हमारे निर्यात की प्रमुख परम्परागत वस्तु है। विश्व के कुल चाय का उत्पादन का 50 प्रतिशत भाग भारत में होता है जिसका दो तिहाई भाग निर्यात कर दिया जाता है। चाय का निर्यात मुख्यतः यूरोपीय समुदाय के देश-इंग्लैण्ड, जर्मनी को होता है। इसके अतिरिक्त रूस, अफगानिस्तान, संयुक्त अरब गणराज्य, कनाडा व आस्ट्रेलिया को चाय का निर्यात उल्लेखनीय है। 1994-95 में चाय का कुल निर्यात मूल्य 3107 करोड़ रुपए था।

(2) **जूट का सामान-** यह भी हमारे निर्यात बाजार की प्रमुख वस्तु है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, इग्लैण्ड, फिनलैण्ड इसके प्रमुख ग्राहक हैं। किन्तु वर्तमान में विदेशी बाजारों में भारी प्रतियोगिता के कारण इसके निर्यात में कमी आई है।

(3) **चमड़ा व चमड़े का सामान-** यह महत्वपूर्ण निर्यात है जिसकी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इनका निर्यात मुख्यतः इग्लैंण्ड, रूस, इटली, जर्मनी, अस्ट्रेलिया, फ्रांस, जापान, अमेरिका है।

(4) **सूत, सूती कपड़े व तैयार वस्त्र-** जापान के बाद भारत का सूती वस्त्रों के निर्यात में विश्व में महत्वपूर्ण स्थान है। अब भारत पालिस्टर व पालिस्टर निर्मित कपड़ों का भी निर्यात कर रहा है। तैयार कपड़ों के निर्यात में तो हमने उल्लेखनीय प्रगति दर्ज की है। इग्लैण्ड, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका कनाडा, भूटान, अरब, कीनिया, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड इस मद के प्रमुख ग्राहक हैं।

(5) **इन्जीनियरिंग सामान-** गैर परम्परागत निर्यात में इसका प्रमुख भाग है। देश का इन्जीनियरिंग का सामान विदेशों में बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है। यह सामान यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों अमेरिका, अफ्रीकी देशों व दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों को प्रमुख रूप से निर्यात होता है।

(6) **धातु अयस्क-** मैगनीज, अभ्रक व अलौह अयस्क का निर्यात महत्वपूर्ण है। अब लौह अयस्क का निर्यात भी होने लगा है। जापान व चीन हमारे प्रमुख ग्राहक बन गये हैं।

(7) **मछली व मछली निर्मित वस्तुएं-** इनका निर्यात प्रमुखतः संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, जापान, पूर्वी ऐशिया के देशों तथा आस्ट्रेलिया को प्रमुख रूप से किया जाता है।

(8) **हीरे व आभूषण-** हीरे व आभूषणों के निर्यात से भारत को पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, रूस व यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश प्रमुख ग्राहक हैं।

(9) **हस्तकला वस्तुयें व अन्य-** हस्तकला की वस्तुयें प्रमुखतः यूरोप के देशों अमेरिका व कनाडा को निर्यात होती है इसके अतिरिक्त काजू, तम्बाकू, मसालें, खली के प्रमुख आयातक देश, रूस, इग्लैण्ड, अमेरिका आदि है।

31.4.2 क्षेत्रानुसार आयात की संरचना

नियोजन काल के दौरान भारत की आयात वस्तुओं के ढाँचे में भी भारी परिवर्तन हुआ हैं। आयात वस्तुओं में पूँजीगत सामान की प्रमुखता रही है। विश्व के प्रमुख क्षेत्रानुसार आयात की प्रमुख मदें इस प्रकार हैं —

(1) **खाद्यान्न-** यह हमारे आयात की प्रमुख मद रही है 1950-51 से 1970-71 तक देश खाद्यान्न की समस्या से जूझता रहा है। अतः हमें भारी मात्रा में खाद्यान्न आयात करना पड़ा। प्रमुखतः गेहूँ का आयात संयुक्त राज्य अमेरिका से वहाँ के कानून पी.एल. 480 के अन्तर्गत किया गया। वर्तमान में हम खाद्यान्न में लगभग आत्मनिर्भरता प्राप्त कर चुके हैं, अतः यह अब आयात की प्रमुख मद नहीं रही है।

(2) **दालें व खाद्य तेल-** वर्तमान में हमारे आयातों की यह प्रमुख मद बन गयी है। क्योंकि तेजी से बढ़ती जनसंख्या के कारण घरेलू पूर्ति माँग से कम रह जाती है। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों से प्रमुख रूप से आयात किया जाता है।

(3) **मशीनरी-** नियोजन काल में औद्योगीकरण की गति तीव्र हुई और भारी मात्रा में मशीनरी का आयात किया गया इसमें यन्त्र, औजार विद्युत संयत्र परिवहन उपकरण आदि प्रमुख हैं। ये मुख्यतः यूरोप के देशों, संयुक्त राज्य अमेरिका रूस, जापान, इग्लैण्ड, फ्रांस, व कनाडा से आयात की जाती है।

(4) **खनिज तेल-** पैट्रोलियम भारत के आयातों में सर्वाधिक प्रमुखता रखता है। यह तेल निर्यातक देशों जिनमें ईरान, ईराक, कुवैत प्रमुख हैं से आयात किया जाता है। 1995 में देश के कुल आयात का 25% भाग खनिज तेल का ही है।

(5) **धातुएं-** देश में लोहा इस्पात व कुछ अलौह धातुओं का आयात भी महत्वपूर्ण है। कुल आयातों में लोहा इस्पात का भाग 3.5 प्रतिशत 1995 में था जबकि अशोधित धातुओं का आयात 2.4 प्रतिशत था। वर्तमान में स्वदेश में ही इनका उत्पादन होने लगा है। अतः आयात में कमी आयी है। धातुओं का आयात मुख्यतः यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों, उत्तरी अमेरिकी देशों तथा रूस से होता है।

(6) **पदार्थ व औषधियां-** रासायनिक पदार्थों व दवाइयों का आयात मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका कनाडा तथा इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस इत्यादि यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों से होता है। 1995 में देश के कुल आयातों में इनका भाग 10.5 प्रतिशत था।

(7) **अन्य मदें-** उपर्युक्त वस्तुओं के आन्तरिक देश के आयात की प्रमुख मदों में विद्युत उपकरण, कागज, उर्वरक चिकत्सीय सामान महत्वपूर्ण है। ये वस्तुयें मुख्यतः उत्तरी अमेरिकी देशों व यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों से आयात की जाती है।

31.5 सारांश

किसी देश की आर्थिक समृद्धि में उस देश का विदेशी व्यापार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत में व्यापार व आर्थिक विकास ने प्रत्यक्षतः एक दूसरे को प्रोत्साहित किया है।

विश्व में व्यापार विकास व आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक सहयोग व एकीकरण के प्रयासों में तीव्रता आई है। आर्थिक सहयोग व एकीकरण के आधार पर विश्व के देशों को लगभग 6 क्षेत्रों में बाटा जा सकता है :– आर्थिक संघ जैसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सीमा संघ (मध्य अमेरिकी साझा बाजार) यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ (एफ्टा) स्वतंत्र व्यापार समझौता क्षेत्र (उत्तरी अमेरिका व कनाडा) द्विपक्षीय व्यापार समझौत क्षेत्र तथा दक्षिण ऐशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (दक्षेस)। भारत के विदेशी व्यापार की दृष्टि से विश्व के विभिन्न देशों के प्रमुखतः चार क्षेत्रों में रखा जाता है –

(1) आर्थिक सहयोग एवं विकासार्थ (OECD) देश - इस संगठन में मुख्यतः तीन क्षेत्रों के देशों को रखा जाता है। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश, उत्तरी अमेरिका के देश, ऐशिया व भूमध्य सागर के देश।

(2) तेल निर्यातक देश (OPEC)।

(3) पूर्वी यूरोप के देश तथा

(4) विकासशील देश जिसमें ऐशिया, अफ्रीका व लेटिन अमेरिका के देश शामिल हैं। विश्व

के इन प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं.—

(i) भारत के निर्यातों में संयुक्त राज्य अमेरिका का भाग चतुर्थ योजना में 13.5 प्रतिशत से बढ़कर 19 प्रतिशत हो गया है। जबकि कुल आयातों में अमेरिका का भाग इसी अवधि में 27.7 प्रतिशत से घटकर 11.1 प्रतिशत हो गया है।

(ii) देश के विदेशी व्यापार में सर्वाधिक भाग आर्थिक सहयोग विकासार्थ सहयोग संगठन के देशों (OECD) का है। जो कुल देश के कुल आयात व निर्यात का क्रमशः 54 प्रतिशत तथा 53.5 प्रतिशत भाग है।

(iii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के देशों का भारत के विदेशी व्यापार में द्वितीय स्थान है। जो कि कुल आयात व निर्यात का क्रमशः 30 व 27.5 प्रतिशत भाग है।

(iv) ऐशिया व भूमध्य सागरीय देशों में जापान के साथ हमारे आयात व निर्यात पर्याप्त मात्रा में हैं। किन्तु विगत कुछ वर्षों से इसके भाग में थोड़ी कमी आयी है।

(v) तेल निर्यातक देशों से तेल के आयात के कारण आयातों का प्रतिशत भाग तो अधिक 20.6 है। जबकि निर्यात का भाग केवल 9 प्रतिशत है।

(vi) पूर्वी यूरोप के देशों के साथ हमारे विदेशी व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। जिसमें रूस की सर्वाधिक भूमिका है। इस क्षेत्र के निर्यात में 18 प्रतिशत भाग था जबकि अकेले रूस का भाग 16.1 प्रतिशत है।

(vii) अन्य विकासशील देशों के क्षेत्र में ऐशियाई विकास सील देशों का प्रतिशत भाग महत्वपूर्ण है। यह निर्यात में 14.3 प्रतिशत तथा आयात में 14 प्रतिशत है।

(viii) पूर्वी यूरोप के देशों विशेषतः रूस के साथ हमारा व्यापार अनुकूल (आधिक्यपूर्ण) रहा है। जबकि जापान संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ यह यदा-कदा अनुकूल रहा है। तथा कुछ वर्षों में प्रतिकूल भी। अन्य क्षेत्रों के साथ यह सदैव प्रतिकूल रहा है।

(ix) हाल ही में पूर्वी ऐशियाई देशों के साथ हमारे विदेशी व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

(x) उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत का भूमण्डलीय करण की दिशा में अपने कदम बढ़ा चुके हैं।

(xi) भारत विश्व के विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों को हमारे आयात व निर्यात की मदों में भारी विविधिता आयी है। ओ.ई.सी.डी. देशों यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों, पूर्वी यूरोप जापान, कनाडा, ईरान तथा पूर्वी एशिया के देशों के साथ आयात व निर्यात की सर्वथा नयी मदों में व्यापक परिवर्तन देखा गया है।

(xii) चाय जूट का समान चमड़ा व चमड़े का सामान सूती वस्त्र हमारे निर्यात व्यापार की परंपरागत वस्तुएं हैं। जो प्रमुखतः उत्तरी उमेरिका क्षेत्र, यूरोपीय आर्थिकसमुदाय, पूर्वी यूरोप तथा ऐशिया व आफ्रीकी विकासशील देशों को होता है। किन्तु इन क्षेत्रों के साथ तैयार कपड़े, इन्जीनियरिग का सामान, हीरे जवाहारात, हस्तकला वस्तुओं जैसी गैर परम्परागत वस्तुओं के निर्यात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

(xiii) देश के आयात की परम्परागत वस्तुएं — खाद्यान्न, खनिज तेल धातुओं, रासायनिक पदार्थ व औषधियों का आयात प्रमुखतः उत्तरी अमेरिकी क्षेत्र, यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश

व तेल निर्यातक देशों से प्रमुख रूप से हुआ है। किन्तु मशीनरी उर्वरक दालें व खाद्य तेल उर्वरक व अन्य व्यवसायिक वस्तुओं व उपकरणों का आयात प्रमुख रूप से इन्हीं क्षेत्रों के साथ बढ़ा है।

31.6 कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

1. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - प्रो. नागर एवं डा. शर्मा
2. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - डा. जी.सी. सिंघई साहित्य भवन आगरा
3. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र - डा. के.आर. गुप्ता
4. 'The Development process of Indian Economy' - Prof. Brahamanda, Panchmukhi, Himalaya Publishing New Delhi
5. Bepin Behari , Imports in Developing Economy - Varak & co Bombay.
6. Foreign Trade Regions & Economic Development. India National Bureau of Economic Research.
7. Economic Development Export-A Study of the impact on Indian economic Development on Export.
8. International Trade of Third would Development, K.P. Ghosh.
9. Export marketing of Indian Goods', P.K. Jain, Deep of Deep New Delhi.
10. Indian Export Trade. A critical analysis - R.M. Ghosi.
11. International aspects of Indian Economic Development. D.T. Lakdawala.
12. India's Foreign Trade by Regions.

बोध प्रश्न

1. आर्थिक सहयोग व एकीकरण की दृष्टि से विश्व के प्रमुख क्षेत्रों को बताइए।

2. आर्थिक संघ व सीमा संघ में अन्तर कीजिए तथा इनके प्रमुख उदाहरण दीजिए।

3. स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र तथा मुक्त क्षेत्र के उदाहरण देते हुए इसका आधार भूत अन्तर बताइये।

4. दक्षेस क्या है। इसकी स्थापना का क्या उद्देश्य है।

5. भारत के विदेशी व्यापार की दृष्टि से विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र क्या है?

6. आर्थिक सहयोग एवं विकासील संगठन देशों (OECD Contries) में कौन से प्रमुख आर्थिक क्षेत्र शामिल हैं?

7. पूर्वी यूरोप के किस प्रमुख देश से भारत का व्यापार प्रगति शील है। इस देश के साथ आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुयें बताइयें?

8. विश्व के किस वृहद क्षेत्र के साथ भारत का विदेशी व्यापार सर्वाधिक है। चतुर्थ योजना काल से क्षेत्र के साथ आयात व निर्यात की प्रगति पर प्रकाश डालिए।

9. यूरोपीय आर्थिक समुदाय के साथ भारत के आयात-निर्यात का एक लेखा जोखा प्रस्तुत कीजिए।

10. 1971 के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत के विदेशी व्यापार का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए।

11. निम्न निर्यात वस्तुओं के प्रमुख ग्राहक देशों को बताइए

(i) चाय (ii) चमड़ा व चमड़े का सामान (iii) इन्जीनियरिंग का सामान (iv)हस्तकला वस्तुयें।

12. विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए?

बोध प्रश्नों के उत्तर –

1. विश्व के अधिकांश देश अब बन्द अर्थ व्यवस्थाऐं नहीं रही है जहाँ कि विदेशी व्यापार शून्य होता है। ये खुली अर्थव्यवस्थाऐं है। जहाँ न केवल विदेशी व्यापार गतिमान है। बल्कि देशों के मध्य आर्थिक सहयोग व एकीकरण विभिन्न मात्राओं में बढ़ रहा है। इस दृष्टि से विश्व के देशों की निम्न प्रमुख क्षेत्रों में रखा जाता है।

(i) आर्थिक संघ - जैसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC)

(ii) सीमा संघ - जहाँ केवल सदस्य देशों के मध्य सीमा शुल्क बाधाऐं हटायी जाती है। जैसे मध्य अमेरिकी साझा बाजार।

(iii) स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र - सदस्य देश परस्पर तटकर हटाते हुए अन्य देशों के साथ स्वतंत्र व्यापार नीति अपनाते है जैसे यूरोपीय स्वतंत्र, व्यापार क्षेत्र (EFTA)

(iv) मुक्त क्षेत्र - इस प्रकार के क्षेत्र में आंशिक एकीकरण अपनाया जाता है। जैसे अमेरिका, कनाडा का स्वचालन उद्योग के सम्बन्ध में स्वतंत्र व्यापार समझौता (FTA)

(v) द्विपक्षीय व्यापार समझौता क्षेत्र - जैसे भारत व रूस के मध्य रुपए भुगतान समझौता।

(vi) दक्षिण ऐशियाई सहयोग संघ (दक्षेस) - जो भारत, बंगलादेश नेपाल, भूटान, मालदीव व पाकिस्तान - 7 देशों ने बनाया है।

2. **आर्थक संघ** - यह कुछ देशों का ऐसा समूह क्षेत्र है जिसके बीच पूर्ण एकीकरण अपनाया जाता है। ऐसे क्षेत्र में वस्तुओं व सेवाओं के अतिरिक्त साधनों का भी बिना सीमा शुल्क लगे निर्बाध परस्पर आवागमन होता है। सात देशों के समान वैदेशिक आर्थिक नीति यहाँ तक कि एक ही करेन्सी अपनाने की भी प्रतिबद्धता होती है। जैसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) जो 1995 से एक ही पूरी करेन्सी अपनाने हेतु प्रयासरत है। इसी प्रकार ऐशियान इसका दूसरा उदाहरण है। जिसमें थाईलैण्ड, मलेशिया, सिंगापुर इण्डोनेशिया व फिलीपीन्स देश सामिल है।

3. **स्वतंत्र व्यापार क्षेत्र** - कुछ देशों के मध्य अपनाये जाने वाला ऐसा आर्थिक क्षेत्र है। जिसमें परस्पर व्यापार की तटकर बाधाएं हटा दी जाती है। किन्तु क्षेत्र के बाहर के देशों के साथ स्वतंत्र व्यापार नीति अपनाई जाती है जैसे यूरोपीय स्वतंत्र व्यापार संघ (EFTA)- 1959 किन्तु मुक्त क्षेत्र कुछ देशों का ऐसा आर्थिक क्षेत्र है। जिसमें आंशिक एकीकरण अपनाया जाता

है। जैसे स्वतंत्र व्यापार समझौता (EFTA) जो कि अमेरिका व कनाडा ने औटोमोबाइल्स के क्षेत्र में अपनाया है।

4. **दक्षिण ऐशियाई सहयोग संघ (दक्षेश)** की स्थापना 1985 में भारत, बंग्लादेश, पाकिस्तान, श्रीलंका, मालदीव, भूटान तथा नेपाल ने मिलकर की है। यह संघ इन सातों दक्षिण ऐशियाई देशों के मध्य परस्पर व्यापार की वृद्धि व आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग के उद्देश्य से स्थापित किया गया है। प्रत्येक चार वर्ष पश्चात् इन देशों का शीर्ष सम्मेलन बारी-बारी से विभिन्न देशों में होता है। भारत का विदेशी व्यापार दक्षेस संगठन के साथ अनुकूल रहा है।

5. भारत के विदेशी व्यापार की दृष्टि से विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्र चार हैं।

(i) आर्थिक सहयोग एवं विकाससील संगठन (OECD)

(ii) तेल निर्यातिक देश (OPEC)

(iiii) पूर्वी यूरोप के देश

(iv) विकास सील देश (तेल निर्यातक देशों को प्रथक रखते हुए) विस्तृत विवरण के लिए अध्याय के सम्बन्धित भाग को पढ़ा जाय।

6. भारत का विदेशी व्यापार आयात व निर्यात दोनों ही दृष्टियों से आर्थिक सहयोग एवं विकासार्थ संगठन (OECD) के देशों से सर्वाधिक है। यह सर्वाधिक वृहत आर्थिक क्षेत्र है। जिसमें यूरोपीय आर्थिक समुदाय के 5 देश वेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी, नीदर लैण्ड तथा इंगलैण्ड शामिल है। उत्तरी अमेरिका के देश संयुक्त राज्य व कनाडा शामिल है। उत्तरी अमेरिका के देश संयुक्त राज्य व कनाडा शामिल है। तथा एशिया व भूमध्य सागर के देश जापान व आस्ट्रेलिया है। इस वृहत क्षेत्र के साथ भारत का निर्यात 1970-71 में 50 प्रतिशत से बढ़कर 1990-91 में 53.5 प्रतिशत हो गया जबकि इसी अवधि में आयात 63.8 से घटकर 54 प्रतिशत रह गया। इन देशों के भारत के व्यापार शेष में घाटा निरन्तर बढ़ता गया। इन देशों के भारत के व्यापार शेष में घाटा निरन्तर बढ़ता गया है। 1970-71 में यह व्यापार घाटा 273 करोड़ रुपये से बढ़कर 5882 करोड़ रुपये हो गया।

7. यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) भारत के विदेशी व्यापार का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इस क्षेत्र के साथ भारत के आयात व निर्यात दोनों में ही निरन्तर प्रगति हो रही है। इस क्षेत्र के सथ भारत के कुल आयात का 1970-71 में 19.6 प्रतिशत भाग था वह बढ़कर 1991 में 29.4 प्रतिशत तथा 1995-96 में 28 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई है। यह 1970-71 में 18.4 प्रतिशत से बढ़कर 190-91 में 27.4 प्रतिशत और 1995-96 में 26.9 प्रतिशत हो गया है। इस क्षेत्र के साथ व्यापार घाटे में भारी वृद्धि हुई है। 1970-71 में क्षेत्र के साथ हमारा व्यापार घाटा 38 करोड़ रुपया था वह बढ़कर 1990-91 में 3729 करोड़ रु. हो गया। (क्षेत्र के साथ आयात व निर्यात की वस्तुओं के लिए अध्याय से सम्बन्धित भाग को पढ़ें।)

8. संयुक्त राज्य अमेरिका हमारे विदेशी व्यापार की दृष्टि से उत्तरी अमेरिकी क्षेत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण देश है। हमारा अधिकांश विदेशी व्यापार इसी देश के साथ होता रहा है। 1970-71 में हमारे कुल आयात का 27.7 भाग अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका से आ रहा था जो कि किसी एक देश के साथ आयात का एक बड़ा भाग था। अमेरिका से हमने खाद्यान्न संकट के समय भारी मात्रा में खाद्यान्न विशेषतः गेहूँ का आयात PL - 480 के अन्तर्गत किया। इसके अतिरिक्त कृत्रिम रेशे, मशीनरी, उपकरण और संयंत्र का हम भारी मात्रा में आयात करते रहे हैं। यद्यपि 1991 के बाद हमारे कुल आयात में अमेरिका का भाग घटकर 1991 में 12.

1 प्रतिशत भाग तथा 1995-96 में 11 प्रतिशत रह गया है। तथापि यह अन्य किसी भी देश से अधिक है। इसी प्रकार हमारे निर्यात का एक बड़ा भाग इसी देश को होता है। 1970-71 में निर्यात का 13.5 प्रतिशत भाग अमेरिका को हो रहा था जबकि 1990-91 में 14.7 प्रतिशत और 1995-96 में 18.5 प्रतिशत निर्यात हो गया। इस देश के साथ हमारे व्यापार शेष में घाटा रहा है। किन्तु 1986-87 में 387 करोड़ रुपए का व्यापार आधिक्य भी रहा था। सूती कपड़ा, तैयार वस्त्र, इन्जीनियरिंग का सामान, हस्तकला वस्तुयें, जूट का सामान, तम्बाकू निर्यात की मदें क्षेत्रानुसार है।

9. इस प्रश्न के लिए आयात व निर्यात की प्रमुख मदों को पढ़ा जाय।

10. इस प्रश्न के लिए अध्याय के सारांश भाग को पढ़ा जाय।

31.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुओं का विवरण दीजिए?

2. विश्व के प्रमुख आर्थिक क्षेत्रों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की नवीनतम प्रवृतियों पर प्रकाश डालिए?

3. पूर्वी ऐशिया के देशों के साथ भारत के विदेशी व्यापार की प्रगति पर प्रकाश डालिए?

4. भारत के विदेशी व्यापार की नवीनतम प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए